आधुनिक हिन्दी काव्य में
प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता

आधुनिक हिन्दी काव्य
में
प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता

[भारतेन्दु - युग से नयी कविता तक]



पीएच. डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

सुशीला गुप्ता,
प्रिन्सिपल
बी. एम. रुइया कालेज, बम्बई-७

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित



मूल्य : १०.००

प्रथम संस्करण : १९८१



पियरलेस प्रिण्टर्स,
१, बाई का बाग
इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

सादर समर्पण

श्रद्धेय पिता जी

श्री गणेश प्रसाद गुप्त

(अवकाश-प्राप्त प्राध्यापक, राजकीय इण्टर कालेज, प्रयाग)

के योग्य

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रवृत्तिमूलक दृष्टि से आधुनिक हिन्दी काव्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आधुनिक हिन्दी साहित्य सम्पूर्ण रीति से **प्रवृत्ति-दर्शन** की ही अभिव्यक्ति है। हम जैसे विचारों में विश्वास करते हैं, हमारे कर्म वैसे ही हो जाते हैं और वैसा ही हो जाता है हमारा साहित्य। भक्ति-काल और रीति-काल से आज का साहित्य विलग इसलिए है कि अन्य आवश्यक परिवर्तनों के साथ-साथ आज के मानव मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए हैं। मृत्यु को—सांकेतिक रूप में ही सही—काम्य बताते हुए सन्त कबीर ने कहा था 'जिन मरनें थे जग डरें, सो मेरो आनन्द। कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमानन्द।' आज का कवि मृत्यु का नहीं, जीवन का काम्य मानता है, जीवन, जो भले ही विघटनकारी तत्त्वों से निहित है जो अपने लघु परिवेश में आच्छादित है और जो अपनी परिसीमाओं में आबद्ध है। आज का साहित्य हमें निषेध-मूलक प्रवृत्तियों से बचाते हुए मानव को मानव के रूप में जीने की प्रेरणा देने वाला साहित्य है। साहित्य में इस प्रवृत्ति-मूलक दृष्टिकोण का अध्ययन मेरे लिए सरल कार्य न था। न तो मुझमें प्रवृत्ति दर्शन के अध्ययन की क्षमता थी और न हिन्दी साहित्य का यथेष्ट ज्ञान। स्वयं की परिसीमाओं से अवगत रहकर भी मैंने अपने शोध प्रबन्ध के लिए यह विषय चुना, यह मेरा दुस्साहस ही था। अधिक उलझन मुझे इसलिए हुई कि विषय का चुनाव हो जाने पर गुरु खोजने में भी कठिनाई कम न हुई। अनेक हिन्दी-विद्वानों ने मुझे इस विषय में निर्देशन देने से इन्कार कर दिया था। अन्ततः गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी से मुलाकात होने पर न केवल मेरे निर्देशन की समस्या हल हुई, वरन् मुझे ऐसा लगा कि मुझे इतने दिनों से इन्हीं की खोज थी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भारतीय सांस्कृतिक समन्वय की विशेषता के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है, क्योंकि भारत की बुनियादी संस्कृति समन्वय की पृष्ठभूमि पर आधारित है, इसने विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न तत्त्वों को अंगीकार कर अपना उत्तरोत्तर विकास किया है। या यों कहा जाय कि भारतीय संस्कृति को प्रारम्भ से ही बहिष्कार की नीति से परहेज रहा है। निवृत्ति प्रवृत्ति के संघर्ष में भी भारत-भूमि में दुराग्रह नहीं, वरन् सहनशीलता की भावना अधिक अपनाई गई। पाप और पुण्य की भावना को आत्मसात् करने वाले भारत देश ने प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का सार गीता में ढूँढा, जिसमें न तो प्रवृत्ति-मार्ग से परहेज की शिक्षा है

और न निवृत्ति-मार्ग से बचने का आदेश, परन्तु भारत-भूमि पर प्रवृत्ति-निवृत्ति के संघर्ष की कथा भी कम रोचक नहीं है।

भारतीय दार्शनिक-सांस्कृतिक विकास के अध्ययन में प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति और निवृत्तिमुखी दो प्रमुख विचार-धाराएँ दृष्टिगत होती हैं। एक विचार-धारा जीवन की सुख समृद्धियों को मिथ्या मानकर सत्य मानती है और यज्ञादि से देवताओं को प्रसन्न कर इस जीवन में तथा उस जीवन में भी जय-लाभ की आकांक्षा को जन्म देती है। दूसरी विचार-धारा जीवन को नश्वर और क्षणिक मानकर मानव-जन्म को सांसारिक दुःखों का कारण मानती है एवं सांसारिक जीवन में बाँधने वाले समस्त सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर पारलौकिक सुख या शान्ति की प्राप्ति के लिए वैराग्य एवं सन्यास की भावना को प्रमुखता देती है। इसमें से प्रवृत्ति और कर्म के सिद्धान्त की पुष्टि वैदिक मान्यताओं से होती है तथा निवृत्ति और सन्यास के सिद्धान्त की पुष्टि प्राग्वैदिक मान्यताओं से होती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विचारात्मक भाग के अन्तर्गत भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति-मूलक दार्शनिक धाराओं का स्वरूप अंकित किया गया है, प्रवृत्ति-मूलक दार्शनिक धारा को प्रभावित करने वाले विभिन्न उपकरणों की संक्षिप्त विवेचना की गई और है अन्त में पुनरुत्थान युग के आधुनिक चिन्तकों की चिन्तन-प्रणाली एवं प्रवृत्ति दिशा में उनकी क्रिया-शीलता का परिचय दिया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययनात्मक खण्ड में भारतेन्दु-युग से लेकर वर्तमान युग तक के काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए हिन्दी काव्य के क्रमिक विकास में प्रवृत्ति चिन्तन का प्रभाव दिखाया गया है और प्रवृत्ति-मूलक साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। स्थान-स्थान पर प्रवृत्ति-मूलक साहित्य की परिसीमाओं की ओर संकेत किया गया है।

इस प्रबन्ध के सुयोग्य निर्देशक स्वर्गीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी में मुझे साहित्यिक कर्मयोगी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व मिला, जिन्होंने न केवल साहित्य, वरन् साहित्यकारों के निर्माण में भी अपनी शक्ति की समस्त पूँजी लगा-दी थी। इस प्रबन्ध में यदि मुझे कोई दिशा-दृष्टि मिल पाई तो इसका श्रेय आचार्य वाजपेयी को है, अन्यथा प्रबन्ध की सारी त्रुटियों के लिए दोषी मैं स्वयं हूँ।

—सुशीला गुप्ता

आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रवृत्ति-मूलक दार्शनिकता

विषय-सूची

आधुनिक हिन्दी काव्य में
प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता

खण्ड : १

विचारात्मक

अध्याय १

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का स्पष्टीकरण

प्रस्तावना

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है। जीवन के मीठे-कड़वे घूंट उसे अपने अस्तित्व को जानने और समझने की ओर प्रेरित करते हैं। उसका मानस-मंथन अनगिनत प्रश्न उगलने लगता है—वह कौन है? कहाँ से आया है? क्यों आया है? वस्तुएं क्यों बनती है और फिर मिट क्यों जाती हैं? औचित्य-अनौचित्य का तात्पर्य क्या है? नैतिकता-सदाचार का महत्त्व क्या है? ये सब प्रश्न उसे दर्शन की ओर उन्मुख करते हैं। दर्शन का अर्थ है अवधारणा, चिन्तन, अन्त-र्दृष्टि।[१] दर्शन की गहराई में उतरकर मनुष्य को कर्त्तव्य और औचित्य का ही बोध नहीं होता, वरन् उसका सर्वोच्च वाछनीय ध्येय से साक्षात्कार भी होता है। दर्शन का कार्य मानव-जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों का अन्वेषण है तथा दार्शनिक चिन्तन और बोध का प्रमुख ध्येय है मानव-व्यक्तित्व को अधिक परिष्कृत और श्लाघ्य बनाना।[२]

भारतवर्ष में दर्शन का मनुष्य के दैनिक जीवन की घटनाओं से अटूट सम्बन्ध है। हमारे देश के दर्शन का आरम्भ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या को सुलझाने के लिए होता है और वह समस्या है त्रिविध तापों से सतप्त जनता के क्लेशों की आत्यंतिक निवृत्ति। दिन-प्रति-दिन दुःखों की एक विशाल राशि प्राणियों को सतत व्याकुल और बेचैन बनाए रखती है। इससे छुटकारा पाने के उपायों को बतलाना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।[३] सांसारिक दुखो से छुटकारा पाने के लिए एक ओर तो हमें ऐहिक चिन्ताओं से मुक्त होकर पारलौकिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त

---

१. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ३।

२. डॉ देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ १४।

३. पं० बलदेव उपाध्याय : धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परम्परा (हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग) पृष्ठ ४६३।

करनेवाली निवृत्तिवादी दार्शनिकता का विस्तृत पथ दिखाई देता है और दूसरी ओर कर्मण्यता का ठोस सन्देश देनेवाले कर्मयोग की प्रवृत्तिवादी दार्शनिकता का प्रशस्त मार्ग दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय दर्शन का दायित्व महान् है, वह मानव का चिर सहचर ही नहीं पथ-प्रदर्शक भी है। मनुष्य को आदिकाल से ही संघर्षों के युग से गुजरना पड़ा है। सच तो यह है कि वह स्वयं संघर्षों का निर्माण करता है और फिर उनसे मुक्ति पाने का प्रयास करता है। इस प्रकार प्रत्येक युग मानता है कि वह 'संक्रांति-काल' से गुजर रहा है। कहा जाता है कि अदन के बगीचे के द्वार से बाहर निकलते हुए आदम और हव्वा ने सबसे पहले ये शब्द कहे थे कि हम संक्रांति के काल में से गुजर रहे हैं।[1] इस दृष्टि से प्रत्येक युग को संक्रांति के युग की संज्ञा दी जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि उस संघर्ष में, संक्रांति के उस दरमियान जब वर्तमान डावाडोल होता है और भविष्य अन्धकारमय होता है, दर्शन ही मनुष्य की उंगली पकड़कर राह दिखाता है। जब जैसी आवश्यकता हुई, जैसी परिस्थिति हुई, उसने उसी रीति से मार्ग-दर्शन किया है। दर्शन स्वयं शून्य में नहीं टिक सकता, उसे अपने पैर टिकाने के लिए अनुकूल परिस्थितियों के ठोस आधार की आवश्यकता होती है। तभी तो इस भरत-भूमि में जब मनुष्य व्यावहारिक जीवन की समस्याओं में उलझा हुआ था, तब दर्शन ने उसे जीवन के भौतिक सुख और समृद्धि की पराकाष्ठा की ओर आकृष्ट किया, परन्तु जब जीवन भौतिक जीवन की सामग्रियों से परिपूर्ण था और वह था कि जीवन की अपूर्णता महसूस किये जा रहा था, तब दर्शन ने उसे अध्यात्म-जीवन की पराकाष्ठा का मोहक रूप दिखाकर लुभाया। इस प्रकार इह-लोक पर ले चलनेवाला मार्ग प्रवृत्तिमार्ग और इहलोक से नाता तोड़ परलोक की ओर उन्मुख करने वाला मार्ग निवृत्तिमार्ग कहलाया।

अर्थशास्त्र के कर्ता कौटिल्य की दृष्टि में आन्वीक्षिकी विद्या (दर्शनशास्त्र) सब धर्मों को प्रकाशित करने के कारण दीपक-स्थानीय है तथा सब कर्मों के अनुष्ठान का उपाय है और सब धर्मों का आश्रय है।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि दर्शन का धर्म के साथ भरत भूमि पर घनिष्ठ मेल-मिलाप रहा है, विचार और आचार का गंभीर सम्पर्क भारतवर्ष में सदैव दृष्टिगोचर होता रहा है। दार्शनिक विचार को आधार-शिला के बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक आचार के रूप कार्यान्वित किए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है।[3] पश्चिमी

---

१. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ४३।
२. प्रदीप सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता। (अर्थशास्त्र १/२/१)
३. पं० बलदेव उपाध्याय धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परम्परा (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग) पृष्ठ ४६२

जगत् में धर्म और दर्शन के बीच जो खाई वर्तमान रही, वह भारतवर्ष में कभी नहीं रही। औसत योरपवासी दार्शनिकों का सम्मान तो करता है, परन्तु उनकी कृतियों को वह सभ्यता के पुस्तकालय में सबसे ऊपरवाले खाने में यह सोचकर रख देता है कि उनके उतारने की आवश्यकता न होगी। वह उन कृतियों की सराहना तो करता है, पर उन पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में अथवा धर्म के पथ पर चलने में उन कृतियों से कोई सहायता नहीं मिलती। इसके विपरीत भारतीय मन की मान्यता यह है कि सृष्टि अर्थात् आध्यात्मिक सत्य का चिन्तक एवं द्रष्टा धार्मिक और नैतिक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवन का भी सर्वोत्तम मार्ग-दर्शक होता है।[1]

जब भी हम किसी देश के दर्शन और धर्म की चर्चा करते हैं, तब अप्रत्यक्ष रूप से हम उस देश की संस्कृति की चर्चा कर रहे होते हैं। किसी भी देश या जाति की संस्कृति उसकी जीवन-विषयक चेतना की अभिव्यक्ति होती है और जीवन-विषयक चेतना से तात्पर्य है दर्शन और उच्चतर चिन्तन का। यह जीवन-विषयक चेतना (दर्शन और उच्चतर चिन्तन) अपने को तीन रूपों में प्रकट करती है—उसका एक रूप होता है विचार, ऊर्ध्वमुख संकल्प और आत्मिक अभीप्सा का, जिसको धर्म की संज्ञा दी जा सकती है, उसका दूसरा रूप होता है सर्जनशील आत्म-अभिव्यंजना की शक्ति और गुणग्राही सौन्दर्य-बोध का, मेधा और कल्पना का जिसे कला, काव्य और साहित्य कहा जा सकता है, और तीसरा होता है व्यावहारिक और बाह्य रूप-संगठन का जिसे समाज और राजनीति का नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन, धर्म, कला और समाज (जिन्हें हम क्रमशः संस्कृति के प्राण, आत्मा, मन और देह के नाम से पुकार सकते हैं) संस्कृति से ही पोषण-तत्त्व ग्रहण करते हैं।[2]

भारतीय संस्कृति पर विशिष्टता की ऐसी छाप है जो इसे अन्य संस्कृतियों से स्वभावतया अलग करती है। यह विशिष्टता है सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास में स्वतन्त्र इकाई के रूप में इसका अस्तित्व।[3] स्वतन्त्र इकाई की विशिष्टता भारतीय विचार और दर्शन के इतिहास में पिरोई हुई है, जो प्रादेशिक सीमाओं और शासन की छोटी-छोटी इकाइयों से ऊपर है। समस्त भारतवर्ष पर विचार और जीवन के एक-जैसे आन्दोलनों की छाप पड़ी है, जिससे एक जैसे आदर्श और एक-सी संस्थाओं का यहाँ उदय और विकास हुआ और इसी कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति संसार की अन्य सभ्यताओं से अलग पहचानी

---

१ श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ६१।
२ श्री सम्पूर्णानन्द : भारतीय संस्कृति का प्राण, पृष्ठ २६।
३. V. A. Smith : Early History of India, P. 5.

जाती है।[1]

भेद में अभेद स्थापित करनेवाली यह भारतीय संस्कृति, जो इस विशाल देश की एकता का वास्तविक आधार है, समन्वयात्मिका है। इसके विकास में विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का योगदान है। इसे वैदिक (निगम-सम्मत) तथा अवैदिक (आगम-सम्मत), आर्य तथा आर्येतर लोगों की विविध संस्कृतियों का मिश्रित रूप कहा जा सकता है। इसमें जीवन के प्रति नई-नई दृष्टियां आती गई हैं, जिनके संघर्ष तथा समन्वय के फलस्वरूप इसमें विकास तथा अनेकरूपता आती गई है। प्रागैतिहासिक काल से ही यहाँ उल्लासमयता-रमणीयतापूर्ण प्रवृत्तिमूलक तथा दुःखवादी निवृत्तिमूलक दो दर्शनों के अस्तित्व तथा उनके एक दूसरे से प्रभावित होते रहने के प्रमाण मिलते हैं। इस देश में दर्शन साधना से सम्बद्ध रहा है और साधना सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के परिष्कार तथा उत्कर्ष के लिए रही है। जीवन-पद्धति में जब कभी कोई ऐसा तत्त्व आया, जिसका अवांछित प्रभाव पड़ने लगा, उसकी प्रतिक्रिया हुई। जिस दार्शनिक विचार-धारा में वह तत्त्व आविर्भूत हुआ, स्वयं उसी में प्रतिक्रिया-स्वरूप सुधार हुए या उसकी विरोधिनी अन्य दार्शनिक विचार-धाराएँ प्रवाहित हो गई, जिन्होंने इसे दबा दिया। ऐसा भी हुआ कि कोई दार्शनिक विचार-धारा या साधना-पद्धति एकांगी सिद्ध हुई तो उसी में विकास द्वारा तथा धाराओं या पद्धतियों से सार-ग्रहण द्वारा व्यापकता लाई गई। यह सारी बात आगे दिखलाये जानेवाले वैदिक देव-वादी कर्मकाण्ड व औपनिषद् अध्यात्मवाद (ब्रह्मात्मैक्यवाद) में और फिर पौराणिक-तान्त्रिक उपासना में परिवर्तन द्वारा तथा बौद्ध-धर्म के भीतर होनेवाले परिवर्तनों द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट होती है।

समष्टि-दृष्टि-मूलक भारतीय संस्कृति में व्यापक धार्मिक समन्वयात्मिकता है, उसमें संकीर्णता, एकांगिता के लिए अवकाश ही नहीं है। वह किसी भी देवी-

---

१ डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ६४-६५।

२. जैसा निम्नांकित श्लोक में व्यक्त हुआ है

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसका.।
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि ॥ हनुमन्नाटक १।।२।

(जिनको शैव लोग शिवरूप मे, वेदान्ती ब्रह्मरूप मे, बौद्ध लोग बुद्धरूप मे, प्रमाणकुशल नैयायिक जगत के रचयिता रूप मे, जैन लोग अर्हंत कहकर, मीमासक लोग कर्म के रूप मे उपासना करते हैं, वे त्रिलोकीनाथ श्री हरि हमें वांछित फल प्रदान करें।)

ऋग्वेद मे भी विभिन्न देवो को एक ही परमसत्ता के विविध रूप कहा गया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति '(ऋ० १।१६४।४६)

देवता, साधना-पद्धति, करणोपकरण को स्वीकार करती है या मान्यता देती हैं, किन्तु किसी को भी एकमात्र सत्य या मार्ग के रूप में नहीं, जिसे सबके लिए अनिवार्य माना जाय। आग्रह धर्म पर है, सम्प्रदाय विशेष पर नहीं। मानव-स्वभावगत असहिष्णु एवं संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि भारतीय संस्कृति में दिखाई देती ही नहीं ऐसी बात नहीं है, परमत-खण्डन, शास्त्रार्थ एवं पारस्परिक कलह के रूप में कहीं-कहीं ऐसी भावना भी दिखाई देती है, परन्तु यहाँ धर्म-सम्बन्धी ऐसी असहिष्णुता जिसका परिणाम अमानुषिक भीषण नर-संहार हो सकता है और जो यूरोप एवं मध्य-पूर्व के इतिहास में प्रमुख रही है, भारतीय संस्कृति में अकल्पित ही रही। सभी सम्प्रदायों को समादर, धार्मिक आचार तथा विचार की स्वतंत्रता भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग रही है। विभिन्न मत-मतान्तर सब भेदों के बावजूद शान्ति, आनन्द या भगवान् तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग माने जाते रहे हैं,[1] कहीं भी भारतीय विचार-धारा में समन्वय की भावना खंडित नहीं होने पाई है। यहाँ यह बात सदैव मान्य रही है कि मनुष्यों में स्वभाव, विचार, भावना, रुचि, योग्यता आदि को ध्यान में रखते हुए, उनके 'कुल'-भेद तथा अधिकार-भेद के अनुसार, धर्म के क्षेत्र में अनन्त विविधता की समृद्धि आवश्यक है, जिसमें सभी के आवश्यकतानुसार उपयुक्त मार्ग या साधना-पद्धति की उपलब्धि हो सके। अपने मार्ग, सम्प्रदाय में निष्ठा आवश्यक तथा उचित है, किन्तु अन्य मार्गों या सम्प्रदायों को निन्द्य मानना दूषित है।

इस समन्वयात्मिका भारतीय संस्कृति के मूल-स्रोत के संधान में दृष्टि स्वभावतः सर्वप्रथम वेदों की ओर जाती है, जिनमें इससे सम्बद्ध प्राचीनतम ज्ञान अभिलेख सुरक्षित हैं और जिनसे प्रारम्भ होनेवाली अविच्छिन्न दार्शनिक धारा अन्य धाराओं को आत्मसात् करती तथा उनसे पुष्ट होती हुई निरन्तर प्रवहमान रही है। जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करके उन्नति करने वाली इस वैदिक संस्कृति ने अन्य विचार-धाराओं के बहुमुखी प्रभावों को ग्रहण करके उनमें समन्वय स्थापित करते हुए भारतीय संस्कृति को आन्तरिक संस्पर्श से अनुप्राणित कर पूर्णता प्रदान की है। वर्तमान हिन्दू-समाज की आधारभूत वर्ण-व्यवस्था, ऋणत्रय की भावना प्रवृत्ति-निवृत्ति को समन्वित करने वाली आश्रमव्यवस्था तथा त्रिवर्ग (अर्थ-धर्म-काम)

---

१ रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नाना पथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(हे प्रभो ! जैसे सभी नदी-नालों का जल समुद्र में ही जाता है, वैसे ही रुचियों के विभेद पर आधारित सीधे-टेढ़े सभी साधन मार्गों के अनुसरण करनेवाले मनुष्यों के गन्तव्य स्थान एक मात्र आप ही हैं।) तुलनीय योगवासिष्ठ, ३।८६।५॥

के पुरुषार्थ-चतुष्टय में विकास की भावना के मूलरूप हमें वेदो और उपनिषदो में ही मिलते हैं। जैसा मनु ने कहा है स्मृतियाँ (मत) समय-समय बनती-बिगडती रही है।[1] व्यापक दृष्टि समन्वित आधारभूत जीवन-मार्ग वैदिक धारा वाला ही है, जिसमें समय के प्रभाव से आने वाले विकारो या संकीर्णताओं का सुधार करके अन्य धाराएँ—एकपक्षीय (एकांगी) सुधारक मत—इसी में लीन या अंगीभूत होती रही हैं।

वेदो को श्रद्धालु हिन्दू-समाज अपौरुषेय तथा अनादि मानता है। कुछ विद्वानों ने महाभारत तथा पुराणो में प्राप्त सामग्री के आधार पर वैवस्वत मनु का समय ३१०० ई० पू० तथा महाभारत युद्ध का काल, जब बादरायण व्यास द्वारा वैदिक सहिताओं का ऋक्, यजुस् तथा साम वाले तीन भागो में सपादित होना बतलाया जाता है, १४०० ई० पू० प्रमाणित करते हैं।[2] उनका अनुमान है कि वैदिक काल का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के पश्चात् नही हो सकता, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले अधिकाश विद्वान् भाषा-शास्त्र तथा दक्षिण-पश्चिम एशिया में उपलब्ध ऐतिहासिक उपकरणो के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष में आर्यों का आगमन लगभग १५०० ई० पू० में हुआ। भारत में तथा ईरान में वे अनुमानत २००० ई० पू० में सम्भवत दक्षिणी रूस से आये होंगे। मूल ऋग्वेद में प्राप्त ऋचाओ (प्रथम मडल की ५१वी ऋचा से सप्तम मडल तक) का रचना-काल लगभग २००० ई० पू० से लेकर १५०० तक माना जाता है, जरथुस्त्र के ईरानी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता का भी रचना-काल लगभग १००० ई० पू० माना जाता है। इस संदर्भ में स्मरणीय है कि महाभारत-युद्ध का काल लगभग १००० ई० पू० माना जाता है। भाषा के आधार पर अथर्ववेद का सपादन पश्चात्कालीन सिद्ध होता है, यद्यपि कुछ थोडे-से मन्त्र ऋग्वेद-पूर्व काल के प्रतीत होते हैं।[3] उपनिषदों में 'ईशावास्य' जो शुक्ल-यजुर्वेद का अन्तिम चालीसवा अध्याय है, सब से प्राचीन मान्य है, शेष उपनिषदो में सबसे प्राचीन छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक का काल बुद्ध-पूर्व लगभग ७०० ई० पू० या कुछ और पूर्व माना जाता है। ब्राह्मण तथा आरण्यक उपनिषदों से कुछ पूर्व की रचनाएँ है।

अनुमान होता है कि ईरान से भी आर्यों के कुछ दल इस देश में आये और उनके भारतीय अभियान कारण वहा उनके जीवन-दर्शन का दो विभिन्न धाराओं

---

१ 'या वेदबाह्या स्मृतयो उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च'—मनुस्मृति १२।९५-९६॥

२ देखिए—The Vedic Age, Edited by R C Majumdar, पृ० २६८-६९

३ वही, पृ० ४३८

में बँट जाना रहा होगा। ईरान में आगमन से पूर्व से योरोपीय आर्य-समाज में द्यौ, सूर्य, वायु आदि प्रकृति देवों की आराधना प्रचलित थी, किन्तु ईरान में आर्यों के दो वर्ग हो गये, एक उल्लासपूर्ण सोमयाग को महत्त्व देने वाला (जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने वाला) सूर्य, वायु, उषा, सोम, इन्द्र आदि देवो का उपासक तथा इन्द्र को प्राधान्य देने वाला आनन्दोल्लासवादी वर्ग और दूसरा अग्नि, वरुण, मित्र आदि देवताओं को (जिन्हें असुर कहा जाने लगा) महत्त्व देनेवाला तथा वरुण को प्रधान देवता मानने वाला सुधारवादी वर्ग। यह विभेद प्रारम्भ में स्पष्ट नहीं था, परन्तु धीरे-धीरे बढ़ता गया और महात्मा जरथुस्त्र ने लगभग १००० ई० पू० में दूसरे वर्ग का एक सुधारवादी पैगम्बरी एकेश्वरवादी विचारधारा के रूप में संगठन किया। उन्होंने वरुण को 'अहुरमज्द' नाम दिया और अपने को उनका सन्देश वाहक घोषित किया। उनके मत का धार्मिक ग्रन्थ 'जिन्द अवस्ता' है, जिसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से बड़ा साम्य रखती है। उस ग्रन्थ में पूर्व परम्परागत विचार-धारा का सुधरा हुआ रूप ही उपलब्ध है। वे एकेश्वरवादी पैगम्बरों—मूसा, ईसा, मुहम्मद—की परम्परा के आरम्भ-कर्त्ता हुए। जरथुस्त्र के धर्म में देव घृणास्पद, असुर-विरोधी माने गए हैं।[1] भारत में आने वाले आर्यों ने समन्वयवादी, जीवन को समग्र रूप में अपनाने वाली जीवन-दृष्टि अपनाते हुए दोनों वर्गों के देवताओं को समान रूप से अपनाया। ऋग्वेद के मन्त्रों में असुर शब्द का श्रद्धापूर्ण प्रयोग अग्नि, इन्द्र, सूर्य, रुद्र आदि श्रेष्ठ देवों के लिए समान रूप से हुआ है। भारतीय परम्परा में देवों की अपेक्षा असुरों का ज्येष्ठत्व, पूर्ववर्ती होना, मान्य है। अमरकोष में 'असुरा' शब्द के पर्यायों में 'पूर्वदेवा' भी दिया हुआ है। बृहदारण्यक में भी देवों को 'कनीयसा' और असुरों को 'ज्यायसा' कहा गया है।[2] किन्तु आगे चलकर 'अवस्ता' में व्यक्त जरथुस्त्रीय ईरानी भावना के प्रतिक्रिया-स्वरूप 'असुर' शब्द 'देव' शब्द का विरोधार्थक, घृणासूचक हो गया।[3] आर्यों की उपर्युक्त दोनों शाखाओं के धर्मग्रन्थों, वेदों[4] तथा अवस्ता, में से किसी में मन्दिरों तथा मूर्तियों के लिए स्थान नहीं है।

यह असम्भव नहीं कि वेदों में उल्लिखित आर्य-समाज में उपनयनादि संस्कारों तथा वैदिक कृत्यों की अवहेलना करने वाले 'व्रात्य', जिनका ऋग्वेद में 'वायु का आहार करने वाले मटमैले वस्त्र धारण करने वाले मुनियों (विरक्तों)[5]

१ देखिए—B K Ghosh Indo Iranian Relations, [The Vedic Age—Edited by R G Majumdar p 218-224]
२ बृहदारण्यक १।३।१।
३ देखिए—बृहदारण्यक १।३। छान्दोग्य ।१।२।।
४ 'न तस्य प्रतिमास्ति'—यजुर्वेद, अध्याय ३२।
५ मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला। ऋग्वेद १०।१३६।२।।

के रूप में उल्लेख किया गया है और अथर्ववेद में श्रमपूर्वक तप से मृत्यु पर विजय प्राप्ति के उद्देश्य वाले[१] कहा गया है तथा 'व्रात्य काण्ड' में मुक्तकण्ठ से गुणगान किया गया है,[२] उपर्युक्त ईरानी वरुणोपासक परम्परा से सम्बद्ध या उससे प्रभावित हो, जिसे प्रसाद जी ने दुःखवादी-विवेकवादी श्रमण परम्परा का मूल प्रतिपादित किया है।[३]

सिन्धु-घाटी-सस्कृति के निदर्शक मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त ३००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक की जो सामग्री प्राप्त हुई है, उनमें ध्यान-मुद्रा में पद्मासनस्थ पशुपति की एव मातृदेवी की सुन्दर मूर्तियाँ तथा बहु-सख्यक शिवलिंग तथा वलयाकृति प्रस्तर-योनि-प्रतीक उस सस्कृति में शिवोपासना तथा मातृदेवी की आराधना को प्रमाणित करते हैं। ऋग्वेद-कालीन आर्य-सस्कृति में मूर्ति-पूजा तथा मूर्त प्रतीकोपासना के अभाव, वेदों में 'शिश्नदेवा' का घृणापूर्ण उल्लेख और इन्द्र का पुरन्दर नाम तथा उन्हें दस्युओं (अनार्यों) के सैकड़ों 'आयसी' पुरों को नष्ट करनेवाला कहना[४] इस सस्कृति को अनार्य सस्कृति सिद्ध करते हैं। इस सस्कृति का असीरिया की 'सुमेरियन' संस्कृति से समानता तथा उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं और बलूचिस्तान में द्राविड परिवार की ब्राहुई भाषा के अस्तित्व से यह सूचित होता है कि यह सस्कृति मुख्यतः नौ-प्रचार तथा भवन-निर्माण में कुशल मूलतः भूमध्यसागर की तटवासी द्रविड जाति से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय सस्कृति में शिवोपासना, मातृदेवी की आराधना तथा आगमिक योग-साधना कम-से-कम अंशतः द्रविड मूल की है। हम देखते हैं कि देव पशुपति रुद्र को ऋग्वेद में ईशान तथा शिव कहा गया है[५] अतः सतुलित समीचीन मत यही है कि शिव वैदिक रुद्र तथा अवैदिक योगी एव लिंग-देवता के समन्वित रूप हैं। इसी प्रकार मातृदेवी वैदिक देव-माता अदिति तथा शक्ति-रूपा योनि की प्रतीक वाली अनार्य देवी का वैदिकों द्वारा समन्वित रूप है।

प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक दार्शनिकता का अर्थ और आशय

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक चरण वैदिक युग में मनुष्य का सर्वाङ्गीण

---

१ येनांतरम्मृतकृतोति मृत्यु यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण। अथर्ववेद ४।३५।२॥
२ अथर्ववेद।१५।२॥
३ देखिए— काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध पृ० २२-२४।
४ हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्। ऋग्वेद २।२०।८॥
५ स्तोम वो अद्य रुद्राय शिक्कसे क्षयद्वीरायनमसा दिदिष्टन। येभि शिव स्ववाँ एवयावभिर्दिव सिषक्ति स्वयशा निकामभि ॥ ऋग्वेद १०।६२।६॥

ध्यान समग्र जीवन और उसकी भौतिक परिपूर्णता की ओर गया। वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि यह संसार हमारे भोगने के लिए रचा गया है। यह इसलिए नहीं रचा गया कि इसे देखकर हम आँखें मूंद लें, इससे भाग खड़े हों। वैदिक संस्कृति का मूल विचार यह है कि संसार तो भोगने के लिए ही रचा गया है, इसे चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म के मार्ग पर चलते हुए भोगना चाहिए, परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतना लिप्त न हो जाया जाय कि अपनी सुध-बुध ही भूल जाय और स्वयं को इसी में खो दिया जाय।[1] वैदिक युग के मनुष्य का विश्वास था कि यज्ञ के द्वारा मनुष्य सभी वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। वह अपनी परिपूर्णता अवश्य जीत लेगा, प्रकृति एक अनुगत और लालायित वधू के रूप में उसके पास आयेगी, वह उसका द्रष्टा बन जायेगा उसके राजा के रूप में उस पर शासन करेगा।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि वैदिक जीवन प्रवृत्तिमूलक था। इस युग के प्रवृत्तिमूलक जीवन से तात्पर्य है उस जीवन का, जो चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म-मार्ग पर चले और जो यज्ञों द्वारा सँवारा जाय। वैदिक जीवन कर्म की ओर से हटकर ज्ञान की ओर भी आकृष्ट हुआ है, पर बहुत कम। उस समय तक लोगों ने मोक्ष की कल्पना नहीं की थी। अतः वैदिक युग में निवृत्तिमूलक धारा दृष्टिगत भी होती है तो अत्यन्त सूक्ष्म, और निवृत्ति से तात्पर्य है कर्म की ओर से ध्यान हटाकर ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा, सत्य—भौतिक जीवन से ऊँची वस्तु (तत्त्व) प्राप्त करने की अभिलाषा। वैदिक युग के ज्ञान की आकांक्षा ने ही औपनिषद-युग में मोक्ष के विचार को जन्म दिया।

भौतिक युग की पराकाष्ठा पर पहुँचकर जब मनुष्य 'और कुछ' के लिए आतुर हो उठा, तब आया उपनिषदों का युग। जीवन के मूल्यों में थोड़े परिवर्तन हुए, आदर्श जीवन के मान-दण्ड बदले, मनुष्य का ध्यान जीवन से हटकर जीवन से परे वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ। 'मोक्ष' पाने के लिए अनगिनत जीवन आतुर हो उठे। उपनिषदों ने जीवन को अस्वीकार तो नहीं किया, परन्तु उन्होंने यह कहा कि जगत् शाश्वत सत्ता, ब्रह्म का एक व्यक्त रूप है, यहाँ का सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ आत्मा में है और आत्मा सब में है। उपनिषदों ने इस बात को जोरों से प्रस्थापित किया कि मनुष्य की वर्तमान जीवन-विधि सर्वोच्च प्रकार की नहीं है अथवा सम्पूर्ण विधि नहीं है; उसके बाहरी मन और प्राण ही उसकी समूची सत्ता नहीं हैं, सिद्ध और पूर्ण होने के लिए उसे अपने भौतिक और मानसिक अज्ञान में से विक-

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ यजुर्वेद ।४०।१॥

२. मासिक पत्रिका 'अर्चना'—पाँचवीं पुस्तक, प्रथम भाग, पृष्ठ २१ (अरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी)

सित होकर आध्यात्मिक आत्मज्ञान में स्थापित होना होगा।[1]

वैदिक युग में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन (मृत्युपर्यन्त) प्रवृत्तिमार्गी था, परन्तु उपनिषद्-काल में वेदो के ज्ञान-मार्गी स्फुट विचार जो विकसित हुए तो मनुष्य जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए अधीर हो उठा, उसके सम्मुख अब सच्चा सुख मोक्ष का हो सुख प्रतीत होने लगा। इस युग में निवृत्तिमार्गी होने की लालसा बढ़ी, परन्तु जीवन की आश्रम-व्यवस्था (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) ने जीवन को सतुलित बनाये रखा। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में तो जीवन प्रवृत्तिमार्गी रहा, परन्तु वानप्रस्थ में आकर निवृत्ति की तैयारी करने और सन्यास आश्रम में निवृत्ति मार्ग को पूर्णतया अपना लेने की परम्परा चल निकली। इस प्रकार औपनिषद युग के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का अवलम्बन करते हुए प्रतीत होते हैं। हां, इसमें सन्देह नही कि इस युग में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति को अधिक उत्तम समझा जाने लगा, पर प्रवृत्तिमार्गीय समस्त कर्मों को किये बिना निवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होने की कल्पना भी नही की जा सकती थी।

इस युग के आधार पर समस्त कर्मों की पूर्ति करके अन्त में जीवन से वैराग्य लेकर सन्यास मार्ग के अवलम्बन के सिद्धान्त को निवृत्तिवाद कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक स्वर्गीय श्री एम० हिरियन्ना के मतानुसार निवृत्ति-मार्ग ने भौतिक ससार से पूर्णतया निवृत्त होकर समस्त कर्मों के त्याग पर जोर दिया और प्रवृत्तिमार्ग ने निस्सन्देह समस्त कर्मों को करने का आदेश देते हुए, लोक-जीवन-साधना की पुष्टि की।[2]

महाभारत काल तक आते-आते प्रवृत्ति-साधना और निवृत्ति-साधना दो विभिन्न साधनाएँ न होकर सम्बद्ध साधनाओं के रूप में व्यक्त हुई है। यह निरूपित हुआ कि कर्म के त्याग की आवश्यकता नही। अपना-अपना कर्म करते हुए भी व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त होगी, 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः ससिद्धि लभते नर' प्रवृत्ति मार्ग अपनाना चाहिए, कर्म-मार्ग अपनाना चाहिए और एक अवस्था के बाद यही मार्ग ब्रह्म-

---

१. मासिक पत्रिका अर्चना-पाँचवीं पुस्तक, प्रथम भाग।

२ The first deal of nivritti, as it is called, advocated the giving up of all karma and withdrawing from the work-a-day world entirely The second one of pravritti, no doubt, recommended living in the midst of society understanding all the implications implied thereby.

— M. Hiriánna : Outline of Indian Philosophy. p. 120.

पद तक पहुँचा देने में समर्थ होगा।[1] कर्मयोगी अपने निष्काम, नि:स्वार्थ कर्मों द्वारा भगवान्—सर्वरूप भगवान्—की सेवा करता है।

गीता के अनुसार प्रवृत्ति का अर्थ है संन्यास न लेकर मरणपर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म ही करते रहना।[2] श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते समय निष्काम कर्म पर अधिक जोर दिया है। आसक्ति का वर्जन कर कर्मपथ पर आरूढ होने को ही निष्काम कर्म कहा गया है। गीता की यह ध्वनि कभी नहीं भुलाई जा सकती कि जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है, कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह उठता है।[3]

भारतीय दर्शन में निवृत्ति-साधना की हल्की परम्परा का श्रीगणेश उपनिषदों में होता है। यह परम्परा उपनिषदुत्तर काल में विकसित तथा बौद्ध और जैन दर्शन में जाकर प्रचंड हो उठी। हमारे यहाँ बौद्ध धर्म के पूर्व गृहस्थ धर्मनिन्दित नहीं, सदैव प्रशंसित रहा है। लेकिन बुद्धदेव ने कहा कि निर्वाण का अधिकारी वही होगा जो गार्हस्थ्य का त्याग करके भिक्षु हो जाएगा। निर्वाण अन्य लोग भी प्राप्त करेंगे, मगर उन्हें ज़रा समय लगेगा। केवल बौद्ध ही नहीं, जैन-धर्म का भी यही विश्वास था कि मोक्ष संन्यास के बाद ही मिल सकता है। यही कारण है कि श्वेताम्बर पंथ में तो नारियाँ भिक्षुणी हो सकती थीं, परन्तु दिगम्बर पंथ वालों ने साफ घोषणा कर दी थी कि मुक्ति नारियों के लिए नहीं है। नारियों को चाहिए कि वे सीमित धर्म का पालन करें, जिससे वे पुरुष होकर पुनर्जन्म ग्रहण कर सकें, क्योंकि मोक्ष-लाभ के समीप आने पर उन्हें पुरुष होकर जन्म लेना ही पड़ेगा। असल बात यह है कि दिगम्बर पंथ में भिक्षुणी को नंगी रहना पड़ता, इस बात को दिगम्बर साधु भी अनुचित समझते थे। किन्तु मुक्ति संन्यास से ही मिलती है, यह उपदेश बड़ा ही प्रबल था।[4]

बौद्ध और जैन मत का हिन्दू धर्म पर सबसे बड़ा प्रभाव निवृत्ति का प्रोत्साहन था। इन धर्मों के अनुसार निवृत्ति जीवन को निस्सार और दु:ख-पूर्ण मानने के भाव को कहते हैं। जन्म लेना ही बुरा है, क्योंकि जन्म लेने से ही जीवन के सब कष्टों का सामना करना पड़ता है, इसलिए उचित यह है कि हम ऐसी कोशिश करें कि आगे हमारा जन्म ही न हो।[5] परन्तु बौद्ध धर्म का एक और पक्ष था जो कर्म और

---

१. तारकनाथ बाली : सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य, पृष्ठ १६५-१६६।

२. बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, पृष्ठ १४।

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता ।२।४७॥

४. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १४७।

५. वही—पृष्ठ १६६।

सृजन की ओर मुड़ा था, जिसने जीवन को एक नया प्रकाश और नया अर्थ दिया, नयी नैतिक और आदर्श-शक्ति प्रदान की,[१] जो बोधिसत्वों के लोक-सेवा वाले लोकोत्तर आदर्श के रूप में व्यक्त हुआ, जो प्रवृत्तिवादी वेदान्त के जीवन्मुक्ति वाले आदर्श का समकक्ष है।

लगभग छठी शताब्दी में व्यापक रूप में प्रसरित होकर बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सभी मतों को प्रभावित करने वाली आनन्दवादी तान्त्रिक साधनाओं की दृष्टि प्रवृत्तिवादी थी, जिससे निवृत्तिवादी दृष्टि बहुत कुछ सीमित तथा सन्तुलित हुई।

इसके बाद सातवीं शती में शंकर का मायावाद आया। शांकर सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त है कि यद्यपि चित्त-शुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिए स्मृति-ग्रन्थों में कहे गये गृहस्थाश्रम के कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं, तथापि इन कर्मों का आचरण सदैव न करते जाना चाहिए, क्योंकि उन सब कर्मों का त्याग करके अन्त में सन्यास लिए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता है। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी हैं। इसलिए सब वासनाओं और कर्मों से छूटे बिना ब्रह्मज्ञान की पूर्णता हो ही नहीं सकती। इसी सिद्धान्त को निवृत्तिवाद कहते हैं।[२]

भारतीय दर्शन का इतिहास एक और मोड़ तब लेता है, जब भारत में मुसलमानों का आगमन हुआ। मुसलमानों का जीवन प्रवृत्ति-मार्गी था, उनका मौलिक विश्वास पृथ्वी के भोग में था। मरकर जीवन से भाग निकलने की आतुरता इस्लाम की मौलिक शिक्षा नहीं थी। यह चीज इस्लाम में सूफियों ने पहुँचाई। मुसलमान तो जीवन को ठोस उपभोग की वस्तु मानता है।[३] उन दिनों मायावाद और कर्मफलवाद में विश्वास करने के कारण हिन्दुओं में एक प्रकार की निष्क्रियता आ गई थी, अन्याय का विरोध करने का उनके पास कोई दार्शनिक आधार नहीं रह गया था और इसी कारण उनकी सुधार-भावना भी कुंठित हो गई। इसका फल यह निकला कि हिन्दू धार्मिक-सहिष्णुता और शान्ति के प्रेमी हो गये,[४] जिसके कारण मुसलमानों को हिन्दुओं पर प्रभुत्व स्थापित करने में सरलता हुई। मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ संघर्ष में हमारे देश में प्रवृत्तिमूलकता तो बनी रही, परन्तु इस देश में आकर मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के निवृत्तिमार्ग को अंगीकार किया, इस बात से हम इन्कार नहीं कर सकते। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी

---

१. श्री अरविन्द . भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ७९।
२ लोकमान्य तिलक : गीता-रहस्य, पृष्ठ १४।
३ रामधारीसिंह दिनकर . संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३५१।
४. वही—पृष्ठ ३५२।

से सत्रहवीं शताब्दी तक राजपूतों ने देश, धर्म, संस्कृति तथा आन-बान की रक्षा के लिए जो संघर्ष किया, उसमें त्याग और वीरता के जो अनुपम नमूने उन्होंने उपस्थित किये, उनका चित्रण भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में नहीं पाया जाता। सम्भवतः इसी कारण कि भक्ति की लहर ने साहित्य को आच्छन्न कर लिया था और प्राकृत जन का गुणगान सरस्वती का अपमान समझा जाने लगा था[1]। भक्ति-धारा के विकास के पूर्व शंकर आदि आचार्यों ने मायावाद पर बल देकर ज्ञान और कर्म को परस्पर विरोधी बतलाकर मुक्ति के अभिलाषियों (सन्यासियों) को कर्मकांड की विधियों के परित्याग का उपदेश दिया था। दोनों मार्गों के सिद्धान्तों के परस्पर विरोधी होने के कारण दैनिक जीवन में समस्या प्रस्तुत होने पर दोनों में से किसी एक को सहसा स्वीकार कर लेना सहज नहीं था। दोनों मार्गों का समन्वित रूप भक्ति-धारा में लाने का प्रयास किया गया। प्रारम्भ में आर्यों के भीतर कर्मकाण्ड प्रधान था और भक्ति गौण थी। जब भक्ति आन्दोलन का प्रचार प्रारम्भ हुआ, तब भक्ति ही प्रधान हुई और कर्मकाण्ड गौण हो गया। गीता में हम कर्मकाण्ड को गौण देखते हैं, क्योंकि गीता का कर्मयोग कर्मकाण्ड नहीं, कोई और वस्तु है। यह भी कहा जा सकता है कि भारत में जब आर्यों का भारतीयकरण प्रारम्भ हुआ, तब आर्य पहले तो प्रवृत्तिवाद से हटकर निवृत्ति की ओर आए और बाद में कर्मकाण्ड के बदले उन्होंने भक्ति-मार्ग को प्रधान मान लिया।[2] इसीलिए भक्ति-धारा में कुछ तो निवृत्ति-दर्शन के सिद्धान्त आ गये और कुछ प्रवृत्ति-दर्शन के। भक्ति-काल में अपने इष्टदेव के ऊपर आश्रित रहने का भाव और जीवन के सुख-भोगों के प्रति वैराग्य तथा नारी के प्रति हीनता का भाव जहाँ निवृत्ति के लक्षण हैं, वहाँ भक्ति के लिए प्रेमभाव को स्वीकार करना और भगवान को विश्वमय तथा संसार को भगवान की लीला मानते हुए आत्म-कल्याण की अपेक्षा जन-कल्याण के भाव को अपनाना प्रवृत्ति-दर्शन के पोषक हैं। वस्तुतः मुस्लिम अत्याचारों के विरोध में जीवन में जो निष्क्रियता आ गई थी, उसके लिए 'भक्ति' की भावना ने मानव-जीवन का बहुत कल्याण किया।

राजपूत-मुगल-काल में मुस्लिम अत्याचारों के विरोध में जो निष्क्रियता और निष्प्राणता आ गई थी, उसमें सक्रियता तथा सप्राणता के दर्शन औरंगजेब द्वारा धर्म पर सीधे प्रहारों के फलस्वरूप हुए और हिन्दुओं का जातीय जीवन द्विगुणित वेग से प्रज्वलित हो उठा, जैसा कि हम महाराष्ट्र में समर्थ गुरु रामदास व शिवाजी के नेतृत्व में और पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में देखते हैं।

---

१. कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।।
(रामचरितमानस, बालकांड)

२. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३६८।

भारत की संस्कृति में बड़े-बड़े नवोत्थान हुए, परन्तु अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद का जो नवोत्थान हुआ, वह सबसे अधिक शक्तिशाली रहा। इस सांस्कृतिक आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय जनता में आत्मगौरव का भाव जगा, जिसने उसे स्वतन्त्रता-संग्राम की ओर उन्मुख किया। इस युग का प्रधान लक्षण था निवृत्ति का त्याग। इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक प्रभृति देश के नेताओं ने भारतीयों को इस बात का स्मरण कराया कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश प्रवृत्ति ही तो है, निवृत्ति कहाँ है? उन्होंने वेदान्त और गीता का नई व्यवस्था करके यह प्रतिपादित किया कि जीवन सत्य है, संसार सपना नहीं है, वैराग्य जीवन की पराजय को नहीं कहते हैं तथा कर्माकर्म का विचार ऐसा नहीं होना चाहिए कि मनुष्य के इहलौकिक सुखों का ही नाश हो जाय। असल में, उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान भारत में प्रवृत्तिवाद का ही अनुपम उत्थान है। राममोहन, दयानन्द, 'रामकृष्ण, विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति पर इतना जोर दिया कि सारा हिन्दू-दर्शन प्रवृत्ति के उत्स-सा ही दीखने लगा और सन्यास से गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ समझने की जो बाधा कालान्तर में उत्पन्न हो गई थी, वह आप से आप क्षीण होने लगी।[1]

अतः आधुनिक हिन्दू-दर्शन की प्रवृत्तिमार्गी धारा आधुनिक मानवतावाद से पुष्ट वैदिक-दर्शन की प्रवृत्तिमार्गी धारा का पुनरुत्थान-रूप ही है, जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता की वृद्धि की, शूद्रों का गौरव बढ़ाया, नारियों को सह-स्राब्दियों की कारा से मुक्त किया, राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना को उभारा, धर्म की गतानुगतिकता को दूर हटाया, भौतिक उत्पादन की क्षमता बढ़ायी और भारत के विस्मृत इतिहास को पुनरुज्जीवित रूप प्रदान किया।

भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक दार्शनिक धाराएँ

वैदिक युग

वेदों में एक दर्शन है, उनकी रचना नमनीय है, उनके शब्द ठोस हैं, उनके विचारों का आकार व्यावहारिक और परीक्षामूलक है, पर एक प्राचीन और सुनिश्चित अनुभूति के पक्के साँचे में ढला हुआ है, ऐसे साँचे में नहीं ढला है जो कच्चा और अनिश्चित है। जबकि बाद के दर्शनशास्त्र-ज्ञान के ग्रन्थ हैं और मुक्ति को एक परम श्रेय मानते हैं, वेद कर्म के ग्रन्थ हैं।[2]

वस्तुतः वेदकालीन आर्यों का सम्पूर्ण जीवन प्रवृत्तिमार्गी था, उनके जीवन के मूल्य ठोस कर्म पर आधारित थे। उस युग में कर्म (यज्ञ) न करनेवाले व्यक्ति

---

१. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४५।
२ अर्चना : पाँचवीं पुस्तक, प्रथम भाग, पृष्ठ १६।

दस्यु माने जाते थे।[1] मनुष्य की कर्मण्यता का ठोस स्वरूप, जिसमें सागर की गहराई और आकाश की ऊँचाई होती है, तब दृष्टिगत होता है जब मनुष्य का जीवन कर्म बन जाय और कर्म जीवन बन जाय एवं कर्म तथा जीवन इतने एका-कार हो जायें कि मनुष्य कथन करने के लिए भी जिह्वा का उपयोग न करके कर्मों का ही प्रयोग करे, कर्म ही मुखरता की शक्ति ग्रहण कर ले। वेदकालीन ऋषियों के सामने कुछ इसी प्रकार का आदर्श था। उनका आदेश था कि हम कर्म में इतने रत हो जायें कि वाणी से न बोलकर कर्मों से ही बोलें।[2]

वैदिक ऋषियों ने जीवन-यात्रा के लिए जो राज-मार्ग प्रस्तुत किया है,[3] उसमें भोग और त्याग का विभाजन नहीं है, अर्थ, धर्म तथा काम एक-दूसरे से विरहित नहीं हैं, उसमें अभ्युदय तथा निःश्रेयस्, भोग तथा अमृतत्व जीवन के स्वाभाविक उत्तरोत्तर विकास के रूप हैं। यह ऋत-मार्ग पथिक की ऊँचाई-निचाई पार कराते, खट्टे-मीठे फलों का आस्वादन कराते हुए अन्तस्तल की रस-सिक्त गहराइयों में उतारनेवाला तथा दिव्य-प्रकाशमय निर्बन्ध विशद उच्च भाव-भूमि पर अवरोहण करनेवाला है। यह जीवन को स्वर्ग से जोड़नेवाला तथा स्वर्ग को इसी जीवन में उतारनेवाला है। इस जीवन में स्वार्थमय आसक्ति-युक्त भोग तथा विषाद-जनित ज्ञान-वैराग्य के दो स्तर तथा तदनुसार दिशा-भेद नहीं है। जीवन उत्तरोत्तर वर्द्धमान आनन्दमयता, अमृतत्व की ओर बढ़ती हुई यात्रा है। यह त्यागपूर्वक भोग[4] के आदेश के पालन द्वारा कृतार्थता का मार्ग है, जिसमें कर्मों को करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करने[5] का विधान है।

वैदिक आर्य-जन में शिशु-स्वभाव-सुलभ विश्वासमय सरलता थी। वे प्रकृति के साथ आत्मीयता अनुभव करते थे और प्रकृति की शक्तियों—सूर्य, वायु, अग्नि, पर्जन्य आदि के सचालक सूर्यदेव, वायुदेव, अग्निदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव से यज्ञ द्वारा सम्पर्क स्थापित करते थे एवं उनसे श्रद्धापूर्वक उनकी कृपा तथा अपनी सभी इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति की प्रार्थना करते थे, उसी भाँति, जिस भाँति शिशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माता-पिता से करते हैं। उनकी प्रार्थनाएँ मुख्य रूप से सुख समृद्धि, आनन्दोल्लास, दीर्घायुष्य, सुयोग्य सन्तान, वर्षा, विद्या,

---

१ 'अकर्मा दस्यु'—ऋग्वेद १०।२२।८।।

२ उत स्वेन क्रतुना सं वदत। ऋग्वेद १०।३१।२।।

३ ऋग्वेद में पूर्व ऋषियों को 'पथिकृत्' कह कर नमस्कार किया गया है। इदं नम ऋषिभ्य पूर्वजेभ्य पूर्वेभ्य पथिकृद्भ्य। (ऋ० १०। १४। १५)

४ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा—यजुर्वेद ४०।१।।

५ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा। (यजुर्वेद ४०।२)।

सद्बुद्धि, शक्ति, विजय, शत्रु-संहार, विपत्ति-निवारण, पाप शमन, अमरत्व-प्राप्ति आदि के लिए हुआ करती थी। दैवी शक्ति के प्रति विश्वासपूर्ण प्रार्थना के द्वारा उससे सम्पर्क स्थापित करने का भाव आधुनिक मानसिक चिकित्सकों के मत से स्वास्थ्य के लिए सुगम उपाय है और उनके तथा मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसे स्वस्थ मन का परिचायक, तथा दिव्य-शक्ति से विभक्त होकर सब भार अपने ऊपर लेनेवाले, दिशा-परिवर्तन युक्त मोड़ वाले जीवन के द्विविध विभाजन को अस्वस्थ मन का परिचायक माना गया है।[1]

वेदकालीन प्रार्थनाओं में एवं अन्य वैदिक मन्त्रों में जीवन के प्रति वैदिक आर्यों की भावना का जो चित्र अंकित है और उनके जीवन की जो झाँकी मिलती है, वह आनन्दोल्लासमय तथा उज्ज्वल आशामय उत्साह, शौर्य-वीर्य पराक्रम की भावना से परिपूर्ण है, उसमें निराशा या विषाद की छाया भी नहीं है। इस बात के कहीं संकेत नहीं मिलते कि वे जीवन से ऊबे हुए थे या उसे दुःखपूर्ण अथवा उपेक्षणीय मानते थे। वैदिक आर्यों के प्रवृत्तिमुखी जीवन की पुष्टि वेदों में व्यक्त निम्नलिखित तथ्यों से होती है :—

आनन्दोल्लास—ऋग्वेद में जीवन को आनन्दोल्लास से परिपूर्ण करने की आकांक्षा दृष्टिगत होती है '—वायु मधु (मकरन्द) की वर्षा करती है। नदियाँ मधुर जल प्रवाहित करती है। ओषधियाँ हमारे लिए मधुर रस से युक्त हो। हमारे रात-दिन मधुमय हों। पृथ्वी (माता) के रजकण हमारे लिए मधुमय हो। पिता के समान पालन करनेवाला द्युलोक हमारे लिए अमृतमय हो। वनस्पतियाँ और सूर्य हमारे लिए आनन्दमयी हो। हमारी गौएँ माध्वी-अमृत के समान दूध देने-वाली—हों।'[2]

अथर्ववेद में दीर्घायु और स्वस्थ जीवन की कामना व्यक्त की गई है '—

'हम सौ वर्ष (पूरी आयु) जीवित रहें, देखने-सुनने में सशक्त रहें, ज्ञान का उपार्जन करें, निरन्तर उन्नति करते रहें, पुष्ट रहें, आनन्दमय स्वस्थ-जीवन व्यतीत

---

१. देखिए—कल्याण का भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अंक, पृष्ठ ४३४-४४ तथा विलियम जेम्स कृत 'The Varieties of Religious Experience' में दो अध्याय The Religions of Healthy Mindedness और The Sick Soul'.

२. मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्न सन्त्वोषधी। मधु नक्तमुतोषसो॥ मधुमत् पार्थिवं रज। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान् नो वनस्पति। मधुमानस्तु सूर्य। माध्वीर्गावो भवन्तु न।

(ऋग्वेद १।६०।६-८)

करते रहें तथा सद्गुणों एवं यश से अपने को भूषित करते रहें ।[1]

सौन्दर्य-चेतना—ऋग्वेद में सौन्दर्य का वर्णन बड़े ही काव्यमय रूप से मिलता है । नर्तकी के समान सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित उषा प्राणों में उदय होकर अपना सौन्दर्य प्रदर्शन करती है । प्राचीन होने पर भी उषा सदैव नवयौवना है, वह बार-बार नया जन्म लेती है । उषा का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है; वह सूर्य की प्रिया या प्रेयसी है ।[2]

शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य—यजुर्वेद में अग्निदेव की उपासना में कहा गया है :—अग्निदेव ! आप शरीर की रक्षा करनेवाले हैं, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए । आप आयु देनेवाले हैं, मुझे पूर्ण आयु दीजिए ।....मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी न्यूनता हो, उसे पूर्ण कर दीजिए ।[3]

हमारी प्रार्थना है कि हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हो ।[4]

प्रेमपूर्ण आदर्श पारिवारिक जीवन—अथर्ववेद में प्रेम-पूर्ण पारिवारिक जीवन का उपदेश है :—हे गृहस्थो ! तुम्हारे पारिवारिक जीवन में परस्पर ऐक्य, सौहार्द्र तथा सद्भावना होनी चाहिए । द्वेष की गन्ध भी न हो । एक-दूसरे को वैसे ही प्यार करो, जैसे गाय अपने सद्यःजात बछड़े को करती है । पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती तथा उनके साथ एक-मन होकर रहे । पत्नी-पति स्नेहयुक्त मधुर वचन बोलें । भाई-भाई से और बहन-बहन से द्वेष न करे । तुम्हें चाहिए कि एक-मन होकर समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए आपस में स्नेहपूर्ण वाणी का व्यवहार करो ।'[5]

---

१. पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूयेम शरदः शतम् । भूयसी शरदः शतात् ॥ (अथर्ववेद १९।६७।१-८)

२. ऋग्वेद ३। ६१ । १-४ ॥

३. तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि । आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि....यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण । (यजुर्वेद ३।१७)

४. अश्मा भवतु नस्तनूः । यजुर्वेद २९।४९॥

५. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ (अथर्ववेद ३।३०।१-३)

वेद-मन्त्रों में कहीं चतुराश्रम्य-व्यवस्था का उल्लेख नहीं है। सर्वप्रथम उल्लेख छांदोग्य उपनिषद् में मिलता है।[1] वैदिक युग में गार्हस्थ्य का ही बोलबाला था। विवाह सम्बन्धी मन्त्रों[2] द्वारा, जीवन-पर्यन्त गार्हस्थ्य के विहित होने से तथा श्रौत कर्मकाण्ड में दम्पति द्वारा जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र के विधान से[3] प्रमाणित होता है कि ऐकाश्रम्यवाद[4] तथा अग्निहोत्र का जरामर्यवाद[5] मान्य था। बौधायन धर्मसूत्र में ऐकाश्रम्य के समर्थन के साथ आश्रम-भेद को यह कहकर अमान्य बतलाया है कि इसे प्रह्लाद-कुल के कपिल नामक असुर ने किया अर्थात् यह आसुरी मूल का है।[6]

आदर्श राष्ट्रीय जीवन तथा सामाजिकता की भावना—यजुर्वेद में कहा गया है:—भगवन्! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों। शूर शस्त्रास्त्र-विद्या में दक्ष, शत्रु-संहारक, रोगमुक्त और महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। दुधारू गायें, भारवाही पुष्ट बैल और शीघ्रगामी अश्वों की विपुलता हो। सर्वगुण सम्पन्न सुशील सुन्दर स्त्रियाँ हों। यजमानों के पुत्र विजयशील, युद्धार्थ सन्नद्ध, सभ्य, समर्थ और वीर हों। हमारी आवश्यकता के अनुसार मेघ वर्षा करें। हमारे खेतों में प्रभूत अन्न उपजे। हमारा योग-क्षेम सम्पन्न हो।[7]

---

१. छांदोग्य उपनिषद् ॥ २।२३।१॥
२. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। ऋग्वेद १०।८५।३६।
३. 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'—देखिए जैमिनीय न्यायमाला-विस्तर (६।२।६) ऐकाश्रम्यं, तु आचार्य (प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थस्य गार्हस्थस्य)। गौतम धर्मसूत्र, ३।३६॥
४. ऐकाश्रम्य त्वाचार्य अप्रजननत्वादितरेषाम् बौधायन सू० ।२।६।११।२९-३०॥
५. एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यन्ते मृत्युनावा। (शतपथ ब्रा० १२।४।१।१)
६. प्राह्लादि वै कपिलो नामासुर आस।
स एतान् भेदाञ्चकार ,ता मनीषी नाद्रियेत्। बौधायन धर्मसूत्र २।११।२९-३०॥
७. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजुर्वेद २२।२२)

साहचर्य-भावना के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है :—

हे मनुष्यो ! साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, तुम्हारे हृदयों में एक-सूत्रता हो।[१]

पृथ्वी के प्रति ये उक्तियाँ कितनी सार्थक हैं।

यह विस्तृत पृथिवी हमारी माता है।[२]

भूमि मेरी माता है, और मैं उसका पुत्र हूँ।[३]

उद्योगशीलता, जागरूकता, श्रमशीलता—ऐतरेय ब्राह्मण में श्रम का बड़ा सारगर्भित गुणगान है, जिसे श्रम संगीत कहा जा सकता है। इसमें सच्चा जीवन-दर्शन छिपा है, जिसे वैदिक युग के आर्यों ने अपने आचरण में अंगीकार किया। अन्तःकरण निर्दिष्ट मार्ग पर चलना ही 'ऋतस्य पन्था'[४] का अनुसरण है, इससे जीवन मधुमय होता है, आनन्दोल्लासमय होता है। इस प्राकृत नियम (ऋत) के अनुसार आचरण (सत्य) न करना ही अनृत, पाप है। श्रम से भागना ही जीवन को नीरस बनाता है और वैराग्य का कारण बनता है। इस श्रम-संगीत की अभिव्यक्ति इस प्रकार है—

इन्द्र ने पुरुष-रूप में रोहित से कहा—'हे रोहित ! सुनते हैं, जो श्रम से श्रान्त नहीं होता, उसे श्री प्राप्त नहीं होती। भला मनुष्य भी जो बैठा रहता है, पापी है। इन्द्र उसी की सहायता करता है, जो श्रमशील है। इसलिए श्रम करते रहो (कर्तव्य के अनुसार चलते रहो)। श्रमशील ही मधु अर्थात् जीवन के माधुर्य, आनन्द को पाता है, वही स्वादिष्ट फल का आस्वाद लेता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो सदा चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। श्रम करते रहो।[५]

यह बात झूठ नहीं कि देवता उसी की सहायता करते हैं, जो श्रम करता है।[६]

---

१. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋग्वेद १०।१९१।२॥

२. माता पृथिवी महीयम्-ऋग्वेद।१।१६४।३२॥

३ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्ववेद १२।१।१२ ॥

४ ऋग्वेद १।१२४।३॥

५ नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित ! शुश्रुम।
पापो नृषद् वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥ चरैवेति चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥ चरैवेति. (ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५)

६ न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः। ऋग्वेद १।१७९।३॥

मनुष्य जिस लक्ष्य में दत्तचित्त होता है, उसे श्रम से प्राप्त कर लेता है।[१]

पुरुषार्थ मेरे दाएँ हाथ में है तो विजय मेरे बाएँ हाथ में बनी बनाई है।[२]

शौर्य-वीर्य तेजस्विता की भावना—उत्साहमयी शौर्य-वीर्य-तेजस्विता की भावना भी वैदिक आर्यों के जीवन की एक प्रमुख विशेषता थी—

'हे प्रभो ! आप तेजःस्वरूप हैं, मुझमें तेज का आधान कीजिए। आप वीर्य रूप हैं, मुझे वीर्यवान कीजिए। आप बलरूप हैं, मुझे बलवान कीजिए। आप ओजःस्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए। आप मन्यु-रूप हैं, मुझमें मन्यु (अनौचित्य पर होनेवाला क्रोध) का आधान कीजिए। आप सहःरूप हैं, मुझे साहसी कीजिए।[३]

शव-संस्कार के समय भी वीरगति को प्राप्त शूर का धनुष उसके हाथ से छूटता नहीं है। पुरोहित उसे उसके हाथ से लेते हुए ओजस्वी शब्दों में कहता है....मृत के हाथ से हम धनुष लेते हैं, अपने क्षात्र-धर्म के पालन, वर्चस् तथा बल के लिए। हे वीर ! यही तुम हो, हम सुवीर, शत्रुओं के सब आक्रमणों पर विजय पायें।[४]

'हे राजन्, वरुणदेव ! मेरे द्वारा किए हुए सभी ऋणों को दूर कीजिए। मैं दूसरों की कमाई न खाऊँ। मेरे जीवन में अभी बहुत-से उषाकाल आनेवाले हैं। मुझे ऐसा बनाइए कि मैं अपने पुरुषार्थ से जीवन-यापन करूँ।[५]

विश्व-हित की भावना—वैदिक आर्यों में एक दूसरे को परस्पर मित्र-भाव से देखने की भावना थी, 'मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब

---

१. यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्। ऋग्वेद ५।४४।८॥

२. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्ववेद १०।२२।८॥

३. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि। (यजुर्वेद १९।९)।

४. धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥
(ऋग्वेद १०।१८।९)

५. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥ ऋग्वेद २।२८।९॥

एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।[१]

एक दूसरे की सब तरह रक्षा-सहायता करना मनुष्यों का कर्तव्य है।[२]

अकेले खाने वाला केवल पापमय होता है।[३]

जिसका अन्न दूसरे खाते हैं, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।[४]

यज्ञ—वैदिक आर्य भौतिक सुख का देवों के वरदान के रूप में उनके प्रति कृतज्ञता-सहित भोगते हुए अमृतत्व का आकांक्षी था। उसने इहलौकिक सुख-भोग तथा मरणोत्तर शाश्वत आनन्दोपभोग का साधन यज्ञ को बनाया। यज्ञ के द्वारा उसने इहलोक और परलोक का ऐक्य-सम्पादन करना चाहा, आनन्द-पूर्ण स्वर्ग को इस पृथ्वी पर उतारना चाहा। यज्ञ का अर्थ है पूजा-भेंट द्वारा देवताओं की उपासना, उनकी कृपा, उनका सामजस्य प्राप्त करना, उनके साथ मन का तार जोड़ना, संगति स्थापित करना। कहा गया है—'यज्ञ देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु।' याज्ञिक विधान जो वैदिक साधना का केन्द्र था, व्यक्ति तथा ब्रह्माण्ड की विश्वव्यापी शक्तियों के बीच स्थित सतत आदान-प्रदान की भावना पर प्रतिष्ठित था।[५] उपासना का विकास स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से अन्तर्मुखी दिशा में रहा है और उसके करणोपकरण बदलते रहे हैं। जैसा श्री अरविन्द ने दिखलाया है, वैदिक प्रणाली में इसका बाह्य आधार देहप्रधान मनुष्य के मन पर रखा गया, जिसकी स्वाभाविक श्रद्धा जड़ जगत् के भौतिक पदार्थों में थी।[६] वे प्रकृति के दृश्य-रूपों के पीछे छिपी दिव्य कल्याणकारी शक्तियों-पृथिवी-माता, द्यौ-पिता, सूर्य चन्द्र, वायु, मेघों पर शासन करनेवाले देव, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, वायु - ऋतुपरिवर्तन के संचालक जल-देवता वरुण आदि की उपासना करते थे। वे उनसे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थनाएँ करते थे तथा उनके आह्वान के लिए अग्नि में आहुतियाँ डालकर यज्ञ करते थे। आहुतियों के साथ उच्चरित करते हैं 'इदन्न मम'

१. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजुर्वेद ३६।१८॥

२. पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः। ऋग्वेद ६।७५।१४।

३. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद १०।११७।६

४. सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति। अथर्ववेद ९।७।८॥

५. देखिये—दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवादिवम्। सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतु-र्भुवन द्वयम्॥ रघुवंश।१।२६ (रघुवंशी राजा पृथ्वी रूपी गौ को दुहता था (बदले मे) मघवा (प्रभूतदानी, इंद्र) आकाश को दुहता था। इस प्रकार संपत्ति के विनिमय से दोनों भुवनों का पालन करते थे।

६ श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ १४०।

यज्ञ के साथ त्याग, अर्पण की भावना है देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग यज्ञ है।[1]

ये यज्ञ सब प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते थे। अग्नि में आहुति देते हुए उनसे शक्ति, ज्योति, आनन्द पाने की आशा की जाती थी। एक मंत्र में कहा गया है कि अग्नि के द्वारा हम दिन-प्रति-दिन धन और सम्पत्ति को पायें, यश प्राप्त करें और बहुत-से वीरपुत्रों वाले हों। इन्द्र बल-विक्रम प्रदान करने वाले देवता थे। ऋग्वेद में सबसे अधिक मन्त्र उन्हीं के हैं। आनन्द के प्रतिनिधि देवता सोम आनन्दोल्लास की मदिरा पृथ्वी के अन्दर से निकालने की क्षमता रखते थे। सूर्य की शक्तियाँ थी—वरुण, मित्र, अर्यमन् और भग; सोम की शक्तियाँ थी, यमज अश्विन तथा इन्द्र के सहायक थे। उनके कारीगर ऋभुगण। उषा, सरस्वती और पृथ्वी आदि देवियों को भी यज्ञ अर्पित किए जाते थे।

चातुर्वर्ण्य—वैदिक जीवन की प्रवृत्तिमूलक साधना चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म पर आधारित थी। चारों वर्णों के लोग मिलकर समाज की अभीष्ट उन्नति में कर्मशील होते थे। वास्तव में सत्व, रज और तम नामक तीन तत्त्वों से मन क्रमशः सात्विक, राजसिक और तामसिक कहलाता है, इसी के सिद्धान्त पर समाज का विभाग सात्विक, सात्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों के रूप में कर दिया गया है।[2] मनुष्य यदि चाहते तो वर्ण-परिवर्तन कर सकते थे, इसके नियम वैदिक युग में इतने कठोर न थे, परन्तु मनुष्य चाहे जो वर्ण स्वीकार करते, उन्हें अपने उस वर्ण के अनुसार निर्धारित सिद्धान्त को मानना ही पड़ता था। सच्चे ब्राह्मणों से यदि अपेक्षा की जाती थी कि वे ब्रह्मतेज धारण करें, ज्ञान से दीप्त हों, साधना में रत हों, राष्ट्र को सन्मार्ग दिखलाने वाले हों तो क्षत्रियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे शूरवीर, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुण, शत्रुओं को उद्विग्न करने वाले, महारथी एवं देश के रक्षक हों।[3] वैश्यों का इष्ट धन ऐश्वर्य था, उनका कर्तव्य था कि वे पुष्टिकारक, यश और कीर्तिदायक, अत्यन्त बलकारक धन-ऐश्वर्य को अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करें। शूद्रों को श्रम की आजीविका चलाने का आदेश दिया जाता था।[4] चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के

---

१. न्याय-माला विस्तार, ४।२।२८ * यज्ञ को विकसित औपनिषद-भावना के लिए देखिए छांदोग्योपनिषद् ५।१२-२४ (वैश्वानर-उपासना), तथा ३।१६-१७ (पुरुष यज्ञ-विद्या)। आगे के पृष्ठों में पर इस ओर संकेत किया गया है।

२. देखिए-यजुर्वेद २२।२२

३. अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ऋग्वेद १।१।३॥

४. तपसे शूद्रम्। (यजुर्वेद)

सिद्धान्त के आधार पर वैदिक युग प्रवृत्ति की स्वस्थ धारा से होकर गुजर रहा था, क्योंकि इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रत्येक मानव को अपनी स्वाभाविक उदात्त वृत्तियों के विकास का विस्तृत क्षेत्र मिलता था, इसके द्वारा मानवता के सम्मान और गौरव की रक्षा करते हुए, सतत प्रयत्न से दिव्य मानवीय व्यक्तित्व को पा लेना सहज था।

आश्रम-व्यवस्था—चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के समान ही आश्रम-व्यवस्था का भी प्रारम्भ वैदिक युग से हुआ। वस्तुत. वैदिक मन्त्रों में चार आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) का उल्लेख नही मिलता, केवल ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम की ही चर्चा की गई है। ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के सबध में वेद-मन्त्रो में बड़े ही उत्कृष्ट विचार प्रकट किए हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में शक्तियो के विकास और सचय, मन, वाणी और शरीर के सयम के साथ श्रम और तप के आचरण, चरित्र के निर्माण और विद्या के उपार्जन पर बल दिया गया है।[1] ब्रह्मचारी के सबध में एक उत्तम उक्ति इस प्रकार है, 'ब्रह्मचारी चमकते हुए देदीप्यमान ब्रह्म (परमात्मा, वेद और ज्ञान) को अपने अन्दर धारण कर लेता है। उस ब्रह्मचारी में सम्पूर्ण दिव्य गुण भली प्रकार ओतप्रोत होकर रहते हैं। ऐसा ब्रह्मचारी प्राण, अपान और व्यान को, वाणी को, मन को, हृदय को, ब्रह्मज्ञान को और मेधा को अपने में और अन्य लोगों में प्रकट करने वाला होता है।[2] ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या अर्जित कर लेने के उपरान्त विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था एवं अपनी समस्त अर्जित विद्या का उपयोग कर भौतिक जीवन की सफलता में दत्तचित्त होता था। गृहस्थाश्रम के संबध में अथर्ववेद का दम्पति को आदेश है हे दम्पत्ति! वर-वधू! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रम में ही रहो। कभी एक-दूसरे से पृथक् मत होओ। पुत्रो और पौत्रो से खेलते हुए आनन्दित रहते हुए उत्तम गृह-सामग्री से सम्पन्न होकर अपनी सम्पूर्ण आयु का भोग करो।[3] वैदिक युग में मनुष्यों को जीवन पर्यन्त प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते रहने की स्वीकृति प्राप्त थी। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम दोनों ही

---

१. सदर्प स्वोपशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्ति संयमेव पुरस्कृता॥
चारित्र्यस्य निनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा
प्रथमं तस्य कर्तव्यं जायते प्रथमाश्रमे॥ (अथर्ववेद ११।५।१०-११)

२. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधिविश्वे समोता.।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्। (अथर्ववेद ११_ ५।२४)

३. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥ (अथर्ववेद।१४।१।२२)

मनुष्यों को प्रवृत्ति-मार्ग पर चलने का सुयोग प्रदान करते थे। आगे चलकर आत्म-चिन्तन और मोक्ष-प्राप्ति की ओर प्रेरित करने वाले वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम, जिनकी आवश्यकता क्रमश आरण्यक और उपनिषद् युगों में महसूस की गई, निवृत्ति-मूलक दार्शनिकता के आधार-स्तम्भ सिद्ध हुए।

ऋण कल्पना—ऋण-कल्पना का भी वैदिक युग में कम महत्व न था। वास्तव में ऋण कल्पना आश्रम-व्यवस्था पर ही आधारित है। वेदों के अनुसार मानव के ऋण चार होते हैं, देव ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ ऋण और मनुष्य-ऋण। (१) विश्व के व्यवहार को सुचारु रूप से सम्पन्न करने वाली दैवी शक्ति व्यक्ति को जीवन के साधन प्रदान करती है। मानव जीवन पर विश्व के अनत उपकार अंकित हैं। यही धार्मिक और पवित्र भावना ईश्वर-भक्ति का मूल स्रोत है। वेदों के देव ऋण की संज्ञा से इसी उपकार की ओर सकेत किया है, यज्ञ जिससे उऋण होने का साधन है। (२) वैदिक काल में विद्याओं और कलाओं को वेद की सज्ञा प्राप्त थी। वास्तव में वेद ही ऋषियों का ऋण है। वेद के अध्ययन से ऋषियों के ऋण को चुकाया जा सकता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करके मनुष्य ऋषियों के ऋण से उऋण हो सकता है। (३) पितृ का अर्थ है पालनकर्ता। पितृ शब्द माता-पिता तथा सब पूर्वजों का बोध कराता है। हमारा जीवन ही वास्तव में वह ऋण है जो हमें उनसे प्राप्त हुआ है। इस ऋण से मुक्त होने का एकमेव उपाय है गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके पुन प्रजोत्पादन। प्रजा को निरन्तर बनाए रखना ही पितरों के प्रयत्न का मुख्य उद्देश्य है। उसे पूरा करके ही पितृ ऋण से उऋण होना सम्भव है। (४) पारस्परिक सहयोग के बल पर ही मानवी सृष्टि प्रवहमान है। यही मनुष्य ऋण है। औदार्य और दान ही इस ऋण से मुक्त होने का उपाय है।[1] इस प्रकार देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और मनुष्य-ऋण ये ही वे ऋण थे, जिनसे उऋण होने के लिए वैदिक युग के मनुष्यों को ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के माध्यम से प्रवृत्तिमूलक पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती थी। मनु ने कहा है कि ऋणत्रय को चुकाये बिना सन्यास लेने वाले का अध पतन होता है।[2]

पुरुषार्थ—त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थ भी वैदिक युग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। त्रिवर्ग के तीन तत्वों—अर्थ, धर्म और काम—को वैदिक जीवन-पद्धति की आधार शिला कहा जाता है। इस युग में मोक्ष नाम के चतुर्थ पुरुषार्थ की कल्पना नहीं की गई थी, इसकी स्वतन्त्र रूप से कल्पना उपनिषद् युग में की गई। यह कितना रोचक प्रसग है कि वानप्रस्थ और सन्यास नामक आश्रम एवं मोक्ष नामक पुरुषार्थ की—

---

१ लक्ष्मण शास्त्री जोशी वैदिक सस्कृति का विकास पृष्ठ १००।

२ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्ष तु सेव्यमानो व्रजत्यध ॥ (मनुस्मृति ६।३५)

की निवृत्तिवाद के पोषक थे—वैदिक युग में आवश्यकता ही नही महसूस की गई होगी। यजुर्वेद के ईशावास्य वाले सुप्रसिद्ध मन्त्र का आशय है, 'उस परमेश्वर के दिए हुए पदार्थ का भोग सब कुछ को भगवत्स्वरूप अनुभव करते हुए त्याग भाव के साथ कर और किसी का धन लेने की चाह न कर अर्थात लालच न कर।'[1] इस मन्त्र के माध्यम से अर्थ, धर्म और काम के सामजस्य की कैसी सुरुचिपूर्ण सीख दी गई है—ईश्वर प्रदत्त पदार्थ ही अर्थ है, इसके भोग की भावना ही काम है और त्याग भाव तथा किसी के धन के प्रति लोभ न रखना ही धर्म है। यह बात द्रष्टव्य है कि यज्ञ में आहुति के साथ 'इदन्न मम' के भाव गीतोक्त 'यज्ञशिष्टाशन' के विधान तथा भगवान को अर्पित करके प्रसाद रूप में ही भोग्य वस्तुओं को ग्रहण करने के भक्तों के नियम के पीछे 'भोग में त्याग' का यही उदात्त भाव वैदिक परम्परा में सर्वत्र गृहीत है।

सत्य तथा ऋत—सत्य और प्राकृतिक नियमो (ऋत) का एकता में वैदिक आर्यों का दृढ विश्वास था, जैसा सूर्य के प्रति इस प्रार्थना से व्यक्त होता है 'जिसके सहारे रात-दिन का क्रम अबाध रूप से चलता है, जिन पर जगम प्राणियो का जीवित रहना निर्भर है, जिसके बहाये जल स्रोत निरन्तर बहते रहते है, जिसकी प्रेरणा से ही सूर्य नित्य उदय होता है, वह मेरी सत्योक्ति मेरी सदैव रक्षा करे।'[2]

मनुष्य का कल्याण ऋत (प्राकृतिक नियमो) और आध्यात्मिक नियमो की अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में है और उसी के अनुसार आचरण सत्य है। ऋत की महत्ता दिखलाते हुए कहा गया है 'ऋत अनेक प्रकार की सुख शान्ति का स्रोत है ऋत की भावना पापो को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देनेवाली ऋत की कीर्ति बहरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ऋत की जड़ें सुदृढ हैं विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य-पदार्थों की कामना की जाती है, ऋत के कारण ही सूर्य रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है।'[3]

---

१ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (यजुर्वेद ४०।१)।

२ सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्रततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥(ऋग्वेद १०। ३७।२)

इसी प्रकार सत्य की प्रशंसा में कहा गया है प्रजापति ने सत्य और असत्य रूपों को देखकर बिलगा दिया है। श्रद्धा की पात्रता सत्य में है और अश्रद्धा की अनृत में।[1] ऋत में प्राकृतिक नियमों तथा नैतिकता दोनों की भावना है।

नैतिकता की भावना तथा वरुण की उपासना—ऋत तथा सत्य के रक्षक (ऋतस्य गोप) वरुण देवता हैं जो पापियों को दण्ड देनेवाले हैं। उनकी उपासना में भक्ति का नैसर्गिक तत्त्व, पाप से व्याकुल चित्त की आकुलता, पश्चात्ताप का दाह, पाप-पुण्य की भावना तथा प्रकाशमय देवों के प्रति मैत्री एवं विश्वास की भावना के साथ क्षमा-प्रार्थना के उद्‌गार भरे हैं। वशिष्ठ अपनी प्रार्थना में कहते हैं, हे राजन् वरुण! मैं मृत्यु के कारण मिट्टी के घर में प्रवेश न करूँ। हे बलधारी देव! दया करो, रक्षा करो हे प्रभो दैन्य के वशीभूत होकर मैं कर्तव्य-पथ के विपरीत चला गया हूँ, दया करो, रक्षा करो। हे भगवान् वरुण! कौन-सा वह घोर अपराध मुझसे बन पड़ा है, जिससे अपने सखा उपासक को मारना चाहते हो। उस पाप को बताओ, जिससे मैं उसका प्रायश्चित्त करके, निष्पाप हो स्तुतियों द्वारा आपकी उपासना करूँ। हे देव! जल के बीच तृषा से व्याकुल हूँ। हे बलधारी देव। कृपा करो, रक्षा करो। हे वरुण! मनुष्य होने के नाते हमने कुछ द्रोह देवों के विरुद्ध किया है और हे देव! अपने चित्त की दुर्बलता के कारण हमने तुम्हारे धर्म का उल्लंघन किया है, उसके कारण हमारा विनाश मत करो। हे वरुण। यह मेरा सकल्पित पाप नहीं था, यह दैवगति ही थी, यह सुरा, क्रोध, जुआ, विचार-हीनता थी, नींद भी पाप को दूर नहीं कर पाती। हे देव! हमें पितरों के पाप से मुक्ति दो, और उनसे भी जो हमने स्वयं किये हैं।[2]

कुछ विद्वानों का मत है कि असुर वर्ग के आर्यों में ही जिनमें विरक्त व्रात्यों की परम्परा का विकास बताया जाता है, पापों से मुक्ति की भावना के लिए वरुण की उपासना प्रिय तथा प्रचलित रही, आनन्दवादी आर्यों में उल्लासपूर्ण सोम-याग वाली साधना लोकप्रिय हुई। आगे चलकर इन्द्र के उपासक आर्यों के प्रधान आनंद-वादी (प्रवृत्तिवादी) वर्ग के उपनिषदों का सब पदार्थों को 'ईशावास्य' मानकर सयम-पूर्वक (त्यक्तेन) अर्थात् ऋत मार्ग से भोगते हुए कर्ममयी जीवन बितानेवाली साधना,[3] पुरुषयज्ञ विद्या,[4] वैश्वानर आत्मा की विद्या,[5] प्रजाव्रत[6] आदि प्रवृत्ति-

---

१ दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापति॥ (यजुर्वेद १६।७७)

२ ऋग्वेद ७।८६॥

३. ईशोपनिषद।

४ छांदोग्य उ० ५।१७॥

५ छांदोग्य उ० ५।११।२४॥

६ प्रश्नोपनिषद १।१३-१५।

वादी साधनाएँ विकसित हुईं, और सम्भवतः अग्निहोत्र का परित्याग कर देनेवाले वरुणोपासक व्रात्यो के अल्पसंख्यक वर्ग से ज्ञान-मार्ग की निवृत्ति-प्रधान साधनाएँ विकसित हुईं।

इन्द्र की उपासना—इन्द्र की उपासना इस प्रकार की गई है, 'हे वसो! तुम्ही हमारे पिता हो (हम पुत्रों को स्नेहवश सब कुछ देने वाले हो), हे शतक्रतो! तुम्ही हमारी माता हो (हम पुत्रो के लिए सैकडो प्रकार की कार्य-क्षमता वाली हो) अत (हम) तुम्हारी सुप्रसन्नता की प्रार्थना करते है।'[1] इन्द्र ने अपने स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपासको को आश्वासन देते हुए कहा है: वे (मेरे उपासक) पिता की तरह मुझे पुकारते है। मै दानशील व्यक्ति को सुख प्रदान करता हूँ। मैं, इन्द्र कभी परास्त नही होता। मेरे कारण धन प्राप्त हुए बिना नही रहता। मैं मृत्युगोचर (मृत्यु का विषय) कदापि नही होता। अत सोमपान करनेवालो, मुझसे धन की याचना करो, मेरी मित्रता का त्याग मत करो।[2] हम देखते है कि धृतव्रत वरुण, जो ऋत और न्याय के देव हैं और मघवन्' इन्द्र, जो कामनाओ की पूर्ति करनेवाले पोषक देव है, जीवन के दो पक्षो के परिपूरक है; किन्तु आगे चलकर इन्द्र वरुण को वैदिक देव-मडली में उनके सर्वोच्च पद से गिरा देते है। वरुण के समान भव्य-न्यायकारी और सौम्य, अपने प्रयोजन में एकरस रहनेवाला देवता सघर्ष और विजय के काल में, जिसमे आर्य लोगो न अभी प्रवेश किया था, (सर्वोच्च पद के लिए) उपयुक्त नही रह गया था।[3]

अग्नि की उपासना—अग्निदेव के स्वरूप में, जो सर्वदेवतामय है, इन्द्र और वरुणवाले दोनों पक्षों का योग है, तभी उनकी उपासना से पापमयता के भाव से व्यथित अधकार-ग्रस्त व्यक्ति सर्वोच्च ज्योतिर्मय लोक ('ज्योतिरुत्तमम्') को प्राप्त कर सकता है और नाचिकेत अग्नि को यजन करनेवाले के लिए ससार को पार कराने वाले सेतु के समान कहा गया है।[4] नचिकेता से यम ने कहा है 'मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया और मै अनित्य द्रव्यो द्वारा नित्य (परमपद)

---

१ त्व हि न पिता वसो, त्व माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे (ऋग्वेद ८।६८।११)

२ मां हवन्ते पितर न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥
अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥
(ऋग्वेद १०।४८।१५)

३ डा० राधाकृष्णन्: भारतीय दर्शन (१), पृ० ७८।

४ य सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत्परम्।
अभय तितीर्षता पारं नाचिकेत शकेमहि॥ (कठोपनिषद् १।३।२)

को प्राप्त करनेवाला हूँ।[१] इस दृष्टि से अग्निदेव का उपास्य रूप इस प्रार्थना में स्पष्ट होता है *'अग्ने! मैं मर्त्य हूँ और मित्रता की दीप्ति वाले अमर्त्य हैं। मैं और* आप एक हो जाते।[२] इसी प्रकार अग्नि से, जो वरुण के समान ही व्रतपति है, अनृतत्व की स्थिति से सत्य की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है 'हे व्रतो के पति अग्नि देव! मैं अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। आपके अनुग्रह से इसे पूरा कर सकूँ, यही मेरा व्रत है।[३] यज्ञ रूपी यह अग्नि-उपासना ही उपनिषद-काल में पुरुषयज्ञ-विद्या तथा वैश्वानर आत्मा को विद्या के रूप में आत्मविद्या में विकसित हुई। अग्नि को वैश्वानर (विश्वरूप नर या सबमें निवास करने वाला नर, आत्मा) तथा सर्वव्यापक कई बार कहा गया है। यही दृष्टि ऐक्य की भावना तथा प्रवृत्ति मूलक सेवा-भाव का आधार बनी।

अमरत्व तथा स्वर्ग—जीवन के प्रति वैदिक ऋषियों की भावना अनृत से सत्य की ओर, शोक से आनन्द की ओर, तमस् (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने की, विकसित होने की, उच्चतर लोकों (स्थितियों) की, अमृतत्व की अनुभूति करने की थी, जो उनकी स्वर्ग तथा अमरत्व की भावना में व्यक्त हुई है। आनन्दोल्लास प्रदान करने वाले पवमान सोमदेव से सोमसूक्त में प्रार्थना की गई है 'हे पवमान! जिस लोक में सुख ही सुख है, जहाँ अजस्र ज्योति है, उस अमर लोक में मुझे अवस्थित कर दो। जहाँ आनन्द, मोद, मुद और प्रमुद हैं, जहाँ काम की भी कामना पूर्ण हो जाती है (नहीं रह जाती) वहीं मुझे अमृत (अमर) बनाकर अवस्थित कर दो।'[४] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है *'अन्धकार (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) की ओर बढ़ते हुए, तथा उत्तर (उच्चतर)* स्वर्ग को देखते हुए (उसका आनन्द लेते हुए) हम सूर्य देव के (त्रिनाक में) उत्तम ज्योतिर्लोक को प्राप्त करें।'[५] इस मन्त्र में उपासना का क्रमोत्तर विकास व्यंजित है।

---

१. ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि—
   रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ कठोपनिषद् (१।२।१०)
२. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः। सहसः सूनवाहुत॥
   (ऋग्वेद ८।१९।२५)
३ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम्
   इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ (यजुर्वेद १।५)
४ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
   तत्र मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते॥ (ऋग्वेद ९।११३।७)
   यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
   कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि॥ (ऋग्वेद ९।११३।११)
५ उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।

देवताओं के साथ संगति (सम्बन्ध-स्थापन) की तीन अवस्थाएँ हैं, उनके गोचर रूप की श्रद्धापूर्ण उपासना (आधिभौतिक), उनके आन्तरिक रूप के साथ सम्पर्क (आधिदैविक) जो यज्ञ का आधार है, और उपास्य देवता के साथ एकरूपता (तादात्म्य) प्राप्त करना (आध्यात्मिक)। यह तीसरी अवस्था ही त्रिनाक में सर्वोच्च को प्राप्त करना है, जो अमृतत्व है। उपनिषदों तथा भगवद्गीता की पुण्य के क्षीण होने पर स्वर्ग से पतित होकर पुनर्जन्म का भागी होने की भावना उत्तर-कालीन है, ऋग्वैदिक देवलोक। (स्वर्ग) की स्थिति वही थी जो उत्तरकालीन ब्रह्मलोक की या भक्तों के वैकुठ या गोलोक की मानी गई।

शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के लिए प्रबल आकर्षण का केन्द्र यह संसार ही वैदिक ऋषियों की दृष्टि में स्वर्ग स्वरूप था। संसार के प्रति उदासीनता अथवा विकर्षण उससे मुक्ति (छुटकारा पाने) की भावना को वैदिक युग में स्थान न मिल सका। वैदिक ऋषि धर्म-पूर्ण रमणीय सांसारिक जीवन को ही स्वर्ग का सुन्दर साधन या स्वर्ग स्वरूप मानता था। अमरत्व के सम्बन्ध में उसका यह विश्वास था कि प्रजा (सन्तान) में मानवों में ही सच्ची अमरता सुस्थित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में मनुष्य से कहा गया है, हे मर्त्य, तुम निरन्तर प्रजा का निर्माण करते हो, यही तुम्हारी अमरता है।[1] अथर्ववेद में इसी 'को प्रजामृतत्व'[2] कहा गया है। प्रजा के रूप में अमरत्व ही वैदिक जीवन का आदर्श बना। अमरत्व के लिए अग्निदेव से इस प्रकार प्रार्थना की गई है हे जातवेदो (अग्ने)! बड़े कृतज्ञ भाव से आपका चिन्तन करते हुए मैं मर्त्य आप अमर्त्य का आवाहन कर रहा हूँ। मुझे यश प्रदान कीजिए। हे अग्ने! प्रजा के सहयोग से मुझे अमरता प्राप्त कराइये।

ऐक्य की दार्शनिक भावना—एक सूक्त में अग्नि को सर्वदेवमय के रूप में इस प्रकार दिखलाया गया है, हे अग्ने! तुम्हीं वीरों में श्रेष्ठ इन्द्र हो, विशाल मार्ग से

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजुर्वेद २०।२१)
यही मन्त्र ऋग्वेद १।५०।१० में भी है, एक सूक्ष्म पाठ-भेद के साथ। यहाँ 'स्व' के स्थान में 'ज्योतिः' पाठ है, जिससे ज्योति के उत्, उत्तर और उत्तम भेदों द्वारा सूर्यदेव के ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों में देवताओं के विविध रूप का सिद्धान्त निरूपित हुआ है।

१. प्रजामनु प्र जायसे। तदु ते मर्त्यामृतम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।५।६)
२. मन्त्र दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥ (अथर्ववेद ११।१।३४)
३ यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्॥ (ऋग्वेद ५।४।१०)

गमन करनेवाले वन्दनीय विष्णु (सूर्य) तुम्ही हो । हे बृहस्पति ! तुम धन के ज्ञाता ब्रह्मा हो, घृतव्रत राजा वरुण तुम्ही हो । शूर और प्रशंसा के पात्र मित्र तुम्ही हो । सत् के पालक तथा समीचीन दान के दाता अर्यमा तुम्ही हो । हे देव ! यज्ञ में फल देनेवाले अंश तुम्ही हो, सुपुत्रों को प्रदान करनेवाले त्वष्टा तुम्ही हो ।.... वह असुर रुद्र भी तुम्ही हो, जो स्वर्ग की महिमा है ।'[१] सर्वदेव रूप होने का यह भाव अग्नि देव तक ही सीमित नहीं रहा । सूक्ष्मदर्शी ऋषियों की अन्तर्दृष्टि ने लखा कि सब देवता एक ही नियामक शक्ति के विभिन्न नाम तथा रूप हैं । यह भाव ऋग्वेद की एक ऋचा में इस प्रकार व्यक्त हुआ है, 'विप्रगण (ज्ञानीजन) एक ही सत् (तत्व) का इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, पंखों वाले दिव्य सुवर्ण, यम, मातरिश्वा आदि रूपों में वर्णन करते हैं ।'[२] ऋग्वैदिक दर्शन का वास्तविक रूप यही है । उसमें अनेक-देववाद नहीं है, एकेश्वरवाद भी नहीं है, अनेक देवों में कोई ऐसा नहीं है जो सर्वोच्च, अन्य देवों का नियामक हो । बहुदेववाद, जिसमें अग्नि, उषा, सविता, वायु आदि प्रकृति के शक्ति-रूप देवता तथा इन्द्र, वरुण-रुद्र आदि उनके नियामक देव "केवल अविरोध भाव से ही नहीं अपितु परस्परोपकारक भाव से भी कार्य करते हुए चराचर जगत् के नैतिक (आभ्यंतर) तथा भौतिक (बाह्य) शाश्वत नियमों के अनुसार

---

१. त्वमग्ने इन्द्रो वृषभ सतामसि त्व विष्णुरुरुगायोनम स्यः ।
त्व ब्रह्मा रयिविद् बृह्मणस्पते त्व विधर्त. सचसे पुरन्ध्या ॥
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्य. ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयु. ।
त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्य तदग्नावो मित्रमह सजात्यम् ।
त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरा शर्धो असि पुरूवसुः ॥
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव ॥ (ऋग्वेद २।१।३-६)

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋग्वेद १।१६४।४६)
और भी देखिए—

(क) सुपर्णं विप्रा : कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति । (ऋग्वेद १०।११४।५।)

(ख) यो न पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ।
(ऋग्वेद१०।८२।३।)

(ग) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्त चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापतिः ॥ (यजुर्वेद ३२।१॥)

'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना-अपना कार्य करते हैं।[१]" जैसा ऋग्वेद में बतलाया गया है,[२] और जो "ऋग्वेद के मूल दर्शन की निस्सन्देह आधार-शिला है ऋग्वेद-पूर्व परम्परा का अवशेष मात्र है।[३] वैदिक दर्शन के अनुसार "इनमें से (वैदिक देवों में से) प्रत्येक देवता अपने-आप में 'एक सत्' का एक पूर्ण और स्वतन्त्र वैश्वव्यक्तित्व है और अपनी शक्तियों के संयोग में विश्वव्यापी शक्ति, वैश्वसमष्टि 'वैश्वदेव्यम्' है। और फिर प्रत्येक अपने कार्य-विशेष को पृथक् रखते हुए, अन्य देवताओं के साथ एकमय है, प्रत्येक अपने अन्दर विश्वव्यापी भगवत्ता को धारण किए हुए है और प्रत्येक देवता देवमय है।"[४] किन्तु इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति, वरुण, सविता, मित्र, पूषा, रुद्र, धाता, हिरण्यगर्भ आदि देवों की प्रशंसा करते समय जो देवता वर्णन का विषय हो, यह ऋग्वेद में चराचर सृष्टि के नियन्ता तथा सबों के ईश्वर के रूप में वर्णित है।[५] इसी बात को निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार कहा है ' अपने महाभाग्य अर्थात् महत्त्व की दृष्टि से (उपासकों की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार अलग अलग महत्त्व की दृष्टि से) तत्तद्देवता के रूप में एक ही आत्मा (तत्त्व) की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है।[६]

इस दार्शनिक भावना को लेकर अनेक देवों में से एक ही को दूसरों का नियन्ता मानने वाली यूनान आदि की बहुदेववादी दृष्टि (Heathenism या Paganism) में तथा एकेश्वरवाद (Theism) से परिचित योरोपीय विद्वान् उलझन में पड़ गए और मैक्समुलर ने वैदिक देववाद के दर्शन को एकदेवपरमतावाद (Henothesism)—अनेक देवों में से प्रत्येक को बारी-बारी से सर्वोच्च सत्ता मानने के सिद्धान्त की संज्ञा दी। इस भावना की स्पष्ट व्याख्या दादूपंथी दार्शनिक निश्चलदास ने 'विचार-सागर' के अन्त में इसे वैदिक सिद्धान्त बतलाते हुए, उपास्य देव का अनेक-रूपात्मक

---

१ डा० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृष्ठ ७३।

२ 'देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते' (ऋग्वेद १०।१९१।२) (देवता परस्परोन्मायक या सामंजस्य के भाव से ही अपने कर्तव्य का पालन करते हैं)

३ लक्ष्मण शास्त्री जोशी . वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ३४।

४ श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ १९४।

५. लक्ष्मण शास्त्री जोशी · वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ३४-३५।

६ माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । निरुक्त ७।४।

कारण (पर) रूप और अन्य देवों का कार्य (अपर) रूप स्वीकार की है,[१] जिसे 'इष्टदेववाद' कहा जा सकता है। इस दर्शन का वास्तविक आधार समन्वयवाद है, जिसे ग्रहण कर आगे पौराणिक काल में आर्य तथा आर्येतर अनेक मूलों से आये हुए विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश इन पंच देवों की उपासना में स्मार्त-मत द्वारा एक-सूत्रता स्थापित की गई तथा वैदिक और अवैदिक विभिन्न मतों में सामंजस्य स्थापित हुआ और इस प्रकार मत-मतान्तर के झगड़ों को उठने से रोका गया।

ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त के एक बड़े महत्वपूर्ण मंत्र का आशय है : साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्म-फल) का भोग करता है और दूसरा केवल देखता रहता है।[२] इस मंत्र में आगे चलकर विकसित होने वाली आत्म-विद्या बीज रूप में सन्निहित है। यह उपनिषदों के अराध्य 'पुरुषवादी' (आत्मवादी) मतों का प्रेरक आधार बना।

औपनिषद युग

वैदिक दृष्टि का ही विकास—वास्तव में देखा जाय तो उपनिषद् वैदिक मन और उसके स्वभाव तथा मूलगत भावनाओं से एकदम पृथक् नहीं हो गये हैं, बल्कि उन्हीं के आगे का विकसित रूप हैं और एक हद तक इसी अर्थ में विस्तार लाने वाले रूपान्तर हैं कि प्रतीकात्मक वैदिक वाणी में एक गुह्य रहस्य के रूप में जो कुछ छिपा हुआ था, उसे उन्होंने खुले प्रकाश में ला दिया। उपनिषद् वेदों और ब्राह्मणों के रूपकों और यज्ञ सम्बन्धी प्रतीकों से आरम्भ करते हैं और उन्हें इस ढंग से मोड़ देते हैं कि वे आन्तरिक और गुह्य अर्थ को खोल देते हैं और वह अर्थ उनके अधिक विकसित और अधिक शुद्ध आध्यात्मिक दर्शन-शास्त्र के लिए एक प्रकार से भीतरी प्रारम्भिक बिन्दु का काम देता है।[३]

उपनिषदों में आनन्द की कुंजी—दर्शन का मुख्य लक्ष्य शाश्वत आनन्द है—उपनिषद एक प्रकार से शाश्वत आनन्द की कुंजी है। उस आनन्द को कहीं से लाने की नहीं, वरन् उसके प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता है।

ऋग्वेद में ज्ञान (वेद) के लिए अनन्त ब्रह्म (सर्वव्यापी) की भावना है, जो परम व्योम (अन्तःकरण) में स्थित है, और बतलाया गया है कि जो उसे प्रत्यक्ष

---

१. कारण रूप उपास्य पिछानहु। ताके नाम अनन्तहि जानहु।
कारज रूप तुच्छ लखि तजिये। यह सिद्धान्त वेद को भजिये॥ (विचार सागर)

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ ऋग्वेद १।१६४।२०॥

३. अर्चना (पत्रिका) : पांचवीं पुस्तक, प्रथम भाग, पृष्ठ २८ :

कर लेता है, उस ब्रह्म के साथ युक्त होकर पूर्णकाम हो जाता है।[1] [illegible] में स्थित इस अक्षर ऋचा में सब देवताओं का निवास बतलाया गया है।[2] [illegible] ब्रह्म को बृहदारण्यक उपनिषद् में भूमा के रूप में स्पष्ट किया गया है, [illegible] नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें सर्वत्र व्याप्त तथा आत्म-स्वरूप बतलाया गया है, [illegible] कहते हुए कि दूसरों को न जानना भूमा और दूसरे को जानना अल्प है; [illegible] बतलाते हुए कि भूमा सुख है, अल्प सुख नहीं है, भूमा अमृत है, [illegible] है, [illegible] गया है कि भूमा का आत्मरूप में अनुभव करनेवाला 'आत्मरति' [illegible], आत्ममिथुन (हृदय में स्थित आत्म के साथ युक्त) हो जाता है।[3] [illegible] शिक्षा शोक से मुक्ति पाने के लिए सनत्कुमार द्वारा नारद को दी गई है, [illegible] नारद उनसे निवेदन करते हैं कि सब विद्याओं का ज्ञान रखनेवाला मैं [illegible] हूँ, आत्मविद् नहीं; सुना है कि आत्मविद् शोक को पारकर जाता है, [illegible] सन्तप्त को तारिए।[4]

ईशोपनिषद् में इसी ईश्वर के सर्वव्यापकत्व की भावना के साथ त्याग-[illegible] भोग करने और कर्म करते हुए सारी आयु बिताने का आदेश है और [illegible] है कि सब कुछ में ईश्वरमयत्व की भावना से कर्म करने के अतिरिक्त [illegible] है, इससे कर्म-बन्धन-स्वरूप नहीं होते।[5] यहाँ स्पष्ट रूप से ईश्वर [illegible] दृष्टि को प्रवृत्ति का आधार बताया गया है और ज्ञान-कर्म के सह-[illegible] पादन किया गया है। आगे चलकर स्पष्ट किया गया है कि सर्वात्म[illegible] विजुगुप्सा (भय या कतराने का भाव) तथा शोक-मोह से [illegible]

---

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। सह ब्रह्मणा विपश्चितेति [illegible] १।२।१। में उद्धृत)

२. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे [illegible] ३९॥

३. देखिए-छान्दोग्य उप० ७।२५।१-२॥

४. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मवित्। श्रुतं [illegible] शोकमात्मविदिति। सोऽहं शोचामि। तं मा भगवा[illegible] —(छान्दोग्य उ० ७।१।३।)

५. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। [illegible]

जाता।[1] वस्तुत: यह एकत्वभावमूलक निर्भयता, निर्द्वन्द्विता ही आनन्द का आधार है। अन्तिम मन्त्र में भी पाप-विमुक्ति—जिसके बिना सर्वात्मभाव का उदय सम्भव नहीं है—के साथ ऐश्वर्य के लिए अग्नि से प्रार्थना की गई है, जो प्रवृत्ति और यज्ञ का समर्थक है।

बृहदारण्यक उपनिषद् की मधु विद्या[2] में, जिसमें आनन्दमयता का भाव है, कहा गया है कि इस संसार की वस्तुओं के मधुर सम्बन्ध का कारण है उनमें विद्यमान या भासमान तेजोमय तथा अमृतमय आत्मा, विश्व की सब वस्तुएँ एक-दूसरे पर निर्भर हैं। इस सम्बन्ध को शंकराचार्य ने उपकार्योपकारक भाव कहा है।[3]

मिथुन तत्त्व या युग्म भावना—बृहदारण्यक उपनिषद् में परमतत्त्व, सृष्टितत्त्व तथा यज्ञादि उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि आत्मतत्त्व ही आदि में 'पुरुष-विध' रूप में एकाकी रहते थे। वह अकेला होने के कारण कभी रमण नहीं कर पाये। उनका जो आत्मभाव है वह मानो स्त्री-पुरुष का प्रगाढ आलिंगन-बद्ध एकीभूत भाव है, उन्होंने तद्विध अपने को द्विधा विभक्त किया—पति-पत्नी के रूप में। यही आदि मिथुन-तत्त्व है। इसी तत्त्व की अभिव्यक्ति संसार के नर-मादा के जोडों में हुई, जिनकी संतति से सृष्टि-क्रम चला।[4] इसका तात्पर्य यह है कि आत्म-रति की आनन्दोपलब्धि हेतु ही अद्वय-रूप द्वारा अपना कल्पित-भेद स्वीकार किया गया है। यही भावना जो 'सामोपासना' (छा० उ० द्वितीयोध्याय) का आधार है, आगे चलकर आनन्दवादी शैवागम के तान्त्रिक साधना-क्षेत्र में पल्लवित हुई। इसके आगे दिखलाया गया है कि अग्नि-सोम के मिथुन की सृष्टि हुई और साम ही अन्न है तथा अग्नि ही अन्नाद है।[5]

अग्नि और सोम वाला यह मिथुन का भाव प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न में विशेषरूप से विकसित हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में वाक् और प्राण की

---

१ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईशोपनिषद् ६-७)

२ देखिए—बृहदारण्यक उ० २।५॥
लक्ष्मण शास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ९४।

४. आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व । (बृहदारण्यक उ० १।४)

५ बृहदारण्यक २।१।६॥

मिथुन रूप बतलाया गया है।[1] उपनिषदों के अनेक स्थलों में इसे अग्नि और सोम के साथ साधारणतः प्राण और रयि अथवा अन्नाद और अन्न कहा गया है। इसी को कहीं शुक्ल पक्ष और कृष्ण-पक्ष, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र के रूप में भी दिखलाया गया है। इनमें एक अन्तराश, दूसरा बाह्याश, एक प्रकाशक, अमूर्त, स्थायी, सूक्ष्म, अमृत; दूसरा प्रकाश्य, मूर्त, नश्वर, स्थूल मर्त्य है। अग्नि ही प्राण, अत्ता, अन्नाद है, सोम ही अन्न, रयि या भोज्य है। प्राणियों के शरीर में अग्नि वैश्वानर के रूप में अवस्थित होकर अन्न को ग्रहणकर रहे हैं। यह प्राण और रयि या अग्नि और सोम अन्योन्याश्रय हैं, मानो अभिन्न सत्य के दो अंश है। यह युग्म-भावना ही आगे चलकर तांत्रिक दर्शन में शिव शक्ति या प्रज्ञोपाय की सामरस्य-साधना का आधार बनी। मिथुन-तत्त्व की इन भावनाओं ने यज्ञ को एक नया रूप दे दिया और हृदय-रूपी गुहा में निहित 'सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा'[2] का प्रत्यक्षीकरण, उसके साथ सामरस्य साधना का मुख्य रूप बन गया।

छांदोग्योपनिषद् में अश्वपति कैकेय द्वारा उपदिष्ट वैश्वानर आत्मा की उपासना में अग्निहोत्र (यज्ञ) का एक विकसित आत्म-परक रूप देखने में आया, जिसमें हवन करने का अर्थ है, अग्नि को सब प्राणियों में निवास करनेवाले आत्मा के रूप में मानकर, भोजन करना कराना। वहाँ कहा गया है जो इसे जाने बिना अग्निहोम करता है वह मानो अंगारों के बदले भस्म में होम करता है। जो इसे जानकार (इस रूप में) अग्निहोम करता है, उसकी आहुति-अन्न-दान के रूप में—सर्वलोकों, सर्वभूतों, सर्वात्माओं में होती है। उसके सभी पाप उसी प्रकार दूर हो जाते है, जैसे आग में डालने पर सरकंडे का धूम्र, इसलिए ऐसे ज्ञानवाला चाण्डाल को जूठन ही क्यों न दे, वह वैश्वानर आत्मा में आहुति देना होता है। इस संबन्ध में यह श्लोक है—जैसे संसार में भूखे बच्चे माता की उपासना करते हैं, (शरण लेते हैं) वैसे ही सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते है।[3]

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ११११५॥

२. कठोपनिषद् ११३११२॥

३ य ■ इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात। अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति। तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेत्। आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति। तदेष श्लोकः —यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति॥ (छान्दोग्योपनिषद्—५।२४)

छान्दोग्योपनिषद् में घोर आंगिरस द्वारा देवकी-पुत्र कृष्ण के प्रति पुरुष-यज्ञ-विद्या में जीवन-सम्बन्धी सभी कार्यों को यज्ञ के विभिन्न अंगों का रूप देते हुए यज्ञ-स्वरूप माना गया है। इसमें खाने-पीने और रमण की इच्छा को दीक्षा, जो कुछ खाया, पिया और भोगा जाता है, उसे उपसद्, तथा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य वचन को दक्षिणा माना गया है।[1] इस विद्या का लक्ष्य जीवन के कार्यों को अनासक्त भाव से (तप, दान आदि के साथ) यज्ञ रूप में (ईश्वरार्पण-भाव से) सम्पन्न करते हुए परम-पद (ज्योतिरुत्तमम्) को प्राप्त करना बतलाया गया है।[2] इस विद्या में गीतोक्त प्रवृत्तिवादी कर्मयोग का मूल ढूंढ़ा जा सकता है। वैश्वानर-उपासना तथा पुरुष-यज्ञ-विद्या के अनुसार ज्ञानपूर्वक (तात्त्विक दृष्टि के साथ) आचरित सम्पूर्ण जीवन-यावत्-क्रिया-कलाप-यज्ञमय हो जाता है।

ब्रह्मरूप रस को जीवन का आधार[3] तथा ब्रह्मरूप आनन्द को प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त (लक्ष्य)[4] प्रतिपादित करने वाले तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द पाँचों का ब्रह्ममयत्व दिखलाते हुए[5] अकाम-हत रूप में[6] भयप्रद भेद-भाव से रहित होकर समभाव से आनन्द का अनुभव करते हुए सभी वस्तुओं तथा परिस्थितियों का रस लेते हुए[7] अन्न को बढ़ाने तथा उसके द्वारा अतिथि-सेवा (लोक-सेवा)[8] का आदेश है। रसमयता तथा सेवा का योग करने वाले इस उपनिषद् का स्वर निस्सन्देह प्रवृत्ति-मूलक है।

स्त्री-पुरुष वाले मिथुन पर आधारित हृदयस्थ आत्म-पुरुष की उपासना औपनिषद उपासना का प्रमुख रूप है—

'साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता

---

१ स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ।
अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ।
अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा. ।
(छा० उ० ३।१७।१—४)

२ छान्दोग्योपनिषद—३।१७।७॥

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २।७।

४. वही ३।६।

५. वही ३।२—६।

६. वही २।८।

७. वही २।७।

८. वही ३।१०

है और दूसरा केवल देखता रहता है।[1]

'अन्तरात्मा के साथ एक ही वृक्ष पर (शरीर में) रहने वाला जीव देहात्म भाव में निमग्न (आसक्त) दीन-भाव को प्राप्त शोक करता है। वह जिस समय अपने साथ जुड़े हुए ईश-स्वभाव आत्म-पुरुष और उसकी महिमा को देखता है, शोक-रहित हो जाता है।[2]

अणु से भी अणु, महान् से भी महान् आत्मा जीव के हृदय-रूपी गुहा में स्थित है। निष्काम पुरुष मन और ज्ञानेन्द्रिय रूप धातु की स्वच्छता से उस आत्मा की महिमा को देखता है और शोक-रहित हो जाता है।[3]

जो इस आनन्द का आस्वादन करने वाले आत्मा को उसके समीप रहकर सबके शासक-रूप में जान जाता है, वैसा ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर भय, कातरता से रहित हो जाता है।[4]

उपर्युक्त मन्त्रों में अभिप्रेत है कि बाह्य संसार के भोगों में आसक्त जीव अशक्त-सा शोक में पड़ जाता है, परन्तु अपने से संलग्न परिस्थितियों से अप्रभावित अन्तरस्थ ईश को देख—उससे सामरस्य प्राप्त करके—शोकरहित हो जाता है और उसके आनन्दमय रूप को प्राप्त कर लेता है। उपनिषदों के द्रष्टाओं ने इस भाव को बार-बार अनेक रूपों में विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। उपनिषद्-कालीन ऋषि याज्ञवल्क्य ने उक्त आनन्दानुभूति को व्यक्त करते हुए कहा है कि इस समय इसका (अनुभव-कर्ता का) बन्धनों, पापों से मुक्त अभय रूप होता है। उस समय यह पुरुष (प्रज्ञानघन) प्राज्ञ आत्मा से युक्त होकर वैसे ही बाहरी-भीतरी कुछ भी नहीं जानता (निज मूल अविभक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है), जैसे प्रिया पत्नी से आलिंगन-बद्ध

---

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋग्वेद १।१६४।२०; अथर्ववेद ६।९।२०; मुंडकोपनिषद् ३।१।१, श्वेताश्वतर उ० ४।६।

२ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। मुंडकोपनिषद् ३।१।२; श्वेताश्वतर उ० ४।७।

३. अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।
(कठोपनिषद् १।२।२०)

४. य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ (कठोपनिषद् २।१।५)

(पुरुष) बाहरी-भीतरी कुछ भी नहीं जानता (आनन्द-मग्न हो जाता है)।[१] यह समरसीभूत अवस्था, आत्मा के आदि आनन्दमय-स्वरूप की प्राप्ति है, जो सृष्टि की लीला या लक्ष्य कहा जा सकता है। सम्पूर्ण कठोपनिषद का विषय इस आत्म-पुरुष से ऐक्य की प्राप्ति ही है। इस साधना का व्यवस्थित सांगोपांग रूप स्पष्ट करके छांदोग्योपनिषद् की दहर-विद्या[२] में प्रस्तुत किया गया है।

साधन—आत्मस्थ पुरुष से युक्त होने के लिए बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना आवश्यक है।[३] जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, चंचल हैं, जिसका चित्त असमाहित, उद्विग्न है, उसे इसको प्राप्त करने का प्रज्ञान नहीं हो सकता।[४] बाधाओं के हट जाने पर, हृदय शुद्ध होने पर आत्म-स्वरूप अपने-आप प्रतिभासित हो उठता है, प्रत्यग हो उठता है, उससे एकीकरण हो जाता है। कहा गया है 'यह आत्मा वेदाध्ययन से धारण शक्ति से या बहुश्रुत होने से—जो अन्यत्र अपरा विद्या के अंग बतलाये हैं—नहीं प्राप्त होता। जो इसका कृपा-पात्र होता है, उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है (अपने उस प्रिय को आलिंगन बद्ध कर, आनन्द से ओत प्रोत कर देता है।)'[५] 'दहरोपासना' के सम्बन्ध में कहा गया है कि लोग दहर-पुंडरीक रूपी ब्रह्मपुर में

---

१ तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभय रूपम। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदनान्तरम। एवमेवाय पुरुष प्राज्ञेनाऽऽत्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरम।
(बृहदारण्यक उपनिषद ४।३।२१)

२ देखिए-छांदोग्य उपनिषद् ८।१—६।

३. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङपश्यति नान्तरात्मन्॥
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन।
पराच कामानतुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम।
अथ धीरा अमृततत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह [redacted] प्रार्थयन्ते॥
(कठोपनिषद २।१।१—२)

४ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात॥ (कठोपनिषद १।२।२४)

५ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम॥
कठोपनिषद (१।२।२३)

तुलनीय सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।
—रामचरितमानस।

प्रवेश नही कर पाते, क्योंकि यह कामनाओं, आसक्तियों, अनृतों द्वारा ढँका हुआ है, अनृत उसका ढक्कन है।[१]

साधना के दो मार्ग—इस आत्म-पुरुष के दर्शन-अनुभव की साधना कर्म और ज्ञान दोनो रूपो में बतलाई गई है। कठोपनिषद् में इसकी उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है, 'गर्भिणो स्त्रियो द्वारा भली-भाँति पोषित गर्भ के समान जो जातवेद (अग्नि) दोनो अरणियों के बीच स्थित हैं, वह प्रमाद-शून्य पुरुषो द्वारा होम-सामग्री के साथ स्तुति किये जाने योग्य हैं, यही वह ब्रह्म है।[२] अन्यत्र इस आत्म-तत्त्व की योग द्वारा उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है,' यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मचर्य से प्राप्य है, जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं, वह ज्योतिर्मय आत्मा शरीर के भीतर रहता है।[३] फिर यह भी कहा गया है 'जिन्होने वेदान्त-जनित विज्ञान से ज्ञेय अर्थ का अच्छी तरह निश्चय कर लिया है, वे संन्यास-योग से यत्न करने वाले पुरुष ब्रह्मलोकों मे (अपने-अपने हृदयों में) देहत्याग करते समय आत्म-पुरुष के अनुभव रूप परम भाव को प्राप्त हो सब ओर से मुक्त हो जाते है।[४] उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि आसक्ति-रहित शुद्ध-हृदयता तथा सम्यग्दृष्टि, प्रतीकोपासना के रूप में ग्रहीत कर्म (यज्ञ) तथा योग—जिसका लक्षण चित्त तथा मन की स्थिरता है[५]—दोनो से प्राप्य है। मिथुनवाद की भावना से युक्त उपासना के लिए परमात्मा की सर्वात्मकता की दृष्टि आवश्यक है, जो उपनिषदो की सामान्य दृष्टि ज्ञान पडती है, न कि सर्वातीत ब्रह्म की भावना, जिसे संन्यास तथा मायावाद

---

१ त इमे सत्या कामा अनृतापिधाना । तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम् । छांदोग्य-उपनिषद् ८।३।१

२. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥
कठोपनिषद् । २।१।८

३. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय. क्षीणदोषा ॥
मुंडकोपनिषद् ३।१।५

४. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वा ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ मुंडकोपनिषद् ३।२।६

५. यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु. परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । कठोपनिषद् २।३।१०-११

के पोषक शकराचार्य ने अपने उपनिषद्-भाष्यो में सिद्ध करना चाहा है। उपनिषदों मे ब्रह्म-विवर्तवाद नही, ब्रह्म-परिणामवाद मान्य जान पडता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है, जिससे य सर्वभूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और अन्त मे जिसमें लीन हो जाते है, वही ब्रह्म है।[1] बृहदारण्यक मे बतलाया गया है कि जैसे मकडी से जाला निकलता है, जैसे आग से क्षुद्र विस्फुलिंग निकलते है, वैसे ही इस आत्मा (ब्रह्म) से सारे प्राण, सारे लोक, सब देव, सब भूत (प्राणी) निकलते है।[2] छान्दोग्योपनिषदान्तर्गत 'शाण्डिल्य-विद्या'[3] में सर्वात्मक ब्रह्म तथा ब्रह्म-परिणामवाद का स्पष्ट निरूपण हुआ है। आत्मा का या सबमें व्याप्त ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही 'नेति-नेति' तथा इस तत्व की सत्ता स्पष्ट करने के लिए वाणी को प्रेरित करने वाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है—'वाचाऽऽरम्भण विकारो नामधेय मृत्यकेत्येव सत्यम्'[4] कहा गया है। ब्रह्म की सर्वात्म भावना का निरूपण भी बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य द्वारा हुआ है, जिस भावना में सब कुछ अद्वैत आत्ममय अनुभूत होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व सभव नही रह जाता।[5]

साधना के ये जो दो भेद दिखाये गये है, उनमे से मिथुनवाद का आश्रय लेने वाली पद्धति आनन्दोल्लास की भावना वाली यज्ञों की पद्धति का भुक्ति-मुक्तिमय तान्त्रिक साम्यरस्य की तथा ज्ञान की दिशा में बढता हुआ विकास है और 'योग' या ज्ञानवाली पद्धति व्रात्यो की तथा आर्येतर मूल से आई हुई परिशुद्धतावादी तथा यज्ञ-विरोधी धारा का विकास कही जा सकती है। उपनिषद्-युग में दूसरी धारा का प्रभाव बढ़ता गया और धीरे-धीरे वैराग्य तथा सन्यास की भावना पर अधिक जोर दिया जाने लगा तथा यज्ञों की भावना गौण हो गई। मुण्डकोपनिषद् में योग-साधना की प्रवृत्ति विशेषतः लक्षित होती है।[6] इनमें से यज्ञो वाली

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति।... तद् ब्रह्मेति। तैत्तरीय उपनिषद् ।३।१

२. स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।२०

३. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४

४. छा० उ० ६।१।४

५. बृ० उ० ३।८।८; ४।५।१५

६. देखिए—परशुराम चतुर्वेदी सत साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ७२-७३; तथा वैदिक-संशोधन मण्डल द्वारा प्रकाशित अष्टादश उपनिषद् मे मुंडकोपनिषद् पर टिप्पणी, पृष्ठ ३८।

धारा का स्वाभाविक विकास वासुदेव-भक्ति वाली वैष्णव-भक्ति के रूप में तथा योग-साधना वाली धारा का विकास शैव-सम्प्रदाय के रूप में हुआ, जिसमें आगे चलकर सामरस्य-परक तान्त्रिक दृष्टि तथा साधना गृहीत हो गई।

भेद-बुद्धि वाले सकाम कर्म की निन्दा—उपर्युक्त एकत्व की अनुभूति, भावना के बिना सारा पठन-पाठन, कथनी-करनी, पांडित्य का अभिमान अज्ञान मात्र है, अपरा विद्या है, नश्वर फलवाला है, मनुष्य की दीनता को दूर करने में असमर्थ है। याज्ञवल्क्य ने कहा है, 'हे गार्गी, इस अक्षर तत्त्व के ज्ञान बिना यदि कोई इस संसार में सहस्रों वर्षों तक हवन, यजन, तप करे तो भी उसका कार्य सान्त (अमृतत्व न देने वाला) ही रहेगा। जो इस अक्षर के ज्ञान बिना इस लोक से प्रयाण करता है, वह कृपण है, दीन है, और जो इस लोक से पयान करने के पहले इस अक्षर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही ब्राह्मण (सुधी, ज्ञानी) है।[1] बृहदारण्यक में ही यह बतलाया गया है कि आत्मा के साथ एकत्व का अनुभव करने वाला ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति के द्वारा सब कुछ हो जाता है, उस पर देवताओं का वश नहीं चलता, वह उनकी (देवताओं की) आत्मा हो जाता है, किन्तु जो यह समझते हुए कि देवता अन्य है और मैं अन्य, उनकी उपासना करता है, वह अज्ञानी है। वह देवताओं का पशु (दास, आश्रित) है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एकत्व भाव से विरहित, सकाम—सीमित कामनाओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले—यज्ञों की निन्दा की गई है। दृष्टि परम पद पर है, उसके साधन के रूप में ही वे स्तुत्य हैं।

परा-अपरा (श्रेय-प्रेय)—उपनिषद्-युग में जन्मान्तर (पुनर्जन्म) तथा कर्मवाद की भावना का रूप स्पष्ट हुआ, जिससे स्वर्ग-लोक से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक की भावना, उन लोकों के प्रापक पितृयाण या दक्षिणायन तथा देवयान या उत्तरायण, इन दो मार्गों की एवं मुक्ति की भावना विकसित हुई।[3] इनके संकेत ऋग्वेद में[4] भी मिलते

---

१ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति, स कृपण। अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति, स ब्राह्मण ॥ बृहदारण्यक उप० ३।८।१०

२. य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद। यथा पशुरेवं स देवानाम्। बृ० १।४।१०

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ५।१०

४. उदाहरणत —द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च। (ऋग्वेद १०।८८।१५)

है किन्तु अविकसित रूप में। इस नई दृष्टि के कारण विद्या तथा साधना के दो भेद किए गए, एक लौकिक सुख तथा नश्वर फल प्रदान करने वाली प्रेय या अपरा और दूसरी परा। कठोपनिषद् में इन्हें श्रेय और प्रेय कहा गया है, 'श्रेय और है तथा प्रेय और ही है। ये दोनों विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रेरित करने वाले हैं। इनमें श्रेय को ग्रहण करने वाले का शुभ होता है और प्रेय को चुनने वाला पुरुषार्थ से पतित हो जाता है।'[१] 'विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त प्रेय को चुनता है।'[२] यम कहते हैं कि 'धन से अन्धे हुए ऐसे मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता और वह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता रहता है।[३] इन दोनों विद्याओं को मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा विद्या कहा गया है। इनमें वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष को अपरा विद्या बतलाया गया है और जिससे उस अक्षर परमात्मा की प्राप्ति होती है उसे परा।[४] इस उपनिषद् में यज्ञ को अदृढ़ नौका कहा गया है और उसे श्रेय मानकर अभिनन्दन करने वालों को फिर जरा मृत्यु में पड़ने वाला बतलाया गया है।[५] इसमें कहा गया है कि कर्मठ लोगों को कर्म-फल विषयक राग (आसक्ति) के कारण सम्यग्ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे अशान्त होकर (कर्मफल क्षीण होने पर) स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।[६] इस उपनिषद में यज्ञों की निन्दा की गई है और कामनापूर्ण यज्ञों से प्राप्त स्वर्गरूपी फल को अस्थायी बतलाया गया है और माना

---

१ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष सिनीत ।
तयो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते ॥ (कठोपनिषद् १।२।१)

२. श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ (कठोपनिषद् १।२।२)

३ न साम्पराय प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम् ।
अय लोको नास्ति पर इति मानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठोपनिषद १।२।६)

४. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ (मुंडकोपनिषद १।१।५)

५ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा (अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म)
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥ (मुडकोपनिषद् १।२।७)

६ यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ (मुडकोपनिषद १।२।६)

गया है कि यह श्रेय नहीं है। श्रेय रूप में आगे अव्यय आत्म-पुरुष की तथा ब्रह्म विद्या की उपासना का विधान किया है।[1]

ब्रह्मात्मैक्यवाद—ब्रह्मात्मैक्य उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है। तत्त्वमसि इसका महावाक्य है, जिसका उपदेश श्वेतकेतु को उसके पिता ने 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'[2] कहकर दिया है। अन्य महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अहं ब्रह्म' आदि हैं।[3] कहा गया है कि 'यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तो ठीक न जाना तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान लोग उसे सब प्राणियों में उपलब्ध करके इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।[4] इस संसार में नानात्व नहीं है, जो इसमें नानात्व-सा देखता है, (जिसकी दृष्टि प्रतीयमान नानात्व पर ही अटकी रह जाती है, जो उसमें व्याप्त वास्तविक एकत्व की अनुभूति नहीं कर पाता) वह जन्मता मरता रहता है।[5] द्वैत की प्रतीति (द्वैतमिव भाव) रहने तक ही सांसारिक व्यवहार चल सकते हैं, पूर्ण सर्वात्म हो जाने पर कौन किसे देखे, कौन किसे जाने? जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाना जाय?[6]

वैराग्य (संसार त्याग)—औपनिषद प्रज्ञान का रूप याज्ञवल्क्य के उपदेशों तथा जीवन से स्पष्ट हुआ है। उन्होंने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए बतलाया है, 'निश्चय ही ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमर्त्य, स्थित और चल, सत् और त्य'[7] इनमें अमूर्त सत् ही रस है, यही पुरुष है, नेति-नेति है, जो कुछ मन-वचन का विषय है उससे परे।[8] अमृतत्व की धन से आशा नहीं की जा सकती।[9] इनके विषय में श्री अरविन्द ने कहा है, 'सत्यवीर, शान्त और व्यंग्यप्रिय याज्ञवल्क्य जो पहले दोनों हाथों में बिना आसक्ति के सांसारिक धन-सम्पत्ति और

---

१ देखिए—मुण्डक उ० १।२।१०-११।

२ छां० उ० ६।८-१६।

३ देखिए—बृ० उ० १।४।१०, बृ० उ० १।५।१७।

४ इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केनोपनिषद २।५)

५ मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ (बृ० उ० ४।४।१९)

६ बृ० उ० ४।५।१५॥

७ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। मूर्तं चैवामूर्तं च। मर्त्यं चामृतं च। स्थितं च यच्च।
सच्च त्यं च। (बृ० २।३।१)

८ बृ० २।३।२-६।

९ अमृतत्वस्य तु नाऽशाऽस्ति वित्तेनेति। (बृ० २।४।२)

आध्यात्मिक ऐश्वर्य आयत्त करते हैं, अपना सब धन-वैभव पीछे छोड़कर एक अनिकेत संन्यासी की तरह पर्यटन के लिए निकल पड़ते हैं'।[1] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भी कहा था, 'भगवान् का (आपका) जो ज्ञान है, उसे बतलायें, जिस धन से मैं अमृत नहीं हो सकती, उससे (उसे लेकर) क्या करूँगी ?[2] इस सन्यास-भावना के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने कहा है, 'ब्राह्मण वेदाध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से, उपवास से, उसे जानने का प्रयत्न करते हैं, उसे जान लेने पर मुनि (सन्यासी) हो जाता है। इसी के दर्शन की इच्छा करते हुए परिव्राजक परिभ्रमण करते हैं (सन्यास लेते हैं)। इसी से पूर्वकाल के ज्ञानी पुरुष सन्तान की इच्छा नहीं करते थे और यह समझकर कि जब समस्त लोक ही हमारी आत्मा हो गई है, हमें सन्तान से क्या करना। वे लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से उपरत होकर भिक्षाटन करते थे।[3] अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण आत्मज्ञान प्राप्त करके एषणात्रय से उपरत होकर सन्यस्त हो जाते हैं।[4] इन उद्धरणों तथा याज्ञवल्क्य के जीवन से यज्ञ और योग-प्रवृत्ति और निवृत्ति के औपनिषद समन्वयात्मक आदर्श पर पूरा प्रकाश पड़ता है, जिसमें सन्यास आत्मज्ञान का परिणाम है न कि साधन। इसमें ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास चारों आश्रमों को समुचित स्थान प्राप्त है तथा जीवन में ऋषि-ऋण, पितृ ऋण, देव-ऋण तथा मनुष्य-ऋण से उऋण होने का समुचित अवसर मिलता है। किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीवन में प्रवृत्ति का स्थान गौण रह गया है मुख्यता मोक्ष को प्राप्त हो गयी है; जीवन का लक्ष्य स्वर्ग नहीं मोक्ष हो गया है। निष्कर्षतः उपनिषद्-युग की दृष्टि समन्वयात्मक होते हुए भी निवृत्त्यभिमुखी है। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि इसमें आध्यात्मिक मोक्ष का अनुसरण जीवन की पूर्ण विकसित परिणति तथा उच्च शिखर के रूप में होता था न कि जीवन के विरोध में।

जैन मत

व्रात्यों की ज्ञानवाली तथा शिश्नोपासकों की योगवाली साधना-पद्धतियाँ

---

१. श्री अरविन्द भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ २९०।

२. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति। बृ० ४।५।४।

३. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति। एतद्धस्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते। किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। बृ० ४।४।२२

४. बृ० ३।५।१

अवैदिक तथा वैदिक परम्परा की विरोधिनी थी। ऐसा अनुमान होता है कि व्रात्यों वाली निवृत्ति-परायण परम्परा श्रमण-संस्कृति के बौद्ध एवं जैन जैसे सम्प्रदायों में तथा सांख्य-योग जैसे जीवन विमुख दर्शनों में विकसित हुई और शिव एवं मातृ देवी वाली, शिश्नोपासकों की परम्परा औपनिषद मिथुन-भावना तथा वैदिकेतर पाशुपतादि वाममार्गी एवं वैष्णव पांचरात्र जैसे सम्प्रदायों में गृहीत तथा विकसित हुई और आगमिक दर्शन में व्याख्यात हुई।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मान्धाता युग में चन्द्रवंशी आनव वंश में उशीनर के वंशजों द्वारा पंजाब, सिन्ध आदि स्थानों में यौधेयों, सौवीरों, केकयों और मद्रकों के गणराज्य स्थापित हुए। उसी वंश की दूसरी शाखा तितिक्षु के वंशजों ने पूरब में, जहाँ पहले से विदेहों के और वैशाली के (जिसके प्रसिद्ध राजा मरुन्दन का वैश्य हो जाना बतलाया गया है)[१] अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्य के राज्य स्थापित हुए।[२] इन राज्यों की गणवादी प्रवृत्ति व्रात्यों के लोक-वाह्य प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल दिखाई देती है। ब्राह्मण-युग में पूरब में सूर्यवंशी विदेशों की मिथिला को छोड़कर शेष भाग में अवैदिक संस्कृति का ही प्रभाव था। सूत्रों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि बहुतेरे व्रात्य मगध-वासी थे।[३]

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि कुरु-पांचाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म यज्ञ को छोड़ दिया है तथा वे एक नये धर्म का प्रचार कर रहे हैं, जिसमें यज्ञ और पशु-हिंसा दोनों की मनाही है।....पूर्वी देशों में समाज पतित हो गया है, क्योंकि उसमें ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों ने ले लिया है और तीनों वर्णों के लोग क्षत्रियों की ही अधीनता में रहते हैं।[४] शतपथ ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट यह परिस्थिति पूर्वी भारत में प्रवर्तित श्रमण-संस्कृति की द्योतक है। यही श्रमण-संस्कृति जैन मत और बौद्ध मत में प्रत्यक्ष हुई है, जिनमें वैदिक यज्ञों का विरोध, अहिंसा का सिद्धान्त तथा ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की श्रेष्ठता आदि मान्य हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद-पूर्व काल से चली आती हुई निवृत्तिवादी श्रमण-परम्परा का जैन मत और बौद्धमत में व्यापक रूप से प्रचार हुआ।

जैनमत का प्रचार वैशाली में जन्म लेने वाले चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने प्रारम्भ किया। महावीर स्वामी गौतम बुद्ध के समकालीन थे। प्रसिद्ध

1. The Vedic Age . Edited by R. C. Majumdar, पृष्ठ २७६।
२. वही, पृष्ठ २७९।
३. वही, पृष्ठ २५६।
४. देखिए—रामधारी सिंह दिनकर . संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १०६।

श्रमण-मार्गीय दार्शनिकों में से एक थे। जैन परम्परा के अनुसार इस मत के प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद की एक ऋचा में मिलता है।[1] श्रीमद्भागवत में इन्हें विष्णु भगवान् के अवतारों में स्थान दिया गया है। पंचम स्कन्ध के षष्ठ अध्याय में उन्हें पारमहंस्य धर्म का आश्रमातीत आचरण करने वाला बतलाया गया है और कहा गया है कि 'इससे प्रभावित होकर कलियुग में अधम मनुष्य शास्त्र-विहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे। वे बुद्धिहीन स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वर का तिरस्कार करने वाले पाखण्ड-धर्मों को स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण और भगवान् यज्ञ-पुरुष की निन्दा करने लगेंगे। यह स्पष्ट है कि इस उद्धरण में जैनियों के आचार की ही निन्दा की गई है। इसी प्रकार यजुर्वेद में अजितनाथ का, जो दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं और ऋग्वेद में अरिष्टनेमि का जो श्रीकृष्ण के समकालीन बाईसवें तीर्थंकर माने जाते है, उल्लेख मिलता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जिनका समय वर्द्धमान महावीर तथा गौतम बुद्ध से प्रायः ढाई सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, एक ऐतिहासिक पुरुष थे और उनकी गणना विष्णु भगवान् के चौबीस अवतारों में होती है। यह कथन विचारणीय है कि जैन मत ने देश के क्षात्रतेज तथा अवरोधक शक्ति को अहिंसा के सिद्धान्त के प्रभाव से मन्द किया, क्योंकि हम देखते हैं कि जैनियों ने कलिंग (उत्कल) दक्षिण भारत तथा गुजरात में राज्य-संचालन तथा धर्म एवं समाज की रक्षा में विरोधियों का प्रतिरोध करके शक्ति तथा तेज का अच्छा परिचय दिया है।

जैन मत निवृत्ति-मार्गी यति-धर्म पर आधारित है एवं व्रत, उपवास और तपस्या का पथ है। यह आत्मवादी तथा अनीश्वरवादी है। इसके अनुसार जगत् अनादि अनन्त है, जिसका कोई स्रष्टा, संरक्षक या संहारक नहीं है। आत्माओं की संख्या अनन्त है। इस आत्मा या जीव की दो अवस्थाएँ होती हैं, संसारी अवस्था और मुक्तावस्था। यह जीव अनादि काल से अष्टकर्म या आस्रव के सम्बन्ध से संसार में भ्रमण करता आ रहा है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है। आत्मा या जीव अपने मूल-भूत स्वरूप को सर्वथा आवरण-रहित बना दे,[2] संवर अर्थात् कर्म के संयोग से रहित हो जाय, सर्वथा वीतराग हो जाय तो मुक्त हो जाता है और कैवल्य-पद की प्राप्ति करता है। जैन-साधना में आत्मा की यह वीतराग अवस्था ही साध्य मानी गई है, इसी को परमात्मा कहा गया है। आत्मा को परमात्मा में मिला देने वाला ही तीर्थंकर हो जाता है।

---

१. ऋग्वेद १०।१६६।१॥

२. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टि: अन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥ माधवाचार्य सर्वदर्शन-संग्रह।

जैन मत में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का साधन माना गया है।[1] सम्यग्चारित्र में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। बौद्ध-मत में भी अहिंसा का कम महत्त्व नहीं है, किन्तु जैन-मत की अहिंसा-भावना अधिक व्यापक तथा उत्कृष्ट है। उसमें वनस्पतियों को एकेन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) युक्त जीव माना गया है, इस दृष्टि से वृक्षों को काटना भी जीव-हिंसा है। जल में भी जीव माने गये हैं, इसलिए स्नान और अंग-शोभा आदि में भी जीव-हिंसा के कारण यतियों के लिए वे भी त्याज्य हैं। यज्ञवाद को पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान ने अहिंसा का विरोधी मानकर उसका खण्डन किया है। कृषि-कार्य में अगणित जीव मारे जाते हैं, इसलिए जैन लोग कृषि-कार्य छोड़ बैठे और उन्होंने वणिक-वृत्ति स्वीकार की। जैनियों ने वर्ण-व्यवस्था का सर्वथा परित्याग नहीं किया और मूर्ति-पूजा आदि को स्वीकार किया, इसलिए ब्राह्मण-प्रधान पौराणिक हिन्दू-धर्म से उसका अधिक विलगाव नहीं हुआ और फलत: वे हिन्दुओं के वैष्णव-समाज में घुल-मिल गये।

जैन-मत निवृत्तिमार्गी है, उसमें मोक्ष-प्राप्ति का राजमार्ग यतिधर्म-सर्वस्व त्याग तथा तप ही है। जैन-गृहस्थ भी उसी को आदर्श मानते हैं, उन्हें गार्हस्थ्य-पालन के साथ-साथ उस दिशा में अग्रसर होने को भी प्रोत्साहित किया गया है। उन्हें धर्म-पालन करते हुए अर्थोपार्जन तथा धर्मार्थ का आदेश दिया गया है। परिणाम-स्वरूप चिकित्सालयों, गोशालाओं, पौसालों आदि की स्थापना, जीव-दया के कार्यों तथा देश-हित के लिए दान आदि के द्वारा देश-सेवा और समाज-सेवा में जैनियों का स्तुत्य सहयोग रहा है।

बौद्धमत

निवृत्तिमार्गी श्रमण-धारा के अंगभूत बौद्धमत ने भारतीय दर्शन, साधना तथा समाज में उथल-पुथल मचा दी। दो धाराएँ तथा दो वर्ग थे तो पहले से ही, किन्तु श्रमण-धारा वाला वर्ग व्यक्तिगत साधकों का ही होने के कारण ब्राह्मण-प्रधान समाज के लिए चिन्ता का कारण नहीं बना था। बौद्धमत के व्यापक प्रचार ने दर्शन, साधना, साहित्य एवं सामाजिक व्यवस्था तथा आचार के सभी क्षेत्रों में वास्तव में भारी द्वन्द्व उपस्थित कर दिया।

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व जब गौतम बुद्ध ने सबोधि प्राप्त कर अपनी देश-यात्रा आरम्भ की, धार्मिक जिज्ञासा का मत-मतान्तर-बहुल युग था। जीवन के प्रति सिद्धार्थ की दृष्टि दुःखवाद की थी, उन्होंने जीवन को दुःखरूपता-जन्य, रोग-जरा-मरण से विमुक्ति ढूँढने के लिए ही उन्तीस वर्ष की आयु में प्रव्रज्या ग्रहण की और सबोधि प्राप्त करके उन्होंने चार आर्य सत्य (दुःख, दुःख-समुदय-हेतु तृष्णा,

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि [illegible]

दु ख निरोध, दु ख-निरोधगामी मार्ग) और अष्टांगिक मार्ग (दु खनिरोध का मा (क) प्रज्ञा-स्कंध (१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प (ख) शील-स्कंध (सम्यक् वाणी (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (ग) समाधि-स्कंध (सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि का स्वानुभूत उपदे दिया। संक्षेप में यही मूल बौद्ध-दर्शन है, जिसके अनुसार तृष्णा को दु खमय सस अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का कारण और निर्वाण को सब साधनो का ध्येय मा गया है। यही उन 'उत्तम भिषक्' द्वारा मानव-समाज के रोग, उसके स्वरू निदान, भैषज्य और चिकित्सा का विधान है।

गौतम बुद्ध परोक्ष दार्शनिक मतवाद के दखेड़े में नही पड़े। उनका ध स्वानुभूत दृष्टि (दिट्ठ) से आख्यात है, प्रत्यक्षवाद पर आधारित है, इसकी सत्या जाँची जा सकती है। यह 'आचार्यमुष्टि' नही' रहस्य-भावना पर आधारित नही यह जनवादी धर्म 'एहिपस्सिक' है, सबको पुकारकर कहता है, 'आओ और देखो यह धर्म आपनयिक है, निर्वाण को ओर ले जाने वाला है। यह 'पच्चत्त वेदितब्ब है, प्रत्येक हृदय में बोधि प्राप्त करनी होगी, प्रत्येक हृदय में मार-विजय कर होगी, प्रत्येक हृदय में बुद्ध-पुरुष का आविर्भाव करना होगा, 'विज्ञजनों द्वारा प्रत्ये शरीर में यह धर्म साक्षात्कार करने योग्य है।[1]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार सभी कुछ जो मन-वचन का विषय है, अनित्य है दु ख है, अनात्म है। तथागत के अनात्मवाद का उपदेश साधनात्मक है, उनक दृष्टि मे 'अनात्म' का अर्थ है, अपना नही। उन्होंने कही यह नही कहा कि आत्म नही है। उन्होने न शाश्वतवाद का उपदेश दिया है, न उच्छेदवाद का। उन्हो स्पष्टता के साथ कहा है, 'मै हूँ' यह भ्रान्ति है, 'मैं नही हूँ' यह भी भ्रान्ति है। "परमतत्व सम्बन्धी प्रश्न को उन्होने अव्याकृत माना है। चूलमालुक्यपुत्त के सत् सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर में तथागत के मौन रह जाने पर जब वह निराश होक चला गया तो आनन्द ने पूछा कि भन्ते! आपने मालुक्यपुत्त के प्रश्नो का उत्त क्यो नही दिया? तथागत ने कहा कि मेरे उपदेश में कोई 'आचार्यमुष्टि' वस्तु नह है, किन्तु यदि मैं उसको किसी भी प्रकार का उत्तर देता तो इन श्रमण-ब्राह्मणो के ही शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद उच्छेदवाद का उपदेश करता, किन्तु ये तो हीन कोटियाँ है, हीन, ग्राम्य और पृथग्जनों के योग्य।"[2] तथागत ने अपने को वही तक सीमित रखा है, जहाँ तक अनात्मकभाव द्वारा मनुष्य को मुक्तिमार्ग में ले जाया जा सकता है। जब वह वहाँ तक पहुँच जाता है, उसके लिए परमतत्व-विषयक

---

१. 'पच्चत्त वेदितब्बो विञ्ञूहि' मज्झिम-निकाय १।१।६।

२ धातु विभंग-सुत्तन्त, मज्झिम निकाय, ३।४।१०।

३ भरतसिंह उपाध्याय बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४४६।

प्रश्न निरर्थक और निष्प्रयोजन हो जाते हैं। वह स्वयं अपने अन्दर उस ज्ञान का साक्षात्कार करता है जिसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता।[1] बुद्ध ने विपश्यना के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति बतलाई है। विपश्यना उस विशिष्ट ज्ञान और दर्शन को कहते हैं जिसके द्वारा धर्मों की अनित्यता और अनात्मकता प्रकट होती है। उन्होंने कहा है कि जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है कि सब संस्कार अनित्य हैं, तब वह उनसे (उन्हें दुःख मानकर) विरक्त हो जाता है (उन्हें अपना नहीं मानता) और संसार में उसकी आसक्ति नहीं रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।[2]

यह बात निस्सन्देह सत्य है कि तथागत ने वेद-प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया, किन्तु उनका अनात्मवाद वस्तुतः उपनिषदों के आत्मवाद का विरोधी नहीं है। उपनिषदों में आत्मज्ञान के दो अंग हैं, एक है अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि न रखना (उपायभूत) और दूसरा है परमार्थ स्वरूप अवाङ्मनसगोचर नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मतत्त्व की, जिसके सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कहा गया है, तादात्म्य द्वारा अनुभूति करना। पहले का सम्बन्ध अनुभव-जगत् से है और दूसरे का इन्द्रियातीत से। जहाँ तक पहले का सम्बन्ध है, बुद्ध और उपनिषदों के ऋषि एक साथ हैं, दूसरे पक्ष में जो इन्द्रियातीत है, बुद्ध मौन हैं।

मध्यमा प्रतिपदा—आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में तथागत ने जिस प्रकार शरीर-पीड़ा और भोगवाद की अतियों से बचाकर समन्वित जीवन-विधि का विकास किया, उसी प्रकार उन्होंने विचार के क्षेत्र में भी उभयपक्षीय अतियों का निराकरण प्रतीत्य समुत्पाद के रूप में दार्शनिक दृष्टि का विकास किया इस प्रकार उन्होंने स्वयं द्वारा प्रतिपादित जीवन-पद्धति को मध्यमा प्रतिपदा के रूप में व्याख्या की है।

प्रतीत्य समुत्पाद—मध्यम मार्ग के समन्वयात्मक विधान की सम्यक् व्याख्या तथागत ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' (हेतु-फल-परम्परा) द्वारा की है, जो बौद्ध दर्शन का आधार-भूत सिद्धान्त है। प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य है, प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। प्रत्येक उत्पाद का कोई प्रत्यय (कारण, हेतु) होता है। कोई भी उत्पाद बिना प्रत्यय के स्वतः नहीं होता है। इसके अनुसार जो कुछ समुदय धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है।[3] यह कारण-वादी नियम द्वितीय और तृतीय आर्य-सत्य दुःख-समुदय तथा दुःख-निरोध को हेतु-संगत व्याख्या करता है।

नैतिक आदर्शवाद—बौद्ध मत में निर्वाण दुःख तथा भ्रम का क्षय मात्र है

१. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृष्ठ ४४४।

२. सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिंदति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥ धम्मपद ७।५॥

३. यं किंचित समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध धम्मं ति। विनयपिटक-महावग्ग।

तथा उसमें सहायक बातें धर्म है। तथागत ने प्रजापती गौतमी से उन्हें प्रव्रज्या देते हुए कहा था, 'हे गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए है, विराग के लिए नहीं, सयोग के लिए हैं, वियोग के लिए नहीं, संग्रह के लिए हैं, असंग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, इच्छाओं को कम करने के लिए नहीं....तू गौतमी! सोलहों आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है; किन्तु इनके विपरीत जो धर्म हैं, अर्थात् जो विराग के लिए हैं, उद्योगिता के लिए हैं, उन्हें जानना कि ये सोलहों आने तथागत के धर्म हैं, विनय है, शासन है।'[1] इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्ध नैतिकता को धर्म की प्रमाणभूत आधारशिला मानते है।

वर्ण-व्यवस्था की अमान्यता—बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था को प्रव्रज्या अर्थात् अध्यात्म ज्ञान के अधिकार के लिए अमान्य कर दिया। उन्होंने कहा कि 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ (मा जाति पुच्छ चरणं पुच्छ)...नीचे कुल का भी पुरुष धृतिमान, जानकार और पापरहित मुनि होता है।'[2] वे अन्यत्र कहते हैं, 'तप, ब्रह्मचर्य, सयम, और दम से ब्राह्मण होता है, जटा से, गोत्र से, जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म है, वह शुचि है, वह ब्राह्मण है।'[3] बौद्ध-संघ में सबके लिए स्थान था। उस समय के समाज में शूद्रों को तप करने का अधिकार नहीं था, वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे। श्रमणों ने सबके लिए निःश्रेयस का मार्ग खोल दिया।[4] आगे चलकर बोधिसत्वयान में भक्ति, प्रपत्ति, नाम-जप, देवी-देवताओं की पूजा तथा तान्त्रिक साधनाओं को स्वीकार करके उसे लोक-धर्म (महायान) बनाने के लिए परम्परावादी श्रौत-परम्परा के अन्यान्य तत्त्व तो गृहीत हुए, किन्तु वर्ण व्यवस्था बौद्धमत में कभी स्वीकृत नहीं हुई।

मानवतावादी सार्वभौमिकता मे एकांगिता—बुद्ध की मानवतावादी भावना की देशना (शिक्षा) 'बहुजन हिताय' सर्वसाधारण के लिए थी और इसीलिए इसमें लोक-भाषा (पालि) गृहीत हुई, किन्तु उनकी इस भावना का क्षेत्र धार्मिक ही था, आर्थिक नहीं, इसमें एकांगिता थी अतः सर्वांगीणता नहीं आई। उन्होंने निर्वाण के लिए साधना का अधिकार सबके लिए समान रूप से मानकर वर्ण-व्यवस्था को हटाना चाहा, किन्तु आर्थिक विषमता को अक्षुण्ण रखा। उन्होंने दरिद्रता और दासता को दूर करना अपनी योजना का अंग नहीं बनाया। बुद्ध के समय में क़र्ज़ देनेवाले कर्ज़ अदा न होने पर शरीर तक खरीद लेने का अधिकार रखते थे और

१. पजापती परबज्जा सुत्त अंगुत्तर निकाय ८।२।१।३।

२. सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त-संयुत्त निकाय ७।१।६।

३. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री, बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १५ से उद्धृत।

४. वही।

बौद्ध-संघ का फाटक सब के लिए खुला था, इसलिए कितने ही क़र्ज़दार ऋण पाने के लिए भिक्षु बन जाते थे। परन्तु महाजनो द्वारा विरोध होने पर बुद्ध ने घोषित किया कि ऋणी को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।[1] इसी प्रकार दास के भिक्षु बनने पर जब दास-स्वामियो ने विरोध किया तो बुद्ध ने घोषित किया कि 'दास को प्रव्रज्या नही देनी चाहिए'। और राजा बिंबिसार के विरोध करने पर उन्होने घोषित कर दिया कि 'भिक्षुओ, राज-सैनिको को प्रव्रज्या नही देनी चाहिए।[2]

गार्हस्थ्य और सन्यास—मोक्ष को साधना गृहस्थ के लिए सुलभ नही है। बौद्ध गृहस्थ (उपासक) साधारणतः स्वर्गोपपत्ति चाहते हैं। उनके लिए शील की शिक्षा है। उपासक के लिए त्रिशरण-गमन की विधि है। जो उपासक होना चाहता है, वह बुद्ध धर्म और संघ की शरण में जाता है। उपासकों के पचशील हैं प्राणातिपातविरति, अदत्तादानविरति, काम-मिथ्याचार-विरति, मृषावाद विरति और सुरा-मैरेय-प्रमाद स्थान-विरति। उपासक धर्म-श्रवण करते हैं, उपवास-व्रत रखते है, भिक्षुओं को दान देते हैं, चार तीर्थों (कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुसिनारा) की यात्रा करते हैं। उपासक को भद्रक-शील और भद्रक-दृष्टि से समन्वागत होना चाहिए। उसको मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुश्चरित से बचना चाहिए। इस प्रकार वह अपायगति (नरक, तिर्यग्योनि आदि) से बचता है और स्वर्ग में उत्पन्न होता है।[3]

चरम उद्देश्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में तथागत ने स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई भी आदमी उन्हें स्मरण नहीं आता, जिसने गृहस्थ रहकर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त की हो। अर्हत्व (सबसे ऊँचा और उत्तम पद) की अवस्था प्राप्त कर लेने पर गृहवास सम्भव नही है। तथागत निश्चय ही गृहस्थ-जीवन को पवित्रता के लिए अनुपयुक्त समझते थे।[4] उन्होने गृहवास को मलिन मार्ग कहा है, 'रजापथो घरावासो' (मज्झिम निकाय)।

उन्होंने जीवन के चरम उद्देश्य, निर्वाण की प्राप्ति के लिए श्रमणत्व (सन्यास) को आवश्यक माना है। सन्यास गृहस्थी की संकीर्णता को छोड़ना है। बौद्धमत में श्रामण्य अकर्मण्यो, अनहोनो के लिए नही है, यह प्रयत्न साध्य, वीर्य-सापेक्ष है। इसमें नैतिक आत्म-विजय, आत्म-अतिक्रमण का आत्मविश्वास, विश्वासपूर्ण वीर्य का भाव है। श्रमण को स्वयं ही मार-विजय करनी है, तृष्णा-क्षय करना है, अष्टांगिक आर्य-मार्ग की प्रतिपत्ति द्वारा विसंस्कारगत होना है। इसके लिए मध्यममार्गी बुद्ध

---

१. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३६-४१।
२. महावग्ग, विनयपिटक, १।३।४।८।
३. आचार्य नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म-दर्शन, पृष्ठ २३-२४।
४. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३७१।

मे श्रद्धा के साथ प्रज्ञा (बुद्धि), समाधि के साथ वीर्य तथा स्मृति (अप्रमाद)—साधना की पाँचों इन्द्रियों को आवश्यक बतलाया है। उन्होंने श्रमणत्व के द्वारा जिस निवृत्तिवाद को प्रोत्साहित किया है, उसका उद्देश्य है मानव-मन को तृष्णा की धधकती हुई ज्वालाओं से, आसक्ति के संकीर्ण बन्धनों से मुक्त करना। उनका निवृत्तिवाद अक्लिष्ट प्रवृत्ति को जन्म देनेवाला है और आसक्तिपूर्ण प्रवृत्तिवाद का विसर्जन करनेवाला है। वास्तव में गृह-संस्था का परित्याग करके निकला हुआ सन्यासी भिक्षु वास्तव में वह हंस है जो छोटे-से कूप में अपनी ममता को सीमित न रखता हुआ संसार के सब कूपों, तड़ागों तथा नदियों पर स्वच्छन्द विहार करता है।[1]

बुद्धिवाद और श्रद्धा—बुद्ध के मध्यमा-प्रतिपत्ति (मध्यम मार्ग) में अन्य अनेक अतिवादों के समन्वय के समान बुद्धि और श्रद्धा का भी समन्वय है। वे बुद्धिवाद के आचार्य माने जाते हैं। कालाम क्षत्रियों का ये मानकर नहीं, वरन् जानकर धर्म का पथ ग्रहण करने को कहते हैं, 'कालामो! न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य-रूप होने से और न इसलिए कि श्रमण हमारे गुरु हैं, बल्कि कालामो! जब तुम स्वयं हो जानो कि ये बातें अच्छी, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर हित, सुख के लिए होंगी, तो कालामो! तुम उन्हें स्वीकार करो।[2] बुद्ध एक सूत्र में कहते हैं कि धर्म प्रतिसरण है, पुद्गल (जीव) नहीं। प्रतिसरण का अर्थ है प्रमाण। शास्ता भी प्रतिसरण नहीं हैं।[3] ईमान लाने जैसी कोई बात बौद्धमत में नहीं है, उसमें बुद्धि का श्रद्धा से समभाव इष्ट है, प्रज्ञा और श्रद्धा का अन्योन्य विरह अनर्थावह माना गया है। आचार्य अश्वघोष ने श्रद्धा को धर्माभ्यास का मूल बतलाया है। उन्होंने बुद्ध से कहलाया है, 'पृथ्वी के भीतर जल है, यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है, तब प्रयोजन होने पर वह पृथ्वी को प्रयत्नतापूर्वक खोदता है।....भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक को न हो तो वह भूमि में बीज नहीं बोयेगा।....जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता है, तब तक उसकी श्रद्धा बलवती या स्थिर नहीं होती।[4] बुद्ध ने कहा है, 'हे भारद्वाज! यह जो अमृत की खेती है, इसका बीज श्रद्धा है, दृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है।"[5] पचेन्द्रियों—

---

१. लक्ष्मणशास्त्री जोशी वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २२६।
२. अंगुत्तर-निकाय ३।७।५॥
३. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १६।
४. सौन्दरनन्द १२।३३-४२।
५. कसिभारद्वाज-सुत्त (सुत्त-निपात)

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—में क्रमिक सम्बन्ध है। वे एक के बाद एक उत्पन्न होती हैं। बुद्धोपदिष्ट श्रद्धा प्रज्ञान्वया (पञ्ञान्वया सद्धा) है। बौद्ध-धर्म दृष्ट धर्म है (दिट्ठ धम्म) है, यह चतु—सत्य-दर्शन है। चार आर्य-सत्यों का विनिश्चय पहले, प्रमाण से कर अर्थात् पहले श्रद्धा प्राप्त करके, उनके साक्षात्कार (प्रज्ञा) की उपलब्धि करते हैं।[1]

अनीश्वरवाद तथा अनन्यशरणता—बौद्ध-दर्शन में मनुष्य के तेज को देवताओं की महिमा से तीव्रतर करने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य को देवताओं से ऊपर उठाया गया है। यहाँ 'ऋत' अपनी समग्र महिमा में वर्तमान है, किन्तु उसका 'धाता' कोई वरुणदेव यहाँ नहीं है।[2] वस्तुत: ऋत को ही बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद की संज्ञा प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार समस्त कार्यकारणात्मक जगत् प्रतीत्य-समुत्पन्न है। हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही समस्त धर्मों की धर्मता स्थित है। इसलिए इस नय में ईश्वर, ब्रह्म आदि कल्पित कारकों का प्रतिषेध है।[3] बुद्ध ने ब्रह्मा को जगत्कर्ता नहीं माना है, केवल पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने दुःख-प्रहाण-मार्ग को पार करना सिखाया है। जगत्कर्ता की गवेषणा को उन्होंने स्पष्टतः ब्रह्मचर्य (श्रामण्य) के लिए अनुपयोगी और वीर्यारम्भ के लिए बाधक माना है। मूल बौद्ध-धर्म में भगवत्कृपा तथा शरणागति के लिए स्थान नहीं है। बुद्ध सतारक नहीं हैं, वे तो प्रतिपदा (मार्ग) को दिखलाने वाले भर हैं, जिस पर साधक को स्वयं चलना है। बुद्ध द्वारा दिखलाये गये मार्ग पर चलना, उनके द्वारा उदाहृत जीवन-पद्धति, साधना को अपनाना ही बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में जाना है।

कर्म ('वीर्य' तथा 'प्रधान') का महत्त्व—ईश्वरवादी दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है, वही स्थान बौद्ध-दर्शन में कर्म को प्राप्त है। तथागत संसार में दीखने-वाली विषमता का मूल कारण कर्म को ही मानते हैं। उन्होंने कहा है, 'माणवक! प्राणी कर्मस्वक (कर्म ही जिनका अपना है) कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्म-प्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को इस (दाग पड़ने वाली) हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।'[4] अन्य भारतीय दर्शनों में मान्य कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद उन्हें भी मान्य है। प्राणियों को कर्मयोनि कहने का तात्पर्य यह है कि सुगति या दुर्गति पाना उनके शुभ या अशुभ कर्मों का फल होता है। बौद्ध मत का

१. कसिभारद्वाज-सुत्त(सुत्त निपात)
२. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध-धर्म दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ७३१-३२।
३. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म दर्शन, पृष्ठ २४१।
४ चूल कम्म विभंग सुत्तन्त, मज्झिम निकाय, ३।४।५।

बोधि-पक्षीय धर्म कर्म-स्वरूप है और प्रतीत्य-समुत्पाद का चक्र कर्म के नियम पर आधारित है। तथागत ने कहा है, "कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और विपाक कर्म-सम्भव हैं। कर्म (सास्रव कर्म) से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार संसार प्रवर्तित होता है।"[1] उन्होंने कर्म (अनास्रव कर्म) द्वारा ही संसार से मुक्ति का मार्ग भी इस प्रकार बतलाया है, "भिक्षुओ! क्रोध को छोड़ो, लोभ को छोड़ो, द्वेष को छोड़ो, मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर इस आवागमन में नहीं आना पड़ेगा।"[2] उन्होंने कहा है, "तुम्हें ही परिश्रम करना पड़ेगा, तथागत तो केवल मार्ग दिखाने वाले हैं।"[3] "हम स्वयं अपने स्वामी हैं, हमें अपना ही सहारा है, (अर्थात् हमें तारने वाला कोई दूसरा नहीं है)।"[4] कर्म ही बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की आधार-शिला है। वे मानते हैं कि कर्म के अव्यर्थ नियम की अवहेलना वे भी नहीं कर सकते, इसीलिए वे भिक्षुओं से अपना सम्पूर्ण उपदेश देने के बाद कहते हैं, "अनुकम्पक शास्ता को तो तुम्हारे हित की दृष्टि से जो कुछ करना चाहिए था, वह कर दिया। अब भिक्षुओ! ये वृक्ष-मूल हैं, ये शून्यागार हैं, ध्यान करो, प्रमाद मत करो।"[5] आगे चलकर महायान में मूल बौद्ध धर्म का कर्म—अनास्रव कर्म—के प्रति वीर्य (उत्साह) तथा प्रधान (प्रयत्न) का पक्ष तो पूर्ण रूप से बना रहा, प्राणिमात्र की कल्याण-भावना से अधिक प्रचलित हुआ, किन्तु अनन्य-शरणता वाला (अपने सिवा किसी दूसरे का भरोसा न करने वाला) पक्ष खंडित हो गया, शिथिल पड़ गया, स्वयं बुद्ध संतारक बन गए।

'कर्मवाद' तथा 'पुनर्जन्म' पर आक्षेप तथा उस पर विचार

'कर्मवाद' तथा 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त पर यह आक्षेप है कि यह अन्याय-पूर्ण, सामाजिक तथा आर्थिक विषमता को पूर्वजन्म के कर्मों का फल बतलाकर प्रश्रय देता है तथा इसके प्रतिकार की भावना के आधार को ध्वस्त करता है और अतीत तथा भावी जीवनों की अनन्त शृंखला की तुलना में वर्तमान जीवन की तुच्छता की, इसे जन्म-जन्मान्तर की अनन्त यात्रा में नगण्य पड़ाव मानने की शिक्षा देता है। किन्तु इस सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी है। यह वर्तमान जीवन को एक विशाल दृश्य क्षेत्र प्रदान करता है, और प्रयत्न एवं कर्म का महत्त्व अत्यधिक

---

१. कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तोति। भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४७७-७८ से उद्धृत।

२. भरतसिंह उपाध्याय . बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४७६।

३. तुम्हेहि किच्च आप्पप्पं अक्खातारो तथागता। धम्मपद, २०।४।

४. अप्पाहि अप्पनो नाथो अप्पाहि अप्पनो गति। धम्मपद १२।४,२५।२१।

५. इन्द्रिय भावना सुत्तन्त। मज्झिम निकाय, ३।५।१०।

बढ़ा देता है, क्योंकि यह हमारे निकट-भविष्य को नही, बल्कि सुदूर भविष्य को भी निर्धारित करता है। किन्तु यह परलोकवादी दृष्टि मनुष्य को धर्म पर अर्थात् पुण्य पर, न कि धन पर, अर्थोपार्जन पर ध्यान देने वाला बना देती है, क्योंकि वह सोचने लगता है कि मरणोपरान्त धर्म ही साथ जाएगा, धन-सम्पत्ति यही रह जाएँगे। यह इस ससार को, इसके समाज और जीवन को अपने व्यक्तिगत इह-लौकिक जीवन के साथ विशेष महत्त्व नही देता। इस प्रकार हमारा वर्तमान जीवन उस ऐकातिक महत्त्व को खो देता है जो इसे हम तब देते हैं, जब इसको काल-चक्र के भीतर केवल एक क्षणस्थायी सत्ता मानते हैं, जिसे फिर कभी नही दुहराना है या उसे अपना एक ऐसा सुयोग मानते हैं, जिसके परे कोई पारलौकिक अस्तित्व नही है। निस्सन्देह यह विचार कि हमारे वर्तमान दु ख-कष्ट हमारे अतीत धर्म के ही फल है, भारतीय मन को एक शान्ति, सहिष्णुता और नति प्रदान करता है, किन्तु साथ ही उसे अन्यायपूर्ण उत्पीडन-शोषण का विरोध करने से विमुख कर देता है।[1]

बौद्धमत में कर्म को, वीर्य (उत्साह) तथा प्रधान (प्रयत्न) को जो विशेष महत्त्व प्राप्त है, उसने इसे दैववादी बनने से रोका। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्धमत दु ख-वादी, निवृत्तिवादी है, उसमें तृतीय आर्य सत्य दु ख-निरोध में नि श्रेयस, जन्म-मरण रूपी ससार के दु खों के मूल कार्य-श्रृ खला के अतिक्रमण रूप निर्वाण के प्रति तत्परता है न कि अभ्युदय के प्रति। इसमें कर्म का उत्साह तथा प्रयत्न बोधिपक्षीय धर्म में है, जिनका लक्ष्य वासना-क्षय है, जिसके लिए लौकिक समृद्धि बाधक है, न कि साधक। कर्म का क्षेत्र धार्मिक है, न कि आर्थिक। आगे चलकर महायान में भी बोधिसत्त्व की करुणा-जनित षट्पारमिताएँ भी सर्वजन की सेवा करते हुए उन्हें निर्वाण के पथ पर बढाने के लिए ही रही, न कि उनकी उपार्जन-शक्ति बढाकर आर्थिक विषमता दूर करने तथा दासता आदि को हटाकर लोक-जीवन को सुख-समृद्धि-पूर्ण बनाने के लिए।

महायान

महायान का विकास तथा उसकी विशेषता—बौद्ध धर्म का उपर्युक्त विवेचन स्थविरवाद या अर्हत्-यान के अनुसार है जिसे सामान्यत हीनयान कहते है। अर्हत् की दृष्टि 'अष्टागिक-मार्ग द्वारा वासना क्षय' की थी, जिसका स्वाभाविक फल निर्वाण था। काल-क्रम से इस दृष्टि में विकास और वासना के शोधन का सिद्धान्त ग्रहीत हुआ, जिससे मलिन वासना, तृष्णा शुद्ध वासना करुणा में रूपान्तरित हो जाती है और देह-शुद्धि होती है, जिसके द्वारा लोक-कल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। इस दूसरे सिद्धान्त का विकास बुद्ध चरित के लोक-सेवा के आदर्श से हुआ।

१. देखिए श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ८०-८१।

इसका आदर्श अर्हत्व न होकर बोधिसत्त्व हुआ, क्योंकि बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक बोधिसत्त्व थे। 'बोधिसत्त्व' उसे कहते हैं जो सम्यक्-सम्बोधि की प्राप्ति चाहता है। जिसमें सम्यक्-सम्बोधि है, उसी के चित्त में जीवन-लोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। इस नवीन धर्म का नाम महायान पड़ा। महायानवादी प्राचीन विचारवालों को हीनयानवादी कहते थे। हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान (अर्हत्-यान) है।

महायान का विकास अर्हत्-यान के सकीर्णत्व तथा एकांगिता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। असंग महायानसूत्रालंकार में कहते हैं कि श्रावक-यान में परहित-साधन का प्रयत्न नहीं है, केवल अपने ही मोक्ष का उपाय-चिन्तन है। महायान का अनुगमन करने वाला अपर्यन्त सत्त्वों के समुद्धरण का आशय रखता है और उसके लिए बोधि-चित्त का समादान करता है। हीनयान का अनुयायी केवल पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न है, किन्तु महायान का अनुयायी धर्मनैरात्म्य या धर्म-शून्यता में भी प्रतिपन्न है। महायानी का कहना है कि वह क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों को अपनीत करता है। उसके अनुसार हीनयानी केवल क्लेशावरण का ही अपनयन करता है। महायान का प्रधान प्राचीनतम आगम अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र है (जो प्रथम शताब्दी ई० पू० की रचना है)। इसी में सबसे पहले शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन है, जो हीनयान से महायान-दर्शन को भिन्न करने का बीज है।[१]

महायान, जिसमें जीव-मात्र की मुक्ति का सन्देश है, बड़ा व्यापक है। इसमें अनेक वाद थे, जिनमें पारमिता-यान या बोधिसत्त्व-यान या बुद्धयान, प्रज्ञायान (ज्ञान-मार्ग) और भक्ति-मार्ग प्रधान हैं। आगे चलकर छठी शताब्दी के लगभग तंत्र के प्रभाव से मन्त्रयान (वज्रयान, कालचक्र-यान) तथा सहज-यान का विकास हुआ। कहा जा सकता है कि महायान, के भ्रम-निवारण अर्थात् प्रज्ञा (निर्वाण) के विभिन्न उपाय बतलाये हैं, नागार्जुन के निश्चित धारणाओं को नष्ट करने वाले उपाय, शून्यवाद से लेकर प्राणिमात्र की अनन्त सेवा, अमिताभ के नाम-जप द्वारा सुखावती लोक की प्राप्ति तथा तान्त्रिक प्रज्ञोपाय (शून्यता-करुणा) के सामरस्य तक, जिसमें पंचमकार विहित है। संक्षेप में महायान की विशेषताएँ हैं: बोधिसत्त्व की कल्पना, बोधि-चित्त-ग्रहण, षट्पारमिता की साधना, दशभूमि, त्रिकायवाद और धर्म-शून्यता या तथता।[२]

शून्यवाद—प्रज्ञायान के अन्तर्गत दो दार्शनिक विचार-पद्धतियों का उदय

१. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १०६।
२. वही पृष्ठ १६४।
३. वही पृष्ठ १६४।

हुआ—शून्यवाद (मध्यमक) और विज्ञानवाद (योगाचार)। शून्यवाद को व्यवस्थित दार्शनिक रूप आचार्य नागार्जुन ने, जो प्रथम शताब्दी ईस्वी में हुए, अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ माध्यमिकशास्त्र में दिया। इसके अनुसार सब पदार्थ निःस्वभाव अर्थात शून्य हैं। पारमार्थिक दृष्टि से न उनकी उत्पत्ति है न निरोध। नागार्जुन की भावना के अनुसार शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण हैं, जो शून्यता की दृष्टि रखते हैं, अर्थात् जिनका शून्यता में अभिनिवेश है, उनको बुद्ध ने असाध्य बतलाया है।[1]

शून्यवाद के सिद्धान्त को समझाने में प्रायः भूल होती है। शून्यता अभाव-दृष्टि नही है। माध्यमिक शून्यता की अभावात्मक व्याख्या नही करता, प्रत्युत शून्यता का अर्थ प्रतीत्य-समुत्पाद करता है।[2] आचार्य ने स्वभाव का अपना लक्षण बताया है कि स्वभाव पर-निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होता है और दिखलाया है कि सभी प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्म संस्कृत अर्थात् स्वभाव शून्य हैं। शून्यवाद के उपदेश का प्रयोजन अशेष प्रपंच अर्थात् वासनादि निःशेष दोषराशि का उपशम है। मध्यमा-प्रतिपत्ति से ग्रहण की जाय तो शून्यता साधक का प्रपंचोपशम करती है, किन्तु अन्यथा ग्रहण से ग्रहीता का नाश कर देती है।

बुद्ध की धर्म-देशना दो सत्यों का आश्रय करके होती है, लोक-संवृत्ति-सत्य (व्यवहार सत्य) और परमार्थ सत्य।[3] सत्य-द्वय का प्रयोजन इसलिए है कि बिना व्यवहार (ज्ञान ज्ञेय आदि) का आश्रय लिये परमार्थ का उपदेश नही हो सकता और परमार्थ को अधिगत किए बिना निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती।[4]

विज्ञानवाद—शून्यवाद की आत्यंतिकता के प्रतिक्रिया-स्वरूप विज्ञानवाद का प्रारंभ हुआ। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही सत्य है, इससे भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है। 'लंकावतार-सूत्र' इसका मूल ग्रन्थ है। विज्ञानवाद दशभूमक शास्त्र को अपना आधार मानता है। २६७ ई० में चीनी भाषा में इसका अनुवाद हुआ, तथापि इस वात को व्यवस्थित दार्शनिक रूप आचार्य असंग ने दिया, जिनके गुरु मैत्रेयनाथ थे। गुरु शिष्य की सम्मिलित कृति 'महायान-सूत्रालंकार' महायान का प्रधान ग्रन्थ है, जो सम्भवतः चौथी-शताब्दी ईस्वी की रचना है।

विज्ञानवाद तथा बोधिसत्व यान—असंग महायान का श्रावकयान से भेद तथा श्रेष्ठता दिखाते हुए कहते हैं कि श्रावकयान में वैकल्य है, क्योंकि इसमें श्रावकों

---

१ नागार्जुन माध्यमिकसूत्र, १३।८।

२ आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ ५५७।

३ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म-देशना।
लोक-संवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः। मध्यमकावतार। २४।८।

४ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ मध्यमकावतार २४।१०।

के लिए अपनी विमुक्तिमात्र के उपाय का ही उपदेश किया गया है और परार्थ का कोई भी आदर्श नहीं है। स्वार्थ परार्थ नही हो सकता। पुनः यह विरुद्ध है कि जो अपने ही परिनिर्वाण का अर्थी है और उसी के लिए प्रयोग करता है, वह अनुत्तर सम्यक्-सबोधि का लाभ करेगा। चाहे कोई बोधि के लिए चिरकाल तक श्रावकयान का अनुसरण करे, वह बुद्ध नही हो सकता।[1] महायान या बोधिसत्वयान अग्रयान (सब यानो में श्रेष्ठ) है, क्योंकि इसमें शरणप्रगत (निरत्न की शरण में आया हुआ व्यक्ति) सर्वत्रग है। उसने सब सत्वो के समुद्धरण का भार अपने ऊपर लिया है। वह सब यानो (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्व) में कुशल है। सब सर्वगत ज्ञान में कुशल है, अर्थात् पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। यह निर्वाण और ससार में एकरस है और उसके लिए निर्वाण और ससार में गुण और दोष की दृष्टि से विशेषता नही है।[2]

महायान में उपदिष्ट शरण-गमन का अन्य लक्षण बोधि की पारमिताओ का अभ्युपगम और अधिगम है। पारमिताओ के अभ्युपगम से वह बुद्धपुत्र हो जाता है। उसका प्रणिधान (निश्चय) और प्रयोग (निश्चय को कार्यान्वित करना) विशिष्ट है। वह सत्वो के समुद्धरण के आशय से बोधि-चित्त का समादान करता है और अत्यन्त उत्साह के साथ बोधि के लिए प्रयोग करता है। इस बुद्धपुत्र का बीज चित्त का उत्पाद (जीवमात्र के समुद्धरणार्थ बुद्धत्व की प्राप्ति-हेतु सम्यक्-सबोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना) है, प्रज्ञा पारमिता इसकी माता है, प्रज्ञा पारमिता से सप्रयुक्त पुण्य-ज्ञान-सभार गर्भ है और करुणा अप्रतिम धात्री है।[3] उसका अधिगम भी विशिष्ट है। उसको महापुण्य-स्कन्ध का लाभ होता है उसके सर्व दुःख का उपशम होता है, सम्यक्-सबोधि के क्षण में उसको बुद्ध के धर्मकाय की प्राप्ति होती है; उसको बलवैशारद्यादि कुशल-संभार की प्राप्ति होती है और वह भव (ससार) तथा निरोध (निर्वाण) से विमुक्त होता है।[4]

असग 'तत्त्व' का यह लक्षण बताते है :—तत्त्व वह है जो सतत द्वय (ग्राह्य-ग्राहक-भाव) से रहित है, जो अनभिलाप्य, निष्प्रपञ्चात्मक, विशुद्ध है।[5] यह सब धर्मो की तथता है। असग अन्यत्र कहते है कि यतः धर्मधातु से विनिर्मुक्त कोई धर्म नही है, क्योंकि धर्मता से व्यतिरिक्त धर्म का अभाव है, अत रागादि-धर्मता रागादि

१. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री बौद्ध धर्म-दर्शन, पृष्ठ ३८५।

२. वही पृष्ठ ३८६।

३. वही, पृष्ठ १५४।

४. वही, पृष्ठ ३८७।

५. महायान सूत्रालकार, ११।१४

आश्रय का लोभ करती है और वही रागादि का निःसरण है।[1] धर्मों की समता की यह दृष्टि योगाचार साधना के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है, और आगे चलकर यह बौद्ध-तान्त्रिक साधना का आधार सिद्ध हुई।

महायान सूत्रालंकार में बतलाया गया है कि बुद्धत्व (बोधि) सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है। इसकी प्राप्ति निर्विकल्प ज्ञान-मार्ग से होती है, जिसमें त्रिविध शून्यता (अभाव शून्यता अर्थात् परिकल्पित स्वभावता तथाभाव की शून्यता अथवा परतन्त्र स्वभावता और प्रकृति शून्यता अर्थात् परिनिष्पन्न स्वभावता का ज्ञान होता है। असंग कहते हैं कि यह जानकर कि जगत् संस्कार-मात्र और निरात्मक है, तीर्थिकों (अन्यधर्मावलम्बियों) की आत्मदृष्टि का त्याग कर बोधिसत्त्व महात्म-दृष्टि का लाभ करते हैं। इस महात्मदृष्टि में सब सत्वों के साथ आत्मसमचित्तता रूप आत्मदृष्टि का लाभ होता है। इस अद्वयवाद से करुणा प्रवृत्त होती है। आत्म-दृष्टि तो अनर्थमयी होती है, किन्तु सब सत्त्वों के प्रति वत्सलतावाली यह महात्म-दृष्टि आत्मदृष्टि होते हुए भी अनर्थमयी नहीं है।[2] बोधिसत्त्व वासना-क्षय-स्वरूप-निर्वाण-प्रापक अष्टांगिक मार्ग की नहीं, बुद्धत्व-प्रापक षट्-पारमिताओं—दान पारमिता, शील पारमिता, क्षान्ति पारमिता, वीर्य पारमिता, ध्यान पारमिता, तथा प्रज्ञा पारमिता—की साधना ग्रहण करता है। दान आदि पंच-पारमिता प्रज्ञारहित रहने पर लौकिक कहलाती है। बुद्धत्व की प्राप्ति में इनकी परिणामना होने पर ही इनकी पारमिता सार्थक है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर इनको पूर्णता प्राप्त होती है और ये लोकोत्तर कहलाती हैं। उदाहरणार्थ, जब तक दाता, भिक्षु, दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तब तक उसकी दान पारमिता लौकिक होती है, पर जब वह इन तीनों के शून्यवाद को मानता है, तब वह लोकोत्तर कहलाती है। बोधिसत्त्व कर्म को (प्रज्ञा समन्वागत कर) विशुद्ध करता है। उसके कर्म में कर्ता, कर्म, क्रिया का विकल्प नहीं रह जाता।[3] बोधिसत्त्व का आदर्श प्रज्ञा अर्थात् शून्यता तथा उपाय-रूप महाकरुणा का समन्वय अर्थात् सामरस्य है। वह परार्थ-सम्पादन के लिए निर्वाण अर्थात् विदेह मुक्ति का निरादर करते हुए जीवन्मुक्ति को ग्रहण करता है।

बोधिसत्त्व का आदर्श बौद्ध मत का ही नहीं भारतीय धर्म-साधना का मथित नवनीत है। यह मानवता का व्यावहारिक चरमोत्कर्ष है। उसमें सेवा तथा त्याग के जो भाव व्यक्त हुए हैं, वे बड़े ही उदात्त हैं। बोधि-चर्या का मार्मिक निरूपण महायान के सुप्रसिद्ध शास्त्रकार शान्तिदेव ने (जो सातवीं शताब्दी में हुए) 'बोधि-चर्या-

---

१. महायान सूत्रालंकार, १३।११।
२. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ ४०८।
३. वही, पृष्ठ ४०८।

वतार' तथा 'शिक्षा समुच्चय' में विशेष रूप से किया है। शिक्षा-समुच्चय में वे कहते हैं, 'सब प्राणियों के हित के लिए अपने आत्म भाव का, सब भोगों का और मन, वचन, कर्म के गुणों का उत्सर्ग कर देना चाहिए, एव उस त्याग के लिए ही उनकी रक्षा शुद्धि तथा वृद्धि करनी चाहिए'।[1] उन्होंने बोधिचर्यावतार में कहा है—दूसरे प्राणियों को दुःख से मुक्त करने में तुझे जो प्रमोद-सिन्धु मिलेंगे, बस वे ही पर्याप्त हैं। नीरस मोक्ष (निर्वाण) में क्या रखा है?'[2] बोधिसत्त्व के इस आदर्श की अभिव्यक्ति भारतीय वाङ्मय तथा धार्मिक जीवन में विरल नही है। भारतीय सस्कृति को उद्भासित करने वाले महाकवि कालिदास कहते हैं कि उत्तम मनुष्यों की सम्पत्ति का एकमात्र फल है दुखियों के दुःख दूर करना।[3] श्रीमद्भागवत में भक्त प्रह्लाद नृसिंह भगवान से कहते हैं, 'हे देव! मुनि लोग प्राय अपनी मुक्ति की इच्छा रखते हुए वन में मुनि-व्रत का आचरण करते हैं। वे दूसरों की भलाई के लिए विशेष प्रयत्न नही करते। मैं तो इन असहायों को छोडकर अकेला मुक्ति नही चाहता।[4] ऐसी ही अमृतमयी, श्रीमद्भागवत में ही, रन्तिदेव की यह वाणी भी है, मैं भगवान से आठों सिद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी प्राणी को दुःख न हो।"[5] सब प्राणियों के प्रति करुणा का यह भाव महाप्रभु चैतन्य देव में भी व्यक्त हुआ। उनसे भक्त वासुदेव ने निवेदन किया, 'जीवों का दुःख देख-देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है। हे प्रभो! सब जीवों का पाप मेरे सिर पर डाल दो। ऐसा करो कि मैं सब जीवों का पाप लेकर नरक-भोग करूँ। हे प्रभो! इस प्रकार मैं सब जीवों का भव रोग दूर करूँ।[6] आधुनिक भारत के नवोत्थान युग में परमहस रामकृष्ण देव तथा उनके शिष्य वैराग्य तथा सेवा-व्रत के समन्वय द्वारा व्यावहारिक वेदान्त का मार्ग दिखानेवाले स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा विचारों में भी बोधिसत्त्व की भावना पूर्णत प्रतिबिम्बित हुई है। बालगगाधर तिलक, महात्मा गान्धी, और विनोबा भावे भी उसी पथ के पथिक जान पडते हैं।

---

१ आत्मभावस्य भोगाना त्र्यध्ववृत्ते शुभस्य च।
उत्सर्ग सर्वसत्त्वेभ्यस्तद्रक्षा शुद्धिवर्द्धनम।—शिक्षा समुच्चय।

२ मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम॥ बोधिचर्यावतार ८।१०८।

३ मेघदूत १।५३।
श्रीमदभागवत ७।९।४४।
[illegible]

करुणा-मैत्री की भावना चित्त शोधन के साधन 'ब्रह्मविहार' (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) के रूप में हीनयान में भी गृहीत थी। 'करणीयमेत्तसुत्त' में मैत्री-भावना (मेत्त-भावना) के सम्बन्ध में कहा गया है, 'सबल हो या दुर्बल, दीर्घ हो या ह्रस्व, महान हो या क्षुद्र, अणु हो या स्थूल, दृष्ट हो या अदृष्ट, दूरवासी हो या निकटस्थ, भूत हो या भावी, जितने प्राणी हों, वे सब सुखी हों। ''' माता जिस प्रकार अपने प्राण देकर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार सर्वभूतों के प्रति मन में अपरिमित दया का भाव होना चाहिए। संसार में ऊपर-नीचे चारों ओर सर्वत्र प्रतिहिंसा तथा शत्रुतारहित चित्त से अप्रमेय मैत्री का भाव जगाना चाहिए। खड़े-खड़े चलते-चलते, बैठे-बैठे, सोते-सोते जब तक निवृत्त न हो जाय, तब तक इसी प्रकार की मैत्री-भावना में स्थित रहना चाहिए।'[1]

मैत्री का करुणा में अन्तर्भाव है और षट्-पारमिताओं में पुण्य-सभारात्मक दान, शील, शान्ति, क्षान्ति तथा वीर्य, करुणा के ही अंग हैं। इसमें संदेह नहीं कि करुणा के अपरिमेय 'क्षान्ति' तथा 'वीर्य' से समन्वित इस भाव में अपरिमाण सत्त्वों की सेवा तथा कल्याण के लिए उद्दाम त्याग तथा उत्साह सहित 'श्रम' का भाव है, जो 'लोक कल्याण' का साधक है। किन्तु यह पुण्य-सभारात्मक कर्मशून्यता अर्थात् प्रज्ञा से समन्वित है, षट्-पारमिताओं में ध्यान तथा प्रज्ञा ज्ञान-सभारात्मक है। इस प्रकार महायान की साधना शून्यता-करुणा के सामरस्य, अभिन्नता की है। यह साम्यरस्य ही इसका आदर्श है और इसीलिए इसमें लोक-कल्याण की भावना अभ्युदयात्मक नहीं, दुःख-क्षय की है। बोधिसत्त्व सर्वसत्त्वों को निर्वाण प्राप्ति कराना चाहता है। बुद्धत्व का आदर्श जो निर्वाण से परे का है, सबके लिए लक्ष्य नहीं हो सकता, यद्यपि बुद्धत्व की योग्यता सबमें है।

महायान में भक्ति भावना—मूल बौद्ध-धर्म में प्राणियों को कर्म-स्वक, कर्म दायाद, कर्म-प्रतिशरण कहा गया है, भिक्षुओं को आत्मशरण, अनन्यशरण होने को कहा गया है। उसमें ईश्वर की भावना नहीं है, धर्म ही ईश्वर स्थानीय है। बुद्ध स्वयं मार्ग-दर्शक हैं, किन्तु मार्ग पर स्वयं चलना है। वहाँ प्रपत्ति की भावना नहीं है, पुरुषार्थ ही मुक्ति का प्रधान साधन है। उसमें भगवत्कृपा के लिए अवकाश नहीं है, बुद्ध संतारक नहीं माने गये हैं। महायान के भी दर्शन-मार्ग में बुद्ध-धर्मकाय मात्र, बोधिमात्र, तथता मात्र है। प्राणिमात्र बुद्ध-बीज हैं और मलापगम तथा पुण्य-संभार द्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर सकते हैं। उसके शून्यता-मूलक सर्वात्मभाव पर तथा सर्वसत्त्व बुद्ध का रूप मानकर उनकी सेवा के व्रत पर आधारित एक अद्वैतमूलक भक्ति-भावना उदित हुई, जिसे शान्तिदेव ने (आठवीं शताब्दी) इस प्रकार व्यक्त किया है, 'इसमें सन्देह नहीं कि कृपावन्त बोधिसत्त्वगण ने समस्त जगत् को निश्चय

---

१. सुत्तनिपात, उरगवग्ग, अष्टम सुत्त।

ही अपना बना लिया है। यह निश्चित है कि बुद्ध सत्त्वों के रूप में दिखलाई देते हैं। वे नाथ ही हैं। उनका अनादर वे कैसे कर सकते हैं। लोक-सेवा ही तथागत की सेवा है (वे इसी से प्रसन्न होते हैं), इसी से स्वार्थ की सिद्धि भी होती है, (सर्वसत्त्व आत्म-स्वरूप होने के कारण सर्वार्थसिद्धि ही बोधिसत्त्व के लिए स्वार्थ-सिद्धि है), इसलिए यही मेरा व्रत है।'[1] यहाँ यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है कि लोक-सेवा ही तथागत की आराधना है और उसी में जीवन की सार्थकता है।

किन्तु यह अव्यक्त की साधना संसार में देहाभिमानी गृह-जनों के लिए दु साध्य है। दुर्बल मानवों के लिए वह और कठिन है। सांसारिकता बड़ी प्रबल है, इसके संवरण के लिए उसे कोई संतारक चाहिए। हीनयान में भी गृहस्थ उपासकों के लिए पंचशील का पालन करते हुए व्रत, उपवास, चारों तीर्थों की यात्रा, चैत्य-पूजा, भिक्षुओं को दान आदि द्वारा स्वर्गोपपत्ति का विधान है। किन्तु उसमें भगवान् बुद्ध से कृपापूर्वक पाप-मुक्त करने की प्रार्थना नहीं है। महायान में इस कमी की 'भक्तिमार्ग' द्वारा पूर्ति की गई और सभी श्रद्धालुजनों के लिए भवसागर से पार होने का साधन सुलभ हो गया।

भक्ति तथा त्रिकायवाद—महायान में बोधिसत्त्व-भक्ति तथा उसके आधार सम्भोग-काय का, जो त्रिकायवाद के अन्तर्गत मान्य है उल्लेख तथा निरूपण सर्वप्रथम वैपुल्य-सूत्र में मिलता है, किन्तु मूल बौद्ध-धर्म में बुद्ध के मानवीय रूप को सुरक्षित रखा गया, उसका दैवीकरण नहीं किया गया। आगे चलकर धर्मकाय रूपकाय से श्रेष्ठ तथा बुद्धत्व का आधार माना गया, परन्तु कुछ सम्प्रदाय बाल बुद्ध को लोकोत्तर मानते थे। स्थविरों का कहना है कि बुद्ध लोकोत्तर होते हैं, किन्तु लोकानुवर्त्तन करते हैं, जैसा ब्राह्मण परम्परा में अवतारों के विषय में माना जाता है। उनकी मान्यता है कि उन्होंने अनेक जन्मों में पारमिताओं की साधना की, अंतिम जन्म में उन्होंने कुमारी माया के गर्भ में मनोमय-शरीर धारण किया, उनकी पत्नी भी कुमारी ही रही, क्योंकि अंतिम जन्म में बुद्ध काम-राग से अभि-निविष्ट नहीं होते।[2]

अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता में जो प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व रचित

---

१ आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यंत एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र ।
तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥
बोधिचर्यावतार ६।१२६-२७॥

२. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ १०४।

महायानसूत्र है, दो ही काय (रूप-काय और धर्म-काय) माने गये हैं। सद्धर्म पुंडरीक में अवलोकितेश्वर की भक्ति में बोधिसत्त्व-उपासना का प्रबल प्रारम्भ दीख पड़ता है। उसके चौबीसवें परिवर्त्त (अध्याय) में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महाकरुणा का अद्भुत वर्णन मिलता है, 'उन्होंने बोधि की प्राप्ति की है, किन्तु जब तक संसार का एक भी सत्त्व दुःखी रहेगा, तब तक निर्वाण प्राप्त न करने का उनका संकल्प है'।[1]

कारण्ड-व्यूह नामक महायान-सूत्र में (जिसका तिब्बती भाषान्तर ६१६ ई० में हुआ) अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं। वह अवीचि नरक में जाकर नारकियों को दुःख से बचाते हैं। अवलोकितेश्वर सृष्टि का कर्ता भी है। उसका रूप विराट् है। उसकी उपासना स्वर्गापवर्ग की प्रापिका है। कारण्ड-व्यूह में तन्त्र और मन्त्र भी है। 'ॐ मणिपद्मे हुं' नामक मन्त्र, जो आज भी तिब्बत में प्रतिष्ठा-प्राप्त है, पहली बार कारण्ड-व्यूह में मिलता है।[2] अवलोकितेश्वर तिब्बत के राष्ट्रीय देवता बन गये। हम यह स्पष्ट रूप से देखते हैं कि कारण्ड-व्यूह में वैदिक और पौराणिक देवताओं को अंगीभूत बनाकर अवलोकितेश्वर की श्रेष्ठता अंकित की गई है और जनता को आकृष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ में पौराणिकता को ग्रहण किया गया है।[3]

सुखावती-व्यूह नामक महायान-सूत्र में (जिसका प्रथम भाषान्तर चीनी भाषा में ई० सन् १४७ और १८६ के बीच का है) एक बुद्ध-क्षेत्र सुखावती-लोक का वर्णन है जो, महायानी बौद्धों का नन्दनवन है। यहाँ अमिताभ-बुद्ध शासन करते हैं। यहाँ दुःख का लवलेश भी नहीं है। यह विशुद्ध सत्त्व से निर्मित है। यहाँ अमिताभ के भक्त मरणान्तर निवास करते हैं। सुखावती-व्यूह में नाम-जप, नाम-घोष, नाम-सङ्कीर्तन का बड़ा माहात्म्य है।

हिन्दू समाज तथा धर्म में अवतार-वाद तथा इष्टदेव के वैकुण्ठ, गोलोक, दिव्य साकेत आदि लोकों का और मध्य युग के हिन्दू भक्तों में नाम-जप का रूप है उस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव विद्वानों को मान्य है।[4]

त्रिकायवाद

धर्म-काय—धर्म-काय उन धर्मों का समुदाय है, जिनके प्रतिलाभ से एक आश्रय-विशेष सर्व-धर्म का परिज्ञान प्राप्त कर बुद्ध कहलाता है। बुद्ध की शरण में आने का अर्थ है धर्म-काय की शरण में आना। यह धर्म-काय अचिन्त्य है और

---

१ आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १४८।
२ वही पृष्ठ १५०।
३. वही-पृष्ठ १०५।
४. देखिये हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६-१०।

सब तथागतो द्वारा समान-रूप से अधिकृत है। यह परमार्थ-तत्त्व है। संवृति-सत्य की दृष्टि से इसे शून्यता, तथता धर्मधातु कहते हैं। नागार्जुन माध्यमिक सूत्र में कहते हैं कि निष्प्रपंच तथागत संबंध में कोई कल्पना सम्भव नहीं है।[१] विज्ञानवाद की दृष्टि से बुद्धत्व ही धर्म-काय है, क्योंकि बुद्धत्व विज्ञान की परिशुद्धि है और यदि विज्ञान वास्तव में संक्लिष्ट (रागादि मलों वाला) होता तो वह शुद्ध न हो सकता, इस दृष्टि से बुद्धत्व प्रत्येक वस्तु का शाश्वत और अपरिवर्तित स्वभाव है।

रूप काय या निर्मित-काय—सुवर्ण-प्रभास में कहा गया है कि भगवान् न कृत्रिम है, न उत्पन्न होते हैं। केवल सत्त्वों के परिपाक के लिए निर्मित-काय का दर्शन कराते हैं। वेतुल्लकों का विचार था कि बुद्ध संसार में जन्म लेते, सदा तुषित-लोक में निवास करते हैं, पर संसार के हित के लिए निर्मित रूप मात्र लोक में भेजते हैं।[२] बुद्ध प्रतिहार्य द्वारा अनेक बुद्धों की सृष्टि कर लेते थे। इनका बुद्ध-निर्माण कहा गया है। विज्ञान-वादियों के अनुसार बुद्ध के अनेक निर्मित रूप ही निर्माण-काय नहीं हैं। वरन् समस्त जगत् बुद्ध का निर्माण-काय कहा जा सकता है। बोधि-सत्त्व सर्व-सत्त्वों को बुद्ध का रूप मानकर उनकी अपने 'नाथ' के रूप में सेवा करते हैं।

सम्भोग-काय—संभोग-काय वह काय है, जिसको बुद्ध दूसरों के कल्याण के लिए बोधि-सत्त्व के रूप में अपने पुण्य-संभार के फल स्वरूप तब तक धारण करते हैं, जब तक निर्वाण में प्रवेश नहीं करते। बुद्धत्व ज्ञान-संभार और पुण्य-संभार का फल है। महायान ग्रन्थों में ऐसे बुद्धों की सूचना मिलती है, जो शून्यता में प्रवेश नहीं करते, जो दूसरों का कल्याण चाहते हैं और सबको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की आकांक्षा रखते हैं।[३] फलस्वरूप वे एक बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी हो जाते हैं, जो नाना प्रकार की प्रचुर दिव्य सम्पद से समन्वागत होता है। सुखावती-व्यूह में वर्णित अमिताभ-बुद्ध का सुखावती-लोक एक ऐसा ही दिव्य-क्षेत्र है, जिसकी महिमा अनन्त है।

दार्शनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो धर्म-काय शून्यता है या अलक्षण विज्ञान है। संभोग-काय धर्म-काय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास मात्र है। यही चित् जब पृथग्-जन के रूप में विकसित होता है तब निर्माण-काय कहलाता है। त्रिकाय की कल्पना हिन्दू धर्म में नहीं पायी जाती। पर यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो विदित होगा कि वेदान्त का परब्रह्म,

---

१. माध्यमिक-सूत्र, २२।१५।
२. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म दर्शन पृष्ठ ११७।
३. वही, पृष्ठ ११६।

विष्णु और विष्णु के मानुषी अवतार जैसे (जैसे राम, कृष्ण) क्रमशः धर्म-काय, सभोग-काय और निर्माण-काय के समान हैं।[1]

बौद्ध मत मे तान्त्रिकता—महायान में बुद्ध का रूप अलौकिक हो गया था, उन्हें देवत्व प्रदान कर दिया गया था। उसमें रहस्यमयता बढती गई और छठी शताब्दी (ईसवी) समाप्त होते-होते, जब देश में सर्वत्र तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य हुआ, महायान में भी मन्त्र-तन्त्र का प्रवेश हो गया, जिससे परमपद की प्राप्ति की साधना सुगम हो गई, और पारमिता-यान की सज्ञा मन्त्रयान हो गयी। तान्त्रिक प्रभाव बढने से मन्त्रयान में देवता, मडल, मुद्रा के साथ गुह्य साधनाओ अर्थात् वामाचार का प्रचार होने पर वही वज्रयान कहलाने लगा। यह कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय नही था, महायान के सिद्धान्तों वाला ही अनुत्तर सम्यक् सबोधि को प्राप्त कराने वाला सुगम साधना-मार्ग भी जो मुक्ति ही नहीं मुक्ति-प्रद भी था, और इसीलिए इसके द्वारा पारमिता-नय अवरुद्ध हो गया। इसमें शून्यता के लिए वज्र शब्द का प्रयोग हुआ है। शैव-शाक्तादि अन्य तान्त्रिक सम्प्रदायों के समान वज्रयान में भी उन्नयन (उदात्तीकरण) का सिद्धान्त आधारभूत है। जैसा पहले सकेत किया जा चुका है महायान के सब धर्मों की समता के सिद्धान्त के आधार पर, जिसके अनुसार शून्यता और करुणा में अभेद है, योगाचारी असग ने भी काम द्वारा ही काम से निस्सरण की मान्यता वाला उन्नयन का सिद्धान्त विकसित किया। उससे बौद्ध योगाचार में शून्यता तथा करुणा (प्रज्ञा तथा उपाय) के सामरस्य की साधना में नैरात्म्या (शून्यता या प्रज्ञा) के स्थान में कमल (स्त्रीन्द्रिय) को तथा करुणा (उपाय) के स्थान में कुलिश (पुरुषेन्द्रिय) ग्रहण करके वामाचार को प्रश्रय मिला। बौद्ध तान्त्रिक साधना में सफल साधक सिद्ध कहलाये, जिसमें ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं।

सहज-यान—आगे चलकर वज्रयान में उच्च स्थिति वाले साधकों ने, जो भावना को प्रमुखता देते थे, अनुष्ठानों तथा गुह्य साधनाओं से मुक्त एक विशिष्ट साधना-पद्धति चलाई, जो सहज-यान के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पद्धति की यह विशेषता समझी गई है कि इससे चित्त सहज ही वशीभूत हो जाता है। सहजयानियों का यह सिद्धान्त था कि साधना ऐसी होनी चाहिए कि मन क्षुब्ध न हो, चित्तरत्न—अद्वय भाव में स्थित, समरसीभूत, वज्र-स्वरूप चित्त—के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि कदापि प्राप्त नही हो सकती।[2] सहजयानी सिद्धों में परम प्रसिद्ध सरह थे, जिनका समय आठवीं शताब्दी था, और जिन्होंने जीवन के सहजयानी आदर्श

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव शास्त्री : बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १२१।

२. तथातथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन॥ (प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धिः श्लोक ४०)

को स्वयं चरितार्थ किया, समत्व-प्राप्त निर्मल चित्त को शून्य न करने को कहते हैं, और ध्येय-ध्याता के भेद वाली धारणा तथा तन्त्र-मन्त्र को चित्त की स्थिरता को नष्ट करने वाला विभ्रम-मात्र बतलाते हैं।[1] इसी प्रकार वे चित्त रूपी कलभ को खुला रखने को कहते हैं, क्योंकि वह निग्रह करने से चचल होता है, दसो दिशाओं में दौड़ता है, और मुक्त रखने से निश्चल रहता है।[2] ये साधक महासुख वाले 'ए' (प्रज्ञा) और 'व' (उपाय) की युगनद्धता (समरसत्व) को ही 'सहज' कहते हैं, क्योंकि यही चित्त की सहजावस्था है और वह अवस्था ही साध्य है, इसी लिए वे अपनी पद्धति को सहज-यान कहते हैं। सरह पाद ने कहा है कोई विरला ही बुद्ध रूप है, वह आनन्दमय सहज स्वभाव को सिद्ध कर लेता है। उस आनन्द को बाहरी साधनों से प्राप्त नहीं किया जाता (उनकी भावना से उसका उद्रेक भर होता है), जैसे स्वप्न की सुरति में वर कामिनी तो माना हुई, कल्पित, मन की सृष्टि भर है, रति सुख मन की सहजावस्था है जिसमें प्रवेश हो जाता है।'[3] 'यदि मन इस सहजानन्द को पा जाय, उसे स्वाभाविक रूप में निरंतर अनुभूत करने लगे, तो (बाहरी, कल्पित, क्षणिक) इन्द्रिय विषयों के सुख का क्षण भर भी सेवन न करे।[4] फिर उन्होंने बड़े मार्मिक रूप में बतलाया है कि इस सहजानन्द वाले स्वाभाविक सासारिक जीवन से भी विमुख होने की आवश्यकता नहीं, वह उसे बाँध नहीं सकता, बहिर्मुख नहीं कर सकता। यदि वह विषयों का अच्छी तरह आनन्द लेता हुआ मुक्त न रह सका तो परिज्ञान क्या शोभा देता है।[5]

जैसा विज्ञान-वाद में मान्य है, सरह पाद ने अपने दोहों में आरम्भ पर

---

१. मन्त ण तन्त ण धेय ण धारण। सव्ववि रे बढ़ विब्भम-कारण। असमल चीअ म झाणें खरडह। सुह अच्छन्तें म अप्पेण झगडह॥ (राहुल-सम्पादित : (सरह) दोहाकोश, क ४२)

२. बद्धो धावइ दस दिसहि, मुक्को णिच्चल ठाइ। एमइ करहा पेक्ख सहि, विवरिअ महु पडिहाइ॥ (वही, क २६)

३. एवंहि बुद्ध-रूअ हसं कोवि। सहज सहावें सिज्झइ सोवि। सुअणे जिम वरकामिनि माणिअ। रति-सुह तहि पच्चक्खहि समाणिअ॥ (वही, क १०७)

४. जइ मण सहज णिरंतरे पावइ। इन्दी विसअहि खणविण धावइ॥ (वही, क १०८)

५. झाणहीण पव्वज्जें रहिअउ। महीहि वसते भज्जे सहिअउ। जइ भिडि विसअ रमन्ते ण मुच्चअ। सरह भणइ परिआण कि सच्चअ॥ वही, क १८)

(ग्राहक-ग्राह्य) के विकल्पित भेद से रहित परमसुख-स्वरूप,[1] अखंड, अद्वय चित्त-चिन्तामणि को स्वभावतः शुद्ध-स्वरूप,[2] सर्व-रूप, निर्मल परमपद बुद्ध-स्वरूप तथा भव-निर्वाण का बीज कहा है।[3] भाव-अभाव (भव तथा निर्वाण) की पृथक्-पृथक् भावना न करने को और उनमें समत्व स्थापित करके उन्हें नष्ट करने को कहा गया है[4] तथा बतलाया गया है जो अद्वय चित्त रूपी तत्त्व भाव-अभाव में विभाजित 'द्वैतमिव' जान पड़ता है। उसी बोधि में त्रैलोक्य विलीन हो जाता है। मन अपने उस निज स्वरूप में स्थिर होकर भव तथा निर्वाण से मुक्त हो जाता है।[5] जो कुछ चित्त को विस्फुरित करता है, वह सब नाथ (बुद्ध) स्वरूप, तत्त्व रूप है, संसार और शून्यता अभिन्न है।[6] प्राणी स्वकल्पित भेद से नष्ट हुआ है, संसार स्वभावतः शुद्ध है।[7] इसीलिए शून्यता (नैरात्म्या) और करुणा के युगनद्ध भाव को ध्यान में रख कर कहा गया है कि शून्यता और करुणा अलग-अलग अभ्यास में नहीं लाई जा सकती।[8] साथ ही यौगिक के उपाय (अनासक्ति भाव) व्यावहारिक जीवन की करुणा के युगपत् पालन पर भी जोर दिया गया है और कहा गया है कि यदि अर्थी जन (माँगने वाला) निराश चला गया तो ऐसे गृहवास से टूटा शराव (मृत्पात्र) ले भीख माँगना अच्छा। दान तथा परोपकार विहीन जीवन से मृत्यु अच्छी बतलाई

---

१. आइ ण अन्त ण मज्झ तहिं, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुहं, णउ पर णउ अप्पाण॥ (वही, क ५१)

२. पर अप्पाण म भान्ति करु, सअल णिरन्तर बुद्ध।
एहु रे णिम्मल परमपउ, चित्त सहावे सुद्ध॥ (वही, ख १०६)

३. चित्तेक्क चित्त सअल बीअ भव-णिव्वाणा जन्म विफुरंति। (वही, क २३)

४. भावाभावे वेण्णि म काज्ज। अन्तराल ट्ठिअ पावहु बाज्ज। (वही, क ३६)

५. भावाभावे जो परिच्छिण्णउ। तहिं जग तिअ सहाव विलीणउँ।
जब्बें तहि मण णिच्चल थक्कइ। तब्बें भव-णिव्वाणेहि मुक्कइ॥ (वही, क ६६)

६. जतइ चित्तहु विफुरइ तत्तइ णाहु सरूअ।
अण्ण तरंग कि अण्णु जलु, भव-सम ख-सम सरूअ॥ (वही, क ७६)

७. सए सङ्कप्पे णासिअउ, जगु सहावहि सुद्ध। (वही, क १०१)

८. करुण-रहिअ जो सुण्णहि लग्ग। णउ सो पावइ उत्तिम मग्ग॥
अहवा करुणा केवल साहअ। सो जंमन्तरे मोक्ख ण पावअ।
जइ पुण वेण्णवि जोडण सक्कअ। णउ भव णउ णिव्वाणें थक्कअ॥
(वही, क १६-१७)
सुण्ण-तरुवर फुल्लिअउ, करुणा विविह विचित्त। (वही, ख १०८)

गई हैं, ऐसे जीवन को निरर्थक बतलाया गया है।[१] करुणा को सम्बोधि का स्वाभाविक परिणाम बतलाया गया है। कहा गया है कि अद्वय-चित्त (संबोधि) रूपी वृक्ष में त्रिभुवन-व्यापी करुणा के फूल तथा उपकार के फल लगते हैं और उपकार से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।[२] परोपकार वाली महात्म-दृष्टियुक्त करुणा सहज-भाव की स्वाभाविक विशेषता है। कहा गया है कि इस महात्म दृष्टि-आत्म और पर में समदृष्टि वाली सहजावस्था में जिसमें मन विलीन होकर स्थित रहता है जैसे नमक पानी में घुल जाता है, ध्यान (समाधि) किसका किया जाय ?[३] यही बात अन्यत्र भी कही गई है।[४] भावार्थ यह कि परमपद-स्वरूप सहजावस्था जिसमें भाव-निर्वाण (तथा जन्म-मृत्यु) का विकल्प नहीं रहता, जीवन्मुक्ति की अवस्था है, जिसमें बोधिसत्वों वाला परार्थ-सम्पादन चलता है। इसमें विदेह मुक्ति की इच्छा नहीं रहती।

सरह पाद का स्वयं का 'ध्यान और साधु-वेश से रहित भार्या-सहित गृहवासी ज्ञानी वाला' जीवन आदर्श सहजयानी जीवन था।[५] वे समरसी जीवन पर निरन्तर दृष्टि रखते हुए पचेन्द्रिय के भोग सुख वाला समग्र जीवन निःसंशय सरल हृदय बालक के समान बिताने को कहते हैं।[६] वे बतलाते हैं कि बोधि [redacted] लिए घर

१. जो अत्थीअण ठीअऊ, सो जइ जाइ णिरास।
खण्डसरावें भिक्ख वरू, च्छड्डहु ए गिहवास॥
परऊआर ण किअऊ, अत्थि ण दीअउ दाण।
एहु संसारे कवण फलु, वर च्छड्डहु अप्पाण॥ (वही, ख १११-१२)

२. अद्धअ चित्त-तरुअरहु, गउ तिहुअणें वित्थार।
करुणा फुल्ली फल धरइ, णउ परत्त ऊआर॥ (वही, ख १०७)

३ जिम लोण विलिज्जइ-पाणिएहिं, तिम जइ चित्तवि ठाइ।
अप्पा दीसइ परहिं सम, तत्थ समाहिए काइ॥ (वही, क ४६)

४. तत्तु परिआणें अण्ण न कोई। अवरे गअणे सज्जइ सोई।
सहज च्छाडी णिव्वाणेंहि थाविउ। णउ परमत्थ एकवि साहिउ॥
(वही, क ११)

५. झाण हीण पव्वज्जें रहिअउ। घही वसन्तें भाज्जें सहिअउ। (वही, क १८)
णउ सो झाणें णउ पव्वाजें। गेह वसन्तें समरस भाज्जें। (वही, क १२७)

६. देक्खउ सुणउ पईसउ साहउ।.जिघ्घउ भमउ बईसउ उट्ठउ।
आलमाल ववहारें बोल्लउ। मण च्छड्डु एकाआरें म्म चलउ॥
चित्ताचित्त वि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बाल।
गुरु-वअणें दिढ भत्ति कर, होइहइ सहज उल्लाल॥ (वही, क ६३-६४)
सुण्ण णिरंजन परमपउ, ण तहि पुण्ण ण पाव॥
पंच कामगुण भोअणेंहि, णिचिन्त थियेहि।
एव्वें लक्खण परमपउ, कियहु बोल्लिअ एहि॥ (वही, क १४३-४४)

और वन की झमट नहीं है, उसका रहस्य है निर्मल-चित्त-युक्तता; उसी का अविकल भाव से (बिना जरा भी कमी किये) सेवन करो।[1] यदि सहजानुभूति है तो संसार में सहजानुभूति के साथ नाचो, गाओ, विलसो किन्तु यदि वासनाओं को ग्रहण करते हो तो दृढ फंदे में बँधे हो।[2] वे विषयासक्ति का निषेध करते हैं यह दिखलाते हुए कि रूप-रस-स्पर्श-गन्ध शब्द में आसक्त मीन, पतग, हस्ती, भ्रमर और हरिण नष्ट होते हैं, दुर्गति को प्राप्त होते हैं।[3]

सरह पाद तान्त्रिक चक्र-साधना को सिद्धि (बोधि-प्राप्ति) का सफल साधन मानते हैं।[4] यद्यपि साधना द्वारा लौकिक जीवन की उपेक्षा पसन्द नहीं करते। इस साधन को वे योग्य अधिकारियों के लिए ही मानते हैं, इसे अनधिकारियों के लिए सुरति-विलास-मात्र कहते हुए निष्फल (और घातक) बतलाते हैं।[5] वे बतलाते हैं कि सफल चक्र-साधन में चित्त के भाव का रहस्य है। जो मूर्खों के लिए भव-बन्धन का कारण है बुद्धिमानों के लिए वही बोधि-प्रद है।[6] ठीक ही है, कुशल वैद्य विष का प्राण-प्रद औषध के रूप में प्रयोग करता है। भार्या-सहित गृहवास करने वाले सहजभावी विषयों में रमण करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते, क्योंकि पानी को छुए बिना उत्पल निकाल लाने का कौशल जानते हैं।[7]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सहज-यानियों का आदर्श सन्तुलित प्रवृत्तिवाद का है, अनासक्त कर्मयोग वाला जीवन्मुक्ति का आदर्श ही उन्हें मान्य है।

सहजयान के साथ जो प्रवाह जारी हुआ वह सहजिया तथा बाउल सम्प्र-

---

१. णउ घरे णउ वणें बोहि ठिउ एहु परिआणउ भेउ।
णिम्मल-चित्त सहावता, करहु अविकल सेउ॥ (वही, क्र १०४)

२. जइ जग पूरिअ सहजाणन्दे। णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे।
जइ पुणु घेप्पहु वासण विन्दे। तह फुड बाज्झहु ए भव-फन्दे॥
(वही, क्र १३७)

३. विसआसत्ति म बन्ध करु, अरे बढ़ सरहें वुत्त।
मीण-पअङ्गम-करि-भमर, पेक्खह हरिणह जुत्त॥ (वही क्र ७१)

४ खाअन्तें-पीअन्तें सुरअ रमन्ते। आलि-उल बहुसहो चक्क फरन्ते।
एवहि सिद्धि जाइ परलोअह। माथे पाअ देइ भुअलोअह॥ (वही, क्र ४८)

५ कमल-कुलिस बेवि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ विलास।
को तं रमइ णह तिहुअणें, कस्स ण पुरइ आस॥ (वही, क्र ९४)

६ बज्झन्ति जेण जडा, परिमुच्चन्ति तेण बुधा। (वही, क्र ६२)

७ विसअ रमन्ते ण विसअहि लिप्पइ। उअल हरन्ते ण पाणी छुप्पइ।
एमइ जोइ मूल सरन्तो। विसअ ण बाज्झइ विसअ रमन्तो॥ (वही, क्र ७१)

दायों के रूप में विकसित हुआ तथा परवर्ती मत-परम्परा भी उससे प्रभावित है।

सहजयानी सिद्धों ने वज्रयान में पंलते तान्त्रिक वामाचार को नियन्त्रित करना चाहा किन्तु उस बढते प्रवाह को रोक न सके। तन्त्र में वामाचार गुह्य साधना है, तथा उच्च स्थिति को प्राप्त उत्कृष्ट साधकों के लिए ही विहित है, वज्रयान के वामाचार में कामासक्त, इन्द्रिय परायण अनधिकारी व्यक्तियों का प्रवेश अवारित हो जाने से बौद्ध विहार अनाचार के अड्डे बन गये। जहाँ ये साधनाएँ जीवन के उन्नयन के लिए थी, भ्रष्ट होकर पतन का कारण बन गई, और भारत में बौद्ध धर्म पतन को प्राप्त हुआ।

बौद्ध धर्म का विलयन—पूर्वोल्लिखित मनुस्मृति की यह उक्ति कि वेदबाह्य स्मृतियाँ बनती बिगरती रहती हैं',[१] अर्थात व्यापक-दृष्टि-समन्वित वैदिक जीवन-धारा में, समय-समय पर आने वाले विकारों का सुधार कर अन्य एक पक्षीय मत उसमें से निकल कर फिर उसी में विलीन हो जाते हैं, उसी के अगीभूत हो जाते हैं, बौद्धमत के सबन्ध में पूर्णत चरितार्थ हुआ। बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक सफलता का रहस्य उसके नैतिक चारित्र्य तथा सबके लिए खुले सरल, सुबोध, 'एहिपस्सिक' सर्वोपकारी रूप में निहित था। 'उसे पहले जो यश प्राप्त हुआ उसका कारण यह था कि परम्परागत वैदिक तथा अन्य देवताओं का स्वरूप शुद्ध नीति के तत्त्वों का परिपालक नहीं रह गया था। वैदिक तथा अन्य देवताओं की कथाएँ तथा तत्सबन्धी कर्मकाण्ड दोनों शुद्ध नैतिक आचरण तथा मन के निग्रह के लिए पोषक नहीं थे। चित्त की शुद्धता तथा सदाचार की महिमा को पहले-पहल (सुस्पष्ट रूप में) प्रकाश में ले आने का काम उपनिषदों ने किया। तीर्थंकर तथा बुद्ध उस महिमा के विशुद्ध स्वरूप को साधारण जनता की पहुँच की परिधि में ले आये। परन्तु उन्होंने उस महिमा को ईश्वर-भक्ति के साथ नहीं जोड़ा'?[२] पुराना बौद्ध धर्म ईश्वर की सत्ता का ही निषेध करता था, मनुष्य को अमरत्व की आशा नहीं देता था, एव समस्त जीवन को दु खमय मानता था, जीवन के प्रति प्रेम को सबसे बडा पाप और सब प्रकार की इच्छा के विलोप को ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य प्रतिपादित करता था।[३]—समाज के लिए यह दृष्टि विकर्षक सिद्ध हुई। वैदिक धारा की पूर्ण जीवन वाली दृष्टि उससे तृप्ति-लाभ न कर सकी। विकासमान वैष्णव तथा शैव मत इस दिशा में अधिक सफल सिद्ध हुए, उनके सामने बौद्धमत निष्प्रभ हुआ।

बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप महायान में इस दुर्बलता को दूर करने के

---

१. मनुस्मृति, १२।९५-९६,
२ लक्ष्मण शास्त्री जोशी वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० २४४।
३ डा० राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (१), ५५७।

उद्योग हुए । बुद्धदेव का सतारक रूप स्वीकृत हुआ और उसमें सर्वग्राहिता आई, जो उसके अमित प्रसार का रहस्य है। किन्तु इसके फलस्वरूप बौद्धमत स्वरूप-भ्रष्ट हो गया, इसमें दुर्बलताएँ घुस आई, यह क्षय-ग्रस्त, विशीर्ण हो गया । जब महायान में, प्रार्थना, उपासना, पूजा, भक्ति एवं मुक्ति को स्थान मिल गया तो इसके द्वार सब प्रकार के मिथ्या-विश्वासों के लिए खुल पड़े । घोर अमिताचार का भी समर्थन निरर्थक नैय्यायिक तर्क की विधि से करना पड़ा । सर्वचेतनवाद के रहस्यमय रूप भी सत्य के महान् क्षेत्र में गुप्त मार्ग से आकर इसके अन्दर प्रविष्ट हो गये । जादू, परोक्ष दर्शन एवं भूत-प्रेतों के किस्सों को अपने अन्दर स्थान देकर इसने अपने को निर्बल कर लिया । बौद्ध भिक्षु अपने प्राचीन दिव्य संदेश-वाहक के उत्साह को खो बैठे । बौद्ध धर्म का मतवाद भी उतना ही दूषित हो गया जैसा कि हिन्दू पौरोहित्य दूषित हो चुका था ।[1] अब बौद्ध धर्म में परिव्राजक भिक्षु, जिनका जीवन पवित्र होता था, नहीं रह गये थे, प्रत्युत उनके स्थान पर समृद्धिशाली मठ बन गये थे, जिनमें स्थूलकाय पुरोहित बैठे थे । जनता की नैतिक एवं धार्मिक चेतना को जागरित करने वाले सरल संवाद अब नहीं रहे बल्कि उनके स्थान पर अनुशासन एवं आध्यात्मिक-शास्त्र-सम्बन्धी सूक्ष्म तर्क रह गया था ।"[2]

अपनी सर्वग्राही प्रवृत्ति के अनुसार शिव, विष्णु, सरस्वती, महादेव आदि देवताओं को स्वीकार करके महायान पन्थ ने 'अपने को' पौराणिक हिन्दू धर्म से जोड़ने का प्रयत्न किया । अन्त में तन्त्र-मार्ग का भी अवलम्बन करके गुप्त विद्या, जादू तथा सभोग की प्रवृत्तियों के उत्तेजक कर्मकाण्ड और साधिक पूजा-प्रकारों (चक्र-पूजा) की बौद्ध धर्म में धूम मची । शैव तन्त्रों का आश्रय लेकर अन्य शैव देवताओं के साथ लिंग-पूजा को भी स्वीकार किया गया । परन्तु इस तरह के समन्वय में बुद्ध धर्म का ही लोप हो गया ।[3] यह बात निर्विवाद है कि जगन्नाथ-पुरी का प्रसिद्ध मन्दिर मूलतः बौद्ध मन्दिर है ।

तथ्य यह है कि बौद्ध धर्म का उसकी अपनी दुर्बलताओं के कारण धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में विलयन हो गया । किन्तु अब भी कुछ वर्त्तमान सम्प्रदायों में उसकी छाया देखी जा सकती है । उसका परवर्ती रूपान्तरण हुआ दो दिशाओं में, प्रवृत्ति-वादी तान्त्रिक रूप का बंगाल के आनन्दवादी सहजिया तथा बाउल सम्प्रदायों में तथा निवृत्तिवादी शून्य-भावना वाले रूप का धर्म पूजा सम्प्रदाय में तथा नाथ-सम्प्रदाय में । इसका प्रभाव कबीर पन्थ पर भी देखा जा सकता है ।

---

१. डा० राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, पृ० ५५७-५८ ।

२. हॉपकिन्स, डा० राधाकृष्णन् : भा० द० (१) पृ० ५५८ पर उद्धृत ।

३. लक्ष्मण शास्त्री : वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४४ ।

उपर्युक्त पर्यालोचन में हम देखते हैं कि मूल बौद्ध-धर्म दु:खवादी तथा निवृत्तिवादी था, किन्तु उसका 'एक और पक्ष था, जो कर्म और सृजन की ओर मुड़ा हुआ था, जिसने जीवन को एक नया प्रकाश और नया आदर्श दिया, नई नैतिक और आदर्श शक्ति प्रदान की।'[1] वस्तुत: प्रवृत्तिमूलक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन की दो महत्त्वपूर्ण देन हैं। प्रथम देन यह है कि बुद्ध ने देवतावाद का निराकरण करके 'अप्पाहि अप्पनो नाथो अप्पाहि अप्पनो गति' (हम स्वयं अपने स्वामी हैं, हमें अपना ही सहारा है) का उपदेश देते हुए और यह बतलाते हुए कि जीव 'कर्म-स्वक' दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्म प्रतिशरण' है, कर्म के महत्त्व का मार्ग दिखलाया। दूसरी देन यह है कि धर्म के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन ने सारे ऊहापोह तथा जंजाल को छोड़कर नैतिकता के आदर्श को ग्रहण किया, तथा उसी पर बल दिया, जो आगे चलकर विकसित होने वाले प्राणि-मात्र की सेवा वाले 'बोधि सत्त्व' के आदर्श में बिम्बित हुआ, जिनमें भिक्षु का वैराग्यपूर्ण जीवन आसक्तिपूर्ण जीवन का परित्याग कर विश्व-प्रेम तथा विश्वमैत्रत्व के भाव को ग्रहण करने वाले जीवन में विकास के रूप में प्रकाशित हुआ।

आगमिक पौराणिक दर्शन

पौराणिक हिन्दू धर्म को पंडित-समाज में निगमागम-धर्म कहा गया है, जिसका दार्शनिक आधार मूलत: वैदिक है, किन्तु धार्मिक क्रिया-कलाप (आचार) आगमिक अर्थात् पौराणिक हैं। इसमें शिव, विष्णु, शक्ति आदि देवता समान रूप से परम तत्त्व माने गए हैं और समाज के लोगों ने अपनी प्रवृत्ति और भक्ति के अनुसार अपने इष्टदेव को पर-रूप में तथा अन्य देवों को अपर रूप में ग्रहण किया है। पौराणिक उपासना-पद्धति एक नई उपासना-पद्धति है, जो सम्भवत: इस देश के वेद-पूर्व आर्येतर निवासियों से ग्रहण की गई। इसमें देव-पूजा के लिए धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी, सिन्दूर या रोली, चन्दन आदि का उपयोग होता है, जिनका सर्वप्रथम निश्चित उल्लेख भगवद्गीता में मिलता है।[2] वैदिक कर्म-काण्ड में इनका अभाव है।

विकास—उपनिषद् युग के अन्त में तथा सूत्र-काल में समाज में आचरित जीवन आदर्श से च्युत हो गया था और शूद्रों का जीवन, जिनमें अधिकांश जन-समाज का अन्तर्भाव था, पशु-तुल्य हो गया था। स्त्रियों को भी यज्ञों और वेदाध्ययन में अधिकार नहीं रह गया था। वैदिक परम्परा इस समय तक आते-आते रूढ़िग्रस्त हो गई थी और सामान्य जन-समाज का उन्नयन करके उसे अपनी उपासना-पद्धति का अधिकार देने को प्रस्तुत नहीं थी, अत: उदारचेता मनीषियों

---

१ श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ७६।

२. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। गीता ९।२६।

को जन-समाज की पूजा-पद्धति ग्रहण करके और उसे दार्शनिक आधार व्यापक धर्म का रूप देना पड़ा। अन्ततः धर्म के इस परिवर्तित नये रूप ने पुराने वैदिक रूप को अपदस्थ-सा कर दिया। इस व्यापक धर्म का मार्ग चाण्डाल-पर्यन्त सम्पूर्ण समाज के स्त्रियों और पुरुषों सबके लिए खुला था। इसे सर्वसाधारण का मार्ग कहा गया है।[1] आगे चलकर इस धर्म की शिव-भक्ति और विष्णु-भक्ति का सन्देश देकर यवनों, शकों, हूणों आदि नवागन्तुकों को भी भारतीय राष्ट्र का अंग बनाया गया और इन नवागन्तुकों के कारण यह आन्दोलन परिपुष्ट हुआ। यह भी कहा जा सकता है कि जो विदेशी जातियाँ भारतीय धर्म तथा समाज में ग्रहण की गईं वे अपने देवताओं और उपासना पद्धतियों को भी लेती आईं, जिससे वैदिक धर्म पौराणिक (वर्तमान हिन्दू) धर्म में परिवर्तित हो गया। किन्तु हमारे तत्त्वज्ञ अपनी समन्वयात्मक अतलस्पर्शी दृष्टि एवं विवेचना तथा सर्वसाधारण को पहुँच वाले महाभारत, मनुस्मृति एवं पुराणों के रूप में संगठनात्मक ग्रन्थों द्वारा इन विभिन्नताओं को धर्म के वास्तविक तत्त्व से अनुप्राणित करके एक ही व्यापक धर्म के अविच्छिन्न अंग बनाते गये। इस गंगा की धारा में पड़ने वाला सारा जल गंगाजल बनता गया। सारे तत्त्व वैदिक संस्कृति के साथ समन्वित हो गये। वैदिक परम्परा में यज्ञों की कर्मकांडीय उपासना से औपनिषदिक ज्ञानकांडीय परिवर्तन तथा विकास, जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड उपेक्षणीय माना जाने लगा था, इस दिशा की ओर संकेत करता है। वैदिक समाज में जन्मान्तरवाद, योग आदि विश्वास और उपासना-पद्धति के प्रभाव वैदिकेतर समाज से छनकर आते रहे थे, पौराणिक काल में ये वेद-बाह्य धर्म, जिसमें विभिन्न मतों का अन्तर्भेद था, पूर्णतः आत्मसात् हो गये। कहा जा सकता है कि इस महान् परिवर्तन का आरम्भ देश के पश्चिमी अंचल में प्रायः उसी समय अलक्षित रूप में होने लगा जब पूर्वांचल में श्रमण-मार्गीय आन्दोलन संगठित हो रहे थे।

मतों का आन्तरिक भेद—आगमिक-पौराणिक धर्म में शिव-विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना-पद्धतियाँ ग्रहण की गईं, जो संभवतः अलग-अलग मूलों से आई थीं। शिव तथा शक्ति उपासना के अवैदिक द्राविड़ मूल तथा प्रभाव की ओर पिछले पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है। सूर्य वैदिक आर्यों के देव हैं, किन्तु आगे चलकर मूर्ति रूप में उनकी जो उपासना प्रचलित हुई, उस पर पारसी प्रभाव लक्षित होता है। इस नवीन धर्म के आधार-भूत ग्रन्थ आगम-तन्त्र, पुराण, संहिता, महाभारत (इतिहास) आदि हैं। प्रायः तन्त्र शाक्त मत नहीं है, किन्तु वस्तुतः सभी प्रकार के आगम तन्त्र कहलाते हैं। आगम की तीन श्रेणियाँ हैं—वैष्णव, शैव, शाक्त। इनके प्रचलित नाम क्रमशः संहिता, आगम और

१. एष साधारणः पन्थाः साक्षात् कैवल्यसिद्धिदः, पद्मपुराण।

तन्त्र हैं। इन तीनों का सामान्य नाम आगम तथा तन्त्र है।[1] आगम या तन्त्र का सम्बन्ध सामान्यतः साधना या क्रिया-कलाप से है और पुराणों का भक्ति से।

इतिहास-पुराण का विकास—पौराणिक धर्म के आधार पर इतिहास-पुराण हैं, जिन्हें छांदोग्य उपनिषद् में विद्या के रूप में (ग्रन्थ-रूप में नहीं) पंचम वेद कहा गया है।[2] अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, छन्द तथा यजुर्वेद के साथ पुराण ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए।[3] वर्तमान पुराण सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख (भविष्यपुराण का जिसमें क्षेपकों की भरमार है) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आता है, जिससे उसका द्वितीय शताब्दी ई० पू० से पहले वर्तमान होना प्रमाणित होता है। पार्जिटर ने उसका काल पाँचवीं शती ई. पू. माना है। महाभारत का अंश माने जाने वाले हरिवंश में कहा गया है कि ऋत्विजों और विशेषतः यज्ञ में पुराण का वाचन करनेवाले सूत, मागध आदि शूद्रों ने वैदिक काल में पुराणों की रचना की।[4] इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि सूत, मागध, बन्दी (चारण) आदि शूद्र जातियों ने मूल रूप में पुराणों की रचना की तथा पुराण-कथाओं का संग्रह तथा रक्षण किया। गुप्त-काल में ब्राह्मणों ने पुराणों का पुनः संस्कार किया। स्कंदपुराण के अनुसार अठारह पुराणों में दस शैव, चार ब्राह्मण, दो शाक्त तथा दो वैष्णव हैं।[5] इनके अतिरिक्त बहुत-से उपपुराण हैं।

वैष्णव धर्म—पौराणिक धर्म की मुख्य प्रेरक भावना भक्ति है। यह भक्ति-भाव सर्वप्रथम भागवत् धर्म के रूप में मिलता है। इसके उपास्य वासुदेव कृष्ण थे और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं। मूलतः वासुदेव और अलग-अलग व्यक्तियों के नाम थे, जिनमें ऐक्य की स्थापना हो गई। इन वासुदेव-कृष्ण का

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ २६।

२ नारद अपने द्वारा अधीत विद्याओं को गिनाते हैं : ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं (छांदोग्य-उपनिषद ७।१।२)

३ ऋचः सामानिछन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्ववेद-११।७।२४।
पुराण-विद्या की प्राचीनता 'पुराण' शब्द से ही स्पष्ट है। वायु पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा द्वारा सर्वशास्त्रों में पहले पुराण की सृष्टि हुई, तत्पश्चात् वेदों की —
'प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः' ॥ (वायु पु० १।५४)

४. हरिवंश पुराण - भविष्यपर्व अध्याय १।

५ अष्टादश पुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः।

ऋग्वेद के 'सूर्य-रूप' विष्णु,[1] जिन्हें इन्द्र का योग्य, 'सहायक,[2] भी कहा गया है। 'नारायण' के साथ एकीकरण हो गया और ये चारों शब्द पर्यायवाची से माने जाने लगे। गीतोपदिष्ट भक्ति का पूर्व रूप छांदोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस द्वारा देवकी-पुत्र कृष्ण को उपदिष्ट 'पुरुष-यज्ञ' में ढूँढा जा सकता है।[3] कुछ आगे चलकर वासुदेव-कृष्ण के साथ उनका एक और रूप जुड़ गया बाल-गोपाल का, जिसका विकसित रूप श्रीमद्भागवत् तथा सूरदास के पदों में देखा जा सकता है। सामान्यतः भागवत् धर्म का काल चौथी शताब्दी ई० पू० माना जाता है, परन्तु वासुदेव कृष्ण के साथ बालगोपाल वाला रूप जुड़ने का काल दूसरी शताब्दी के लगभग का है। महाभारत में नारायणात्मक भागवत धर्म को प्रवृत्ति-परायण कहा गया है।[4]

गुप्त-काल में भागवत धर्म की अधिक उन्नति हुई। उस समय तक भागवतों ने विष्णु के साथ श्रीकृष्ण का एकीकरण स्वीकार कर लिया था। विष्णु अब देवाधिदेव थे, कृष्ण उनके पूर्णावतार मात्र थे। उस समय तक विष्णु या नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी की भी पूजा आरम्भ हो गई थी। रामावतार की उपासना का स्पष्ट प्रमाण नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से पहले का उपलब्ध नहीं होता। वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम का चरित्र मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही चित्रित हुआ है अवतार के रूप में नहीं। गीतगोविन्दकार के दशावतारों में बुद्ध की वन्दना पशुहिंसा के निन्दक-रूप में बनी है।[5]

वासुदेव-भक्त की अपने आराध्य देव में एकान्त निष्ठा होती है, इसीलिए इस धर्म को ऐकान्तिक धर्म कहा गया है। वासुदेव-भक्त समस्त प्राणियों को अपने इष्टदेव की अपार दया का अधिकारी मानता है। इस धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के लिए भक्ति, प्रपत्ति आदि सुलभ साधनों द्वारा अग्रसर होने का पूरा अवसर प्राप्त है। पद्म पुराण में कहा गया है 'पुल्कस, श्वपच और म्लेच्छ जातियाँ यदि हरि सेवक हैं तो वे अवश्य वन्दनीय हैं, महान् हैं।[6] श्रीमद्भागवत् की मान्यता

---

१. त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य। (ऋ० १।२२।१८)
२. 'इन्द्रस्य युज्य सखा' (ऋ० १।२२।१९)
३. परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव धर्म, पृष्ठ २७-२८।
४. 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः'. (महाभारत, शांतिपर्व ३४७।८०
५. निन्दसि यज्ञविधे अहह श्रुतिजातम्।
   सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
   केशव धृत शरीर। (गीतगोविन्द)
६. पद्म पुराण खण्ड, ३ अ० ५।१०।

अनुसार भगवद्भक्त चाण्डाल भी भगवद्विमुख विप्र की तुलना में श्रेष्ठ है।[१]

महाभारत-सम्मत ज्ञान-कर्म-समुच्चय का सिद्धान्त

भागवत-धर्म का दर्शन गीता में स्पष्ट हुआ है, जिसका विवरण आगे के पृष्ठों में है। यह सिद्धान्त महाभारत में (जिसका गीता एक अंश है) जनक-सुलभा संवाद में जनक द्वारा स्पष्ट किया गया है। वे कहते हैं, 'हम मुक्त-संग होकर (आसक्ति छोड़कर) राज्य कर रहे हैं। यदि हमारे एक हाथ को चन्दन लगाओ और दूसरे हाथ को छील डालो तो उसका सुख और दुःख हमें एक-सा ही है। ... मोक्ष-शास्त्र के ज्ञाता मोक्ष-प्राप्ति के लिए त्रिविध निष्ठा बतलाते हैं, (१) ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों का त्याग कर देना, इसी को मोक्ष-शास्त्र ज्ञान-निष्ठा कहते हैं। (२) इसी प्रकार दूसरे सूक्ष्मदर्शी लोग कर्म-निष्ठा बतलाते हैं, परन्तु केवल ज्ञान और केवल कर्म इन दोनों निष्ठाओं को छोड़कर (३) यह तीसरी अर्थात् ज्ञान से आसक्ति का क्षय कर कर्म करने की निष्ठा मुझे इस महात्मा (पंचशिख) ने बतलाई है।'[२]

भगवद्गीता

गीता भारतीय जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय की प्रेरणायुक्त प्राणवत्ता का संचार करनेवाला, दृष्टि को व्यापक प्रदान करनेवाला ग्रन्थ है। इसमें समाज की प्रगति के अवरोधों को दूर करने की शक्ति है, यह अभ्युदय और निःश्रेयस् का समन्वयवादी स्रोत है। भारतीय संस्कृति की आत्मा-स्वरूप भगवद्गीता भारतीय समाज के लिए ही अक्षय निधि नहीं है, समस्त मानव-समाज के लिए एक अमूल्य उपहार भी है।

गीता की समन्वयात्मकता का अनुचित लाभ उठाकर विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक नेताओं ने इसमें अपनी-अपनी दृष्टि से सन्देश ढूँढा और अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया। इसका उपयोग पूजा-पाठ, स्वर्ग-

---

१. विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥
श्रीमद्भागवत स्कंध ७।९।१०।

२ मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
ज्ञान निष्ठा वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः॥
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥ (महा० शा० ३२०।३६)

मोक्ष आदि के लिए होने लगा, जिससे समाज का जीवन परलोकवादी होने लगा और इस महान् ग्रंथ का कर्मशीलता वाला जीवन-प्रद सन्देश प्रायः दृष्टि से ओझल हो गया। शंकराचार्य ने इस ग्रन्थ के अपने ज्ञानवादी भाष्य में निवृत्ति को प्रोत्साहन देनेवाले वैराग्य तथा सन्यास का पोषण किया। रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि वैष्णवाचार्यों ने जो भक्तिमार्गी भाष्य किये, वे भी प्रवृत्ति के पोषक नहीं हैं आधुनिक काल में, जैसा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दिखलाया गया है, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने इस ग्रन्थ के भाष्य (गीता-रहस्य) में इसे कर्मयोगशास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। फिर श्री अरविन्द ने 'गीता पर निबन्ध' लिखकर इसके समन्वयवादी दिव्य जीवन को प्राप्त करानेवाले रूप को स्पष्ट किया। महात्मा गांधी ने भी इस पर अनासक्ति-योग की पुष्ट करनेवाली टीका लिखी।

तत्कालीन समाज में जब एक ओर आसक्तिमय कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति फैली थी तो दूसरी ओर उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप जीवन से पराङ्मुखतावाली सन्यास की प्रवृत्ति या शारीरिक कष्ट वाली कृच्छ्र साधनाओं वाले तप की प्रवृत्ति थी, भगवान् कृष्ण ने इन विकृत अतियों का विरोध करते हुए शुद्ध सतोगुणी कर्म, तप, त्याग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ज्ञान, निष्काम कर्म और भक्ति की कल्याणकारी साधनाओं का निरूपण किया और उनके प्रकाश में जीवन के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए किंकर्तव्य-विमूढ़ अर्जुन का मोह पंक से निकालकर क्षत्रियोचित युद्धवाले कर्तव्य (स्वधर्म) में नियुक्त किया।

भगवान् कृष्ण कर्मकाण्डियों की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहते हैं— 'मैंने उस शत्रु को मारा, औरों को भी मारूँगा, मैं शक्तिशाली, भोगी, सिद्ध, समर्थ, सुखी, ऐश्वर्यवान हूँ, मेरे समान कौन है? इस प्रकार के धन और मान के मद से मोहित, अभिमान में चूर लोग प्रायः यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।'[1] तात्त्विक ज्ञान से शून्य, कामनाओं में आसक्त पुरुष भोगों और ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए कर्मकांड बहुल यज्ञों के प्रतिपादक श्रुतिमधुर वैदिक वचनों में अनुरक्त होते हैं।[2]

---

१ असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ (गीता १६।१४-१५)

२. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (२।४२-४३)

अर्जुन से कहा गया है, 'इसलिए अनासक्त हुआ निरन्तर (अपने लिए) नियत कर्म का अच्छी तरह आचरण कर, साथ ही यह भी कहा गया है कि जनकादि कर्मयोग द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए।'[१] यदि यह कहो कि यह युद्ध का कार्य बड़ा घोर है, मैं इसमें क्यों पड़ूँ, तो इस दृष्टि का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं, 'हे कौन्तेय ! दोषयुक्त दीखने पर भी अपने स्वाभाविक (नियत) कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धुएँ से आवृत्त अग्नि के सदृश सभी कर्म दोष से आवृत्त हैं (दोष किस कर्म में नहीं मिलेगा ?)।'[२] भक्ति की दृष्टि से श्रीकृष्ण कर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं, 'हे अर्जुन, जो कुछ भी तुम करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ आहुति रूप में डालते हो, जो कुछ दान करते हो, भगवदर्पित करो'।[३] 'अपने को मुझसे अलग न मानते हुए सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करके, कामनारहित, ममतारहित होकर अनुद्विग्न भाव से युद्ध करो।'[४] ज्ञानयुक्त कर्म की दृष्टि से उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है, 'हे धनंजय ! समत्वबुद्धि से अपने कर्मों को भगवदर्पित करनेवाला तथा ज्ञान द्वारा सब संशयों को छिन्न करनेवाला आत्मपरायण पुरुष कर्म में नहीं बँधता। इसलिए हे अर्जुन ? ज्ञान रूपी तलवार से हृदय में स्थित अपने संशय को काटकर समत्व बुद्धि रूपी योग में स्थित होकर (युद्ध के लिए) उठ खड़े हो।'[५] जैसा आगे दिखलाया गया है आदर्श कर्मयोग का आधार यह दुर्लभ ज्ञान है कि अखिल विश्व भगवान् का रूप है।[६]

परम योगी का स्वरूप—गीता-प्रसंग के समापन रूप में गीतोक्त आदर्श कर्मयोगी (परम योगी) के स्वरूप को स्पष्ट कर दिया जाय, जो परवर्ती युगों में

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।....
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३।१९-२०)

२. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृत्त.॥ (१८।४८)

३. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)

४. मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ (३ ३०)

५. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मन.।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ (४।४१-४२)

६ 'वासुदेव. सर्वमिति (७।१९)

सब परिवर्त्तनो तथा मतभेदो के बावजूद सभी सम्प्रदायों में समान रूप से गृहीत हुआ है, तथा उनकी साधना को अनुप्राणित करता रहा है। कर्मयोगी की इस अवस्था रूप योग का महत्व दिखलाते हुए कहा गया है—जिस अवस्था में अतीन्द्रिय, बुद्धिग्राह्य आत्यतिक सुख का अनुभव होता है, और जिसमें स्थित हुआ यह योगी तत्त्व से विचलित नही होता और जिसे प्राप्त कर उससे अधिक दूसरा लाभ नही जान पडता, जिस (भगवत्प्राप्ति रूप) अवस्था में स्थित (योगी) बडे भारी दुःख से भी विचलित नही होता उस दुःख-संयोग से रहित अवस्था को जिसका नाम योग है, जानना चाहिए।'[१] इस आदर्श कर्मयोग का स्वरूप यो उपस्थित किया गया है —"योग से युक्त आत्मा वाला, सर्वत्र (सब में) समत्व का दर्शन करने वाला (योगी) आत्मा को (या अपने आप को) सर्व भूतों में स्थित, और सर्व भूतों को आत्मा में (या अपने में) देखता है। जो सर्वत्र (सब में) मुझे (सर्वात्म-रूप वासुदेव को) देखता है और सब को मुझमें देखता है, मैं उसके लिए अदृश्य नही होता, न वह मेरे लिए अदृश्य होता है। जो (इस प्रकार) एकत्व-भाव में स्थित होकर सर्व-भूतो में स्थित मुझे (मुझ वासुदेव को) भजता है, वह योगी सब प्रकार से (विभिन्न रूपों में) वर्तता हुआ भी मेरे में ही वर्तता है (क्योकि उसके भाव में मेरे सिवा और कुछ है ही नही)। हे अर्जुन, जो योगी अपने समान समझकर सभी प्राणियों में समता की दृष्टि रखता है, और सुख तथा दुःख को भी सब में सम देखता है, वह परम योगी माना गया है।'[२] अन्यत्र 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस भाव से भगवान् का भजन करने वाले ऐसे महात्मा को अति दुर्लभ कहा गया है।[३] आधुनिक युग में

१ सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (६।२१-२३)

२. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (६।२९-३२)

३. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९)

स्वामी विवेकानन्द ने इस भाव का विशेष प्रचार किया है।

गीता का उपक्रम तथा प्रतिपाद्य—गीता का मुख्य स्वर प्रगतिशीलता का है, उसमें यज्ञ, कर्म, योग आदि शब्दों को नये अर्थों में ग्रहण किया गया है। ज्ञान, योग (निष्काम कर्म योग) तथा भक्ति तीनो को परम-पद प्रापक माना गया है तथा इन विभिन्न दृष्टियों वाले साधक स्थितप्रज्ञ, गुणातीत तथा प्रपन्न तीनों समान रूप से सर्वोच्च स्थिति को पहुँचे हुए दिखलाए गए हैं। प्रश्न उठता है, इनमें से प्रतिपाद्य क्या है। जैसा पूर्व अनुच्छेद में दिखलाया गया है, भक्ति तथा ज्ञान द्वारा निष्काम कर्म-योग का पोषण हुआ है। कर्म को ज्ञान का पोषक सिद्ध करते हुए कहा गया है, जितने कर्म हैं सब ज्ञान में निःशेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है,[१] किन्तु वहाँ 'कर्म' शब्द का प्रयोग द्रव्यमय यज्ञ के लिए हुआ है। निष्कर्ष रूप में कहा गया है 'सन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस (परम कल्याणकारी) हैं, परन्तु उनमें कर्म सन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है'।[२] फिर कहा गया है (कर्म) योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है, (सकाम) कर्म वालों से भी योगी श्रेष्ठ है अतः हे अर्जुन, तू (कर्म)-योगी हो'।[३] साथ ही यह दिखलाने के लिए कि महाभाव (जिसमें ज्ञान तथा भक्ति का अन्तर्भाव है) से युक्त कर्मयोगी सवश्रेष्ठ है कहा गया है 'सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लीन अन्तरात्मा से मुझ भजता रहता है, वह मुझे सवश्रेष्ठ योगी मान्य है'।[४] और इस प्रकार योगी, ज्ञानी तथा भक्त में भेद बुद्धि का परिहार किया गया है।

गीता का उपक्रम कर्म-विषयक है। गीता का उपदेश युद्धारम्भ के समय विषादग्रस्त युद्ध से पराङ्मुख अर्जुन का मोह के दलदल से निकालकर युद्ध के कर्तव्य-पथ पर आरूढ करने के लिए है। श्री कृष्ण कहते हैं, 'हे अर्जुन ! विषम, स्थिति में यह अनार्योचित, पतित करनेवाली, अपयश की हेतु घबराहट तुममें कहाँ से आई ? हे शत्रुनाशक ! कायरता को मत प्राप्त हो, यह तुम्हारे लिए अशो-

---

१ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३)

२ सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (५।२)

३ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६)

४ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)

भनीय है, हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए डट जाओ।[1] ग्रन्थ के उपसंहार में अर्जुन गीता का सम्पूर्ण उपदेश सुनकर तथा उसे मान्य करके कहते हैं, हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया। विस्मृत कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो गया, मन संशय-रहित हो गया। अब आपका कहना करूँगा (अर्थात् युद्ध में भाग लूंगा)।[2] अन्त में निष्कर्ष के रूप में संजय ने कहा है, मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और गाण्डीवधारी वीर अर्जुन हैं, वहाँ श्री, विजय, विभूति तथा अटल-अव्यर्थ नीति है।[3] वस्तुतः गीता द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान-दृष्टि, निष्काम कर्म की भावना तथा वीरतापूर्वक उसका अनुसरण शोभा, विजय तथा ऐश्वर्य का प्रापक है। गीता में श्री, विजय तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति की प्रवृत्तिवादी नीति का उपदेश है, जो निश्चय ही कर्तव्य-बुद्धि-युक्त कर्म का सिद्धान्त है।

षड्दर्शन

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा-उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त—ये छः भारतीय दर्शन प्रसिद्ध हैं। इनका वर्तमान उपलब्ध रूप बुद्धोत्तर-कालीन है। इनमें से चार—सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक अवैदिक मूल के हैं, किन्तु वेद-प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, इसलिए वैदिक परम्परा में अन्तर्भुक्त हैं। ये चारों दुःख-वादी तथा निवृत्तिवादी हैं। षड्दर्शन पर नीचे तीन वर्गों में विचार किया जा रहा है।

सांख्य-योग—सांख्य तथा योग दोनों की परम्पराएँ बुद्ध के पूर्व से चली आ रही हैं; किन्तु इनके उपलब्ध ग्रन्थ बुद्धोत्तर काल के हैं। सांख्य दर्शन के प्रवक्ता कपिल मुनि का, जो प्राचीन ऋषि थे, कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सांख्य दर्शन का उपलब्ध प्रमाणभूत ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण (सम्भवतः तीसरी शती ई० पू०) की सांख्य-कारिका है, जिसमें केवल ७० कारिकाएँ हैं। दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ सांख्य-प्रवचन-सूत्र बहुत बाद का है। योगसूत्र-कार पतंजलि ऋषि का समय तीसरी शती ई० पू० माना जाता है। ये दोनों दर्शन मूलतः निरीश्वरवादी हैं।

---

१. कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ (२।२-३)

२. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (१८।७३)

३. यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (१८।७८)

सांख्य दर्शन—साख्य दर्शन में दो मूल तत्त्व माने गये हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष—जो बहुसख्यक है—स्वभावत. साक्षात् चैतन्य-स्वरूप, असग, निष्क्रिय, तथा मुक्त है, और प्रकृति त्रिगुणात्मिका, नित्य, परिणामशालिनी, एव सक्रिय है। इन दोनो के अन्धे-लँगड़े के समान सयोग से सुख-दु ख-मोहात्मक ससार चलता है। इस दु खमय स्थिति का कारण अविवेक है और दु खनिवृत्ति का साधन है विवेक। साख्य दर्शन कहता है। यहाँ (इस ससार, जीवन में) दु ख का अभिघात है, अत उसके हेतु की जिज्ञासा है।[1] अपवर्ग (दु ख-मुक्ति) का स्वरूप है प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियुक्त या एकाकी होना या उदासीनता (कैवल्य)।[2] इस ज्ञान के तत्त्वाभ्यास से पुरुष में 'नास्मि, न मे, नाहम्' के भाव के स्फुरण से सशय-विपर्यय-हीन अविकल कैवल्य-ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] इस साधना का व्यावहारिक रूप योगदर्शन में प्राप्त होता है।

साख्य में मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त कर्म-व्यापार से विरत नही होता, प्रत्युत उमी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु अब कर्म बन्धन उत्पन्न नही करता। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक—अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक—दु खत्रय-विनाश को प्राप्त कर लेता है।[4]

योग दर्शन—योग दर्शन में विशेषत सागोपाङ्ग साधना-पद्धति का निरूपण है, जिसका सहारा विभिन्न ज्ञानवादी सम्प्रदायो तथा मतो में लिया गया है। पातजल योग दर्शन का सैद्धान्तिक आधार साख्य दर्शन है। साख्य के समान योग दर्शन में भी कहा गया है—(चित्तवृत्ति के निरोध के फल स्वरूप) गुणो से जब पुरुष का कोई प्रयोजन नही रहता, तब प्रतिलोम-क्रम से गुणों के लय को कैवल्य कहते है, अर्थात् दृष्टा (चिच्छशक्ति) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।[5]

यह दर्शन भी दु खवादी है। बुद्ध-शासन के चार आर्य-सत्यों (दु ख, दु ख-समुदय, दु ख-निरोध और दु ख-निरोध-मार्ग) के समान योग दर्शन में भी ससार को दुःखमय मान कर दु ख-निवृत्ति का चतु सूत्री निरूपण इस प्रकार किया गया है। "ससार [illegible]ख-बहुल है, अत. हेय है, प्रधान-पुरुष का सयोग (अविद्या) ही हेय-हेतु

---

१. 'दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघात हेतो'—सांख्यकारिका १।
२. 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्ग' साख्य प्रवचन-भाष्य ३।४।।
३. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहं इत्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। (कारिका ६४)
४. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ३४०।
५. योगसूत्र ४।३४ ।।

है, अत उस सयोग को आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है, और सम्यग्दर्शन हानोपाय है।"[1]

न्याय वैशेषिक—न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन एक ही वर्ग के हैं, न्याय का मुख्य कार्य प्रमाण-मीमासा है, और वैशेषिक का पदार्थ-मीमासा। नैयायिक तार्किक हैं। वर्त्तमान न्यायसूत्र (तीसरी शती ई० पू०) अक्षपाद गौतम की कृति है, और महर्षि कणाद का वैशेषिक-सूत्र न्याय सूत्र से कुछ पहले का समझा जाता है। ये दोनो दर्शन बहुत्ववादी तथा वस्तुवादी हैं। पहले वैशेषिक निरीश्वरवादी दर्शन था, बाद में ईश्वरवादी हो गया। किन्तु नैयायिक आरम्भ से ही ईश्वरवादी हैं और ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये प्रमाण देते हैं। वैशेषिक प्राय पाशुपत और नैयायिक शैव होते थे।

ये दोनो दर्शन दु खवादी तथा निवृत्तिवादी हैं, दोनों ज्ञानमार्गी हैं, दोनो में ज्ञान-कर्म-समुच्चय अमान्य है। न्यायसूत्र में दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है।[2] इसके अनुसार मिथ्याज्ञान (अज्ञान) से रागद्वेषादि दोष होते हैं, जिनसे शुभाशुभ प्रवृत्ति रूप कर्म होते हैं, जिनसे जन्म (शरीर-धारण) होता है, जिससे दु खों की उत्पत्ति होती है। मिथ्या ज्ञान का नाश होता है तत्वज्ञान से, अत आत्म-स्वरूप-विषयक तत्त्वज्ञान से दु खात्यन्तनिवृत्ति-रूप अपवर्ग की सिद्धि होती है।"[3] तत्त्वज्ञान के लिए यम नियमादि योगाभ्यास का आश्रय लेने को कहा गया है।[4]

न्याय शास्त्र के अनुसार मुक्त आत्मा में सुख-दु खादि का अभाव है, अतः मुक्तावस्था में आनन्दोपलब्धि नहीं होती। नैयायिक मुक्ति के इस सिद्धान्त पर अन्य दर्शन वालों ने बडा कटाक्ष किया है।[5] वैशेषिकों ने भी मुक्ति को दु खात्यन्त-निवृत्ति आत्मविशेष रूपा ही माना है,[6] जिससे उस पर कटाक्ष हुए हैं।[7]

पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त—ये दोनो दर्शन ही वस्तुत पूर्णरूपेण वैदिक हैं।

१. दु खबहुल संसारो हेय प्रधानपुरुषयो सयोगो हेयहेतु संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्ति हानम्, हानोपाय सम्यग्दर्शनम्।—योगसूत्र २।१५ पर व्यास भाष्य।
२ 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग'—न्यायसूत्र १।१।२२॥
३ 'दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:'—न्या० सू० १।१।२॥
४. 'तदर्थं यमनियमाभ्यासमात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायै.'—४।२।४६॥
५ मुक्तये य शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतम तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव स ॥ (नैषधचरित १७।७५॥)
६ दाघेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष।—प्रशस्तपादे भाष्य पृ० १४४।
७ वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितम् ॥ (सर्वसिद्धान्तसग्रह, पृ० २८)

पूर्व-मीमासा में वेद के कर्मकाड की और उत्तर-मीमासा में ज्ञानकाड (वेदान्त) की मीमासा है। इस प्रकार ये दोनो एक-दूसरे के परिपूरक, एक ही अगी के अग हैं। उत्तर-मीमासा के लिए प्राय 'वेदान्त' शब्द का और पूर्व-मीमासा के लिए 'मीमासा' शब्द का प्रयोग होता है।

मीमासा दर्शन—मीमासा दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ महर्षि जैमिनि (३०० ई० पू०) का धर्म-सूत्र है, जिसमें मन्त्रो तथा ब्राह्मणों के आधार पर कर्म की मीमासा की गई है। मीमासा दर्शन वेदो को अपौरुषेय तथा उनका स्वत प्रामाण्य मानता है। मीमासा पहले निरीश्वरवादी थी, इसमें ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही माना गया है। आरम्भ में मीमासको का लक्ष्य मोक्ष नही, धर्म तथा स्वर्ग था। उन्हें 'त्रिवर्ग' ही मान्य था किन्तु प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट (शकराचार्य के समकालीन) को मोक्ष का लक्ष्य भी मान्य हुआ।[1] किन्तु एक दूसरे आचार्य प्रभाकर मिश्र ने मोक्ष को जीवन का लक्ष्य नही माना, क्योकि उनकी दृष्टि के अनुसार मोक्ष में दुख के साथ सुख तथा आनन्द भी नही रह जाता।[2] मीमासक विधिपूर्वक कर्म में प्रवृत्ति में ही जीवन की सार्थकता और उसका फल स्वर्ग मानते हैं। वे प्रवृत्तिवादी हैं, उन्हें ज्ञान-कर्म-समुच्चय मान्य है। किन्तु कर्म से उनका तात्पर्य नित्य-नैमित्तिक-काम्य-कर्म, अर्थात् यज्ञ तथा उपासना से है।

वेदान्त दर्शन—वेदान्त शब्द का अर्थ है वेद का अन्त, उपनिषद् वेद के अन्त में आते है अत इस शब्द से उपनिषद् लक्षित होते हैं। इस शब्द का एक और अर्थ है ज्ञान की चरम सीमा, जो उपनिषदो में उपलब्ध है, इस अर्थ में 'वेदात' शब्द से औपनिषद् ज्ञान लक्षित होता है। इसलिए महर्षि बादरायण (लगभग चौथी शती ई० पू०) की उपनिषदों के आपात विरुद्ध वाक्यो का समन्वय करने वाली उत्तर-मीमासा को भी वेदान्त कहा जाता है। उत्तर-मीमासा ग्रन्थ 'वेदान्त-सूत्र' या ब्रह्मसूत्र' नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्म विद्या का सार भाग है। इस पर प्राचीन काल के मनीषियो ने विचार किया था जो अब अनुपलब्ध है। ब्रह्मसूत्रों पर उपलब्ध सबसे पुराना भाष्य शकराचार्य का है। उनके समय से इस पर १० प्रसिद्ध भाष्य उपलब्ध है, जो विभिन्न सम्प्रदायो की दृष्टियों से लिखे गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार तथा भाष्य[3]

क्रमसख्या	भाष्यकार का नाम	भाष्य का नाम	मत
१	शकर (७८८ ८२० ई०)	शारीरक भाष्य	निर्विशेषाद्वैत

१ M Hiriyanna Outlines of Indian Philosophy, page 332

२. Ibid, Page 333

३. बलदेव उपाध्याय . भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४०१ ll

२	भास्कर (१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज (११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	आनन्दतीर्थ = मध्व(१२३८)	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ (१२७०)	शैव भाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति (१४००)	श्रीकर भाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ (१४७८-१५३०)	अणु भाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव (१७२५)	गोविन्द भाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद

वेदान्त दर्शन पर कुछ विचार उपनिषदों के प्रसंग में हुआ है, शेष प्रसंगानुसार आगे होगा।

वेदान्ती मायावाद-दर्शन

हम देख चुके हैं कि बौद्ध-मत में शून्यवाद तथा विज्ञानवाद जगत् को मिथ्या मानने वाले दर्शन थे। उनमें लोक-संवृत्ति-सत्य तथा परमार्थ सत्य की दृष्टि के विवेचन द्वारा जगत् का मिथ्यात्व दिखलाया गया है। जगत् विज्ञानवादी दृष्टि से परमार्थतः शून्य अर्थात् निःस्वभाव है और विज्ञानवादी दृष्टि से चित्तमात्र है, उसका कुछ भी आधार नहीं माना जाता। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। वेदान्ती मायावादी दर्शन में भी नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या, मिथ्या-प्रतीति मात्र हैं, सब कुछ वस्तुतः नाम-रूप-शून्य चिद्घन, सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म है—जगत् ब्रह्म में मिथ्या प्रतीति है। ब्रह्म इसका आधार है, वही विविध रूपों में भासमान् है। इसे जगत् की दृष्टि से 'मायावाद' और परम सत्ता की दृष्टि से 'ब्रह्मवाद' कहा जाता है। इसे सूत्र रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है, "ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।" यह दर्शन साधना की दृष्टि से 'ज्ञानवादी' है। मरण-धर्मा जीव को ब्रह्म होना नहीं है, वह तो ब्रह्म है ही, केवल अपने आत्म स्वरूप ब्रह्मरूपता का ज्ञान प्राप्त कर लेना, अनुभव कर लेना है, सोये से जग जाना है, भ्रम-जनित अविद्या-काम-कर्म-रूप मृत्यु से मुक्त हो जाना है।[1] उसकी सारी साधनाएँ अज्ञान, भ्रम, आसक्ति को दूर करने के लिए हैं।

इस अद्वैतवादी (ब्रह्माद्वैतवादी) दर्शन में सत्य की दो दृष्टियाँ महायानी बौद्धों की दो दृष्टियों के समान ही मान्य हैं। मोह-ग्रस्त लोगों की मिथ्या दृष्टि को व्यवहार-सत्य कहा गया है, जिसे शून्यवाद में संवृत्ति-सत्य कहा गया था। ज्ञानियों, प्रबुद्धों की दृष्टि को अद्वैतवाद और शून्यवाद दोनों में परमार्थ-दृष्टि कहा गया है।

---

१. अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति।—शांकर भाष्य कठोपनिषद् २।३।१४।

वस्तुत ब्रह्म (और शून्य भी) चतुष्कोटि-भिन्न, अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप, अनुभवगम्य है। उनके विषय में केवल नेति-नेति कहा जा सकता है। इस ब्रह्माद्वैतवाद में परम सत्ता का बोध कराने के लिए 'रज्जु-सर्प', 'शुक्ति-रजत', 'मृग-जल', 'स्वप्न दर्शन,' 'गन्धर्व नगर' 'इन्द्रजाल' आदि के दृष्टान्तो की शरण ली जाती है।[1] इसमें दार्शनिक दृष्टि से विवर्तवाद (अध्याय-अध्यारोपापवाद) मान्य हैं, परिणामवाद नही, परिणामवाद केवल व्यावहारिक दृष्टि से मान्य है। यह है ब्रह्माद्वैतवाद की संक्षिप्त रूप-रेखा, इसके आधार पर प्रवृत्ति और निवृत्ति-मूलक दृष्टि से इसके आचार्यों के विचारों का संक्षिप्त विवेचन करना समीचीन होगा।

योगवासिष्ठ—योगवासिष्ठ गौडपादाचार्य के पूर्व सातवी शताब्दी से पहले की रचना है।[2] यह प्राचीन उपनिषदों के बाद वेदान्त का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। वेदान्त-सूत्र में, जो सम्भवत ई० पू० द्वितीय शती की रचना है, मायावाद मान्य नही जान पड़ता। योगवासिष्ठ का प्रथम अध्याय वैराग्य-प्रकरण है, जिसमें नवयुवक रामचन्द्र के वैराग्य तथा विषाद का वर्णन है। उनके इस विषाद को दूर करने तथा ज्ञान के साथ अनासक्त भाव स राज-कार्य सभालने की प्रेरणा देने के लिए ही उन्हें योगवासिष्ठ की कथा तथा ज्ञान द्वारा बोध कराया गया है। वैराग्य प्रकरण में ससार की असारता तथा भोगों की तुच्छता का जो वर्णन किया गया है वह अनासक्ति प्रापक है, सन्यास प्रापक नही। निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्द्ध) में रामचन्द्र जी को सकल्प के त्याग द्वारा कामना या आसक्ति से शून्य होकर परमात्म-पद में प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार (कर्म) करते रहने की प्रेरणा देते हुए इस उपदेश को समाप्त किया गया है। अनासक्त भाव से कर्म का यह उपदेश बार-बार दिया गया है, जैसे, जीवन्मुक्त के समान बुद्धि को शुद्ध रखकर तुम समस्त व्यवहार करो।[3] कर्मों का छोड़ना मरण-पर्यन्त उचित न होने के कारण स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए राज्य के पालन का कार्य करते रहो।[4] राजा शिखिध्वज और चुडाला[5] की कथा द्वारा इसी भाव को

१ योगवासिष्ठ ५।७२।४१, ७।५३।६
यदिदं दृश्यते किंचित् तन्नास्ति किमपि ध्रुवम्।
यथा गन्धर्वनगर यथा वारि मरुस्थले ॥ योगवासिष्ठ। भरतसिंह उपाध्याय बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ६५२ से उद्धृत।
रज्ज्वात्मना अवबोधात्प्राक् सर्प सन्नेव भवति। शकर बृहदारण्यक-भाष्य १।६।

२ देखिए—भीखनलाल आत्रेय योगवासिष्ठ और उनके सिद्धान्त, पृ० २५-२७।

३ योगवासिष्ठ ५।१८।१७-१८।

४ योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण (उत्तरार्द्ध) २।४२।

५ निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्द्ध) सर्ग ६२-११०।

पुष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में प्रस्तावना-स्वरूप अगस्ति और सुतीक्ष्ण का जो संवाद दिया गया है, उसमें अगस्ति ने सुतीक्ष्ण को 'हारीत स्मृति' का पक्षियों के डैनोंवाला दृष्टान्त[१] देकर बतलाया है,[२] जिस प्रकार आकाश में पक्षी की गति दोनों डैनो से ही होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनो से ही मोक्ष मिलता है, केवल एक से नही।[२] वस्तुत: इस ग्रन्थ में ज्ञान और कर्म की भावना—ज्ञान से आसक्ति छोड़कर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने की—वैसी ही है, जैसी गीता और महाभारत में प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ में उद्योग की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—जो लोग सदुद्योग का त्याग करके दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे आत्म-विद्वेषी (अपना नाश करनेवाले) अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं।[३]

गौड़पादाचार्य—शंकराचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य का समय सातवी शती का उत्तरार्द्ध तथा पूर्वार्द्ध है। इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकाएँ लिखी है। इसमें विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन है, जिसमें ससार के प्रति दुःखवाद और वैराग्य का भाव लक्षित होता है। इन्होने मनोनिग्रह का उपाय बतलाते हुए कहा है, 'सम्पूर्ण दृश्य संसार दु:खरूप है, इस बात को निरन्तर स्मरण रखते हुए सभी काम-भोगो से चित्त को निवृत्त कर लेना चाहिए, यह स्मरण रखते हुए कि सब कुछ अजात है, उन्हें जात-रूप मे न देखे।[४] वे बाह्य विषयो से ही नही, समाधि-जनित सुख के आस्वादन से भी निवृत्ति का उपदेश देते है।[५] ऐसी वैराग्य-भावना, पूर्ण असगता, आत्म स्वरूप में लीनता, बाह्य व्यवहार के लिए अनुपयोगी-सी लगती है। वे विरक्त जीवन के समर्थक जान पड़ते है।

शंकराचार्य—इनका जीवन-काल आठवी शताब्दी (७८८-८२० ई०) है। इन्होंने दर्शन और समाज दोनो क्षेत्रों को उपनिषदों और स्मृतियो के आधार पर समन्वित करने का उद्योग किया। प्रस्थान-त्रयी (उपनिषद्, गीता एवं उत्तर-मीमासा) पर भाष्य लिखकर इन्होंने आत्माद्वैतवाद, मायावाद तथा निवृत्ति-प्रधान ज्ञान को वैदिक सिद्ध किया। इनके मायावाद का विरोध करते हुए रामानुजाचार्य,

---

१. उभाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥ हारीत-स्मृति, ६।६।

२. योगवासिष्ठ १।१।६-६।

३. ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थकामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः। योगवासिष्ठ २।७।३।

४. दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥ मांडूक्य कारिका, ३।४३।

५. नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्। वही ३।४५।

निम्बार्काचार्य आदि अनेक वैष्णव आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र, गीता आदि पर भाष्य लिखे। इन्होंने दुःखवाद तथा ज्ञान में कर्म के त्याग का सिद्धान्त स्वीकार किया।

शांकर-दर्शन की मूल प्रतिष्ठा आत्मैकत्व-विज्ञान है और वह आधारित है उपनिषदों के गंभीर प्रज्ञानों से, जहाँ से शंकराचार्य ने उसे लिया है। उन्होंने अपने अपरोक्ष अनुभव के बल पर इसी आत्मैकत्व विज्ञान को ज्ञान की पराकाष्ठा कहकर उद्घोषित किया।[1] अद्वैत सत् क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में जिन विविध तत्त्ववादों का जन्म हुआ, उनमें प्रधानता आत्मैकत्व-विज्ञान को प्रतिपादित करने वाले आत्माद्वैतवाद की है। यह आत्माद्वैतवाद सत्ताद्वैतवाद, शून्याद्वय, विज्ञानाद्वय, शब्दाद्वय आदि से इस बात में भिन्न है कि इसके अनुसार साक्षात् अनुभूत होनेवाली चैतन्यस्वरूप आत्मा ही तत्त्व है, न कि कोई अन्य भाव या अभाव परम तत्त्व है। अद्वैतवाद में यह सिद्ध किया जाता है कि अद्वैत सत् में ही समस्त भूतों की सत्ता मायया विद्यमान है। उसी से वे मायया निकलते हैं और उसी में इनका मायया लय होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद तर्कतः मायावाद या विवर्तवाद से सम्बद्ध है। शंकराचार्य के आत्माद्वैतवाद को ही अद्वैतवाद के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि युक्ति और स्वानुभूति से यही सबसे प्रबलतम अद्वैतवाद सिद्ध होता है।[2] शंकराचार्य ने आत्माद्वैतवाद के समर्थन में ही भाष्यों की रचना की, अद्वैत-विरोधियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया, बदरिकाश्रम, द्वारकापुरी और शृंगेरी में अपने मत के प्रचार के लिए मठ स्थापित किए। उन्होंने दशनामी सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसके अनुयायी आज तक इस देश में उनके मत का प्रचार कर रहे हैं। उनका आत्मैकत्व-विज्ञान सन्यास परम्परा का जीवनोद्धारक माना जाता है और उनके आत्माद्वैतवाद के प्रचार ने भारत देश में निवृत्ति को दृढ़ता प्राप्त करने में सहायता दी है।

शंकराचार्य ने संसार को समझने की उलझी हुई समस्या को हल करने के लिए 'मायावाद' की शरण ली। निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु इस निर्गुण, निर्विशेष अविकारी तत्त्व में से यह गुणमय, प्रपंचमय जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया, इस समस्या को अपने 'मायावाद' में सुलझाया। उनकी दृष्टि में माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। भेद सभी कल्पित हैं। एक ही ब्रह्म की सत्ता माया के कारण खण्ड-खण्ड होकर हमें दीखती है। माया न सत् है और न असत्। वह अनिर्वचनीय है। माया में दो शक्तियाँ हैं, आवरण और विक्षेप। माया की आवरण-

---

१. 'ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व विज्ञानम्' भरतसिंह उपाध्याय बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ १०३४- से उद्धृत।

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ १८।

शक्ति आत्मा के वास्तविक रूप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है।[1] मायावादी सिद्धान्त स्वीकार करने के कारण ही शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये, क्योंकि मायावाद बौद्ध-दर्शन है।[2] रामानुजाचार्य ने भी उन्हें वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' (श्रीभाष्य २।२।२७) कहा है।

शंकराचार्य ने गीता-भाष्य में[3] ज्ञान-कर्म का समुच्चय न मानते हुए बतलाया है कि ज्ञानाधिकारी वही है जो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासाश्रम में प्रवेश कर चुके हैं, आत्म-तत्त्व के ज्ञाता है और वेदान्त-प्रतिपादित विषय का गहरा और निर्मल ज्ञान रखनेवाले परमहंस परिव्राजक है। जो कर्माधिकारी गृहस्थ हैं, उनको कर्मयोग का अवलम्बन करना चाहिए।[4] वस्तुतः शंकराचार्य वैराग्य का प्रतिपादन करते हैं और ज्ञान द्वारा ही मोक्ष सम्भव मानते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए वे संन्यास को अनिवार्य मानते हैं। यह बात उन्होंने बार-बार कही है कि ज्ञान के पश्चात् कर्म में अधिकार नहीं रह जाता।[5] किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कर्म से तात्पर्य कामनापूर्ण यज्ञ से है, शंकराचार्य को संन्यासी के लिए जीवन्मुक्त का जीवन स्वीकार्य है, जिसमें निस्पृह लोक-सेवा के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। स्वयं उनका जीवन जिसमें वे धर्मोपदेश एवं संगठन के निष्काम कर्म (कार्य) में अन्त तक सतत लीन रहे, इस सेवा-कार्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध-मत के दुःखवाद और संन्यास को ही सुसंगठित रूप में प्रश्रय दिया, जबकि ये भाव बोधिसत्वयान तथा तांत्रिक प्रभाव के कारण बौद्ध-मत में दुर्बल पड़ रहे थे। शंकराचार्य के इस निवृत्तिवादी दृष्टि के हिन्दू-जाति की समूची जीवनी-शक्ति के उत्तरोत्तर ह्रास के समय में आने और फैलने से देश को बहुत क्षति पहुँची। भारतीय मन पर इस निवृत्ति की छाप गहरी हो गई और निराशावादी तथा निषेधात्मक दृष्टिकोण

१. भरतसिंह उपाध्याय . बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ १०३५।

२. इस संबंध में कुछ उद्धरण—(अ) मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।—पद्मपुराण १।१४।
(ब) यन्मायावादिनो ब्रह्म यच्छून्यं शून्यवादिनः।
न हि स्वरूपभेदोऽस्ति स्वतस्सिद्धत्वतस्तयो ॥ उदयनाचार्य।
(स) प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥ 'प्रबोध-चन्द्रोदय'

३. गीता भाष्य, ३।३।

४. लक्ष्मणशास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृति, पृष्ठ १४०।

५ ईशोपनिषद्-भाष्य, १।१।

के कारण समग्र जीवन का ध्यान रखनेवाली तथा उन्नयन करनेवाली वैदिक दृष्टि आहत हुई, और, जैसा हम आगे देखेंगे अन्य वेदान्तिक दर्शनों एव मतों ने इसका खडन तथा विरोध किया।

स्मार्त-मत का सगठन—स्मार्त धर्मशास्त्र में त्रैवर्णिकों को प्रधानता और शूद्रों को हीन स्थान प्राप्त है। श्रौत तथा स्मार्त धर्म-ग्रन्थों के अधिकारी वास्तव में त्रैवर्णिक ही माने जाते हैं।[1] स्मार्त शास्त्र के आधार पर शकराचार्य ने स्मार्त सप्रदाय का सगठन करके विभिन्न मत-मतान्तर में समन्वय स्थापित किया, जिसमें पचदेव शिव विष्णु शक्ति सूर्य व गणेश की उपासना स्वीकृत हुई।[2] कहा जाता है कि इस सगठन में प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट का भी हाथ था। इससे मत-मतान्तरों का वैमनस्य हल्का पडा तथा दूर होने लगा और राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकडा। यह इसका वाछित प्रभाव रहा, किन्तु वर्ण व्यवस्था की जकडबन्दी का, जो बौद्ध मत के प्रभाव से उत्पन्न उच्छृङ्खलता को नियन्त्रित करने के लिए अधिक कस दी गयी, बहुमुखी प्रभाव पडा। देश में मुसलमानों के आगमन से जो सामाजिक और राष्ट्रीय अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसमें एक ओर तो हिन्दुओं के सगठन में सहायता मिली, दूसरी ओर जोगी, जुलाहे आदि जातियाँ सामूहिक रूप से मुसलमान बनने लगी।[3] समाज के निचले वर्गों में वर्ण-व्यवस्था से विद्रोह की भावना जोर पकडने लगी और उनमें कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों, बगाल के बाउलों तथा दक्षिण के लिंगायतों के वर्ण-व्यवस्था विरोधी तथा मूर्ति-पूजा-विरोधी उदार मतों का प्रभाव फैलन लगा। परिणामत उनमें सामाजिकता की भावना कमजोर पडने लगी और समाज में व्यक्ति-परक दृष्टि बढने लगी। एक और प्रभाव यह पडा कि वर्ण-व्यवस्था की जकडबन्दी के कारण हिन्दुओ मुसलमानो के बीच की खाई गहरी हो गई और इन दोनों का भेद-भाव विरोधी विश्वास नष्ट करने में कबीर आदि सन्तो के तथा अकबर के दीनइलाही धर्म जैसे प्रयोग सफल न हो सके।

---

१ लक्ष्मणशास्त्री जोशी वैदिक सस्कृति का विकास पृष्ठ १४० ।

२ परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृष्ठ ३८ ।

३ बगाल मे विजेता मुसलमानों के प्रवेश करने पर शून्य पुराण से निम्नांकित उद्धरण मे जो सतोष प्रकट किया है वह वर्ण व्यवस्था से असन्तुष्ट और मुसलमान होने को प्रस्तुत लोगों की भावना को प्रकट करता जान पडता है—

यतेक देवतागण सभे हय्ये एकमत आनन्देते परिलो इजार।
ब्रह्मा हैलो महामद विष्ण हैलो पैकम्बर, आदक हईलो शूलपाणि।
गणेश हईलो गाजी, कार्तिक हईलो काजी, फकीर हइलो यत मुनि।
तेजिया आपन भेक, नारद हईलो शेख पुरन्दर हइलो मल्लना।
—(कविता-कौमुदी, सातवाँ भाग)

साधनाओं के दो मुख्य भेद—इस नव-धर्मसगठन में दो विचारधाराएँ क्रियाशील थीं, योगमूलक और भक्तिमूलक। योगमूलक विचारधारा शैव और शाक्त मतों से सम्बद्ध रही है (तथा श्रमण-परम्परा के बौद्ध मतों में गृहीत हुई है), और भक्तिमूलक विचारधारा वैष्णव मत, से यद्यपि भक्ति-भावना वाले शैवों और शाक्तों में भी होते हैं और योग-साधक वैष्णवों में भी। प्रथम श्रेणी की साधना में साधक का विश्वास अपने ऊपर होता है। इस शरीर को ही नाना-भाव से आसन-प्राणायाम आदि के द्वारा संयत करके मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि परम प्राप्तव्य वस्तुतः इस शरीर से बाहर नहीं है। वह इसी में उपलभ्य है। भक्तिमूलक धारा इससे भिन्न है। ऐसा तो उसके अनुयायी भी मानते हैं कि परम प्राप्तव्य शरीर के ही भीतर है, पर इस बात पर वे ज़ोर नहीं देते। भक्तिमूलक साधना का साधक वस्तुतः अपने-आप पर कम और अपने परमाराध्य प्रेममय परमात्मा पर अधिक विश्वास करता है। अपने आपको तुच्छ समझकर परम प्रेममय भगवान् को सम्पूर्णत्व से आत्म-समर्पण भक्ति की पहली शर्त है। अपने को नि.शेष रूप से भगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देने का नाम ही भक्ति है।[1] वैष्णव भक्तों की विशेषता यह थी कि उनकी दृष्टि सामाजिक रही है। उनके मंदिरों में त्योहारों जैसे अवसर पर यज्ञ जैसी धूमधाम होती है। इनमें जन-साधारण का मनोरंजन होता है, वे सामाजिक-व्यवस्था का भी उल्लंघन नहीं करते। योग-साधना वाले शैव और शाक्त मतों में विशेषतः व्यक्ति-परक दृष्टि मिलती है। पुराणों के अनुसार शिव तथा शक्ति की उपासना असुरों, दैत्यों, नागों, शबरों, किरातों आदि में खूब प्रचलित रही है। व्यक्तिपरक दृष्टि वाले ये योग-साधक, जो प्रायः शैव या शाक्त होते थे, ऋग्वेद के केशी-सूक्त में उल्लिखित मुनियों,[2] अथर्ववेद में उल्लिखित तपस्वियों[3] और मुंडकोपनिषद में बतलाये गये वन में रहकर भिक्षा-वृत्ति का आचरण करते हुए तप का सेवन करने-वाले साधकों[4] की परम्परा में आते हैं, जो सांख्ययोग में निर्दिष्ट ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते थे। यह बात याद रखने योग्य है कि योगाभ्यास का एक और रूप है, सामरस्य-परक तान्त्रिक प्रभाववाला जिनमें वैदिक मिथुन या युग्म-भावना का विकास है और वासना-क्षय नहीं, वासना-शोधन तक तथा काया-शोधन का आदर्श गृहीत है, और जो निवृत्ति-मुखी नहीं प्रवृत्ति-मुखी है। उससे प्रत्यक्ष का रूपान्तरण

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ ५२।

२. मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला।—ऋग्वेद १०।१३६।२।

३. ये नातरन्भूत कृतोति मृत्युं यमन्वविन्दान्दान्तपसा श्रमेण—अथर्ववेद ४।३५।२।

४. तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त.

—मुंडकोपनिषद्—१।२।११।

होने से सहजावस्था या जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है।

शैवों तथा शाक्तों में लोक विरोधी तांत्रिक मतों का विकास—आगमिक पौराणिक मतों के अधिकांश अनुयायी वर्ण-व्यवस्था को मानते थे और अपने मत को वैदिक कहलाने में गौरव मानते थे, वेदबाह्य कहलाना लोक में हीनता का परिचायक था। किन्तु बौद्धों के समान कुछ मत वेदों को गौरव नहीं देते थे और वर्ण-व्यवस्था को अग्राह्य मानते थे। ऐसे लोगों में से कुछ सम्प्रदायों का विकास लगभग सातवीं शताब्दी से होने लगा, जिनमें वेदों तथा वेद विहित आचार को तुच्छ और हेय घोषित करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। ये वाम-मार्गी तांत्रिक हैं। उनकी मान्यता थी कि आचार सात प्रकार के होते हैं। पहला वेदाचार सबसे हेय आचार है, जिसमें वैदिक काम्यकर्म, यज्ञ यागादि विहित हैं दूसरा वैष्णवाचार है, जिसमें निरामिष भोजन और पवित्र भाव से व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य और भजन-पूजन का विधान है। इससे थोड़ा अच्छा शैवाचार है, जिसमें यम नियम, ध्यान-धारण, समाधि और शिव शक्ति की उपासना का विधान है। इन तीनों आचारों से श्रेष्ठ है दक्षिणाचार। इसमें उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रि में भंग आदि मादक वस्तुओं का सेवन और इष्ट मन्त्रों का जप विहित है। उपर्युक्त चारों आचार 'पशु-भाव' के अन्तर्गत मान गये हैं, 'वीर-भाव' के साधक के लिए पांचवां आचार वामाचार और छठा आचार है। वामाचार में आत्मा को वामा अर्थात् शक्ति के रूप में कल्पना करके, साधना विहित है। उससे श्रेष्ठ आचार है सिद्धान्ताचार, जिसमें मन को अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का आदेश है कि संसार में प्रत्येक वस्तु शोधन से शुद्धि हो जाती है। ब्रह्म से लेकर तृण तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। पर इनमें सबसे श्रेष्ठ है अन्तिम कौलाचार, जिसमें कोई नियम नहीं है,[1] क्योंकि सर्वत्र अद्वय तत्त्व की भावना होती है। इसे 'दिव्य-भाव' कहते हैं। शैवों में कापालिक तथा पाशुपत ऐसे ही तांत्रिक मत थे। कापालिक पंच-मकार की साधनावाले वाम-मार्गी थे। उनके विषय में कहा गया है कि वे मद्यपान करते हैं स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[2] तांत्रिकों का सिद्धान्त कि (निर्गुण) शिव केवल ज्ञेय है,

---

१ देखिये—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ ८६।

२ मन्तो ण तन्तो ण च किं पि जाण,
झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्ज पिवामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा।—कर्पूरमंजरी १।२२-२४।

उपास्य तो शक्ति है।[1] पाशुपत जीव-मात्र को पशु कहते हैं और शिव को पशुपति। लिंग पुराण से पता चलता है कि पाशुपत मत की तीन शाखाएं थी—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। मिश्र पाशुपत पंच-देवोपासक होते थे। तान्त्रिक साधन का लक्ष्य है, उदात्तीकरण, और वही है, उसकी विधि भी। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारो कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

साधना में तंत्रोपचार की व्यापकता—तान्त्रिक साधना वेद-पूर्व आर्येतर मूल की समझी जाती है और औपनिषद मिथुनवाद[2] में भी इसका प्रभाव दिखाई देता है। तान्त्रिक उपासना का सर्वप्रथम स्पष्ट संकेत छान्दोग्योपनिषदन्तर्गत वामदेव्य सामोपासना (छा० २।१३।२) में मिलता है, जहां कहा गया है कि मिथुन में ओत प्रोत इस वामदेव्य (साम) को जो जानता है वह मिथुनी भाव में रहता है।.. उसका व्रत है 'न कांचन परिहरेत्' जिसके स्पष्टीकरण में शंकराचार्य ने लिखा है 'न कांचन काम्यमाना परिहरेत्।' पौराणिक युग में तन्त्रोपचार का व्यापक प्रचार हो गया। इस समय तंत्र या आगम के बौद्ध तन्त्र, शैवागम, वैष्णव-आगम आदि अनेक विभाग हो गए और सबने अपने मूल सम्प्रदायों के अनुसार भिन्न-भिन्न साधनाएँ प्रचलित कर दीं। इनके मन्त्र पृथक्-पृथक् बनाए गए, इनके लिए विविध प्रकार के यन्त्रों का आयोजन किया गया तथा इनके भिन्न-भिन्न देवताओं के ध्यान एवं उपासना के प्रधान पाँच अंगों (पटल, पद्धति, कवच, सहस्र-नाम, स्तोत्र) को भी स्पष्ट रूप प्रदान दिया गया। इस तंत्रोपचार की प्रणाली में, जहाँ एक ओर मूर्ति-पूजा के लिए विभिन्न उपचारों का विधान बना, वहाँ दूसरी ओर एक नवीन गुप्त साधना की भी पद्धति चल निकली, तथा साधकों की योग्यता व प्रवृत्ति के अनुसार वे वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार व लोकाचार बनकर प्रसिद्ध हो गये। बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में भी इसी प्रकार बौद्ध-तन्त्रों से प्रभावित अवधूती मार्ग, रागमार्ग, डोंबीमार्ग, चाण्डाली मार्ग आदि की पद्धतियाँ प्रचलित हो गईं और इनकी रहस्यमय साधनाओं की आड़ में कभी-कभी महान् अनर्थ भी होने लगे।[3] पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विकृत असंगत तान्त्रिक साधनाओं के प्रसार से बौद्ध मत का पतन हुआ। वस्तुतः तन्त्र गुप्त शक्तियों को जगाने, प्रत्यक्ष करने की साधना है। इसके दो रूप हो गये हैं, देवी-देवताओं के दैवत रूप के प्रत्यक्षीकरण के अनुष्ठान वाला जिसमें

१ मध्यकालीन धर्म साधना पृष्ठ ४१।
२ देखिये—पृष्ठ ३६-३९।
३. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २८।

वैदिक यज्ञ पद्धति भी आती है, और दूसरा शोधन तथा सामरस्य-साधना वाला जो औपनिषद मिथुनवाद से सबद्ध है। इन रूपों में यह दु ख-निवारक तथा सुख-समृद्धि एवं आनन्द का प्रापक है और इस प्रकार इसकी दृष्टि प्रवृत्तिमूलक है।

शैव सिद्धान्त—शैव आगमो पर आधारित दो शैव मत, शैव सिद्धान्त तथा काश्मीर शैव दर्शन प्रतिष्ठित हुए, जिनमें मोक्ष के साधन रूप में ज्ञान की अनिवार्यता मान्य हुई।[1] शैव सिद्धान्त मत का तमिल प्रदेश में पर्याप्त प्रचार हुआ। इसके अनुयायियो की सख्या अब भी वहाँ बहुत है। ये लोग शिव के भक्त हैं, और उनके अवतार नही मानते। (दार्शनिक दृष्टि से ये विशिष्टद्वैतवादी हैं) जीव और शिव का सबन्ध शरीर और आत्मा जैसा मानते हैं, और शिव को विश्व-रूप मानते हैं।[2] इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'करल' में जो खीष्टाब्द के प्रारम्भ की रचना बतायी जाती है, और तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है, 'अरम्' अर्थात् धर्म वाले प्रकरण में भक्ति-विषयक चर्चा है। उसमें न तो वैसी परलोकवादिता है और न किसी देव-विशेष के ही प्रति लक्ष्य है। मुमुक्षुओ के विषय में कहा गया है कि इनमें श्रेष्ठ वे लोग हैं जो धर्मानुकूल गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं। तमिल वेद को पढते समय 'हमारा ध्यान इहलौकिक प्रश्नो से कभी दूर जाता हुआ नही जान पडता।'[3]

काश्मीर शैव दर्शन—आनन्दवादी काश्मीर शैव दर्शन ने तन्त्र को, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति की जागृति द्वारा शिव-शक्ति-सामरस्य वाली योग-साधना की प्रमुखता है, दृढ दार्शनिक आधार प्रदान किया। इसके मूल प्रवर्तक वासुगुप्त माने जाते हैं जो विक्रम की नवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्तमान थे और जिनके 'शिवसूत्र' प्रसिद्ध है। इनके दो प्रसिद्ध शिष्यो में से कल्लट ने स्पन्द-शास्त्र के ग्रन्थो की रचना की और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा मत को प्रवर्तित किया। इनका दार्शनिक मत 'ईश्वराद्वयवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अनुसार ईश्वर ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय नही, किन्तु स्वतन्त्र कर्ता स्वरूप है और माया उसकी स्वातन्त्र्य-शक्ति या स्वेच्छापरिगृहीत रूप मात्र है। वह अपनी इच्छा के अनुसार नटवत् लीला करने के लिए इसे प्रयोग में लाया करता है और इसके द्वारा स्वस्फुरण किया करता है। 'विमर्श' आत्मा का स्वभाव है और ज्ञान व क्रिया में वहाँ कोई भी अन्तर नही है। इन दोनो की उन्मुखता को ही उसकी 'इच्छा' कहते हैं। इस सम्प्रदाय द्वारा प्रयुक्त प्रत्यभिज्ञा शब्द से अभिप्राय यही है कि साधक

---

१. S S Suryanarayan Sastri The Philosophy of Shaivism (the Cultural Heritage of India, Vol. III p. 399)

२. The Struggle for Empire (Bharatiya Vidya Bhawan Publication), p 441,

३. परशुराम चतुर्वेदी . सन्त साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १४६।

अपनी ज्ञात वस्तु को फिर से जानकर आनन्दित होता है। जिस अद्वय ईश्वर का ज्ञान उसे कदाचित् अस्पष्ट रूप में प्राप्त रहता है उसे ही वह अपने गुरु की सहायता से पूर्णतः पहचान कर अपना लेता है, और इस प्रकार की स्वानुभूति उसके भीतर अनिर्वचनीय आनन्द व उल्लास का कारण बन जाती है।[1]

काश्मीर शैव दर्शन विशुद्ध अद्वैतवादी है। इसमें शक्ति को माया मानते हैं मिथ्या नहीं। विमर्श-तत्व, परम-शिव की आद्या शक्ति को ध्वंसशील या मिथ्या नहीं, नित्य माना गया है, यद्यपि उसका परम-शिव में विलय तथा प्रादुर्भाव मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार अखिल विश्व आनन्दमय विभु का उल्लासमय विस्फुरण है। शिव-सूत्र-वार्तिक के विवरण में कहा गया है कि शक्तिमान् शिव की जो शक्तियाँ हैं, वे उनके स्वयं के चित्परिणाम हैं, उस चित्परिणाम के ही जो नये उल्लास-स्पन्दन हैं, वही विश्व है, जो शक्त्यात्मक विभु हैं, वही जगत् रूप में विस्फुरित हो रहे हैं।[2] इस मत का सिद्धान्त है 'आनन्दमयरूपममृतं यद्विभाति'। इस मत वालों के लिए मनोनिग्रह की समस्या नहीं उठती। वे कहते हैं 'जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ ध्येय (शिव) की ही भावना करनी चाहिए। चंचल होकर जायेगा कहाँ ? सब कुछ शिव ही तो है।[3] यह प्रवृत्ति-मूलक आनन्दवादी दर्शन ही जयशंकर प्रसाद की आनन्दवादी दृष्टि का आधार है।

नाथ सम्प्रदाय—लगभग काश्मीर-शैव मत के साथ ही शैव नाथ-सम्प्रदाय का भी उदय हुआ, जिसने उत्तरी भारत की मध्यकालीन धार्मिक साधनाओं को बहुत प्रभावित किया। पहले इसका सम्बन्ध संभवतः वाम मार्गी तान्त्रिक साधनाओं से था, किन्तु गुरु गोरखनाथ ने अखंड ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया और इस सम्प्रदाय को दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनस्संगठित किया। इस सम्प्रदाय में शून्य, सहज, आदि शब्दों के बहुल प्रयोग से इस पर बौद्ध सहजयान का प्रभाव लक्षित होता है। हठयोग या कुण्डलिनी योग इस सम्प्रदाय की प्रधान साधना है और इसमें नैतिकता का बड़ा महत्त्व है। इसमें रूढ़ियों तथा मिथ्या-विश्वासों पर कुठाराघात किया गया है और वर्ण व्यवस्था की उपेक्षा की गई है। इसके बहुसंख्यक घरबारी अनुयायी,

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ८६-८७।

२. एवं शक्तिमतश्चास्य शक्तयः सच्चिदादयः।
तस्यां नवनवोल्लासस्पन्दा ये प्रजया स्मृताः।
स एव विश्वं विज्ञेयं यतः शक्त्यात्मना विभुः।
जगद्रूपं स्फुरति स्फुरन्त्येवात्मना सदा॥ (२।७ विवृति)

३. यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः॥
(प्रसाद जी द्वारा 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में उद्धृत)

जो 'जोगी' कहलाते हैं, मुसलमान हैं। इसमें गांजा-भांग, मद्य-मांस के त्याग पर बड़ा जोर दिया गया है और योग-साधना द्वारा पिंडस्थ 'अलख-पुरुष या आत्म-तत्त्व को अनुभूत करना लक्ष्य माना गया है। इसमें भक्ति के लिए अवकाश नहीं है। नाथ पंथ ने परवर्ती संतो के लिए आचरण-शुद्धि-प्रधान पृष्ठ-भूमि तैयार कर दी। नाथ-पंथियों की वाणी ने आगे चलकर कबीर आदि निर्गुण-पंथियों की वाणी को बहुत प्रभावित किया। इस पंथ की दुर्बलता इसकी असामाजिकता, शुष्कता तथा गृहस्थ के प्रति हीनता का भाव है, जिसमें परिशुद्धतावादी निवृत्ति मूलक विचार-धारा का पोषण है। किन्तु साथ ही इसमें दार्शनिक दृष्टि से 'तत्त्व' के प्रति सर्वातीत भाव नहीं, वासना-शोधन का सिद्धान्त गृहीत हुआ है, जिससे काया-शोधन होता है। इसमें परार्थ-साधन हेतु जीवन्मुक्ति का आदर्श गृहीत है।

युग-सामान्य उदार मरमी साधना—आठवीं-नवीं शताब्दियों में विकासशील आगमिक प्रभाव के फल स्वरूप एक युग-सामान्य व्यक्ति-परक उदार मरमी साधना विकसित हुई, जिसकी अभिव्यक्ति सामान्यतः बौद्ध-सहजियों, जैन-मरमियों तथा नाथ पंथी योगियों के अपभ्रंश साहित्य में हुई। उसका उत्तराधिकार परवर्ती संत-साहित्य को प्राप्त हुआ। बाह्याचार तथा सामाजिक भेद-भाव का विरोध, चित्त शुद्धि का महत्त्व, काया का साधना के आधार रूप में ग्रहण, समरसी-भाव, सर्वत्र एक तत्त्व का दर्शन इस साधना तथा साहित्य की 'सामान्य विशेषताएँ' हैं, जिनसे आगे चल कर सूफी मत भी प्रभावित हुआ।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन

बौद्ध धर्म ने अपने अंतिम चरण में अपनी पूर्व प्रेरणा तप ध्यान-योग-समन्वित चारित्रिक शुद्धता की अवहेलना करके भक्ति-भावना को ग्रहण कर लिया था, पर तो भी वह ईश्वरवाद जैसी किसी केन्द्र-परक आस्था के अभाव में अन्ध-विश्वासों का शिकार हो गया। बाह्य-विधानों के जंजाल में फँसकर एवं वज्रयान तथा कालचक्रयान में भैरवी-चक्र की गुह्य साधना वाली अमर्यादित जीवन-पद्धति को अपना कर अन्ततः वह विनाश को प्राप्त हुआ। उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप नेड़ा-नेड़ियों, सहजियों, बाउलों आदि की तान्त्रिक साधना का सहारा लेने वाले सम्प्रदायों में तथा विकृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप चारित्रिक शुद्धता पर बल देने वाले अवधूत या नाथ-सम्प्रदाय, धर्म-सम्प्रदाय आदि बहुत-से सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। ये सम्प्रदाय सामाजिक प्रतिबन्धों को अस्वीकार करने वाले व्यक्तिपरक साधना वाले एवं विचार-स्वातन्त्र्य के पोषक थे। इन सम्प्रदायों का निर्गुण मत के विभिन्न सम्प्रदायों एवं पंथों के रूप में विकास हुआ, जिनमें सुधारवादी स्वर की प्रबलता रही।

दूसरी ओर तान्त्रिक प्रभाव से आस्थावान् समाज में भी विकार आ गया और साथ ही दार्शनिक क्षेत्र में भी सैद्धान्तिक एकता आ गई थी। परिणाम-स्वरूप परम्परावादी विभिन्न आचार्यों ने शास्त्रवादी सिद्धान्तों और सन्तों के अनुभवों में

सामजस्य बिठाने के लिए समाज के व्यापक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने व्यवस्थित सिद्धान्तो की स्थापना की, जिसके कारण वैष्णव धर्म में श्री, सनक, ब्रह्म, विष्णुस्वामी, रुद्र, गौडीय, रामावत आदि विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित हुए जिनमे समान रूप से भगवान् के सर्वव्यापी रूप पर बल दिया गया, ससार को भगवान् का व्यक्त रूप माना गया।[१] मुसलमानो के आगमन से तथा देश में उनके राज्य-विस्तार से उत्पन्न परिस्थितियो ने भी उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियो को बल और वेग प्रदान किया।

स्मार्त-सम्प्रदाय—जैसा पहले सकेत किया जा चुका है, आठवी शताब्दी में कुमारिल भट्ट तथा शकराचार्य ने दर्शन के क्षेत्र तथा समाज में फैली उच्छृखलता दूर करने के लिये स्मार्त-सम्प्रदाय का सगठन किया। इसी कारण वैदिक परम्परा पर पूर्ण आस्था रखने वाले स्मार्तों ने उनके विरुद्ध जान पडने वाले सम्प्रदायो का घोर विरोध किया है एव परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया है। इन्होने अपना मुख्य ध्येय जैन व बौद्ध जैसे अवैदिक धर्मों का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना बना रखा था। इन्होने अपने मत का मूल आधार श्रुति, अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल प्रतीत होने वाले मतों का खडन किया। उक्त दोनो धर्मों के अनुयायियो को नास्तिक ठहराकर इन्होने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की आलोचना की और उनके मतो के अधिकाश को वेद-बाह्य बतलाया। उनके आधार-स्वरूप माने गये वेद-वाक्यो के इन्होने भिन्न भिन्न प्रकार से अर्थ किए और उन्ही धर्मों को वेद-सम्मत सिद्ध कर उनकी सगति अन्य स्थलों के साथ दिखला दी। इस प्रकार वेदो की एकवाक्यता प्रतिपादित करते हुए इन्होंने एक नवीन मत का प्रवर्तन किया, जिसके दार्शनिक अश को 'वेदान्त' व साधना को 'स्मार्त-मार्ग' कहते है।[२] इनके दार्शनिक सिद्धान्त तथा पचदेवोपासना के सिद्धान्त पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

द्राविड़ प्रदेश के आलवार भक्त—मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन के मुख्य स्रोत द्राविड प्रदेश के आलवार सत है। इनकी सख्या बारह मानी जाती है और इनके काल में नारायण को अपना सबसे बडा देवता मानते थे। उन्होने विष्णु के अवतारो की विशेषत त्रिविक्रम (वामन) की चर्चा की है तथा श्रीकृष्ण की कतिपय लीलाओ का गान किया है, किन्तु प्रसिद्ध आलवार कुलशेखर, जो त्रावकोर राज्य के अधिपति

---

१. वैष्णव सम्प्रदायों के सर्वमान्य ग्रथ श्रीमद्भागवत मे कहा गया है :—
मायासम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै ।
कार्यकारण रूप हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥ (भागवत, २।१०)

२ परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत की सन्त-परम्परा पृ० ३६।

थे, मुख्यतः दाशरथी राम के उपासक थे। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अस्पृश्य मानी जाने वाली परिया जाति के भी व्यक्ति हुए हैं, जिनमें एक आण्डाल या गोदा स्त्री थी। इनकी मूर्तियां दक्षिण भारत के मंदिरों में देव मूर्तियों के साथ स्थापित हैं और उनकी विधिवत् पूजा होती है। उनकी मूल विचार-धारा असाम्प्रदायिक भक्ति-भावना से ओत-प्रोत थी। उनके गान भक्ति-विभोर कण्ठ से उच्चरित हैं, जो चार हजार पदों वाले 'प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं।

रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय—शंकराचार्य के अद्वैतवादी सिद्धान्तों से सबसे अधिक निराशा दक्षिण की भक्ति-विभोर जनता को हुई और इसी—जनता की प्रतिक्रिया—ने रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि वैष्णवाचार्यों को उत्पन्न किया। आलवार संत रहस्यवादी और कवि थे। उनके उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्य *चिन्तक और दार्शनिक* हुए। शंकराचार्य ने वेदान्त को नया रूप दिया था। वैष्णव आचार्यों के सामने यह प्रश्न उठा कि इस वेदान्त से तमिल प्रबन्धम् का सामंजस्य कैसे बिठाया जाय अर्थात् कर्म और ज्ञान से भक्ति का मेल कैसे हो? तमिल प्रबन्धम् को सार्वजनिक पूजा में समाविष्ट करने का प्रथम श्रेय श्रीनाथ मुनि को है। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पांचरात्र पद्धति की प्रामाणिकता को स्थापित किया शंकर के माया-सिद्धान्त का खण्डन किया, जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में रामानुजाचार्य (१०८४-११६४ वि०) ने जिस विशिष्टाद्वैत दर्शन का महल खड़ा किया, उसकी नींव यामुनाचार्य ने ही डाली थी।[1] आलवार संत वर्णाश्रम के विधि निषेध के कायल नहीं थे। रामानुजाचार्य ने आलवारों के मुक्त संस्कार को वर्णाश्रम के नियन्त्रणों से कैसे मिलाया, यह देखने योग्य है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को तो द्विजों के लिए विहित बताया, परन्तु प्रपत्ति का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। सामाजिक समता की दिशा में तत्कालीन ब्राह्मण जहाँ तक जा सकता था, रामानुज वहाँ तक गये। उनके सम्प्रदाय ने लाखों शूद्रों और अन्त्यजों को अपने मार्ग में लिया, उन्हें वैष्णव विश्वास से युक्त किया, उनके आचरण धर्मानुकूल बनाए और साथ ही ब्राह्मणत्व नियन्त्रण की अवहेलना भी नहीं की।[2] इस सम्प्रदाय का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैतवाद है। इसके अनुसार परमात्मा अन्तर्यामी रूप में जीवों और प्रकृति में विद्यमान हैं, वह अंगी (अंशी) हैं, और जीव तथा प्रकृति अंग (अंश) हैं।

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के दो भेद—रामानुजाचार्य ने वेद और तमिल-

---

१ परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव—धर्म, पृ० ७५-७७।

२. दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३७१-३७२।

प्रबन्धम् के बीच जो सन्तुलन रखा था, उसकी रक्षा उनके बाद के अनुयायी शिष्य न कर सके। उनमें से कुछ तो वैदिक धर्म को प्रधानता देने लगे और कुछ तमिल प्रबन्धम् को। वेद-मार्गी वैष्णव आचार्यों का सम्प्रदाय उत्तर भारत में चला और तमिल प्रबन्धम् के माननेवालों का दक्षिण भारत में।[1] दक्षिण वाले शूद्रों को अष्टाक्षरी मन्त्र 'ओं नमो-नारायणाय' का उपदेश देते समय उत्तरवालों की भाँति 'ओं' के उच्चारण का परित्याग नहीं करते।[2]

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय—विष्णुस्वामी रामानुजाचार्य से पहले संभवतः दसवीं शताब्दी ईस्वी में हुए। ये एक प्रसिद्ध दक्षिणात्य वैष्णव आचार्य थे। इनके मत में नृसिंह भगवान की उपासना तथा गोपालोपासना प्रचलित थी। इन्होंने ईश्वर को सच्चिदानन्द, ह्लादिनी संविद से आश्लिष्ट कहा है, माया जिनके अधीन है, और जीव को अपनी अविद्या से आच्छादित क्लेशों से जकड़ा हुआ बतलाया है तथा उसे स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी माना है। श्रीमद्भागवत की सुप्रसिद्ध टीका 'भावार्थ दीपिका' के लेखक श्रीधर स्वामी इसी सम्प्रदाय के थे। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या अब बहुत अधिक नहीं जान पड़ती, किन्तु इसका प्रभाव कई परवर्तीकालीन सम्प्रदायों पर स्वीकार किया जाता है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी का अनुसरण करनेवाला कहा जाता है।[4]

अन्य वैष्णव आचार्य—रामानुजाचार्य के पीछे आने वाले उनसे भिन्न मत वाले अनेक आचार्यों ने अपने-अपने मतों के समर्थन में विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की और अपनी विभिन्न शाखाओं का प्रवर्तन किया। निम्बार्काचार्य ने अपने द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रवर्तन कर राधाकृष्ण भक्ति की स्थापना की, मध्वाचार्य ने अपने द्वैत सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति को अन्तिम निष्ठा का पद प्रदान किया तथा वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत मतानुसार पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन कर भक्ति की प्रबल धारा बहा दी। इसी प्रकार चैतन्य देव ने भी 'अचिन्त्य भेदाभेद' सिद्धान्त के आधार पर अपनी रागानुगा भक्ति का प्रचार किया।

निम्बार्काचार्य—निम्बार्काचार्य ने जिनका जन्म ११वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के परवर्ती काल में हुआ, सनक-सम्प्रदाय की स्थापना की। उनकी द्वैताद्वैत सिद्धान्त पर आधारित प्रेमलक्षणा भक्ति का मुख्य आधार कृष्ण और राधा की उपासना थी जो हरिवंश, विष्णुपुराण तथा महाभारत की विचारधाराओं पर आधा-

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३७५।
२. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म, पृष्ठ ८२।
३. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म, पृष्ठ ६०-६७।
४. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ८४-८५।

रित थी। इन्होंने दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म और ससार में भिन्नता और अभिन्नता दोनों का प्रतिपादन किया, कार्य रूप में भिन्नता का तथा कारण रूप में अभिन्नता का।[१]

मध्वाचार्य—(११९८-१३०३ ई०)—मध्वाचार्य का द्वैतवादी सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाता है, जिसका कर्णाटक में विशेष प्रचार है। इसके अनुसार हरि या भगवान् की प्राप्ति को प्रत्यक्ष अनुभव की बात समझा गया है और वैराग्य, शम, दम, शरणागति आदि अष्टादश साधनाओं के आधार पर कृष्णोपासना का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। यह मत दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी कहलाता है। इसे पच-भेद सिद्धान्त कहा जाता है—जिसके अनुसार (क) ईश्वर का जीव से, (ख) ईश्वर का जड-पदार्थ से, (ग) जीव का जड-पदार्थ से, (घ) एक जीव का दूसरे जीव से, (ड) एक जड-पदार्थ का दूसरे जड पदार्थ से नित्य भेद है।[२]

वल्लभाचार्य (१४७८-१५३० ई०)—वल्लभाचार्य का ब्रह्म सूत्रो पर लिखा गया भाष्य 'अणुभाष्य' कहलाता है तथा उनके मत को शुद्धाद्वैतवाद कहते हैं। इनके अनुसार सच्चिदानन्द की शक्ति का नाम माया है, जिससे रहित होकर शुद्ध जीवात्मा और परब्रह्म एक वस्तु रूप हैं। परमात्मा की कृपा के बिना मायाधीन जीवात्मा को मोक्ष-लाभ नही हो पाता और उस ईश्वरीय अनुग्रह को ही वल्लभाचार्य ने 'पुष्टि' की सज्ञा दी है।[३] यह पुष्टिमार्गीय भक्ति श्रीमद्भागवत द्वारा, जिस पर आचार्य ने सुबोधिनी टीका लिखी है, बहुत प्रभावित हुई है। वल्लभाचार्य एव उनके शिष्य गृहस्थाश्रम में ही रह साम्प्रदायिक नियमो का पालन करते थे और विरक्ति को प्रोत्साहित करने वाले निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा कर्म को महत्व देने वाले प्रवृत्तिमार्ग को अधिक श्रेयस्कर मानते थे इस मत में ससार लीलानिकेतन सच्चिदानन्द भगवान की लीला का विलासमात्र है, मिथ्या नही है, सदश जड में चिदश तथा आनन्दाश का और चिदश जीव में आनन्दाश का तिरोभाव रहता है।

चैतन्यदेव—(१४८५-१५३३ ई०) चैतन्यदेव ने अचिन्त्य भेदाभेद के सिद्धान्त पर चैतन्य सम्प्रदाय का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्ति को रागानुगा कहकर आर्त-भाव द्वारा भगवान के धाम में प्रवेश पाने को सर्वोत्तम समझते हैं। ये लोग पूजन-अर्चन-प्रणाली को विशेष महत्त्व नही देते। श्री चैतन्यदेव का मुख्य साधन हरि-नाम-स्मरण तथा कीर्तन था, इसी के द्वारा ये महाभाव की प्राप्ति करते थे। इनका प्रचार-क्षेत्र बगाल तथा उत्कल था। वल्लभ-सम्प्रदाय के समान ही चैतन्य सप्रदाय में भी श्रीमद्भागवत को परम प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है।

---

१ देखिए द्वैताद्वैतवाद, हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ३४९।

२ देखिए द्वैतवाद हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३४८।

३ परशुराम चतुर्वेदी . वैष्णव धर्म, पृ० ९९-१००।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—गोस्वामी हितहरिवंश (१५०२-१५५२ ई०) ने ब्रज-मंडल में राधावल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसमें प्रेम-स्वरूपा श्री राधा अधिष्ठात्री देवी—श्रीकृष्ण की भी आराध्या—है। नित्य-विहारी प्रेम-विरही राधा-कृष्ण के युग्म में आत्मसुखित्व नहीं, तत्सुखित्व का भाव है। यह सम्प्रदाय मर्यादा-मार्गी नहीं, रस-मार्गी है, और इसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य भावों के लिए नहीं, केवल माधुर्य भाव के लिए ही अवकाश है। इसकी उपासना-पद्धति विधि-निषेधातीत है। इस सम्प्रदाय में मान्य श्री राधा की प्रमुखता निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी आदि अन्य सम्प्रदायों के भक्तों द्वारा भी स्वीकृत हो गई। पुष्टिमार्गी भक्त तथा कवि भी इससे प्रभावित हुए। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश जी 'गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए सच्चे रूप में भक्त तथा सन्त बने रहे। इस जीवन के प्रति आपके मन में न तो वैराग्य की भावना थी, न इसके प्रति किसी प्रकार की हीन भावना ही आप रखते थे।'[1] इस सम्प्रदाय में संसार का निषेध या त्याग नहीं है।

सखी सम्प्रदाय—स्वामी हरिदास (जन्म १६१७ ई० के लगभग) में वृन्दावन में एक रस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जो सखी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस में श्री राधा की सखी के रूप में नित्य विहारी राधा-कृष्ण की युगल मूर्त्ति के ध्यान का विधान है। अब यह सम्प्रदाय निम्बार्क-सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त माना जाता है। स्वामी हरिदास, जो संगीत के एक प्रसिद्ध आचार्य थे, एक विरक्त साधु थे।

रामानन्दी ('रामावत') सम्प्रदाय—उपर्युक्त वैष्णव सम्प्रदाय विष्णु भगवान् तथा उनके अवतार श्री कृष्ण की उपासना वाले थे। रामानन्द स्वामी ने, जिनका जन्म प्रयाग में सन १२९९ ई० में माना जाता है, रामावतार की भक्ति वाले 'रामावत' सम्प्रदाय का संगठन किया। ये शक्तिशाली महात्मा पहले श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु उस सम्प्रदाय के जाति-पाँति वाले कठोर बन्धन को अस्वीकार करते इन्होंने समय की आवश्यकता को पहचानते हुए अपने धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए सामाजिक क्षेत्र में अधिक उदारता ग्रहण करके एक नये सम्प्रदाय का गठन किया। इनका दार्शनिक सिद्धान्त प्रायः विशिष्टाद्वैत का ही अनुयायी है। किन्तु श्री सम्प्रदाय के उपास्य देव नारायण के स्थान में इन्होंने श्री राम और सीता को स्वीकार किया तथा उसकी भक्तियोग की उपासना एवं अर्चना-विधियों को अधिक महत्व न देकर प्रधानतः भजन भाव का ही प्रचार किया। अपने मत के प्रचार के लिए इन्होंने वैरागियों का संगठन किया, तथा अपने दल में,

---

१ डा० विजयेन्द्र स्नातक - राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य पृष्ठ १०५।

किसी प्रकार के साम्प्रदायिक बन्धन में आना अस्वीकार कर दिया था। उनके मत का सारांश उनके फुटकर पदों के आधार पर दिया जा सकता है। वे परमात्मा को सत्-स्वरूप मानते हैं और उसे 'अगम' एवं 'अकथ' होने पर भी व्यक्तित्व प्रदान करते जान पड़ते हैं। वे उसे निर्गुण तथा सगुण दोनों से परे बतलाते हैं और उसके किसी अवतार का होना स्वीकार नहीं करते। वे एक सच्चे वैष्णव को आदर्श व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका वैष्णव-धर्म हिन्दू धर्म के अन्य अंगों व इस्लाम-धर्म का विरोधी नहीं है। उनके लिए सभी धर्म समान हैं और सभी का तभी तक महत्त्व है जब तक वे सत्य के शाश्वत नियमों का अनुसरण करते हैं। वे आडम्बर, हिंसा, असत्य, असयत जीवन, वेदादि की तीव्र निन्दा करते हैं।[1] सन्त कबीर की दृष्टि लोक-बाह्य असामाजिक एवं व्यक्तिपरक है, किन्तु वे सन्यास के समर्थक नहीं हैं। उन्होंने भिक्षाटन का विरोध किया है और स्वोपार्जित साधन से, सन्तोषपूर्वक, अनासक्त भाव से जीवन यापन पर बल दिया है। सन्तों का जीवनादर्श सब घटों में राम को देखते हुए, सब की सेवा द्वारा भगवान् की सेवा करते हुए, सब आसक्तियों से ऊपर उठकर, सर्वत्र उस अचिन्त्य की अनुभूति या दर्शन का है। इसी को उन्होंने जीवन्मुक्त होना, सहजावस्था, उन्मनावस्था (*उनमनि रहनी*) तथा प्रेम कहा है, जो जीवन्मुक्ति के दूसरे नाम हैं। कबीर ने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी, किन्तु उन्हीं के समान उपदेश देने वाले अन्य सन्तों ने अपनी अपनी रीति से भिन्न-भिन्न पंथ प्रवर्तित किए। इस तरह सन्त परम्परा की एक पृथक् विचार-धारा ही चल पड़ी। गुरु नानकदेव का नानक पंथ पंजाब प्रान्त में स्थापित हुआ, दादू दयाल का दादूपंथ राजस्थान में चल पड़ा। मलूकदास का मूलक-पंथ पूर्वी उत्तर प्रदेश में चल निकला, इसी प्रकार धरणीदास का धरनीश्वरी सम्प्रदाय बिहार प्रान्त में और चरणदास का चरणदासी सम्प्रदाय दिल्ली में चल निकला।[2] दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश में प्रचलित बावरी पंथ में बहुत से श्रेष्ठ सन्त हुए। ये सन्त समान रूप से मत-मतान्तर विभेद के विरोधी तथा *हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयासी थे।*

सिक्ख धर्म—सन्त परम्परा का नानक-पन्थी मत सिक्ख सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ, जिसकी विशेषता है एक अलग सामाजिक संगठन, जिसमें किसी भी जाति या धर्म का व्यक्ति सम्मिलित हो सकता है। इसका एक व्यावहारिक फल यह हुआ कि सिक्खों की एक अलग जाति व धर्म बन गया। इसका सुफल यह हुआ कि समय तथा परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार सिक्ख दशम गुरु गोविन्द सिंह द्वारा एक युयुत्सु वीर जाति में परिणित हो गये। सिक्खों में सन्यास वाली

१ परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव धर्म, पृष्ठ १२२।
२ वही, पृष्ठ १२२-२३।

भावना नही है। इनके गुरु घर-बारी हो थे। इनका सिद्धान्त अनासक्त भाव से कर्म वाले राजमार्ग का है। सिक्ख-धर्म में सन्त मत के अन्य पथों से विशेष अन्तर लक्षित होता है। इसमें अहिंसा पर बल नही दिया गया है, तथा मांसाहार का निषेध नही है।

भक्ति आन्दोलन का सिंहावलोकन करने पर यह बात लक्षित होती है कि यद्यपि इससे प्रभावित सभी सम्प्रदायों में विषयासक्ति की घोर निन्दा की गई है, फिर भी उन सब की दृष्टि न्यूनाधिक रूप में प्रवृत्तिपरक है। जैसा आचार्य वाजपेयी ने कहा है, 'मुक्ति कर्म-संन्यास की ओर ले जाती है, निवृत्ति का सन्देश देती है; किन्तु भक्ति सासारिक क्षेत्र में कर्म की ओर प्रेरित करती है।[१] जैसा गो० तुलसीदास ने काक-भुशुंडि से कहलाया है'.....हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादर भगति लुभाने।[२] भक्तो की, विशेषतः अनन्य भक्तो की, तो ऐसी दृष्टि होती है कि 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त'।[३] कृष्ण-भक्तों के आराध्य भगवान् कृष्ण तथा राम-भक्तो के आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के चरित्र भी प्रवृत्तिमुखी ही है। महाभारत में भी नारायणात्मक भागवत धर्म को प्रवृत्तिमुखी कहा गया है।[४]

सामान्यतः भागवतों (वैष्णव भक्तों) को जीवनमुक्त न मानने वाला समझा जाता है क्योंकि वे मृत्यु के अनन्तर सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति में विश्वास रखते हैं। किन्तु प० लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने सन्त तुकाराम के अभंगों के आधार पर पहुँचे हुए सन्तो द्वारा इस संसार के जीवन में ही वैकुंठ की प्राप्ति का—जीवन्मुक्ति का—हृदयग्राही निरूपण इस रूप में किया है। मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाले परलोक, वैकुंठ अथवा मोक्ष की अपेक्षा इहलोक मे, इसी जीवन में प्राप्त होने वाले परलोक, वैकुंठ अथवा मोक्ष को ही सन्तो ने परमार्थ मान लिया। सन्त अपने को वैकुंठ के नागरिक मानते थे। विशुद्ध अध्यात्मिक अवस्था ही वास्तव में परमात्मा की निवास भूमि (वैकुंठ) है।'....इस सदोष पापमय, विनाशी तथा यातनामय इन्द्रियगम्य ससार में ही विशुद्ध आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करना आवश्यक है। वैकुंठ या परमार्थ के प्रवास का अर्थ है स्वप्न से जागृति की अवस्था में प्रवेश करना।[५] गो० तुलसीदास ने भी इसी स्वर में कहा है 'अब न नसैहौं। रामकृपा भवनिसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।'[६] अन्यत्र कहा गया है,

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृष्ठ १४६।
२. रामचरित-मानस, उत्तरकांड, दोहा ११९।
३. रामचरित-मानस, किष्किन्धाकांड, दोहा ३।
४. 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक.' (महाभारत, शान्तिपर्व ३४७।८०)
५. लक्ष्मण शास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १९१-९२।
६. विनय-पत्रिका, पद १०५।

'परमारथ के कारने सतन धरा सरीर।'

भारत के इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि मध्य-काल तक भारतीय समाज में धार्मिक दृष्टि ही प्रधान थी। समाज का सगठन सास्कृतिक आधार पर हुआ था, जनता का सम्बन्ध राज्य से कम ही था। मुख्यतया जन-समाज का भाव यही था कि 'कोउ नृप होइ, हमहिं का हानी'। यदि औरगजेब जैसे मुस्लिम शासक हिन्दू-मदिरों को तोडकर तीर्थ-यात्रा आदि पर प्रतिबध न लगाते और हिन्दुओं के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप नही करते तो हिन्दू-समाज में असन्तोष का भाव न आ पाता। धर्म को आहत होते देखकर समर्थ गुरु रामदास ने मुस्लिम राज्य के विरुद्ध लोगो का सगठन किया, जिसके नेता वीर शिवाजी बने, और गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्खों का युद्धप्रिय जाति के रूप में सगठन कर दिया। वस्तुत तत्कालीन हिन्दू-समाज में धन और शक्ति का महत्व गौण हो चला था, राजपूत वीरो की दृष्टि युद्ध में विजय पर उतनी नही रहती थी, जितनी युद्ध में पीठ न दिखाने पर। प्रवृत्तिवादी मुस्लिम सस्कृति के सम्पर्क से भी हिन्दुओं में नयचेतना तथा सगठित सुरक्षा की भावना न आ सकी थी।

अग्रेजो के आगमन के पश्चात् उन्नीसवी शताब्दी में जो नवोत्थान आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, उसने भारतवासियों को यूरोपीय सभ्यता के सम्पर्क से अपनी जीवन-दृष्टि बदलने को विवश किया। इस नवोत्थान का आन्दोलन का लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परम्परा और अपने विश्वासों का त्याग नही, प्रत्युत् यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सामजस्य बिठाना था। वस्तुत उन्नीसवी सदी का नवोत्थान भारत में प्रवृत्तिवाद का अनुपम उत्थान है, यूरोपीय सभ्यता के ससर्ग में भारत-देश की कायापलट है। प्रवृत्ति-दर्शन को भारतवासियों ने नवीन दर्शन के रूप में नही अपनाया, वरन् उस नवीन सभ्यता से प्रभावित होकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि भारतीय वैदिक-दर्शन का मूल सन्देश निवृत्ति नही, वरन् प्रवृत्ति है।

आधुनिक युग के प्रवृत्ति चिन्तकों के प्रवृत्ति की दिशा में प्रयासो का विवेचन तृतीय अध्याय में अलग से किया गया है।

मध्य-युगीन हिन्दी काव्य के अन्तर्गत प्रवृत्तिमूलक धाराओ का स्वरूप

हिन्दी साहित्य के आदि-काल में दो विभिन्न साहित्यिक धाराओ का विकास परिलक्षित होता है। प्रथम है पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति ऐहिकता-मूलक शृङ्गारी काव्य, नीति विषयक फुटकर रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक तथा द्वितीय है पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सतो की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचार-धारा, झाड-फटकार, अक्खडपन, सहजशून्य की साधना, योगपद्धति और भक्ति-

मूलक रचनाएँ।[1]

प्रथम वर्ग के साहित्य में सामन्ती शौर्य और विलासिता की प्रचुर व्यंजना पाई जाती है। वस्तुतः हिन्दी का आदिकालीन साहित्य जन-जीवन के संक्रांतिकाल का साहित्य है। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था वहाँ के राजाओं का जीवन विलास से परिपूर्ण था और वे अपने शौर्य का प्रदर्शन अपने राज्य की सीमा-रक्षा के लिए करते थे। आन-बान की रक्षा के लिए वे अपने प्राणों तक की बाजी लगा दिया करते थे। इसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन वीर-गाथा-साहित्य में मिलता है। वैदिक आर्यों की इहलौकिकता पर आधारित प्रवृत्ति-भावना इस साहित्य का मूल मन्त्र है, पर यह काव्य-धारा परम्परा, रूढ़ियों एवं गतानुगतिकता की पाबन्दी में बँधी हुई है। साहित्यिक प्रेरणा के लिए इसे सामान्य जीवन से रस-ग्रहण का अवसर नहीं मिला, इसकी साहित्यिक प्रेरणा संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के राजस्तुति-परक वीरगाथाओं, शृङ्गारी काव्यों आदि सम्बन्धी रचनाओं का मुँह जोहती है।[2] संस्कृत साहित्य में जहाँ स्वस्थ प्रवृत्ति की धारा का विकास दिखाई देता है, वहाँ इस साहित्य में संस्कृत आदि भाषाओं से भाव ग्रहण करने के कारण गतानुगतिका अधिक है, स्वाभाविकता कम।

दूसरे प्रकार के काव्य में नाथसिद्धों का काव्य आता है, जो परम्परा, रूढ़ियों और गतानुगतिकताओं को छोड़कर चलनेवाला है, परन्तु इस काव्य में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति का स्वर प्रधान है। इस साहित्य में साधनामूलक विधियों और वैराग्योत्तेजक विचारों के बाहुल्य के साथ-साथ मानवीय रस भी है, जो उपदेशों को सरस और सहज ग्राह्य बना देता है, जो नाना विघ्नों और बाधाओं को अतिक्रम करके आज भी जी रहा है।[3]

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही जब मुसलमानों ने हिन्दू राजाओं पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया, तब हिन्दी कवियों के पास न तो विषय के रूप में राजाओं का शौर्य रह गया और न भावना के रूप में उनके हृदय में उत्साह ही रहा। मुसलमान राज्य-विस्तार के साथ धर्म-विस्तार भी कर रहे थे। इन परिस्थितियों में जब हिन्दू राजा अपने राज्य की रक्षा में असफल रहे, तब हिन्दू धर्मावलंबियों ने अपने धर्म की रक्षा में ही अपनी समस्त शक्ति लगा दी। इस लोक के सुख-ऐश्वर्य की बात स्वप्न की बात रह गई तो लोकोत्तर सुखोपलब्धि की दिशा में हिन्दी-भक्तिकालीन काव्य-धारा का विकास हुआ। कविता में नाथ-सिद्धों की निवृत्तिमूलक परम्परा को भक्ति-साहित्य में जीवित रखने का प्रयास किया

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २९।
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, खंड २, पृष्ठ ४१०।
३. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड (संपादक: धीरेन्द्र वर्मा), पृष्ठ ८६।

जिक स्तर-भेद की तीव्रता को भी तुच्छ सिद्ध करने का प्रयास किया है।

भारतीय-दर्शन का निवृत्तिमूलक विश्वास यह रहा है कि परमात्मा से विलग होकर जीव दुःख में पड़ जाता है, जिसकी निवृत्ति का उपाय निर्वाण है। यह निवृत्तिमूलक स्तर मूलतः बौद्ध-दर्शन का रहा है, जिसका प्रभाव सूफी कवियों पर यथेष्ट रूप में पड़ा। जायसी के प्रेमाख्यानक काव्य 'पद्मावत' में एक ओर जहाँ रतनसेन के लिए भोग-विलास की समस्त वस्तुएँ त्याज्य बन जाती हैं और रोने-तड़पने में ही वह जीवन का अमूल्य समय व्यतीत करता है, वहीं दूसरी ओर 'विरही' के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न किया गया है कि 'जीव' और ब्रह्म का मिलन मृत्यु के पश्चात् ही हो सकता है, अतः मृत्यु त्याज्य नहीं, काम्य है। इसके विपरीत सगुण-धारा के भक्त कवियों ने अपने आराध्य देव से मुक्ति की याचना नहीं की, वरन् आराध्य देव के गुणगान एवं लीला-गान का मधुपान करने के लिए अनन्त जीवन का वरदान माँगा। कालान्तर में मृत्यु को काम्य मानने वाले बौद्ध मत की महायान शाखा के अनुयायियों ने भी लोक-कल्याण के हेतु अपनी विमुक्ति अथवा निर्वाण को तब तक के लिए दूर रखना अधिक पसन्द किया जब तक समस्त प्राणी अपनी विमुक्ति न प्राप्त कर लें।

लोक-कल्याण एवं परोपकार पर आश्रित प्रवृत्ति का आदर्श सामने आया रामकाव्य में। रामकाव्य में लोक-संग्रह के लिए अनुष्ठित होने वाले कर्मों में बाधा नहीं आई है, यद्यपि ससीम योगैश्वर्यों के प्रति तटस्थता की भावना का स्वर भी गौण नहीं होने पाया है।

गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस मानवता की एक महान् कल्पना पर आधारित है। इस महाकाव्य के पात्र पहले मानव हैं, फिर राम-भक्त। तुलसीदास की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, अनासक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, निर्वैरता, उदारता आदि दिव्य गुणों का समाहार राम, भरत, कौशल्या, जनक, जानकी आदि पात्रों में बड़ी कुशलता से किया है। राम-कथा भारतीय संस्कृति के प्रभात-काल से मानवता के दिव्य रूप की खोज का इतिहास प्रस्तुत करती है, तुलसीदास ने इस साधना के इतिहास में असाधारण योगदान किया है।[1] उनकी एक बड़ी देन यह है कि उन्होंने रामचरितमानस लिखकर देश में तान्त्रिकों, वज्रयानी सिद्धों, अवधूतों आदि की क्रियाओं से फैलने वाले समाज-विरोधी तत्त्वों को नियन्त्रित किया तथा आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों के चित्रण द्वारा पारिवारिक जीवन को सौन्दर्यपूर्ण बनाने में योगदान किया।[2]

---

१. वही पृष्ठ ३१६-३२०।

२. भगवत शरण उपाध्याय सांस्कृतिक भारत, पृष्ठ १९०।

परन्तु तुलसीदास के 'मानस' में निहित धर्म या अध्यात्म की भावना दूर तक कर्म व प्रयत्न के जीवन की विरोधिनी है। मानस के राम वस्तुत परमात्मा हैं, ब्रह्म है और अपनी माया का आश्रय लेकर अवतार लेते है। मायाश्रित राम का सगुण रूप अनेक लीलाएँ करता है, ये लीलाएँ ज्ञानी तक को भ्रम में डाल देती हैं, भ्रमवश राम में कर्मों का आरोप होने लगता है। राम अपनी माया के द्वारा सृष्टि की रचना, पालन और सहार करते है। विष्णु ने ही राम का अवतार लिया है और लक्ष्मी ने सीता का। माया त्रिगुणात्मिका है, वह स्वत जड है और राम के आश्रय से ही क्रियाशील होती है। यह माया जो राम के अधीन है, एक और रूप भी रखती है। वह रूप है अविद्या का, जो समस्त दुखो की जड है। ईश्वर मायाधीश है और जीव माया के वशवर्ती है। इसी माया के कारण जीव ससार-चक्र में पड़ जाता है। इस ससार-चक्र से मुक्ति कर्म-मार्ग द्वारा नही हो सकती ससार-मुक्ति के लिए भक्ति ही अमोघ साधन है। भक्ति से जो विमुख रहते है, उनके लिए मुक्ति अत्यत दुर्लभ है।[१]

रामचरितमानस के उक्त कर्मविरोधी स्वर में जीवन-सभोग के लिए कोई स्थान नही है। इसी भावना के कारण इस महाकाव्य के पात्रों में कर्मठ जीवन की उपेक्षा या तिरस्कार दिखाई देता है। मानस के लक्ष्मण नवपरिणीता वधू को छोड़कर चल देते हैं और भरत राम के पास से अयोध्या लौटकर तपस्वियों का-सा जीवन व्यतीत करते है। डा० देवराज की दृष्टि में यह मनोभाव सन्यासवाद के प्रचार का परिणाम कहा जा सकता है।[२] किन्तु यह आत्म-सयम जो तप के रूप में हैं, लोक-सेवा का विरोधी नहीं है। इसमें श्रीराम द्वारा प्राणि-जगत् के रूप में भगवान् की सेवा का सन्देश अनन्य भक्त के लक्षण के रूप में बडी सुन्दरता से दिया गया है,[३] जो जीवन्मुक्ति का आदर्श है।

कृष्ण-काव्य में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति-दर्शन का समन्वय मिलता है। कृष्ण-काव्य की परपरा हिन्दी में पुराणों में प्रतिपादित वैष्णव-धर्म से होकर आई है। पुराणों में जिस वैष्णव-धर्म का उल्लेख मिलता है, उस पर भी एक ओर तो वज्रयान-सहजयान की गुह्य तांत्रिक क्रियाओं की प्रवृत्तिमूलक वृत्ति का प्रभाव है और दूसरी ओर शकराचार्य के वेदान्तपरक वैराग्यवाद (निवृत्तिवाद) का।[४]

हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काव्य में सूरदास का प्रमुख स्थान है। ये वल्लभा-

१. देखिए रामचरित मानस ; उत्तरकांड।
२. डा० देवराज : भारतीय सस्कृति, पृष्ठ १६०।
३. सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥ (किष्किन्धाकाड, दोहा ३)
४. हिन्दी साहित्य : द्वितीय खंड (सपादक : धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ ३४६।)

चार्य के शिष्य और पुष्टिमार्ग के स्तम्भ माने जाते हैं। सूरदास शांकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस पक्ष के समर्थक थे, जिसके अनुसार भक्त और भगवान् की पृथक्ता सम्भव नहीं। उन्होंने श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन में पुष्टिमार्ग-सम्मत बाल-लीलाओं का वात्सल्य और सख्य-भाव-परक चित्रण किया है तथा किशोर लीलाओं का माधुर्य एवं कांता भावपरक चित्रण किया है। सूरदास की बाल-लीलाएँ उनकी मौलिक उद्भावना है, जब कि किशोर लीलाओं का स्वकीया भाव, परकीया भाव, निकुंज-केलि, नित्य विहार, सखी भाव, युगल उपासना आदि के भाव निम्बार्क, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास आदि के सम्प्रदायों से प्रभावित हैं।[1]

सूरदास का काव्य ऐसा ललित काव्य है, जिसकी प्रकृति इहलौकिक और लोक-सामान्य हो गई है। महाभारत के योद्धा कृष्ण में भी मानव-पक्ष उभरा है, परन्तु सूरदास के कृष्ण अपने आचरण में उनसे सर्वथा भिन्न हैं। व्रज में, जन्म लेते ही वे सामान्य शिशु का-सा आचरण करने लगते हैं और व्रजवासपर्यन्त ऐसी मनो-मोहक क्रीडाएँ करते हैं, जिनमें पूर्ण मानवीय स्वाभाविकता का विकास है।

मानवीय स्वाभाविकता के साथ-साथ श्रीकृष्ण में अद्भुत विलक्षणता भी है। सबसे अधिक अद्भुत तो यही है कि वे ब्रह्म हैं और ऐसा आचरण करते हैं कि किसी को उनके ब्रह्मत्व का ध्यान ही नहीं रहता। यशोदा, नंद और व्रज के वयस्क नर-नारी उन्हें निरन्तर अपने पुत्र और भोले बालक के रूप में ही ग्रहण करना चाहते हैं, गोप-सखा उन्हें सदैव सुहृद् के रूप में अपनाए रहना चाहते हैं तथा किशोरी और युवती गोपियाँ उन्हें अपने रति-नायक से भिन्न रूप में कभी देख ही नहीं सकतीं। फलतः कवि उन्हें यथाभावानुसार पूर्ण रूप में शिशु, बालक किशोर, सखा अथवा प्रगल्भ प्रेमी के रूप में उपस्थित करके मानवीय स्वाभाविकता का अन्त कर देता है। आगे चलकर उनके सफल नायकत्व की विलक्षणता तथा, भक्ति के आध्यात्मिक अर्थ में, उनके वास्तविक व्यक्तित्व की अलौकिकता व्यंजित होती है, और उनमें गीता के कृष्ण की अनासक्ति का व्यवहार-दर्शन होता है।[2]

राम-काव्य की भाँति कृष्ण-काव्य भी लोक संग्रह की भावना से शून्य नहीं है। सूरदास ने अपने विनय के पदों में सामाजिक जीवन की उद्देश्यहीनता और इन्द्रियपरवता की कटु आलोचना कर समाज के कल्याणकारी तत्त्वों का समावेश किया है। भ्रमरगीत प्रसंग में भी उन्होंने अलखवादी, निर्गुणिया सन्तों, पाण्डित्या-भिमानी अद्वैत वेदान्तियों हठयोगियों आदि की खिल्ली उड़ाकर बाह्याचारों को व्यर्थ सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने चारों ओर के समाज पर

१. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड (संपादक . धीरेन्द्र वर्मा) पृष्ठ ३५५।
२. वही पृष्ठ ३६९-३७०।

सञग दृष्टि रखी है और सुधार एवं उन्नयन की प्रेरणा से अनेक दीनावस्थाओं के चित्र खींचे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-आन्दोलन से प्रेरित भक्ति-काव्य में प्रवृत्ति पोषक के रूप में लोक संग्रह का भाव तो मिलता है परन्तु सर्वत्र एक प्रकार से कर्मठ जीवन के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार का भाव दिखाई देता है, कृष्ण और राम दोनों से सम्बन्धित काव्य में भगवान् पर निर्भरता का उपदेश ही अधिक है। वस्तुत भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दू जाति को इस प्रकार की प्रेरणा नहीं दी, जिससे वह फिर स्वाधीन एवं शक्तिशालिनी बनकर उस ऊँचे ऐतिहासिक पद को प्राप्त कर सके, जिस पर सर्वपर्वकालीन भारतीय प्रतिष्ठित हो चुके थे। इस काल के साहित्य में इन बौद्धिक एवं कर्मठ प्रवृत्तियों को उचित प्रोत्साहन नहीं दिया गया, जो किसी जाति को ऐतिहासिक महत्त्व के पथ पर अग्रसर करती है।[1]

रीति-काल में वीर राजाओं के गुणगान अथवा भक्ति सबधी उद्‌गारों की पद्धति को पुरानी पद्धति मानकर शुद्ध काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर काव्य रचना की पद्धति प्रशस्त की गई। रीति-काल में मुख्यतया ऐसे ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें काव्य सिद्धान्तों के निरूपण के लिए लक्षण देकर उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं। ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें काव्य-सिद्धान्तों के लक्षण और उदाहरण न प्रस्तुत करके लक्षण को दृष्टि में रखकर केवल उदाहरण लिखे गए हैं। ऐसे ग्रन्थ रीति-काव्य कहे जाते हैं।

रीति-काव्य में एक ऐहिकतामूलक दृष्टिकोण का विकास दिखाई देता है, जिसका पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में पूर्णतया अभाव है। मुगल बादशाहों के विभव-विलास का व्यापक रूप से प्रभाव उस युग की कला और साहित्य पर पड़ा, जिसके कारण रीति-काल में सर्वत्र शृंगारिकता की प्रवृत्ति प्रचुरता के साथ परिलक्षित होती है। शृंगारिकता की यह भावना भक्ति-काव्य की प्रेम-भावना पर आधारित है। सन्त कवि प्रेम को जीवन सार माननेवाले थे, सूफी कवि प्रेम-पीर के साधक थे, कृष्ण भक्ति और राम भक्ति भी क्रमश व्यापक प्रेम और जीवन की सरसता पर आधारित हैं। रीतिकाव्य ने प्रेम या रति-भाव को प्रधान मानकर शृंगार की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा की।

रीतियुगीन काव्य में नर-नारी के सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा मिलती है। जीवन और यौवन का जैसा वास्तविक यथार्थ और नग्न चित्रण इस युग के काव्य में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। इस काव्य में नख-शिख-सौन्दर्य चित्रण, षड्‌ऋतु-वर्णन, हाव-भाव, विलास का ही विस्तृत वर्णन मिलता है। रीति कवियों ने वैभव और विलास के चित्रण में कलम तोड़ दी है।

१. डा० देवराज . भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १६०-१६१।

रीतिकालीन कवियों ने निस्सदेह भौतिक जीवन के केवल एक पक्ष—वैभव और विलास—पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर दिया था, उनकी दृष्टि भौतिक जीवन के अन्तर्गत अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। भौतिक जीवन के आर-पार देखने की दृष्टि उन्हें प्राप्त न थी। यही कारण है कि डा० नगेन्द्र को रीतिकाव्य न तो आध्यात्मिक प्रतीत होता है (इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता), न ही उसमें भौतिक जीवन की व्यवस्था दिखाई देती है। उसमें न तो आत्मा की अतुल जिज्ञासा है, न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है, जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रांत होकर मानव नारी की मधुर अचल-छाया में बैठकर अपने दुखों और पराभवों को भूल जाता है।[1]

रीतिकालीन हिन्दी कविता में भूषण, लालकवि, आदि की वीर रस की रचनाओं में सांस्कृतिक आधार वाले एक हिन्दू-राष्ट्र की भावना का स्पन्दन तो है, किन्तु उसमें प्रकृत राष्ट्रीय-भावना का विकास नहीं हो पाया है। वह तो *अंग्रेजी राज्य में परतन्त्रता-बोध के साथ भारतेन्दु-काल में प्रत्यक्ष हुआ।*

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में जीवन के मार्ग पर हलचल और जीवन की धड़कनों से युक्त जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा से युक्त भारतेन्दु-कालीन युग ही वस्तुतः सही अर्थ में जीवन की जय का अभियान लेकर उपस्थित हुआ, उसका पूर्ववर्ती रीति-काव्य साहित्य का एक 'ठहराव' है। जीवन के मार्ग पर धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है, किन्तु कुछ क्षणों का 'ठहराव' यदि जीवन की एक मधुर आवश्यकता मानी जा सकती है, तो रीति-काव्य इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति करता है।

●

1. डा० नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १६४।

अध्याय २

प्रवृत्ति-दर्शन को प्रभावित करने वाले उपकरण

कर्म का स्वरूप और उसकी प्रधानता

'कर्म' को भारतीय दर्शन का प्रारंभिक आवश्यक अग माना गया है। प्राय सभी भारतीय दार्शनिकों ने इस विषय पर गहन चिंतन किया है। एक ओर 'कर्म-सिद्धान्त' के आधार पर जीव के वर्तमान रूप और उसकी वर्तमान दशा का कारण उसके पूर्वजन्मकृत कर्मों मे खोजने की चेष्टा कर मानव-योनि में अतीत के साथ सम्बन्ध को 'कर्म' शब्द से व्यक्त किया गया है, दूसरी ओर सन्यास मार्ग या निवृत्ति मार्ग को अस्वीकार कर अथवा तुच्छ ठहराकर कर्म मार्ग या प्रवृत्ति मार्ग की उपादेयता पर बल दिया गया है एव इस पृथ्वी पर ही जीवन में अधिक-से-अधिक सुख और ऐश्वर्य की कामना कर 'कर्म-दर्शन' को भारतीय दर्शन के आवश्यक अग के रूप में स्वीकार किया गया है।

कर्म-सिद्धान्त मनुष्य के कर्मों के किसी समय भविष्य में घटित होनेवाले परिणाम की चर्चा करता है। मनुष्य नामक प्राणी सर्वव्यापी प्रकृति का एक आत्म-चेतन सक्षम उत्पादक अश है, जो स्वय में अद्वितीय एवं अपूर्व है। इसका इतिहास, जो अतीत काल में एक अनिश्चित विस्तार में फैला हुआ है, उसे ससार की भौतिक और प्राणमय परिस्थितियों में बाँधता है। मानव-जीवन एक समवेत समष्टि है, जिसमें उत्तरोत्तर आनेवाली हर एक कला अतीत कला में से विकसित होकर उद्भूत होती है। मानव की वृद्धि सुव्यवस्थित क्रमबद्ध रीति से होती है और उसकी इस नियत सुव्यवस्था को अभिव्यक्त करने के लिए ही हिन्दू-दर्शन में कहा जाता है कि यह कर्म-सिद्धान्त के नियम से शासित होती है।[१]

यद्यपि 'कर्मवाद' या कर्मगति जैसे शब्दों का स्पष्ट प्रयोग वैदिक साहित्य में नही मिलता, परन्तु यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि कर्म-सिद्धान्त वैदिक-काल में ही स्वीकार कर लिया गया था, जिसका उत्तरोत्तर विकास कालान्तर में होता गया। वैदिक-काल में कर्म से तात्पर्य याज्ञिक अनुष्ठान और उससे सम्बद्ध क्रियाओं

---

१. राधाकृष्णन् जीवन के आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ २८६-२७८।

से था, जिनके साथ कुछ ऐसे कर्त्तव्य और आचार भी सम्मिलित थे जिन्हें परम्परा के कारण पवित्र मान लिया गया था। उस काल में ऋत की भावना मिलती है जो प्राकृतिक नियमों तथा नैतिकता की द्योतक है, जिसके अनुकूल या प्रतिकूल आचरण का फल ऋत तथा सत्य के पालक वरुण, अग्नि आदि देव देते हैं।[1] कर्मवाद ऋत का ही विकसित रूप माना जा सकता है। वैदिक कर्मवाद (यज्ञ) स्वर्ग-प्रद समझा जाता था। जैसा सोम-सूक्त मन्त्रों से प्रकट होता है स्वर्ग प्रकाशपूर्ण अमरलोक है, जहाँ आनन्द-मोद-मय अनन्त जीवन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते हैं। (पहला माता के गर्भ से, दूसरा दीक्षा में, अर्थात् धार्मिक शिक्षा से, तीसरा मृत्यु के पश्चात्—स्वर्ग में या नर्क में)।[2] वैदिक आर्य देवयान तथा पितृयान से परिचित थे, किन्तु उपनिषद्-युग के समान विकसित रूप में नहीं।[3]

उपनिषदों में भी कर्म-सिद्धान्त पर विस्तृत चर्चा है। उपनिषदों में इस बात की अधिक चर्चा है कि पुण्य कर्मों से अच्छी योनि में तथा पाप कर्मों से कुत्सित योनि में जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है।[4] जीव चाहे जिस योनि में हो, उसके कर्म ही उसके भावी जन्म के निर्धारक होते हैं।[5] उपनिषदों ने नई बात यह पैदा की कि पुनर्जन्म की धारणा को स्पष्ट कर दिया और जन्म-मृत्यु के पूरे चक्र को काल्पनिक परलोक से हटाकर इसी लोक में कर दिया। इस विश्वास के अनुसार आत्मा मृत्यु के बाद किसी दूसरे शरीर में चली जाती है, जिसका स्वरूप उसके पिछले कर्मों से निर्धारित होता है। पुनर्जन्म का एक सिद्धान्त यह बतलाता है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा तुरन्त दूसरे शरीर में चली जाती है।[6] दूसरा सिद्धान्त यह बताता है कि कर्म का फल दो बार मिलता है, एक बार मृत्यु के बाद परलोक में और फिर दूसरी बार जन्म धारण करने पर इहलोक में।[7] उपनिषदों के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों को सुधार कर ही अपना अगला जन्म सुधार सकता है और अगले जन्म में भी अच्छा कर्म करके उससे अगले जन्म को सुधार सकता है, इस प्रकार जन्म-जन्मांतर तक अच्छे कर्म करते-करते वह मोक्ष का अधिकारी हो सकेगा और उसे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति मिल जाएगी।

---

१ देखिए पृ० २६-२७।
२ देखिए ऋग्वेद ४।२७।१
३ ऋग्वेद १०।८८।१५
४ बृहदारण्यक उपनिषद ३।२।१३, ४।४।५
५ कठोपनिषद् २।२।७
६ बृहदारण्यक उ० ४।४।३
७. कौषीतकी उपनिषद् १।२

जैन-दर्शन के अनुसार कर्म अनादि काल से जीव के साथ रहता है, वास्तव में कर्म ही के कारण जीव को बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। जीव और कर्म का सम्पर्क ही एक प्रकार से अविद्या है। जीव कर्म करता है और उस कर्म के फल को भोगना उसके लिए आवश्यक होता है। बिना भोग किये कर्म के बन्धन से जीव को छुटकारा नहीं मिल सकता। इन बातों से स्पष्ट है कि कर्म ही बन्धन का मुख्य कारण है।[1]

बौद्ध-दर्शन में भी कर्म-सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना है। उपनिषदों की भाँति बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म में भी विश्वास करता है, परन्तु यह दर्शन आत्मा का निषेध करता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार कर्ता के बिना कर्म हो सकता है और आत्मा के बिना पुनर्जन्म हो सकता है। बुद्ध ने कर्म-सिद्धान्त में से अलौकिक और भौतिकवाद के तत्त्व निकालकर इस सिद्धान्त को एक बड़ी सीमा तक तर्कसंगत बनाने का प्रयास किया है। परम्परागत हिन्दू मत के अनुसार व्यक्ति के कर्मों का फल देना ईश्वर या किसी अन्य लोकोत्तर शक्ति के हाथ में है, जैन-धर्म में कर्म को सूक्ष्म भूतद्रव्य (पुद्गल) माना गया, जो आत्मा से चिपककर उसे उसकी स्वाभाविक ऊँचाई से नीचे की ओर खींचता है। बुद्ध ने इन दोनों मतों को अस्वीकार किया और कर्म को नैतिकता के क्षेत्र में अपनी ही प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने वाला एक अपौरुषेय नियम माना। बौद्ध-दर्शन केवल इस जीवन के समाप्त होने पर ही पुनर्जन्म नहीं मानता वरन् प्रतिक्षण पुनर्जन्म का होना मानता है। एक दीपक से दूसरे दीपक के जलाये जाने पर ही प्रकाश और ताप का संचरण नहीं होता, वरन् प्रतिक्षण इनका संचरण होता है, इसी प्रकार एक व्यक्ति से संबंधित कर्म जैसे जीवन काल में वैसे ही मृत्यु-काल में भी अपने को संचारित कर सकता है और यद्यपि मृत व्यक्ति पुनः जीवित नहीं होता, फिर भी उसके स्थान पर उसी के संस्कारवाला दूसरा व्यक्ति जन्म ले लेता है। इस प्रकार जो कर्म किया जाता है, उसका परिणाम लुप्त नहीं होता और कर्म की क्रिया सतत चलती रहती है। जब तक तृष्णा का क्षय नहीं हो जाता।[2]

बौद्ध-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त में कर्म का सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान और उससे सम्बद्ध क्रियाओं से उतना नहीं रहा, कर्म का मूल आधार नैतिक कार्य-कारणभाव (Moral Causation) में अधिक ठहराया गया। बुद्ध ने संकल्प की शुद्धता पर बल देकर कर्म का अर्थ इच्छाओं की कार्यरूप में परिणति बतलाया।[3] नागार्जुन

---

१. डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १२६।

२. देखिए M. Hirianna · Outlines of Indian Philosophy, पृ० १४३।

३. संयुक्त निकाय, पालिटेक्स्ट सोसायटी, जि० २, पृष्ठ ४६।

ने कर्म की परिभाषा करते हुए कहा है—चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्त परमर्षिणा।[१] वसुबन्धु ने भी अभिधर्म कोश में कर्म की परिभाषा 'चेतना चेतयित्वाकरण'[२] बतलाई है। बौद्ध धर्म के अनुसार चेतन मन की संगति के बिना किसी भी कर्म को पाप-कर्म नहीं माना जा सकता। बुद्ध का दृष्टिकोण जैन मत से एकदम भिन्न था, जैनों के अनुसार कर्म का स्वभाव भौतिक है और प्रत्येक कर्म कर्ता की इच्छा चाहे जैसी हो, जीव को बन्धन में बाँधता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दर्शनों ने कर्म-सिद्धान्त को अपने-अपने ढंग पर स्वीकार किया है और एक स्थान पर लगभग सभी दर्शन एकमत हैं, वह यह कि कर्म ही सासारिक बन्धन का मुख्य कारण है, अत' वह स्वरूप त्याज्य है। कर्म-त्याग के लिए और सासारिक बन्धन से मुक्ति के लिए लगभग सभी दर्शनों ने आत्मज्ञान का मार्ग अपनाया है। इस प्रकार कर्म को प्राय आत्मज्ञान का विरोधी ही समझा गया। आत्मज्ञान की प्रेरणा मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाती है, किन्तु क्रिया प्रवृत्त्या ही विषय अथवा पदार्थ से सम्बन्ध रखती है जो अनिवार्यत बाह्य है, अतः प्रकृति अथवा भूतत्व की उपेक्षा कर आत्मोन्मुखी होने की प्रवृत्ति क्रमश· बढती गई।[३] आत्मज्ञान के आग्रह से मनुष्य के मानवीय मूल्यों की उपेक्षा होने लगी, जिसके परिणामस्वरूप अधिकाश दर्शनों का रुख कर्म से हटकर आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करनेवाले सन्यास मार्ग की ओर क्रमश बढने लगा। कुछ इने-गिने पहुँचे हुए बौद्ध भिक्षुओ के अतिरिक्त अधिकाश में कर्म की ओर उपेक्षा तथा सन्यास के प्रति स्वाभाविक आग्रह तीव्र हो गया था, गीता के मूलत· कर्म-मूलक होने के बावजूद कालान्तर में उसकी सन्यासमूलक व्याख्या की गई एव वेदान्त के भी अधिकाश सप्रदायों ने विभिन्न प्रकार से सन्यास-मार्ग का समर्थन किया।

कर्म के प्रति तिरस्कार और कर्म की विद्यमानता के प्रति खेद की भावना ने भारतीय जीवन को निवृत्ति-मार्गी बना डालने में कोई कसर न रखी, परन्तु दूसरी ओर जातीय समृद्धि और ऐश्वर्य की प्राप्ति एव रक्षा के लिए भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति मार्ग का प्रारम्भ से आग्रह दृष्टिगत होता है और भारतीय दर्शन का प्रमुख अंग उसका कर्म-दर्शन दिखाई देता है। वैदिक काल के आदिम आर्य, जिन्होंने हमारी सस्कृति का निर्माण किया था, कर्म-मार्ग के समर्थक थे। वे अत्यन्त कर्मण्य व्यक्ति थे एव मनुष्य को अपने भाग्य का स्वत निर्माता मानते थे। वे जीवन की पूर्णता, सुख-समृद्धि, भरापूरापन तथा विशदता की भावना से अनुप्राणित होकर जीवन

---

१. माध्यमिक शास्त्र—१७।२।३।
२. अभिधर्म कोश ४।१।
३. प्रो. पी. टी. राजू भारत का कर्मवादी दर्शन : पृष्ठ ५० (दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई ५५)।

को पूर्णतया कर्ममय बना सके थे। उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था, उन्होंने काल्पनिक तथा मिथ्याधारणाओं के जीवन में कभी विश्वास नहीं किया था। (कर्म के बिना सामान्य व्यक्ति यथार्थ और काल्पनिकता में अन्तर नहीं कर सकता था)।

उपनिषदों में भी कर्म दर्शन की उपेक्षा नहीं मिलती, यद्यपि आत्म-चिन्तन के लिए अत्यधिक आग्रह दिखाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद के प्रथम अध्याय के अन्त में लिखा है कि प्रत्येक वस्तु नाम रूप और कर्म है।[1] यहाँ नाम से तात्पर्य है वस्तु के लिए प्रयुक्त शब्द या उसकी संज्ञा और रूप से तात्पर्य है वस्तु की विशिष्ट आकृति या प्रकृति। वस्तुतः नाम और रूप के अनुभव में पूर्णता लाने के लिए कर्म को आवश्यक माना गया। कर्म नाम और रूप के द्वारा प्राप्त ज्ञान को ठोस बनाता है, अन्यथा नाम और रूप मिथ्या और काल्पनिक भी हो सकते हैं, कर्म ही हमें कल्पना के मिथ्या संसार से निकाल कर यथार्थ जगत् में लाता है, इस प्रकार कर्म ज्ञान मार्ग में रुकावट डालने वाला नहीं, वरन् ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक तत्त्व सिद्ध होता है।[2]

गीता में भी कर्म को त्याज्य नहीं माना गया है। यदि मनुष्य कर्म का त्याग करना चाहे तो भी नहीं कर सकता, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निस्सन्देह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।[3] इस प्रकार गीता में कर्म को सृष्टि का अंग माना गया है और इस ग्रंथ में दार्शनिक विचार को कर्म-दर्शन की संज्ञा दी गई है। गीता में जिस कर्म का उपदेश दिया गया है, वह निष्काम कर्म है। जो कामना और अहंभाव का परित्याग कर कर्म करता है, उसे ही शान्ति मिलती है,[4] अतएव जो कर्म किया जाय, उसके फल के लिए कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए और वह कर्म केवल कर्त्तव्य बुद्धि ही से करना चाहिए।[5] वस्तुतः गीता के उपदेशों के अनुसार मन के संशय एवं विषण्णता को दूर करने के लिए वन के एकान्त का आश्रय लेना आवश्यक नहीं है, वरन् सामाजिक जीवन की हलचलों और संघर्षों

---

१ सय वा इदं नाम रूपं कर्म। बृहदारण्यक उपनिषद् १।६।१॥

२ प्रो० पी० टी० राजू भारत का कर्मवादी दर्शन, पृ० ५२ (दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १६५६)।

३ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ गीता।१८।५॥

४ विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥२।७१॥

५ दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥१८।८॥

के बीच रहते हुए निःस्पृह होकर कर्त्तव्य-कर्म करते जाना है। इस ग्रन्थ के उपदेशों के अनुसार जीवन और उसके कर्मों से भागना एक प्रकार की कायरता है, जो समाज की दृष्टि में अक्षम्य अपराध है। गीता का कर्म-सदेश प्रवृत्ति का सदेश है, जिसके अनुसार स्वार्थ-भावना का परित्याग कर समाज के अन्दर रहते हुए सब प्रकार के सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना है, जो हमारी सामाजिक स्थिति के साथ जुड़े हुए हैं।

वस्तुत भारत की प्राचीन सस्कृति मूलत प्रवृत्तिमार्गी, एव जीवन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने वाली थी। जीवन की आधारशिला ही ऐसी थी कि कर्म से विमुख होने का किसी के लिए प्रश्न ही नही उठता था। प्राचीन भारतीय सस्कृति मुख्य रूप से चार मानवीय पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) पर आधारित थी। सामाजिक सस्थाएँ मनुष्यो का इन पुरुषार्थों की दिशा में मार्ग-निर्देश करती थी। अत्यन्त विरले व्यक्तियो को छोड़कर शेष सबके लिए मोक्ष से पहले तीन सासारिक पुरुषार्थों की प्राप्ति आवश्यक थी। पितृ-ऋण, समाज ऋण और देव-ऋण की उपेक्षा नही की जा सकती थी, पृथ्वी को उसका उचित और भाग सापेक्ष जीवन को उसकी क्रीडा का अवसर देना कर्त्तव्य था।

इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय सुव्यवस्थित जीवनधारा में जीवन और जीवन-कर्म की उपेक्षा नही की जा सकती थी।

आध्यात्मिक मुक्ति की चेष्टा प्राचीन ऋषियो मुनियो ने की, उसमें तथाकथित सफलता भी पाई, परन्तु भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत देश में नीति, विधि विधान, राजनीति, समाज, विभिन्न विज्ञान, कला कौशल शिल्प-विद्या, मानव जीवन से सबध रखन वाली सभी वस्तुओं पर न केवल गहराई और छानबीन के साथ विचार किया गया, वरन् अधिकार के साथ ओजस्वी भाषा में इनका निरूपण भी किया गया। सत्य यह है कि भारतीय सस्कृति और दर्शन की यह विशेषता रही कि इसने भोग और त्याग, कर्म और सन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति में सदैव सतुलन बनाए रखा, यही कारण है कि देश के ऋषि-मुनियो तक ने सासारिक बन्धन से मुक्त होकर भी, ससार की भलाई के लिए कर्मयोगी बनकर लोकसग्रह के जीवन को स्वीकार किया।

बौद्धधर्म ने सर्वप्रथम उपर्युक्त सतुलन को भग कर सन्यास के आदर्श और भिक्षु प्रवृत्ति को अतिरजित रूप में प्रसारित किया। चार आश्रमो में से कुल दो ही-गृहस्थ और सन्यास को जीवित रहने दिया, उसमें भी सन्यास में प्रविष्ट होने के लिए गृहस्थ धर्म पालन की शर्त आवश्यक नही रहने दी गई। बौद्ध धर्म के सन्यास के प्रति अत्यधिक आग्रह ने भारतीय जीवन के पूर्वकालीन प्राचीन सन्यास के आदर्श को, जो शाश्वत सत्ता की ओर उठा हुआ जीवन का भव्य शिखर था, आगे

चलकर इतना भारी-भरकम गुंबद बना दिया, जिसने अपनी एकाकी एवं प्रभावशाली महानता के बोझ के नीचे शेष सारी अट्टालिका को चकनाचूर करना प्रारंभ कर दिया,[1] परन्तु यह मनोवृत्ति समाज के अनुकूल नहीं सिद्ध हो सकी एवं इसे अधिक प्रश्रय न मिल सका, परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में महान परिवर्तन आया। आगे चलकर बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी विमुक्ति को उस समय तक दूर रखना अधिक पसन्द किया, जब तक सब प्राणी अपनी विमुक्ति न प्राप्त कर लें, इस प्रकार आत्म-विमुक्ति-रत निवृत्ति के स्थान पर दूसरों की सहायता और सेवा पर आश्रित प्रवृत्ति का आदर्श सामने आया और इसे समाज से अधिक प्रश्रय एवं संरक्षण मिला। अन्ततोगत्वा बौद्ध-मत में संतुलन-विनाशी संन्यास के प्रतिक्रिया स्वरूप पंच-मकार-युक्त साधनाएँ गृहीत हुईं, जिसके फल-स्वरूप उसका स्वरूप ही इस देश में लुप्तप्राय हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय संस्कृति, विशेषतः उसके दर्शन एवं धर्म के पुनर्जागरण का काल माना जाता है। आधुनिक विचारकों ने शास्त्रीय एवं व्यावहारिक रूप में प्राचीन भारतीय दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। अतीत के दार्शनिक एवं धार्मिक बोध की पृष्ठभूमि में भारत-योरप के सांस्कृतिक संपर्क ने प्राचीन दर्शनों की नवीन व्याख्या करने में अत्यधिक सहायता प्रदान की। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, तिलक एवं गांधी जैसे तत्त्वचिन्तकों ने अतीत के बोध को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में संशोधित करके इसे अपने उपयुक्त बना कर हमारे प्रस्तुत किया।

मध्ययुग के विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे देशवासियों में राष्ट्रीय जागरण का मन्त्र फूंक सकते, उनमें इतनी हलचल नहीं थी कि देश को परतन्त्रता के दाह की अनुभूति हो सकती। वेदान्त को लोग संन्यास का मंत्र मानते आये थे। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द के मुख से वही वेदान्त घोर कर्मनिष्ठा का समर्थक बनकर उतरा एवं हिन्दुत्व का सारा दर्शन उनकी वाणी में प्रवृत्तिवादी हो उठा। स्वामी विवेकानन्द ने जिस कर्म का संदेश दिया है, वह योरप के कर्म का पर्यायवाची नहीं है। भारतवासी की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह गीता द्वारा प्रणीत निष्काम कर्म को अपनाए।[2] युग-युगान्तर से चली आती हुई निर्जीव परम्पराओं के विरुद्ध लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीतारहस्य' में अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति पर यह घोषित किया कि प्रवृत्ति-धर्म ही का ज्ञान गीता का प्रधान विषय है, अतएव मोक्षधर्म का रहस्य भी प्रवृत्ति विषयक अर्थात् कर्मविषयक ही

१. श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ८०।
२. विवेकानन्द साहित्य, नवम खंड, १९८।

होना चाहिए।[1] तिलक स्वय एक विशिष्ट कर्मयोगी थे, उन्होंने कर्मयोगी और ज्ञानी में अन्तर बताते हुए कहा है कि कर्मयोगी जबकि उद्यम करता है, ज्ञानी मात्र इच्छा करता है। उन्होंने निरन्तर सुनियोजित निष्काम कर्म को ही हमारा मार्गदर्शक सिद्धान्त घोषित किया।[2] महात्मा गाँधी ने भी ससार की असारता की धारणा को असत्य बताते हुए कर्तव्य-पालन के साथ निष्काम-कर्म पर जोर दिया एव जन-समाज में 'त्येन त्यक्तेन भुजीथा' वाला पुराना औपनिषदिक आदर्श दुहराया।[3] मार्क्स ने उस भाव समाधि के विरोध म, जिसमें रहस्यवाद की अन्तिम परिणति बतलाई जाती है, कर्म का समर्थन किया है। अपने आपको सार-जगत के चिन्तन में लीन करने के बजाय हमें सुनिश्चित और ऐतिहासिक अस्तित्वों के जगत में कर्म करने में जुट जाना चाहिए। फ्यूअर बाख पर अपने आठवें प्रबन्ध में मार्क्स कहता ह कि इन सार रहस्यों को, जो रहस्यवाद के सिद्धान्त को चलाते हैं, बुद्धिसगत समाधान मानवीय कर्म और उस कर्म का समझने में ही है।[4]

इसमें कोई सन्देह नही कि आधुनिक भारतीय दर्शन शत प्रतिशत कर्मवादी दर्शन है। ससार के प्रति और सासारिक कर्मों के प्रति उपेक्षा का भाव आज के युग के सामान्य जनो के बीच भी उपेक्षणीय हो रहा है। लोग आज इस पृथ्वी पर ही जीवन में अधिक से अधिक सुख और ऐश्वर्य की कामना करते हैं, इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाना चाहते हैं एव लोक-कल्याण में सफलता को मोक्ष का पर्यायवाची समझते हैं। श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा राधाकृष्णन आदि दार्शनिकों ने भी ससार तथा इसके मूल्यों के सकारात्मक दृष्टिकोण की वकालत की है।

कर्मवाद के समर्थन के बिना कोई भी दर्शन पूर्णता नही प्राप्त कर सकता, कर्मवाद प्रवृत्ति दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण एव अनिवार्य तत्त्व है। आदर्श प्रवृत्तिमुखी जीवन की अनिवार्य स्थिति उसका कर्म ही है, जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक विशालता एव उदारता की दिशा में अग्रसर होता जाता है। कर्म के अभाव में जीवन का काल्पनिक एव मिथ्या अस्तित्व भले ही हो, परन्तु उसकी वास्तविकता में परिणति हो ही नही सकती। सीमा पर शत्रु के आ जाने पर मौर्य वश के अन्तिम सम्राट् ने कहा कि धर्म अपने आप ही खड्ग को जीत लेगा और कर्म नही किया, और कर्म के अभाव में उस वश का अन्त हो गया। कर्म के अभाव में किसी भी देश अथवा जाति को उसके विघटन से रोका नही जा सकता है। आज के मानवतावादी-

१ गीता रहस्य, पृष्ठ २४।

२ Shri Ramgopal Lokmanya Tilak, P 390

३ देखिए पृ० १०।

४ राधाकृष्णन् धर्म और समाज, पृष्ठ ८१।

दर्शन को सबसे अधिक आवश्यकता कर्म-दर्शन की है, क्योंकि कर्म के ही सहारे वह दर्शन जीवित रह सकता है।

प्रवृत्ति और मोक्ष की कामना

प्राचीन तथा मध्ययुग के भारतीय दर्शन में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। इस मोक्ष की धारणा के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में दो प्रकार के मत मिलते है, पहला मत प्राचीन क्लासिकी युग के दर्शनो से सम्बन्धित है और दूसरा उत्तरकाल के भक्तिवादी दर्शनो से सम्बन्धित है। भक्तिवादी दर्शनो का मन्तव्य यह कि आत्मा का चरम कल्याण भगवान के अनुग्रह और भगवत् प्राप्ति मे है। मुक्ति का अर्थ भगवान का निरन्तर सम्पर्क-सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य है अथवा भगवान का सारूप्य, जिसका तात्पर्य है भगवान के समान बनकर उनके भीतर स्थिति अथवा भगवान के नित्य ज्ञान एव आनन्दमय रूप का उपभोग। इस प्रकार की मुक्ति को पाने का उपाय है भगवान के और अपने, अर्थात् आत्मा के स्वरूप एवं सम्बन्ध को ठीक-ठीक जानना।[१] भक्तों की यह चतुर्विध मुक्ति भक्ति के फलस्वरूप मृत्यु के बाद वैकुठ, गोलोक, शिवलोक आदि में प्राप्य है।

प्राचीन क्लासिकी युग के दर्शनों में आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार की विचार-पद्धतियाँ मिलती है। इन सभी के अनुसार पूर्णतया या चरम-कृतकृत्यता स्थिति स्वय हमारी आत्मा में निहित रहती है। अज्ञानवश हम उसके अनुभव से दूर रहते हैं। अज्ञान (अविद्या) के दूर होते ही हमारा निजी मुक्त रूप प्रकट हो जाता है। अपने निजी रूप का आविर्भाव या प्रकट होना ही मुक्ति है।[२]

जीवन के लक्ष्य, मोक्ष को मृत्यु के बाद प्राप्त करने का, अर्थात् विदेह-मुक्ति का आदर्श उपनिषदों में भी मान्य था। बृहदारण्यक उपनिषद में एक स्थान पर कहा गया है यह सब ब्रह्म है। मैं वह हो जाऊँ जब यहाँ से विदा होऊँ।[३] इस दृष्टि से यह प्रकट होता है कि मोक्ष (मृत्यु के बाद को) शाश्वत आनन्द की अवस्था है, क्योंकि यह द्वैत से उपर है और द्वैत सारे क्लेशो का मूल है।[४] मोक्ष के सम्बन्ध में अन्य आदर्श यह है कि मोक्ष मृत्यु के बाद नही वरन् इस जीवन और इस लोक में ही हो सकता है, इसे जीवन्मुक्ति की अवस्था कहा गया है। इस आदर्श के अनुसार मोक्ष इस ऐहिक जीवन का निषेध नहीं कर सकता, वरन् इस वर्तमान ऐहिक जीवन को

---

१. डा० देवराज : मोक्षवाद बनाम ऐतिहासिक निष्ठा (दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९६४,पृ० १७४।
२. वही, पृष्ठ १७१।
३. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।४।
४. बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।२।

पूर्णतया प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है। इसके अनुसार मोक्ष का मतलब कुछ हो जाना नहीं है केवल उस चीज की खोज है जो सदा से विद्यमान थी और इसकी तुलना एक ऐसी निधि की खोज से की गई है जो किसी के मकान के फर्श के नीचे छिपी पड़ी थी, जिसे अब तक वह पा नहीं सका था, हालाँकि वह निरन्तर उसके ऊपर आता जाता रहता था।[१] जो व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है उसे विविधता दिखाई देती रहती है; किन्तु वह उनसे धोखा नहीं खाता, क्योंकि उसे सबकी एकता की अनुभूति हो गई रहती है।[२]

उपनिषदों में जीवनमुक्ति का बड़ा सुन्दर तथा स्पष्ट निरूपण हुआ है, कामनाओं से मुक्ति को ही मुक्ति बतलाया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है, 'जिस समय सभी कामनाएँ, जो हृदय को आश्रय करके अवस्थित हैं, छूट जाती है, उस समय मर्त्य प्राणी (जो आवागमन के चक्कर में पड़ा था) अमर हो जाता है (मृत्यु से छूट जाता है), यहीं (इस लोक में ही) ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है।''[३] बृहदारण्यक में और अधिक स्पष्टता से कहा गया है, "जो कामनाएँ नहीं करता, कामना-हीन है, अपने कार्यों की फलाकांक्षा नहीं करता, जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, जो आत्मज्ञानी (तत्वज्ञ) है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म में लीन हो जाता है।''[४]

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा अपने निजी रूप में अनन्त ज्ञान और सुख का आश्रय है, उसकी ये विशेषताएँ अविद्या तथा दूसरे दोषों से आवृत हो जाती हैं। विभिन्न आवरणों के हटते ही आत्मा का स्वच्छ आनन्द एवं ज्ञानमय रूप प्रकट हो जाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। बौद्ध दर्शनों के अनुसार विकल्प, वृत्तियों द्वारा उपस्थापित विभिन्न वस्तुओं की अज्ञान-मूलक चेतना ही राग, द्वेष आदि क्लेशों का मूल है, इस अविद्या-मूलक चेतना का तिरोभाव ही क्रमशः निर्वाण की ओर ले जाता है।

बौद्ध-दर्शन के आविर्भाव के पूर्व मोक्षार्थी के लिए सांसारिक कर्म उतने ही आवश्यक माने जाते थे, जितने कि अन्य जनों के लिए। वैदिक आर्य-संस्कृति की विशेषता ही थी आश्रम धर्म की व्यवस्था एवं तीन ऋणों का शोधन। मनु के अनुसार पहले दो आश्रमों में रहकर एवं तीनों ऋणों का शोधन कर लेने के पश्चात् ही

---

१. छान्दोग्य उ० ८।३।२।

२. देखिए M Hirianna Outlines of Indian Philosophy p 74-75

३ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। (कठोपनिषद २।३।१४)

४ अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृ० उ० ४।४।६)

मोक्ष की कामना करनी चाहिए। जो व्यक्ति इस क्रम के अनुसार जीवन-यापन नही करता, उसका अध पतन निश्चित है।[1]

मडन मिश्र के अनुसार, विहित कर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष का रास्ता सरल हो जाता है। रामानुजाचार्य ने भी कर्तव्य-कर्मों के अनुष्ठान को चित्त की शुद्धि के लिए आवश्यक माना है। गीता ने भी मोक्ष के मार्ग मे कर्म आदि को बाधक नही माना है, यज्ञ, दान आदि कर्म विद्वानों को पवित्र करनेवाले है, अत उनका कभी परित्याग नही करना चाहिए।[2] बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब आदि के धर्मसूत्रो ने भी वेद-विहित कर्मों पर जोर देकर सन्यास आश्रम को वेद-विरुद्ध माना है। बौधायन धर्मसूत्र मे कहा गया है कि प्रह्लाद नामक असुर के पुत्र कपिल ने देवताओ से स्पर्धा करते हुए सन्यास आश्रम की कल्पना की, विद्वानो को चाहिए कि वे इसका आदर न करें।[3] महाभारत में भी कपिल के सन्यास आश्रम की आलोचना की गई है।

भारतीय सस्कृति के क्षेत्र में उपनिषद्-काल से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो दर्शनो की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वैदिक दर्शन मूलत प्रवृत्ति-दर्शन का समर्थक है, जिसने गृहस्थाश्रम एव कर्म के जीवन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गीता मे प्रवृत्ति-निवृत्ति दर्शन का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है जिसमें मोक्ष-प्राप्ति से विमुखता नही बताई गई है, परन्तु सासारिक कर्मों से विरक्ति का भी संकेत नही है। गीता में वस्तुत कर्म-दर्शन का ही समर्थन मिलता है। परन्तु आगे चलकर उत्तरकाल के दार्शनिकों के हाथ में पडकर गीता का समन्वय मूलक आदर्श क्रमश विघटित हो गया एव मोक्ष का अर्थ ससार या उसके सयम का उपरम अर्थात् विशीर्ण होना माना गया।

उन्नीसवी सदी के पुनरुत्थान की नवजागृति के परिणामस्वरूप भारतीय मनीषियो का चिन्तन मुख्य रूप से प्रवृत्तिमुखी हो उठा, उन्होंने इस देश के निवासियो को ज्यादा कर्मठ और इहलोक-परायण बनाने के लिए अद्भुत क्रान्ति की। राजा राममोहन राय न शिक्षा के महत्त्व पर जोर देकर प्राचीन रूढियों का खडन किया, दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और तिलक ने अपने-अपने ढग से प्रवृत्ति-दर्शन का

१ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्,
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यध। (मनुस्मृति ६।३५-३७)

२ यज्ञ दान तप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। (गीता १८।५)

३ बौधायन धर्मसूत्र २।११।२६-३०।

प्रतिपादन कर कर्ममय जीवन का समर्थन किया। महात्मा गाधी ने निष्काम कर्मयोग का उदाहरण प्रस्तुत कर देश के प्राचीन समन्वयमूलक आदर्श को पुनरुज्जीवित किया।

उन्नीसवी सदी के पुनरुत्थान के फलस्वरूप मुक्ति का प्रधान और एकमात्र अर्थ जीवन्मुक्ति माना गया। मृत्यु के पश्चात् मोक्ष की कल्पना काल्पनिक हो सकती है, परन्तु इस जीवन में ही निष्कामता की दशा को प्राप्त कर, व्यक्तिगत हानि-लाभ से परे होकर विभिन्न जीवन-मूल्यों के विकासमान विस्तार एव उपभोग को निरन्तर अग्रसर कर सकने की स्थिति को प्राप्त कर लेना ही जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति जीवन की सार्थकता की धारणा है, यह धारणा उस मान्यता की विरोधिनी है जिसके अनुसार मोक्ष का अर्थ सब प्रकार के प्रयत्नो का अवसान और चित्तवृत्तियों का विनाश है। जीवन्मुक्त पुरुष अन्त समय तक अपने व्यवहार एव उदाहरण द्वारा निरन्तर शुभ्र शुचि प्रेरणा-लहरियो को चारो ओर के वातावरण में उपस्थित करता रहता है। साम्प्रदायिक द्वेष की ज्वाला को शान्त करने के प्रयत्न मे बने हुए गाँधी ऐसे अन्यतम पुरुष हैं, जिनकी चित्तवृत्ति अन्त तक जागृत व प्रबुद्ध रही, जो अन्त समय तक अपना अलौकिक प्रकाश विकीर्ण करते रहे, एव जिन्होने जीवनपर्यन्त मानव-जाति को आगे बढने की प्रेरणा एव कल्याणकारी सन्देश दिया। जीवन्मुक्ति का यह आदर्श सभी भारतीय धर्मो-सम्प्रदायो तथा दर्शनो में किसी न किसी रूप में मान्य रहा है। निवृत्ति का पोषण करने वाले तथागत बुद्ध तीर्थंकर महावीर तथा मायावादी शकराचार्य भी लोक-कल्याणार्थ धर्मोपदेश तथा धर्म-सगठन के कार्य में जीवन-पर्यन्त सलग्न रहे।

प्रवृत्ति और अध्यात्मवाद

भारतीय सस्कृति की प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्मिकता है। इस सस्कृति की प्रधान शक्ति, उसकी विचारधारा का सारतत्त्व, इसका प्रबल आवेग बस आध्यात्मिक अभीप्सा ही रही है। भारतीय सस्कृति ने आध्यात्मिकता को जीवन का उच्चतम उद्देश्य ही नही माना है, वरन् यथासभव इसने जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोडने का प्रयास भी किया है।[1]

कुछ आलोचको ने भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता की ओर झुकाव से तात्पर्य यह समझा है कि भारतवासियो की दृष्टि मे इस लोक या जीवन के नैतिक तथा दूसरे मूल्य उपेक्षणीय हैं। परन्तु वस्तुत आध्यात्मिकता और प्रवृत्ति-दर्शन का कही भी विरोध नही है, प्रवृत्तिमार्गी के लिए आध्यात्मिक जीवन अधिक आवश्यक हो जाता है। आध्यात्मिकता का अर्थ यही है कि विवेकी जन इस लोक के मूल्यों का उपभोग करते हुए भी उनमें ऐसी आसक्ति न महसूस करें कि उसके अभाव में

---

१. डॉ॰ देवराज भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २०५।

व्याकुल बन जाय। इस दृष्टि से आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन-मूल्यों के सर्जन व उपभोग के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं है, इसके विपरीत उसका अर्थ ऐसी अनासक्ति है, जो हमें चरम सन्तुलन एवं निराकुल प्रयत्नशीलता की क्षमता देती है।[1]

भारत के मनीषियों ने आध्यात्मिक मूल्यों की सर्वोच्चता पर बहुत अधिक बल दिया है, उन्होंने सभ्यता की सच्ची कसौटी आध्यात्मिक गौरव को ही माना है। अनेक ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव और उथल-पुथल के बावजूद भारत देश जीवित रहा है, उसका मुख्य कारण यही है कि भारत ने अपनी मूल आत्मा को सजीव बनाए रखा है। मनुष्य की आत्मा न तो उसका भौतिक शरीर है और ही उसकी बुद्धि। बुद्धि और मन की अपेक्षा अधिक गहरी वस्तु 'आत्मा' है, जो समस्त शिव, सत्य और सुन्दर के साथ एकाकार है। उसको अपना लक्ष्य बनाकर चलना और उसे एक सजीव विद्यमानता बनाना ही आध्यात्मिक जीवन का प्रयोजन है।

अन्तर्मुखीनता का आविष्कार ही आध्यात्मिक जीवन का आधार है। अपनी आत्मा की निधि को पहचानने से इनकार करना ही आध्यात्मिक जीवन से विमुखता है। आध्यात्मिक सत्य-निष्ठा की शर्त है—अपने प्रति ईमानदारी। हमें प्रकाश को अन्दर आने देना चाहिए, जिससे वह आत्मा के गुप्त स्थानों को आलोकित कर सके। हमारी कपटोक्तियाँ और प्रतिज्ञायें वे रुकावटें हैं, जो हमें सबसे दूर रखती हैं। हम उन वस्तुओं के साथ तो अधिक परिचित है, जो हमारे पास है और उनसे कम जो कि हम स्वयं हैं। हम अपने नग्न एकान्त में अपने ही सम्मुख अकेले खड़े होने से डरते हैं। हम अपने आपसे सत्य को औषधों और मादक द्रव्यों द्वारा, उत्तेजना या सेवा द्वारा छिपाने की कोशिश करते हैं। हमें अपने-आपको एकाग्र करने, आन्तरिक जीवन का विकास करने और अपने-आपको शरीर, मन और बुद्धि के बाह्य कोशों से वापस निकाल लेने के लिए प्रयत्न करना होता है। तब हम अपने अन्दर की आत्मा को देखते हैं और तब हमें आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है और तब हम सच्चे अर्थ में आध्यात्मिकता के मार्ग का अवलम्बन करते हैं।[2]

भारत के इतिहास में ऐसे मनीषियों की भी झलक मिलती है, जो निवृत्तिमार्गी बनकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हैं। इस संसार की सारी गतिविधि का परित्याग करके ज्ञान के ऊहापोह में भटकते रहते हैं। ऐसे ही मनीषियों के कारण भारत को निवृत्तिमार्गियों का देश कहा जाने लगा है। परन्तु सत्य यह है कि संसार की गतिविधियों से अलग रहकर, संसार के दुःखों के प्रति विरक्त रहकर न तो आध्यात्मिक जीवन ही व्यतीत किया जा सकता है और न वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। आध्यात्मिक मनुष्य इस संसार की वास्तविकताओं से मुँह नहीं मोड़

---

१. श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ १३१-१३२।
२. डॉ० राधाकृष्णन् : धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, पृष्ठ १२१।

लेता, अपितु इस ससार में अधिक अच्छी सामग्री और आध्यात्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के एकमात्र उद्देश्य से कार्य करता है।[१]

यदि हम आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित है, तभी हम अनासक्त भाव से लोक-सग्रह के मार्ग पर चल सकते है। आध्यात्मिक प्रभाव की विशेषता यही है कि वह मनुष्य को आन्तरिक दृष्टि से कठोर और तपस्वी एवं बाह्यतः नम्र तथा क्षमाशील बना देता है। केवल अध्यात्मनिष्ठ लोग ही दुखी आत्माओ का उद्धार कर सकते है और उन्हें रूपान्तरित कर सकते है।[२]

प्रवृत्ति और आनन्दवाद

आनन्दवाद प्रवृत्ति-दर्शन का एक अन्य आवश्यक तत्त्व है। दुखवाद जहाँ संसार को असार सिद्ध कर मनुष्य को निवृत्ति की ओर प्रेरित करता है, वहाँ आनन्द-वाद इस विश्व को कर्मस्थल मानकर ससार को असार नही, वरन् सारपूर्ण सिद्ध करता है और जीवन में सुरुचि उत्पन्न कर मानवता और सृष्टि-कल्याण का मार्ग दिखाकर मनुष्य को प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता है।

आनन्दवाद की भावना को भारतीय दार्शनिको ने आगमिक शैव-दर्शन से ग्रहण किया। वस्तुत. शैव-दर्शन निवृत्ति पर आश्रित दर्शनों से किंचित् भिन्न दर्शन है, इस दर्शन में जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है, वे प्रवृत्ति के पोषक है। शैव-दर्शन के अनुसार शिव अपने आप मे समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते है, यह जगत्, वास्तव में 'शिव' की शक्ति' का ही विस्तृत रूप है, जिसे परमशिव ने अपने में स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया।[३] यह जगत् सत्य है, अत इसका त्याग करके नही, वरन् उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकासरूप में अनुभव करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है।'[४]

शिव का दार्शनिक स्वरूप सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है। इस उपनिषद् मे शिव के जिस स्वरूप का वर्णन है, वह पुरुष-रूप मे परमसत्य और एक स्रष्टा के रूप मे है, जो अपनी माया (शक्ति अथवा प्रकृति) के द्वारा सृष्टि के कार्य सम्पन्न करते है। सृष्टि की अभिव्यक्ति मे यह माया ही सक्रिय कार्य करती है और पुरुष उसका प्रेक्षक रहता है।[५] जीवात्मा को भी अमर माना गया है और उसमें

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् धर्म तुलनात्मक दृष्टि मे, पृष्ठ १२३
२. वही, पृष्ठ १०२।
३. डॉ० उमेश मिश्र भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३८३।
४. वही, पृष्ठ ३८६।
५. अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा, बह्वी प्रजा सृजमानां सरूपा.।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जुहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
श्वेताश्वतर उ० ४।५

तथा परमात्मा में इस प्रकार भेद किया गया है कि जीव भोक्ता है और प्रकृति द्वारा नियमित है।[1] सृष्टि के रचयिता देव का ज्ञान प्राप्त कर जीव सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् में भोक्ता, भोग्य तथा भोग कराने वाले प्रेरक तीनों रूपों को तत्त्वत ब्रह्म ही कहा गया है।[3]

उपनिषत्-काल के उपर्युक्त सिद्धान्त का दो प्रकार से विकास हुआ, प्रथम है शुद्ध अद्वैतवाद जिस के सबसे बडे प्रचारक शंकराचार्य माने जाते हैं और दूसरा है विशिष्ट अद्वैतवाद, दार्शनिक आधार पर जिसका प्रतिपादन करने वाले रामानुजाचार्य माने जाते हैं। शुद्ध अद्वैतवाद के अनुसार परब्रह्म एकमात्र सत्य है और जीवात्मा सार रूपेण उससे अभिन्न है, वह इसी परब्रह्म की अभिव्यक्ति है और अन्त को इसी में विलीन करके जीवात्मा मुक्तिपद को प्राप्त होता है। विशिष्ट अद्वैतवाद के अनुसार प्रकृति अथवा माया परब्रह्म द्वारा रचित होने पर भी उसमें अभिन्न नहीं है, वरन् उसका अलग अस्तित्व है तथा मोक्ष-प्राप्ति जीवात्मा के परमात्मा में पूर्ण विलय होने को नहीं, वरन् परमात्मा के समक्ष जीवात्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति को माना गया है।[4] पुराणों में वैष्णव और शैव दोनों मतों ने विशिष्ट अद्वैतवाद की स्थिति को स्वीकार किया है, परन्तु कालान्तर में शैवमत का ज्यों-ज्यों विकास होता गया उसकी स्थिति अद्वैत से भिन्न होती गई। शैवमत के स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करने का प्रमुख कारण था उसका शिव की सहचरी—शक्ति अथवा प्रकृति—में विश्वास। इस देवी के उत्कृष्ट पद का शैवमत के दार्शनिक विकास पर प्रभाव पड़ा और उसका झुकाव सांख्य-दर्शन की ओर हुआ, जिसके अनुसार प्रकृति की सत्ता को अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु शैवमत और सांख्यमत में भिन्नता होने का कारण यह है कि शैवमत आस्तिकता का समर्थक है और सांख्य नास्तिक है। अन्त में वेदोत्तर-काल में शैव-सिद्धान्तों के आधार पर आगम ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें शैवमत के दार्शनिक पक्ष का स्वरूप निर्धारित किया गया। आगे चलकर आगम ग्रन्थों में निरूपित सिद्धान्त ही प्रामाणिक शैव-सिद्धान्त माने गये।

शैव-सिद्धान्त की प्रमुख तीन मान्यताएँ हैं। पहली मान्यता यह है कि शिव अनादि है, अकारण है, स्वत सम्पूर्ण है एवं सर्वश्रेष्ठ सत्य है। वह अपनी शक्ति के द्वारा जो उनका साधन है, सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते हैं। वास्तव में इस विश्व और इसमें बसनेवाले सर्वभूतों की आत्मा शिव हैं। दूसरी मान्यता यह है

१ अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। श्वेताश्वतर उपनिषद ।४।६।

२. 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, (श्वे० उ० १।११)

३ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वे० उ० (१।१२)

४ डॉ० यदुवंशी . शैवमत, पृष्ठ १६५-१६६।

कि जीवात्माएँ असख्य और शाश्वत है। वे सब परम शिव के ही अग है। जीवात्म और शिव रूप परमात्मा में 'भेदाभेद' सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध वैसा ही है, जैस ज्वाला और उसके ताप का। ज्वाला में ताप सदा वर्तमान रहता है, परन्तु वह उसमे अभिन्न नही है, उसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा में सदा वास करता है परन्तु दोनो एक दूसरे से अभिन्न नही है। शैव-सिद्धान्त की तीसरी मान्यता के अनुसार इसमे कर्म के सिद्धान्त का भी समावेश कर दिया गया है। इसी आत्मानु प्राणित स्थूल-तत्वमय जगत् में ही मानव मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करता है और उसका यह प्रयास कर्म के सिद्धान्त से नियमित होता है। अत इस भौतिक जगत् की सृष्टि के पीछे एक महान् नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य है। परम शिव के अनुग्रह से जब आत्मा विमुक्त होती है तो वह आवागमन के चक्कर से छूटकर सपूर्ण रूप से शिव के समान हो उन्ही के सानिध्य में जाकर परमानन्द प्राप्त करती है। आत्मा का शिव मे तादात्म्य नही होता, अपितु वह उनके समक्ष एक आदर्श अवस्था मे रहती है और परमशिव का प्रकाश उसे ज्योतिर्मय बनाये रखता है।[१]

उपर्युक्त मान्यताओ को सभी दार्शनिको ने स्वीकार किया और इनके आधार ग्रथ आगम-ग्रथो का विस्तृत विवेचन ही दार्शनिकों का मुख्य कार्य रहा। छठी शताब्दी के बाद शैव-मत का प्रचलन दक्षिण भारत में अधिक हुआ। सातवीं शताब्दी के मुख्य शैव विद्वान् 'अप्पर' और 'मणिक्कवासगर (मणिक्कवाचकर) दक्षिण के ही थे।[२]

जिस समय दक्षिण में शैव-मत का खूब प्रचलन हो रहा था, उसी समय कश्मीर भी शैव विद्वानो का केन्द्र बना हुआ था। कश्मीर के शैव विद्वान् भी आगम ग्रथो को ही आधार-ग्रथ मानते थे, परन्तु उन्होने आगम सिद्धान्तो की व्याख्या शुद्ध अद्वैतवादी ढग पर की है। कश्मीर की यह विचारधारा काश्मीर शैवदर्शन कहलाई। इस नवीन दर्शन की रूपरेखा वसुगुप्त और कल्लट नामक शैव विद्वानो ने निर्धारित की, जिसकी विस्तृत विवेचना सोमानन्द ने की। सोमानन्द के बाद इस कार्य को उनके शिष्य उत्पल ने जारी रखा। इन्होने प्रत्यभिज्ञा सूत्रों की रचना की, जिसके कारण इस दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' भी कहा जाता है।[३]

शैव दर्शन एव प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में अन्तर यह है कि प्रथम शक्ति को शिव की समवर्तिनी मानता है, जबकि कश्मीर का प्रत्यभिज्ञा दर्शन उसको परमशिव अथवा पुरुष की अभिव्यक्ति मात्र मानता है। उसका निवास भी परमशिव में और केवल इन्ही मे है और उसको परमशिव की सृजनशक्ति कहा जा सकता है, इसी कारण वह

---

१ डा० यदुवंशी : शैवमत, पृष्ठ १६८-१६६।
२. डा० यदुवंशी : शैवमत, पृष्ठ १६६।
३ डा० यदुवंशी : शैवमत, पृष्ठ १७१।

परमशिव से अभिन्न है, इस प्रकार शैव सिद्धान्त के द्वैत भाव को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अद्वैत में परिणत कर दिया गया है। वस्तुत शंकर के अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा बढ़न पर कश्मीरी शैव विद्वानो न शैव सिद्धान्त को अद्वैतवादी स्वरूप प्रदान किया, जिसके कारण शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित अनक प्रख्यात विद्वान अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त की दृढ़ स्थापना में सहायक सिद्ध हुए।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन क अनुसार शक्ति के पाच मूल रूप हैं—चित्शक्ति आनन्द-शक्ति इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एव क्रियाशक्ति। शक्ति जब इनमें अन्तिम क्रियाशक्ति का रूप धारण करती ह तब सृष्टि का काय प्रारम्भ होता है जिसे आभास कहत है। आभास की यह कल्पना वदान्त के विवर्त्त से मिलती-जुलती है। अन्तर केवल यही ह कि वदान्त म इस व्यक्त विश्व की अनककल्पता को छाया माना गया है जबकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इस अनककल्पता को सत माना गया ह क्योकि जो वस्तु परमशिव से सम्बन्धित होती ह वह असत् नही हो सकती। जीवात्मा सारभाव से परमशिव की ही अभिव्यक्ति ह किन्तु माया द्वारा सीमित। माया का यहाँ अर्थ है परमशिव के तिरोभूत हो जान का शक्ति भौतिक विश्व की सृष्टि से ठीक पहले परमशिव इस अवस्था को प्राप्त होत हैं। इस अवस्था में परमशिव का विश्व से जो वास्तविक सम्बन्ध है उसका तिरोभाव हो जाता है और परमशिव अपन आपको काल नियति राग विद्या और कला के पचविध बन्धन में सीमित कर लत है। इसी के साथ-साथ परमशिव एक स अनक हो जात है और इस प्रकार जीवात्माओ का प्रादुर्भाव होता ह। य जीवात्मा जन्म मरण के अनक चक्करो में से गुजरत हैं और अन्त म सद्ज्ञान प्राप्त कर और अपन सच्च स्वरूप और परमशिव के साथ अपन सच्चे सम्बन्ध का पहचान कर बधनमुक्त होते हैं।[१]

शंकराचाय के अद्वैत-दर्शन के अनुसार ब्रह्म सत्य और माया मिथ्या है। उन्होंन माया को सत्य नही माना ह इसलिए उसका अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक (Exclusive) सन्यास मूलक (Based on renunciation or elimination) है। माया को स्वीकार करन से उसको ब्रह्ममयी मानन से माया और ब्रह्म की एकरसता हो जाती है यह एकरसता माया को त्याग कर या तुच्छ समझ कर नही, बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझन म है।[२] माया और ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध करन के लिए आवश्यक है कि यदि ब्रह्म सत्य है तो माया को भी सत्य रूप स्वीकार किया जाय। माया को सत्य स्वीकार करत हो जगत के समस्त पदार्थ ब्रह्म रूप में दिखाई देन लगग सब कुछ सत्य ह चिन्मय है और आनन्दमय है इस तत्त्व की उपलब्धि होगी। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन क अनुसार 'माया तथा तत्प्रसूत जगत् का त्याग

---

१ डा० यदुवशी शैवमत पृष्ठ १७२ ७३।

२ डा० उमेश मिश्र भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३८८ ८९।

करके नहीं, वरन् उसको स्वीकार करने से, उसका आलिंगन करके ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है।

जिज्ञासु जिस अवस्था में पहुँचकर अपने अस्तित्व को परमशिव में लीन कर देता है, उसे ही सामरस्य की अवस्था कहते हैं। सामरस्य से उत्पन्न आनन्द के सम्बन्ध में 'बोधसार' में कहा गया है कि भक्ति के लिए कल्पित द्वैत की भावना अद्वैत से भी कहीं अधिक सुन्दर होती है। जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम वाले दम्पतियों का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनन्दमय हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के समरस हो जाने पर जो आनन्द अबाध रूप से उत्पन्न होता है, उसमें यह कल्पित द्वैत या पार्थक्य भी ब्रह्मानन्द के तुल्य अमृतोपम हो जाता है।[1] नेत्रतन्त्र में सामरस्य की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस अवस्था को, जिसमें योगी यह अनुभव करने लगता है कि न तो मैं हूँ न कोई और ध्येय सामरस्य कहा गया है।[2] स्पन्दकारिका के अनुसार इस सामरस्य अवस्था में न तो सुख रहता है न दुःख, न ग्राह्य न ग्राहक—केवल परमार्थ तत्त्व ही शेष रहता है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समरसता के सिद्धान्त को अपनाकर ऐहिक जीवन सार्थक और सुखी बनाया जा सकता है। समरसता की अनुभूति जीवितावस्था में इसी शरीर को धारण किए हुए भी हो सकती है, इसे ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्ति की दशा प्राप्त कर साधक प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण कर जीवन की समृद्धि एवं लोककल्याण में लग सकता है।[4]

प्रवृत्ति और नारी-जागरण

नारी की पद मर्यादा प्रवृत्ति-मार्ग के प्रचार से उठती और निवृत्ति-मार्ग के प्रचार से गिरती रही है। इस देश की जनता ने लोक की प्रतिष्ठा बढ़ाने एवं ऐहिक सुख को महत्त्व देने की मनोवृत्ति के साथ नारी की पूर्ण स्वाधीनता में विश्वास किया है और समाज की उन्नति के लिए नारी की उन्नति को आवश्यक माना है, परन्तु जीवन को असत्य और क्षणभंगुर मान लोक की अपेक्षा परलोक की चिन्ता

१ 'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
जातं समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनो ॥ नरहरि स्वामी बोधसार, व्याख्याकार प० रामावतार विद्याभास्कर, पृ० १०७।

२ नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥ (नेत्रतन्त्र, भाग—१, पृष्ठ १९८)।

३ न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ स्पन्दकारिका १।५॥

४. देखिए पृष्ठ ८५।

में वैराग्य की प्रेरणा ने नारी की मर्यादा की पूर्ण उपेक्षा की है। नारी की पद-मर्यादा की कहानी प्रवृत्ति के उत्थान और पतन की कहानी रही है। जो प्रवृत्ति-मार्गी हुए हैं, उन्होंने जीवन में जीने का सच्चा सुख पाने के लिए नारी को सम्मान दिया, उसकी पूजा की, क्योंकि वे समझते थे कि नारी आनन्द की खान है, अतः उस आनन्द की खान नारी को ठुकराकर नहीं, वरन उसे स्वीकार करके ही जीवन में आनन्दोपभोग सम्भव है, किन्तु जो निवृत्तिमार्गी निकले, उन्होंने वैयक्तिक मुक्ति-प्राप्ति में नारी को बाधक समझ उसे त्याग देने एवं उसकी उपेक्षा में ही अपना पौरुष समझा।

भारत देश के इतिहास ने नारी की पद मर्यादा के अनेक उतार-चढाव देखे, विभिन्न कालों की स्त्रियों को समाज द्वारा विभिन्न प्रकार का रुख एवं व्यवहार झेलना पड़ा। वैदिक युग प्रवृत्ति का युग था, अतः नारी को पुरुष की ही भाँति सब प्रकार की स्वतन्त्रता के उपभोग का अधिकार था। स्त्रियों को सामाजिक, धार्मिक एवं बौद्धिक सभी कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। कन्याओं के वेदों के अध्ययन पर कोई रोक-टोक न थी, वे युवकों के साथ मन्त्रपाठ करती थी।[1] युवती कन्याएँ समाज में स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करती थी और उत्सवों, क्रीडा-प्रतियोगिताओं आदि में युवकों के साथ बड़े उत्साह से भाग लेती थी, उनके स्वच्छंद जीवन की ओर संकेत करते हुए ऋग्वेद में लिखा गया है कि स्त्रियाँ और कन्याएँ अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर आनन्दपूर्ण सहभोज के लिए चल पड़ती है। युवक और युवतियाँ जल्दी-जल्दी ग्राम के मैदान की ओर जाते हैं जबकि जंगल और खेत ताजी हरि-याली से ढके होते है। यहाँ वे नृत्य में भाग लेते हैं, वाद्य बजाते हैं और लड़के तथा लड़कियाँ एक-दूसरे को पकड़कर तेजी से घूमते है, यहाँ तक कि उनके पैरों तले धरती काँपने लगती है और धूल के बादल आनन्द से नाचती हुई भीड़ को ढक लेते हैं।[2] विवाहोपरान्त भी स्त्री की स्वतन्त्रता पर आँच नहीं आने पाती थी। एक वैदिक ऋचा में कन्या का पिता वर से इस आशय का वचन लेता है कि धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति में वह उसे वंचित नहीं करेगा।[3] पत्नी को पति के साथ यज्ञ आदि में भाग लेने का पूर्ण अधिकार था, दोनों मिलकर मन्त्रोच्चार करते थे और आहुतियाँ डालते थे। स्त्रियों को अपने पति की सम्पत्ति में अधिकार होता था।[4] स्त्रियाँ यदि विवाह के लिए इच्छुक न हो तो उन्हें अविवाहित रहकर माता-पिता एवं भाइयों

---

१ पुराकल्पेषु नारीणां, मुञ्जीबन्धनमिष्यते, अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा। ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद ११।५।१८

२ ऋग्वेद १। ४८।६, ११२४।८; ४।५८।८।

३ साहिद प्रवीन : नारी विवाह और सदाचार, पृष्ठ २७।

४. ऋग्वेद, १-११७-७।

के साथ रहने दिया जाता था। अथर्ववेद में ऐसी कई कन्याओं का उल्लेख है, जो अविवाहित रहकर आजीवन अपने माता-पिता के साथ रही थी। विधवाओं के पुनर्विवाह पर भी कोई प्रतिबन्ध नही था। वस्तुत वैदिक युग में स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष समझी जाती थी, समाज में उनका सम्मान था, प्रतिष्ठा थी—समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होने अपने आपको उस प्रतिष्ठा के योग्य सिद्ध कर दिया था और दिखा दिया था कि मानसिक, बौद्धिक एव धार्मिक योग्यता में वे पुरुषों से किसी भी भाँति कम न थी। लोपामुद्रा, गार्गी, अपाला, मैत्रेयी आदि वैदिक युग की सुप्रसिद्ध विद्वान एव प्रतिष्ठित महिलाएँ मानी जाती है, जो किसी प्रकार की योग्यता मे पुरुषो से पीछे नही थी।[1]

परन्तु वैदिक युग के बाद ही स्त्रियो की दशा मे परिवर्तन होने लगा एव क्रमश उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा घटने लगी और उनके अधिकारों पर पुरुषो द्वारा बन्धन लगाए जाने लगे। वैदिक युग में स्त्री-पुरुष समान थे, ऐसा नही था कि स्त्री और पुरुष के गुणो का अलग-अलग विभाजन हो। दिनकर जी का विचार है कि यदि आदि मानव और आदि मानवी आज मौजूद होते तो वे यही कहते कि हम तो साथ-साथ जनमे थे तथा धूप और चाँदनी मे, वर्षा और आतप में साथ ही साथ घूमते भी थे, बल्कि आहार-सचय भी साथ ही-साथ करते थे और अगर कोई जानवर हम पर टूट पडता तो हम एक साथ उसका सामना करते थे। उन दिनो नर बलिष्ठ और नारी इतनी दुबल नही थी, न आहार के लिए ही एक को दूसरे पर अवलबित रहना पडता था। जब से नारी और पुरुष ने अपने गुणों का विभाजन कर लिया, नारी का क्षेत्र घर और पुरुष का क्षेत्र बाहर बना दिया गया, तभी से जिन्दगी दो टुकडो में विभाजित हो गई, घर का जीवन सीमित और बाहर का जीवन निस्सीम होता गया एव छोटी जिन्दगी बडी जिन्दगी के अधिकाधिक अधीन होती गई।[2] वैदिकोत्तर काल में नारी की स्वतत्रता एव अधिकारों पर पुरुष ने वैधानिक अकुश लगाकर उसकी पद-मर्यादा को एक लम्बे समय के लिए तुच्छ बना दिया। प्रसिद्ध विधानवेत्ता मनु ने हिन्दुओ के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' की रचना कर स्त्रियो का दर्जा निकृष्ट सिद्ध कर दिया। मनु ने स्त्रियो को मात्र सम्पत्ति माना है जो कभी स्वतत्रता के योग्य नही होती।[3] स्त्रियो में स्वाभाविक दोषमयता तथा अविश्वसनीयता मानकर मनुस्मृति मे कहा गया है कि उनकी चेष्टाओ को जानकर

---

१ S Shridevi A Century of Indian Womanhood, P 2

२ दिनकर वेणुवन पृष्ठ ४।

३ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। मनुस्मृति ६।३।
अस्वतन्त्रा स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम। मनुस्मृति ६।२।

जो परमपिता परमेश्वर ने उन्हें बनाते समय उनमें भर दी थी, प्रत्येक मनुष्य को अधिकाधिक परिश्रम से उनकी खबरदारी रखनी चाहिए।[1] उन्हें धार्मिक विधानो से विलग रखने के लिए कहा गया कि स्त्रियो का सस्कार मन्त्रों से नही होता (उनके लिए कोई धार्मिक विधि मन्त्रो से नही बरतनी चाहिए), यही शास्त्रो की व्यवस्था है। स्त्रियाँ जो शक्ति से हीन है, वैदिक और शास्त्रों के ज्ञान से रहित हैं, असत्य की भाँति अपवित्र है, यह स्थापित नियम है।[2] एक सस्था की भाँति बाल-विवाह की स्थापना कर दी गई, जिससे छोटी अवस्था में विवाह हो जाने के कारण कन्याएँ न तो पितृ गृह म उच्च शिक्षा ही पा सकती थी और न पति-गृह में ही उच्च सम्मान और श्रद्धा की भागी बन सकती थी। सामाजिक नियमो के निर्धारण में पुरुषो की स्वार्थ वृत्ति ने स्त्रियो का बडा अपकार किया। वस्तुत वैदिक युग में लोगो को प्रवृत्तिमार्गी बनाने के लिए जिन चार ऋणो की कल्पना की गई थी, उनमें से पितृ ऋण से उऋण होन के लिए (पुत्र उत्पन्न करने के लिए) कालान्तर में कम से कम आयु की कन्या से विवाह कर उसके ऊपर स्वामित्व प्राप्तकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगे। मनु के निर्देश के अनुसार ३० वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या से और चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए[3] और पाराशर मुनि के अनुसार आठ वर्ष की गौरी, नौ वर्ष की रोहिणी, दस वर्ष की कन्या, इसके ऊपर रजस्वला सज्ञा कन्याओ की बताई गई है। बारहवें वर्ष के प्राप्त होने पर जो कन्यादान नही करता तो प्रत्यक मास में होने वाले रज का सदा पितर पान करते है। माता-पिता और बडा भाई य तीनो ही रजस्वला कन्या को देखकर नरक को प्राप्त होते हैं।[4] जो ब्राह्मण मद से मोहित हुआ उस कन्या के साथ विवाह करता है, वह वार्ता करने तथा पक्ति में बिठाने योग्य नही होता, क्योंकि वह वृषलीपति हो जाता है।[4]

---

१ एव स्वभाव ज्ञात्वा आसा प्रजापति सृजजम्।
परम यत्नमातिष्ठेत्पुरुषोरक्षण प्रति।
शय्यासनमलकार काम क्रोधमनार्जवम्।
द्रोह भावं कुचर्या च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्। वही—९।१६-१७

२ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थिति।
निरिन्द्रियाह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमितिस्थिति। वही—९।१८

३ मनुस्मृति त्रिशद्वर्षोद्वहेत्कन्या हृद्यां द्वादश वार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मेसीदति सत्वर। मनुस्मृति ९।९४

४ अष्टवर्षा भवेद् गौरी नव वर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत्कन्या अत उर्ध्वं रजस्वला।
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे य कन्या न प्रयच्छति।

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के प्रचार के उपरान्त जब निवृत्ति-मार्ग का प्रचार प्रारम्भ हुआ, तब स्त्रियों को समाज में अनावश्यक प्राणी के रूप में घोषित कर दिया गया। सन्यासियों को स्त्रियों से दूर करने के लिए उन्हें बुराई का घर बताया गया एवं दुनियादारी का मूल बताकर उन्हें घृणा का पात्र कहा गया।[1] बुद्ध और महावीर ने कृपा करके नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया, किन्तु यह अधिकार भी नारियों के हाथ में सुरक्षित न रह सका। जैनों के बीच जब दिगम्बर सम्प्रदाय निकला, तब धर्म-पुस्तक में इस नियम का विधान किया गया कि नारियों का भिक्षुणी होना व्यर्थ है, क्योंकि मोक्ष नारी-जीवन में नहीं मिल सकता। नारियाँ घर में ही रहकर दान-पुण्य करें और उस दिन की प्रतीक्षा करें जब उनका जन्म पुरुष योनि में होगा। जब वे पुरुष होकर जन्मेंगी, सन्यास वे तभी ले सकेंगी और तभी उन्हें मुक्ति भी मिलेगी। और बुद्ध ने भी एक दिन आनंद से पश्चाताप भरे स्वर में कहा कि मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु अब यह केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि नारियों को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।[2]

देश में मुसलमानों के आगमन के साथ ही भक्ति-युग शुरू हुआ। इस युग में पर्दे की प्रथा ने स्त्रियों का कम अपकार नहीं किया। विलासप्रियता की विकृत रुचि से उत्पन्न इस प्रथा ने नारी को रहस्य बनाकर रख दिया। इसका असर ठीक ऐसा ही हुआ जैसे किसी खूँखार जानवर की उसकी भूख और पशु प्रवृत्ति को भड़काने के लिए कठघर में बिना-पानी बन्द कर दिया जाए।[3] स्त्रियों की दशा को हीन बनाने के दुष्कार्य के जिम्मेदार इस्लाम के घोर असामाजिक और कट्टर आस्तिक लोग हैं। निश्चय ही इसकी वजह यह नहीं थी कि नारी के आकर्षणों की ओर से वे लोग उदासीन या बेखबर थे, क्योंकि उनके हरमों में स्त्रियों की भारी संख्या मौजूद रहती थी। किन्तु उस छोटे से स्वर्ग के बाहर नारी और उसके आत्माभिमान के प्रति विरक्ति प्रदर्शित करना ही उन्हें प्रिय था। इस युग में भक्त कवियों एवं संतों ने यद्यपि सन्यास की अपेक्षा गृहस्थ-धर्म को अधिक मान्यता प्रदान

मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम्।
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।
यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः।
असम्भाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः। पाराशर स्मृति ७।६-९

१ डा० राधाकृष्णन धर्म और समाज, पृष्ठ १६७
२ दिनकर वेणुवन, पृष्ठ ४-५।
३ वाहिद प्रवीन नारी विवाह और सदाचार, पृष्ठ ३०।

को, परन्तु स्त्रियों के सम्मान के प्रति वे भी पूर्ण न्याय न कर सके। वे नारियो को महाविकार समझ कर उनके माया-पाश से बचने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते थे।

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर ब्रिटिश-काल के आगमन तक स्त्रियों की दशा दिन प्रति दिन गिरती ही गई। पुरुषों के समकक्ष मानी जाने वाली वैदिक युग की नारी अपने अधिकारों के क्षेत्र में जितनी ही स्वतन्त्र थी, उन्नीसवीं सदी तक आते-आते वह शिक्षा-स्वतन्त्रता एव स्वत्व के अधिकारों से पूर्णतया वंचित कर दी गई। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने सदा ही अपने सामने सीता और सावित्री का आदर्श सामने रखकर जीवन-यापन का यत्न किया। शिक्षा नही, कोई सुविधा नही, पर भारतीय नारी किसी भी युग मे धैर्य, सहनशक्ति, प्रेम-ममता एव क्षमा के गुणो को अपनाकर अपने पति और पुत्रों के जीवन-निर्माण मे स्वय को मिटाती रही। हर प्रकार के अवसर और सुविधा से वंचित नारी का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता गया, परन्तु उस सीमित क्षेत्र में वह अपनी कार्य-कुशलता का परिचय देती रही, परन्तु अपने सीमित क्षेत्र में घुटती हुई नारी प्रतीक्षा करती रही उस अवसर का, जब वह एक बार फिर पुरुषों के समकक्ष आ सकती थी।

वह अवसर आया, भारत देश में अंग्रेजो के आगमन के साथ। अंग्रेजो के साथ-साथ आये पाश्चात्य जगत् के नवीन विचार भी कि स्त्री किसी भी भाँति हीन नही है। नारी में आई जागृति की नयी भावना, और उसने अपनी स्वाधीनता के लिए पूर्ण सघर्ष शुरू किया। पुनरुत्थान युग के मनीषी, चिन्तक और समाज-सुधारकों ने उसका पर्याप्त मार्ग-दर्शन किया, परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार समस्त भारत देश ने अपनी राजनीतिक पराधीनता की दाह का अनुभव किया, उसी प्रकार नारी ने और उसके साथ बुद्धिजीवी पुरुष ने यह अनुभव किया कि सम्पूर्ण इतिहास में नारी अत्याचारों का शिकार बनती आई है और अब वह अवसर आ गया है, जब उसे हर क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष आना है। जिस क्षेत्र में पुरुष विजयी हो सकता है, उस क्षेत्र में विजय पाने के लिए नारी ने भी पूर्ण सघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार नारियो की अवज्ञा सिखानेवाली कुत्सित परम्परा का आधुनिक युग में पूर्णत मूलोच्छेद हो गया और देशवासियो के मन में अनुभूति जगी कि नारी निन्दा की नही, वरन् आदर, श्रद्धा और स्नेह की पात्री है।

अवसर मिलते ही भारतीय नारी ने यह सिद्ध कर दिखाया कि वे समस्त कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती हैं, जो सामान्यतया पुरुषों को सौंपे जाते हैं। देश की अनेकानेक स्त्रियाँ मानव हित के विस्तृत कार्य में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर योग्यतापूर्वक अपना उत्तरदायित्व निभा रही हैं, यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय

बीतता जा रहा है, समाज और राजनीति में स्त्री को अधिक से अधिक न्यायपूर्ण स्थान मिलता जा रहा है।

नव-जागरण का विशिष्ट चिह्न है शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश। आज की नारी के लिए शिक्षा का प्रत्येक क्षेत्र खुला है, वह पूर्ण शैक्षणिक योग्यता प्राप्त कर राष्ट्र के नव-निर्माण में पूर्ण योगदान दे रही है। जब १९१७ ई० में भारतवर्ष में भारत-मन्त्री श्रीमान् मार्टेग्यू का आगमन हुआ तो भारतवर्ष की स्त्रियों ने अपनी बातें उनके सामने रखी और उनके अधिकार माँगते ही उन्हें स्वीकार कर लिया गया एवं इस देश में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही पूर्ण समानता का पद तुरन्त ही दे दिया गया। १९१७ की कलकत्ता कांग्रेस ने अपनी यह सम्मति घोषित की थी कि स्वायत्त शासन और शिक्षा से संबंध रखनेवाली प्रतिनिधि सत्ता की सभाओं में पुरुषों और स्त्रियों के मताधिकार और खड़े होने के संबंध में एक ही नियम रखे जायें। यह घोषणा ऐसी कांग्रेस द्वारा हुई थी, जिसमें सभापतित्व का अवसर विश्वविख्यात महिला श्रीमती एनी बेसेन्ट को मिला था।[1]

सन् १९२० में राष्ट्रीय आन्दोलन का भार जब महात्मा गाँधी पर डाला गया, तो नारी-जागरण के समर्थक महात्मा गाँधी ने राजनीतिक एवं सामाजिक आन्दोलनों में भाग लेने के लिए स्त्रियों का आह्वान किया। स्त्रियों ने अपना उत्तरदायित्व निभाने में प्राणों की बाजी लगा दी, उनका स्वाभिमान जागृत हुआ और उन्होंने विवेकशीलता का वैसा ही परिचय दिया, जैसा, कि पुरुष देते आए थे। कौंसिल में कांग्रेस के प्रवेश करने और कांग्रेस की सभा-समितियों की कार्यवाही देखने से स्त्री-सदस्यों की कार्य-शक्ति प्रकट हो सकी है। उसकी निर्णय-शक्ति हाजिर-जवाबी तथा जीवन की समस्याओं को सम्यक रूप से ग्रहण करने की शक्ति ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन गुणों से विभूषित उनका स्त्रीत्व समाज के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना पुरुष का पौरुष। अस्पृश्यता-निवारण जैसी पेचीदी समस्याओं के सुलझाने में भी स्त्रियों के सहयोग के बिना हिन्दुत्व का यह अभिशाप सरलता से मिटाने योग्य नहीं हो सकता था।[2]

प्रवृत्ति के उत्थान के इस युग में नारी अपने जागरण को सही दिशा में अग्रसर है। आशा जा सकती है कि जहाँ वह अपना विवेक-बुद्धि के बल पर भारतीय संस्कृति को न तो निवृत्ति मार्गी बनाकर जीवन की उपेक्षा होने देगी, वहाँ वह अपनी संस्कृति को प्रवृत्ति की अति से बचाकर अमानुषिक वृत्तियों से रक्षा भी करेगी। एक ओर वह पुरुष को संसार में बाँधे रहेगी और उसे जीवन की जीवन-समृद्धि की उपेक्षा नहीं करने देगी तो दूसरी ओर उसे कर्मफल और परलोक की

---

१. डा० बी० पट्टाभि सीतारमैया : हमारी पारिवारिक व्यवस्था, पृष्ठ ११२-१३।
२. वही, पृष्ठ ११५।

कल्पना झूठी है, इस कारण अनैतिकता के संकुचित घेरे से बचाए रखेगी।

प्रवृत्ति और राष्ट्रीयता

प्रवृत्ति दर्शन का अन्य प्रमुख उपकरण राष्ट्रीयता है। किसी राष्ट्र के प्रवृत्तिमार्गी होने की अन्यतम कसौटी उसके अन्दर राष्ट्रीयता की भावना की अनिवार्य स्थिति है। राष्ट्रीय एकता की भावना राष्ट्र को सुख समृद्धि एवं भौतिक उन्नति की ओर प्रेरित करती है, जीवन मूल्यों के सृजन और उपभोग के लिए प्रोत्साहित करती है। राष्ट्र-प्रेम मनुष्य को अपने देश से, अपने समाज से, अपने समुदाय से, अपने परिवार से और स्वयं से प्रेम करना सिखाता है और मनुष्य को प्रवृत्तिमार्गी बनाता है। प्रवृत्ति के सूत्र को पकड़कर मनुष्य न तो जीवन से उदासीन होने में विश्वास करता है और न जीवन को सुख-समृद्धि प्रदान करने वाली राष्ट्रीयता को खंडित रूप में देख सकता है। निवृत्तिमार्गी पराधीनता की पीड़ा को सहन करके भी उसके दाह की बेचैनी का अनुभव नहीं भी कर सकता है, परन्तु प्रवृत्तिमार्गी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए, राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा देने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है।

किसी वृहद् जन समाज की मनोवृत्ति या विश्वासों के समूह को राष्ट्रीयता नाम दिया गया है। यह राष्ट्रीय विचारों एवं राष्ट्रीय उद्देश्य का अभिव्यक्त स्वरूप है और यह अन्य सार्वजनिक विचारों एवं राष्ट्रीय उद्देश्यों एवं राष्ट्र की एकरूपता का समर्थन करती है।[1]

हिन्दू दर्शन के अनुसार जिस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के लिए उसके भौतिक आधार शरीर की आवश्यकता रहती है, जिसके माध्यम से वह बाह्य प्राकृतिक जगत् में अपने आपको अभिव्यक्त और आकृतिमान करती है, उसी प्रकार राष्ट्र के भौतिक आधार के अभाव में राष्ट्रीयता की भावना का प्रदर्शन नहीं हो सकता। एक सामान्य पितृभूमि सारे राष्ट्रीय विकास की प्रारंभिक शर्त है। उस जीवित नाभिक (Nucleus) के चारों ओर स्वभावतः वे सब भावनाएँ, साहचर्य, परम्पराएँ और अन्य तत्व एकत्र हो जायगे जो किसी जाति की भाषा और साहित्य, संस्कृति

---

1 It may be defined as an attitude of mind or set of beliefs that is shared by a group of people large enough to be influential and that embodies ideas of the nation and the nation's goals, elevates those ideas to a prime position over other public values and compels the assertion of the identity and the aims of the nation

—Charles H Heimsath Indian Nationalism and Hindu Reform p 133.

और धर्म का निर्माण करते हैं और उसके द्वारा इसका पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व स्थापित करते हैं और एक मूल्यवान् सांस्कृतिक इकाई के रूप में, जो मानवता के लिए अपरिहार्य है, इसके संरक्षण और स्वतंत्र विकास पर बल देते हैं। सच तो यह है कि सामान्य देश, सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों, सामान्य आर्थिक अवस्थाओं का प्रभाव दुर्दान्त होता है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह अन्य खण्डनकारी और विभाजक बलों और कारकों के मुकाबले में—जैसे वाह्य आचारों और प्रथाओं भाषा और धर्म के भेद—प्रभावोत्पादक रूप में कार्य करता है।[१]

श्री गिलक्राइस्ट के शब्दों में राष्ट्रीयता एक ही मूलवंश के बहुसंख्यक लोगों की, एक ही भूमि खंड के रहनेवालों की, समान भाषा, धर्म, इतिहास, परम्परा, रुचि एवं समान राजनीतिक परिस्थिति के लोगों की एक आध्यात्मिक भावना या सिद्धान्त है।[२] भूमि-खंड मूलवंश भाषा, इतिहास परम्परा, धर्म, रुचि एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि ही वे तत्त्व हैं जिन पर राष्ट्रीयता आधारित है। परन्तु यह ध्यान में रखने योग्य तथ्य है कि ये राष्ट्रीयता के तत्त्व हैं, स्वयं राष्ट्रीयता नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना या सिद्धान्त है, जो इन तत्त्वों के संयोग से संघटित होती है। ये समस्त तत्त्व, अथवा इनमें से कुछ तत्त्व राष्ट्रीयता के संघटन के लिए परम आवश्यक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, सत्य यह है कि राष्ट्रीयता के इन तत्त्वों के भौतिक आधार का अस्तित्व वैसा है, जैसा कि आत्मा का शून्य शरीर का (आत्मा का भौतिक आधार शरीर ही है, जिसके माध्यम से वह वाह्य प्राकृतिक जगत में अपने आपको अभिव्यक्त और आकृतिमान करती है राष्ट्रीयता भी उसी प्रकार इन तत्त्वों के भौतिक आधार के माध्यम से ही अपनी अभिव्यक्ति करती है)। यही कारण है कि राष्ट्रीयता की परीक्षा या विश्लेषण किसी सूत्र या फारमूला के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसका अस्तित्व भावना में अधिक है, अतः देखने या साक्षात्कार करने की अपेक्षा अनुभूति के सहारे अधिक सरलता से बोधगम्य हो सकती है। वस्तुतः एक राष्ट्र वास्तविक अर्थ में राष्ट्र इसलिए है कि इसके सदस्य हार्दिक भावना के साथ सर्वसम्मति से इसके ऐसा होने में विश्वास करते हैं।[३]

---

१ डा० राधाकुमुद मुकर्जी हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद पृष्ठ ४६-४७।

2 Nationality is a spiritual sentiment or principle arising among a number of people usually of the same race, resident on the same territory, sharing a common language, the same religion similar history and traditions common interests with common political associations and common ideals of political emity —R N Gilchrist Indian Nationality p

३ In the last resort we can only say that a nation is a

राष्ट्रीयता की भावना की वृद्धि के लिए जिन-जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे सब भारत देश में पूर्णत विकसित और दीर्घ काल से ज्ञात थे। न केवल प्रारंभिक भारतवासी अपने लिए स्थिर, सुनिश्चित स्थायी निवास भूमियो पर पूर्ण अधिकार जमाए हुए थे, जिनकी भौगोलिक सीमा शेष ससार से स्पष्टत अलग दिखाई देती थी, वरन् इस नये स्वदश का अवधारण और चेतना भारतवासियों के मन में बहुत समय से उदय हो चुकी थी। इस विस्तृत नये जीते हुए महाद्वीप की—जो पहले ही एक सामान्य (समान) सस्कृति और सभ्यता के इस विशाल मातृदेश के—व्यष्टित्व की प्रत्यक्ष अनुभूति के अनुशासन में बँधकर पहले ही एक बना हुआ था—सीमाएँ न केवल भारतीय समुदाय के सुसस्कृत वर्गों को ज्ञात थीं, बल्कि इनका ज्ञान सैकडो वर्षों में धीर-धीरे समाज के सबसे निचले स्तर तक भी पहुँच चुका था। एक जाति के रूप में भारतवासियों ने अपने मातृदेश के भौतिक व्यष्टित्व को बहुत पहले अनुभव कर लिया था। उन्हें वह आवश्यक भौतिक मूर्त आधार पहले ही प्राप्त हो चुका था, जिस पर राष्ट्रवाद की भावना का निर्माण किया जा सकता था।[1]

भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता की भावना उतनी ही पुरातन है जितनी कि भारत देश। सस्कृत साहित्य के विशाल भडार में इस भावना का अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य में मातृभूमि के प्रति अनेक ऋचाएँ मिलती है, जिनसे समस्त विविधताओ में एकरूपता की भावना का समावेश कर राष्ट्रीय एकता की भावना सूचित की गई है। मातृभूमि की प्रशसा में एक स्थान पर कहा गया है "यह भूमि समुद्र से घिरी हुई है और कलकल निनादिनी जलधाराएँ इसे उर्वर बना रही हैं हरे भरे पर्वत, हिम-मण्डित गिरिशृङ्ग और जगल उस देशवासियों के चिन्ताहीन, क्लेशहीन और अक्षत जीवन की रक्षा करते है, यह भूमि सुख और आनन्द देनेवाली ओषधियो की जननी है। इसी भूमि पर हमारे बाप-दादे रहते और काम करते थे और देवों के बल से असुर पराजित होते थे। इस देश में खेतियाँ लहलहा रही है और गाय, घोड़े, पक्षी और हाथी सुख से रह रहे है। इस देश में नाना भाषाओं वाले लोग है और (उनकी) नाना रुढियाँ है, पर वे सब सुशील दुधारू गाय की तरह धन, सपत्ति की हजारों धाराएँ प्रवाहित कर रहे है।[2]

वैदिक काल की राष्ट्रीय भावना मुख्य रूप से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा

---

nation because its members passionately and unanimously believe it to be so

—Ramsay Muir Nationalism and Internationalism p 45

१. डा० राधाकुमुद मुखर्जी हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृष्ठ ४७-४८।

२ अथर्ववेद, पृथ्वीसूक्त।

पर आधारित थी, आर्यों ने केवल अपनी ही मातृभूमि को नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व समुदाय को एक विशाल कुटुम्ब के ही रूप में देखा था। यही कारण है पाश्चात्य देशों की राष्ट्रीयता में जो संकुचित मनोवृत्ति दिखाई देती है, उसकी झलक वैदिक राष्ट्रीयता में लेश मात्र भी नहीं दिखाई देती। आर्यों ने मानवता को ही सर्वोपरि माना है तथा सम्पूर्ण मानवता का हित-चिन्तन ही उसका लक्ष्य रहा है। विश्व-कल्याण में बाधक बननेवाली संकुचित राष्ट्र भावना को वैदिक युग में सर्वथा त्याज्य माना गया है। 'जीओ और जीने दो' वैदिक युग में आर्यों का मूल मन्त्र था।

वैदिक साहित्य के बाद के संस्कृत साहित्य में भी राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी उद्‌गार यत्र-तत्र मिलते हैं। मनु ने एक श्लोक में मातृभूमि से प्राप्त होने वाले अकथनीय आशीर्वादों और लाभों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए इसे देवताओं द्वारा बनाया गया देश बताया है।[1] विष्णुपुराण में भी भारतवर्ष की महिमा का गान किया गया है और भारत देश को विश्व के अन्य देशों से श्रेष्ठ कहा गया है। इस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह कर्मभूमि है।[2] जीव को सहस्रों जन्मों के अनन्तर महान् पुण्यों का उदय होने पर ही कभी इस देश में मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है।[3] देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है तथा जो इस कर्मभूमि में जन्म लेकर अपने फलाकांक्षा से रहित कर्मों को परमात्म-स्वरूप श्री विष्णु भगवान को अर्पण करने से निर्मल होकर उन अनन्त में ही लीन हो जाते हैं, वे पुरुष देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं।[4]

प्राचीन वैदिक और पौराणिक काल में राष्ट्र-भावना के मूल में मुख्य सिद्धान्त यह था कि दूसरों के अधिकार छीनने के लिए या दूसरों पर विजय प्राप्त करने की दृष्टि से युद्ध करना सर्वथा अनुचित है।[5] प्राचीन काल के राज्यतन्त्र-विधान के अनुसार राजा अपनी भूमि का स्वामी नहीं वरन सेवक होता था। उसके लिए

---

१. डा० राधाकुमुद मुकर्जी हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृष्ठ १४।

२. अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बू द्वीपे महामुने। (श्री विष्णु पुराण २।२२)

३. अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्। (श्री विष्णुपुराण २।३।२३)

४ गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात्॥
कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिँल्लय ये त्वमला प्रयान्ति॥
(श्री विष्णुपुराण २।३।२४-२५)

५ देखिए—महाभारत ६६।२३

अनेको बन्धन और प्रतिबन्ध थे और वह पौर जनपद की राष्ट्र-शक्ति के अधीन होता था। हिन्दू-एक-राजत्व के समर्थक कौटिल्य के मतानुसार राजा को स्वय कोई हित प्रिय नही होना चाहिये। उसे केवल प्रजा का ही हित प्रिय होना चाहिए।[1]

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत देश में राष्ट्रीयता की नीव इतिहास के बिल्कुल प्रारम्भिक काल में ही रख दी गई थी, अपने निश्चित और सुनिर्दिष्ट क्षेत्र को ही अपनी मातृभूमि मानकर भारतवासियों ने उसे एक जीवित संस्कृति का मूर्तिमान रूप प्रदान किया, जो सार्वभौमता के गुणों से परिपूर्ण थी। प्राकृतिक सपत्ति की अपेक्षा सास्कृतिक सपत्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण नि स्वार्थ भागिता (हिस्सेदारी), जीवन का सस्वामित्व और सुखभोग दुर्लभ न रहा। इस प्रकार भारत शुरू में ही अनेक जातियो, पथो, सस्कृतियों का सुखद निवास-स्थान बन गया, जो एक दूसरे पर प्रभुत्व की आकाक्षा या एक दूसरे को समाप्त कर देने की इच्छा न रखते हुए मिलकर साथ-साथ रहती थी। इस उच्च और जटिल आरंभिक उत्तरदायित्व के साथ भारत जाति, भाषा, दीवानी और स्वीय विधि (Civil and Personal law) सामाजिक ढाँचे और धार्मिक मतो की दृष्टि से मिली-जुली प्रणालियो की भूमि बन गया। अन्य राष्ट्रीय पद्धतियो में ऐसी आधारभूत विभिन्नताओ की सभावना नही हो सकती और उन्हें एक करने के प्रयत्न में वे नष्ट हो जाती हैं, परन्तु भारत देश में विभिन्नताओं के क्रोड में ही राष्ट्रीयता की भावना अक्षुण्ण बनी रही।[2]

देश मे राष्ट्रीय एकता की भावना खडित हुई बाहरी आक्रमणो के समय। एक ओर देश पर अरबों और तुर्कों के बार-बार आक्रमण होते रहे और दूसरी ओर राजाओं की विलासिता तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की वृत्ति बढती गई। देश की जनता निवृत्ति का सूत्र पकडकर राजाओ एव राजकार्य की ओर से क्रमश निराश और विमुख होती गई, बाहरी आक्रमणो को रोकने के लिए जनता में कोई उत्साह नही रह गया, वह एक सामान्य द्रष्टा की भाँति निरपेक्ष भाव से राजपूतो के पराजय के दृश्य देखती रही। मुगल सम्राट् औरगजेब के शासनकाल में जब हिन्दुओ पर भीषण अत्याचार हुए, उन पर जजिया कर लगाए गए एवं उन्ही के सामने उनके मदिर गिराकर मस्जिद बनाये गये तो उनमें पुन एक बार राष्ट्रीयता की भावना जगी। पजाब मे गुरु गोविन्द सिंह, राजस्थान में राणा राजसिंह और राठौर दुर्गादास, मध्यभारत में चम्पतराय और छत्रसाल, दक्षिण में शिवाजी आदि ने मुगल साम्राज्य से लोहा लिया, परन्तु वे एक व्यापक राष्ट्रीयता की मूल भावना को अपने

१. कौटिल्य - अर्थशास्त्र १।१६-१६।

२. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृष्ठ ६०-६१।

देश में लाने में विफल रहे और उनकी आपसी फूट से फायदा उठाकर पोर्तुगीज, फ्रान्सीसी और अंग्रेज भारत में घुस आये।

उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास भारत पर व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करने की दृष्टि से विभिन्न योरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के संघर्ष और उस संघर्ष में अंग्रेजों की विजय का इतिहास है। उन्नीसवीं सदी के पुनरुद्धार, समाज-सुधार, विदेशी शिक्षा आदि के प्रभाव से अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोध में भारत में पुन राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। उन्नीसवीं सदी के पुनरुत्थान आन्दोलन के साथ भारत में जो नवजागृति की लहर फैली, उससे भारतीय अपने खोये हुए गौरव को पुन प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठे। जब निराशा या नवजागरण का काल आता है, तब जातियों के कुछ प्राचीन सत्य दुबारा जन्म लेते हैं, पुनरुत्थान आन्दोलन के परिणाम स्वरूप वेदान्त और गीता की जो प्रवृत्तिमूलक व्याख्या हुई, उसने भारतीयों में नई स्फूर्ति और नई ताजगी की भावना भरकर उनमें सांस्कृतिक पुनरुद्धार के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता की भावना भर दी। योरप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय आधुनिक युग की देन है, जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी आदि देशों में मध्यकाल में राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था, यही कारण है कि विदेशी विद्वानों ने अन्य देशों की भाँति भारत देश में भी राष्ट्रीयता का उदय ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पश्चात् माना है।[1] परन्तु वास्तविकता यह है कि अन्य प्राचीन सत्यों की तरह राष्ट्रीयता ने भी भारत भूमि में पुन जन्म लिया है। आधुनिक युग की राष्ट्रीयता के उदय का मुख्य कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद अवश्य रहा है, जिसका विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता का पुन उदय हुआ।

आधुनिक युग की राष्ट्रीयता की भावना मुख्य रूप से राजनीति पर आधारित है। ससार के अनेक देश राष्ट्रीयता की आड में अपने देश को धन धान्य से समृद्ध बनाने के लिए दूसरे देशों का शोषण करते है, जिसे देखते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'अति भोजन की यूपचारिता' या बहुत अधिक खानेवालों का समूह बनाकर रहने को राष्ट्रीयता कहा है। भारतीय राष्ट्रीयता का प्राचीन आदर्श व्यापक भावभूमि पर आधारित है एव निज के कल्याण के साथ-साथ विश्व-कल्याण को महत्त्व देने वाला है।

आज के स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय दायरा विस्तृत होकर धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय दायरे का रूप धारण कर रहा है। धरती अपनी धुरी पर घूमने के साथ साथ सूर्य की भी परिक्रमा करती है। राष्ट्र को भी दुहरी गति धारण करनी चाहिए। राष्ट्रीयता की धुरी पर अनवरत घूमते रहकर ही राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता की परिक्रमा कर सकता है।

●

१. Dr A R Desai Social Background of Indian Nationalism p. XIV.

अध्याय ३

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता के आधुनिक चिन्तक और उनकी परम्परा

भारत की संस्कृति में बडे-बडे नवोत्थान हुए हैं, पर आधुनिक युग का नवोत्थान सबसे अधिक शक्तिशाली है। जिस देश की प्रथम चेतना वेदकालीन प्रवृत्ति की राह में गुनगुनाई थी, जिसने प्रवृत्ति के मार्ग में चलकर अपनी श्रेष्ठता का डंका पीटा था, वही देश कालान्तर में अपने आकर्षक की ओर विदेशियो को आकृष्ट कर अपने लिए विपत्तियो को निमन्त्रण देता रहा। भारतीय जीवन में एक समय ऐसा आया कि जनसाधारण का जीवन अभावों से परिपूर्ण हो गया और भौतिक सुख सपना बन गया। अन्य कोई देश ऐसी परिस्थिति में पडकर टूटकर बिखर जाता,[1] परन्तु भारत देश ने ऐसी दशा में प्रवृत्ति की राह छोड निवृत्ति का मार्ग पकडा। इस दिशा मे भी गहन चिन्तन हुआ और देश में अनेक महान् दार्शनिकों ने जीवन-दृष्टि की एक नई दिशा प्रस्तुत की, जो आज भी विदेशियो [illegible] लिए उपेक्षा की वस्तु नही है।

परन्तु निवृत्ति की शरण में जाकर हिन्दू जाति ऐसे स्थान पर जा पहुँची जहाँ पर वह अन्याय का विरोध करना भी भूल गई। पराधीनता की दाह में पडकर उसे बेचैनी का अनुभव नही हुआ, क्योकि उसके लिए स्वाधीनता क्या और पराधीनता क्या—दोनों समान थे। कितनी अर्थपूर्ण बात है कि भारत सदियों से गुलाम रहा है, परन्तु १९वी शताब्दी से पूर्व इस देश में किसी भी दार्शनिक चिन्तक या समाज-सुधारक ने इस दिशा में कोई प्रयास नही किया कि देश में चेतना की लहर फैलाई जाय, विदेशी शासकों से स्वाधीनता की माँग की जाय अथवा स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए क्रान्ति की दिशा मे कदम उठाये जायें।

भारत देश में कभी वीरो की कमी रही हो, यह बात भी नही है। इस देश

---

१ यूनानो मिस्र रूमां सब मिट गये जहां से।
अब तक मगर है बाक़ी नामो निशा हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियो रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा॥—डॉ० इकबाल

के राजपूतों की वीरता और पराक्रम की कहानियाँ तो आज समस्त विश्व के लिए स्पर्द्धा का विषय हो सकती हैं। राजपूतों में वीर-कृत्य अकल्पनीय थे। वे अपनी आयु ही अठारह वर्ष की मानते थे,[1] क्योंकि बालिग होने पर उनके जीवन की सार्थकता रणक्षेत्र में अपने प्राणों की आहुति दे देने में थी। अपने सम्मान की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना उनके लिए बायें हाथ का खेल था। स्त्रियाँ अपने पति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर शत्रु का मुकाबला करती थीं, अपनी इज्जत पर खतरा देख जीते जी जल मरती थीं। जिस देश के वीरों और वीरांगनाओं ने अपने प्राणों को इतना तुच्छ समझा था वही देश पराजय के बाद पराजय का सामना करता रहा और निवृत्तिमूलक दृष्टि की आड़ में अपने को सान्त्वना देता रहा कि इस लोक में जीवन की पराजय है तो क्या हुआ, परलोक का सुख तो अपने लिये सुरक्षित है।

परन्तु आधुनिक युग में भारत का नवनिर्माण होना शेष था और वह हुआ तो कुछ इस ढंग से हुआ कि नवनिर्मित भारत विश्व के लिए चकाचौंध का विषय बन गया। देर से ही सही, देश में एक बार व्यापक जागृति आई और समस्त देश में एक व्यापक बन्धुत्व और मनुजत्व की भावना का उन्मेष हुआ, जिसने देश को अपना पुराना गौरव पुनः प्राप्त करने का मन्त्र प्रदान किया। भारत देश ने अपनी पूँजी टटोली और उस पुरातन पूँजी के ऊपर से धूल झाड़कर उसे फिर से चमका दिया। बहुत से सत्य ऐसे होते हैं जो मिटना नहीं जानते, जो कुछ दिनों के लिये प्रच्छन्न तो हो जाते हैं, किन्तु समय पाकर जिन्हें मनुष्य फिर से प्राप्त कर लेता है। भारत में ऐसे ही सत्य वेदान्त के सत्य रहे हैं।[2] जिस वेदान्त की व्याख्या ने देशवासियों को निवृत्ति के क्रोड में जा पटका था, उसी वेदान्त की नये सिरे से जो प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या हुई तो फिर देश उसी वैदिक दर्शन की प्रवृत्तिमार्गी धारा में आ पहुँचा।

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता के इस पुनर्चिन्तन ने देश को अनेक चिन्तक प्रदान किये, एक के बाद एक, जिन्होंने देशवासियों की नसों में प्रवृत्ति का मन्त्र फूँकने का बीड़ा उठा लिया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बेसेन्ट, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द आदि ने जीवन सत्य है, सपना नहीं है और वैराग्य कुछ नहीं, जीवन से मुँह मोड़ने और जीवन की पराजय का ही दूसरा नाम है, यदि स्वर्ग कहीं है तो

---

१ बारह बरस लौं कूकर जीवें औ सोलह लौं जियें सियार,
बरस अठारह छत्री जीवें, आगे जीवन को धिक्कार।
डॉ० नगेन्द्र आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १६ से उद्धृत।

२ श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४३-४४४।

इसी पृथ्वी पर है आदि का सन्देश दिया, भारत में एक प्रकार से नवीन आत्मा का उदय हुआ और भारत देश का एक प्रकार से कायाकल्प हो गया।

राजा राममोहन राय (सन् १७७२-१८३३)

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता के आधुनिक चिन्तकों में राजा राममोहन राय का नाम सर्वप्रथम आता है। वे भारतीय और पाश्चात्य विद्या, दर्शन तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। वे हिन्दू धर्म की रूढ़ियों को दूर कर भारतीय चिन्तन को वह दिशा प्रदान करना चाहते थे, जिससे अपना कर भारत न केवल अपनी भारतीयता की रक्षा करने में समर्थ हो पाता, वरन् अपनी खोई हुई सत्ता और अधिकार भी पुनः प्राप्त कर लेता। उनकी जीवनी-लेखिका मिस कालेट ने लिखा है, "इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा और नवीन मानवता के बीच जो खाई है, अन्धविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतन्त्र के बीच जो अंतराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बाँधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर लाने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।[1]

भारतीय संस्कृति में दर्शन और धर्म—धर्म द्वारा क्रियाशील बना हुआ दर्शन और दर्शन द्वारा आलोकित धर्म—ही नेतृत्व करते हैं और शेष सारी चीजें (कला, काव्य आदि) यथासम्भव उत्तम रूप में उसका अनुसरण करती हैं। धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं, इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और साथ ही ये एक दूसरे के अन्दर व्याप्त भी होते रहे हैं।[2] भारतीय धर्म ने यदि जीवन को सही दिशा देने का प्रयास किया है तो भारतीय दर्शन ने दुःखों से निवृत्ति का उपाय बताने की चेष्टा की है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय धर्म और दर्शन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो निरन्तर भारतीय संस्कृति का पोषण करते रहे हैं।

राजा राममोहन राय का ध्यान सर्वप्रथम धर्म की ओर गया। उन्होंने हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्म का गहन अध्ययन किया। वे ईसाई धर्म की प्रशंसा करते थे तो मुस्लिम धर्म को रूढ़िमुक्त मानते थे तथा हिन्दू धर्म के वेदान्त-प्रतिपादित परमात्मा के शुद्ध और उच्च ज्ञान का प्रचार करते थे। वे मानते थे कि नीति प्रचार में ईसाई धर्म आगे निकल गया है, मुसलमानों का देवता-शास्त्र (Theology) शुद्धतम है और हिन्दुओं का वेदान्त-सिद्धान्त अत्यन्त प्रगल्भ है।[3] उन्होंने तीनों धर्मों का विस्तृत

---

१ श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४०५।

२. श्री अरविन्द भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ ६२।

३. आचार्य जावडेकर : आधुनिक भारत, पृष्ठ ५६।

अध्ययन करके एक शुद्ध और एकेश्वरी पथ का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। वस्तुत राजा राममोहन राय वेदान्त को वैज्ञानिकता के तत्त्व से मिलाना चाहते थे। उन्होंने हिन्दुत्व के उस पक्ष का पोषण किया, जिसमें मूर्ति-पूजा नही थी, अवतारवाद नही था और न जिसमें मन्दिर और तीर्थों की ही कोई बात थी। वास्तव में एक ओर तो वे वेदान्त के स्थान से हिलने के लिए तैयार नही थे और दूसरी ओर हिन्दू धर्म को अन्य धर्मों के मुकाबले में लाने के लिए उसे प्राचीन रूढियों से मुक्त करना चाहते थे। उन्होंने हिन्दुत्व के उसी रूप को अंगीकार किया, जो विज्ञान और बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा उतरता हो।[1] उन्होंने सन् १८०४ में फारसी में 'तुहफतुल-मुवाहिदीन' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, सन् १८१५ में वेदान्त का भाष्य लिखा और उसमें भी एकेश्वरवाद के सिद्धान्त पर जोर दिया। इसी साल उन्होंने मानिकतल्ला में 'आत्मीय सभा' खोली, जिसका उद्देश्य वेदान्त का प्रतिपादन करना था। यही आत्मीय सभा सन् १८२८ में 'ब्रह्म-समाज' में परिणत हो गई।[2]

वास्तव में ब्रह्मसमाज की स्थापना करके राजा राममोहन राय ने हिन्दुत्व को अभिनव स्वरूप प्रदान किया। उन्होने निराकार और निर्विकार एक ब्रह्म की धारणा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करके एकेश्वरवाद की स्थापना की तथा अन्य समस्त धर्मों के प्रति सहानुभूति तथा उदारतापूर्ण नीति अपनाने की शिक्षा दी। उन्होने समाज के लिए जो भवन खडा किया उसके ट्रस्ट के दस्तावेज़ में (सन् १८३०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज में होने वाली पूजा में किसी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नही की जायगी, जिसको थोडे से लोग भी पूजा या आराधना करते हो तथा इस समाज में केवल ऐसे ही उपदेश दिए जाएँगे जिनसे सभी धर्मों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती है।[3] राजा राममोहन राय ने हिन्दू समाज की उस विकलांगता की घोर निन्दा की, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य भौतिक फल के लिए भौतिक प्रयत्न करना छोडकर दैववादी, आलसी और अंधा बन जाता है और चमत्कार एव अद्भुतता के चक्कर में पडकर भौतिक-विद्या-लाभ से विमुख हो जाता है।[4]

राजा राममोहन राय ने देश को चिन्तन की नवीन दृष्टि प्रदान की। त्याग और कर्तव्य की समुचित व्याख्या करके उसे प्रवृत्ति-परक समाज के लिए आवश्यक

१ श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५०।

२ राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ—श्री मन्मथनाथ गुप्त स्वतन्त्रता आन्दोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ४०६।

३ आचार्य जावडेकर : आधुनिक भारत, पृष्ठ ६०।

४ श्री रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५१।

अग बताया। उनकी दृष्टि में आत्म-त्याग ही मानव जीवन का सच्चा धर्म है, परन्तु वह आत्म-त्याग नही, जो आत्म-पीडा और मृत्यु को साध्य मान लेता है। आत्म-त्याग का यह घिसा-पिटा अर्थ उन्हें मान्य नही था। उनकी दृष्टि में आत्म-त्याग न केवल भावना का सक्षम उन्मेष करता है, वरन् मनुष्य को श्रम और निष्काम कर्म की ओर भी प्रेरित करता है। ईश्वर और ससार की सेवा के लिए परिश्रम युक्त निष्काम कर्म यदि कष्ट साध्य हो उठे और मृत्यु सम्मुख आ जाय तो भी विचलित नही होना चाहिए।[१] राजा राममोहन राय कर्तव्य और समाज-सुधार में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया। वे कहते थे कि व्यक्ति, परिवार और समाज के प्रति सच्चाई से किया गया कर्त्तव्य ही व्यावहारिक और सामाजिक सुधारा का रूप धारण कर लेता है।[२]

राजा राममोहन राय के चिन्तन की दिशा प्राचीन दार्शनिक चिन्तन से भिन्न थी। वे प्रसिद्ध दार्शनिक शकराचार्य की भाँति माया को मानते थे और उसका समर्थन भी करते थे, परन्तु माया को वे अव्यक्त परमात्मा की शक्ति मानते थे। माया को परमात्मा की शक्ति मानने से निर्गुण ब्रह्मवाद का महत्त्व कम हो जाता है, इसलिए शाकर-वेदान्त के साम्प्रदायिक अनुयायी उसे शक्ति नही कहते और न यही मानते है कि इस शक्ति की सहायता से परमात्मा ने जगत्-निर्माण किया है, क्योकि उनके मतानुसार जगत् और माया दोनो असत् अर्थात् मिथ्या है। इसी में निवृत्तिवाद का उद्गम हुआ है। राजा राममोहन राय प्रवृत्तिमार्ग के अनुयायी थे, इसलिए उन्होने 'जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का खण्डन किया है। जगन्मिथ्या अथवा इसके जैसे उपनिषद्-वाक्यो का अर्थ इन्होने यह किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। वे वेदान्त को प्रवृत्ति-परक मानने के पक्ष में थे और आधुनिक समय में उन्होने निवृत्ति परक समाज को कर्म-प्रवण बनाने का प्रथम

१ Sacrifice means on the one hand an all powerful passion of the spirit and it means on the other hand that labour, that increasing disinterested work which the faithful servant of God renders unto him and unto the world And this work requires suffering pain and death to bear all for its sake.

—P C. Mojoomdar The faith and progress of the Brahmo Samaj P. 29.

२. Duties to individuals, to families and to society when performed faithfully have come to take the shape of practical and social reforms. —Ibid-P. 55.

प्रयत्न किया है।[1]

राजा राममोहन राय ने निवृत्ति-परक समाज को प्रवृत्ति के पथ पर ले जाने के लिए ठोस कार्य किए और उस दिशा में समस्त विरोधो के बावजूद सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध बगावत का झण्डा खडा किया। सन् १८११ में राजा राममोहन राय के बड़े भाई की मृत्यु होने पर जब उनकी भावज सती हो गई[2] तब तो उन्होंने स्त्रियों के प्रति समाज के अत्याचारो के विरुद्ध सक्रिय आन्दोलन छेड़ दिया। सती दाह प्रथा में उन्होंने स्त्री दास्य का नग्न रूप देखा। भौतिक सुखो के समस्त साधन उपलब्ध होते हुए भी स्त्री का जीवन से नाता तोड मृत्यु के आलिंगन की प्रथा हिन्दू समाज की बड़ी ही क्रूर और भयावह प्रथा थी। निवृत्तिपरक समाज को जीवन का उपासक और कर्मनिष्ठ बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने यह आवश्यक समझा कि स्त्री न केवल सती होने से रोकी जाय वरन समाज में विधवा विवाह को भी प्रोत्साहन दिया जाय। नौ वर्ष की एक बालिका को असीस देते हुए एक बार उन्होंने कहा था मेरी नन्ही बच्ची! तुम दीर्घजीवी होओ और तुम्हें योग्य जीवन साथी मिले। परन्तु यदि तुम्हें वैधव्य का सामना करना पडे तो मैं तुम्हारे पुनर्विवाह की मगल-कामना करता हूँ।[3] समाज में स्त्रियो की उपेक्षा तथा अवहेलना से उनके हृदय को बडी चोट पहुँचती थी। उनका विश्वास था कि यदि समाज स्त्रियो की सामान्य आवश्यकताओ को भी मान्यता दे तो वे अपने आप को कम यन्त्रणा देंगी और ससार की उपेक्षा और अवहेलना के कारण दम तोड देनेवाली माताओ की स्नेहमयी गोद से वचित होने का दुःख जैसा उन्हे स्वय

१ आचार्य जावडेकर आधुनिक भारत पृष्ठ ६०।

२ The widow despite the pleas of Ram Mohun insisted on mounting the funeral pyre At the last moment however she changed her mind but her relatives and others at the cremation held her down with bamboo poles and drowned her frantic shrieks with tom toms and conches

—S Natrajan A Century of Social Reform in India P 28 29

३ May you live long my little daughter may you be united to a suitable bridegroom but then become a widow and may I have the opportunity of getting you married again —S Natrajan A Century of Social Reform in India P 41

हुआ था, अभागे पुत्रों को न होगा।[1]

राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की अधिकार-रक्षा के लिए हर तरह से सक्रिय आन्दोलन किये। उन्होंने चेष्टा की कि सती-दाह-प्रथा को सरकार गैर-कानूनी करार कर दे। इस मामले में अंग्रेजों ने उन्हें वर्षों तक टरकाया। हेस्टिंग्ज का भी ध्यान इस ओर गया, परन्तु उन्होंने भी इस पर जाँच-पड़ताल करने के अतिरिक्त कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। अन्त में लार्ड बेन्टिंक के समय में सती-दाह-प्रथा को गैर-कानूनी ठहराया गया। आगे चलकर प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयास से सन् १८५६ में विधवा-विवाह को जायज करार देने के लिए एक बिल पश किया गया, जो स्वीकृत हो गया।

राजा राममोहन राय ने प्रचलित कुलीन-प्रथा के विरुद्ध भी आन्दोलन किया। इस प्रथा के अनुसार एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। राममोहन राय ने इसके विरुद्ध भी आवाज उठाई, पर इस सम्बन्ध में वे कानून नहीं बनवा सके। उन्होंने स्त्रियों के दायाधिकार के सम्बन्ध में भी आन्दोलन किया और चाहा कि पति की मृत्यु पर उसकी सारी सम्पत्ति पर उसकी स्त्री का अधिकार मान्य हो जाय। दहेज प्रथा और लड़की बेचने के विरुद्ध भी उन्होंने आन्दोलन किया।[2]

भारतीय समाज को कर्म-प्रवण बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने शिक्षा के प्रसार पर विशेष जोर दिया। जब अंग्रेज शासक इस विचिकित्सा में पड़े हुए थे कि भारतीयों की शिक्षा अंग्रेजी में हो या देशी भाषाओं के द्वारा, तब राजा राम-मोहन ने बड़ी ही दूरदर्शिता के साथ अंग्रेजी का पक्ष लिया। आज हम देशी भाषाओं के द्वारा सारी शिक्षा देने की अवस्था में आ गए हैं, किन्तु उन दिनों देशी भाषाएँ अर्द्धविकसित अवस्था में थीं। अतएव राजा राममोहन राय ने यही उचित समझा कि विज्ञान, राजनीति, शिल्प आदि का ज्ञान भारत में फैलाने के लिए यह अनिवार्य है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो।[3] भौतिक विद्या का ज्ञान उन्होंने भारतीयों के लिए इतना आवश्यक समझा कि उन्होंने सरकार द्वारा संस्कृत-अध्ययन

---

१ "If men were more compassionate, and society recognised their right to the commonest necessaries of life, perhaps they would be less hard on themselves, and many a heart-stricken son would be spared the misery I felt when I found my mother's beloved life sink under the load of the world's neglect and indifference" —Ibid-P 43

२. राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ—श्री मन्मथनाथ गुप्त . स्वतन्त्रता आन्दोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ४१०।

३. श्री रामधारी सिंह दिनकर . संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५४२।

पर होने वाले खर्च को कम करके पश्चिमी शिक्षा और विद्याओ के लिए खर्च करने पर जोर दिया।[1]

पत्र-कला के क्षेत्र मे भी राजा राममोहन राय ने योगदान किया। सन् १८१६ में उन्होने 'सवाद कौमुदी' के नाम से भारतीय तत्त्वावधान में निकलने वाले सर्वप्रथम बँगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया और तीन वर्ष बाद फारसी भाषा में 'मिरातुल अखबार' नामक अन्य एक पत्र का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया। सन् १८२३ में एक बार 'कलकत्ता जनल' के सम्पादक श्री बकिघम ने सरकारी अफसरो और सरकारी कानून की तीव्र भर्त्सना की थी। अग्रेजी सरकार ने इस कृत्य को देश द्रोह कहकर भारतीय समाचारपत्रो पर प्रतिबन्ध लगाने वाला एक काला कानून जारी किया और श्री बकिघम के प्रति अमानवीय व्यवहार किया। पार्लियामेन्ट के नियम के अनुसार[2] 'भारतवर्ष के प्रत्येक कानून की अन्तिम स्वीकृति सुप्रीम कोर्ट से लेनी पडती थी। राजा राममोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द करते हुए सुप्रीम कोर्ट और सम्राट की कौंसिल तक अपने विरोध का मेमोरेंडम भेजा।

राजनीति के क्षेत्र में राजा राममोहन राय एक महान् राष्ट्रनायक सिद्ध होते है। उनकी विशद राजनीति केवल एक जाति विशेष के हित-अहित के सकीर्ण घिरौंदे में बन्द राजनीति न थी, बल्कि एक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श से ओतप्रोत थी, जिसमें ससार भर के पीडित और शोषित जनों के प्रति समवेदना और सौहार्द्र की सच्ची भावना निहित थी। स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तरात्मा की सबस जोरदार लगन थी। उनके अन्तराल में धधकती हुई स्वतन्त्रता की आग का यह हाल था कि जब उन्होने सुदूर स्पेन की जनता द्वारा स्वायत्त शासन की प्राप्ति का समाचार पाया था तो कलकत्ते के टाउन हाल में एक सावजनिक प्रीतिभोज दिया था। ऑस्ट्रियन सैनिक सत्ता द्वारा नेपल्स नगर के निवासियो के अधिकारों के कुचले जाने की खबर जब उन्होने सुनी तो वे क्षुब्ध होकर बोल उठे ■ कि *स्वाधीनता के शत्रु और निरकुशता के हिमायती अन्तत न कभी सफल हुए हैं और न होगे।*[3]

सन् १८३० में उन्हें इगलैंड जान का अवसर मिला था। राजा राममोहन राय ही प्रथम उच्च वण हिन्दू थे, जिन्होन आधुनिक युग में समुद्र यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लघन कर पाश्चात्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया

१. आचार्य जावडेकर आधुनिक भारत, पृष्ठ ६०।

२ देखिए—Act of Parliament, 13 Geo 111 Gap 63 (Leaders of the Bhahmo Samaj by G A Natesan, पृष्ठ ४६ से उद्धृत)

३ श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी भारत निर्माता, पृष्ठ १० १८।

था। उन्होंने इंगलैंड में जाकर भारत-भ्रातृत्व और विश्व-मानवता का सन्देश सुनाया और भारतीयों के लिए दूर-सुदूर जाकर भारत को संस्कृति का सन्देश देने का मार्ग प्रशस्त किया। वहाँ पर उन्होंने सती-दाह-निषेधक कानून के विरुद्ध अपने देश के कट्टरपंथी समाज द्वारा पेश की गई अपील को रद्द कराया, ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर की पुनरावृत्ति के सिलसिले में नियुक्त शाही जाँच-कमेटी के सामने गवाही देकर तत्कालीन रेवेन्यू और जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए देश की जनता की यथार्थ स्थिति और आवश्यकताओं पर भरपूर प्रकाश डाला, पार्लमेन्ट में भारतीय शासन-सुधार के सम्बन्ध में पेश प्रस्तावित 'रिफार्म बिल' को पास कराने में समुचित योग दिया और भारत के सम्बन्ध में पश्चिम में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं को दूर करने के लिए वहाँ के सामयिक पत्रों में लेख लिखकर हर प्रकार से भारत देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयास किया।[1]

अन्त में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय ने अपने देश को प्रवृत्ति-परक चिन्तन की नवीन दृष्टि प्रदान कर राष्ट्रीय जीवन-धारा को एक नूतन सृजन की भावना से अनुप्राणित किया। 'प्रवृत्ति' का जो बिरवा कालान्तर में कुम्हला गया था, उसे अपने जीवन की समस्त साधना और स्वेद कण से सींच कर उसे हरा कर दिया। आगे आने वाले युगों में यह पौधा ज्यों-ज्यों पल्लवित-पुष्पित होता गया, त्यों-त्यों उसकी वृहद् जीवन-दायिनी छाया पाकर समस्त भारत देश अपने पुनर्गठन की ओर अग्रसर होता गया।

राजा राममोहन राय के निधन के पश्चात् ब्रह्म-समाज के नेतृत्व का भार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कंधों पर पड़ा। देवेन्द्रनाथ के हृदय में यूरोप से आने वाले बुद्धिवाद पर इतनी अधिक आस्था थी कि वे ब्रह्मसमाज के मूलाधार हिन्दुत्व के सिद्धान्तों की उपेक्षा-सी करने लगे। परिणाम-स्वरूप ब्रह्मसमाज अपनी जड़ से दूर जाने लगा और केशवचन्द्र सेन के समय में तो वह हिन्दुत्व से इतना अलग और ईसाइयत के इतना समीप जा पहुँचा कि लोगों को वास्तविक भ्रम होने लगा कि यह और कुछ नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू समाज को एक साथ ईसाइयत में दीक्षित करने का आयोजन मात्र है।[2]

महादेव गोविन्द रानाडे (सन् १८४२-१९०१)

नवजागरण की दिशा में बंगाल में जो स्थान राजा राममोहन राय को प्राप्त था, वही महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे का था। प्रवृत्ति के उत्थान में सतत सचेष्ट रहनेवाले भारतीय मनीषियों में रानाडे का नाम सदैव आदरपूर्वक लिया जाएगा। वे एक उच्च-सम्मान-प्राप्त सरकारी पद पर आसीन थे एवं अन्त में

१. श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी : भारत निर्माता भाग दो, पृष्ठ ११।
२. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४५२।

बम्बई हाई कोर्ट के न्यायाधीश भी नियुक्त हुए थे। बम्बई हाईकोर्ट में नियुक्त न्यायाधीशों की सूची में प्रथम भारतीय न्यायाधीश के नाते रानाडे का नाम देखकर किसी भी भारतीय का मस्तक गर्व से ऊँचा उठ सकता है। सरकार नौकरी के समस्त बंधनों के बावजूद उन्होंने सार्वजनिक हित में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। वे न केवल महाराष्ट्र के वरन् समस्त भारत के सार्वजनिक जीवन के जनक के नाम से जाने जाते हैं।

रानाडे ने समस्त व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि दे दी थी। अपने जीवन में किसी के साथ किसी वस्तु के लिए उन्होंने प्रतियोगिता की भावना नहीं रखी। वस्तुतः उनके शब्दकोश में उत्तम पुरुष एकवचन के लिए स्थान ही न था।[1] वे केवल सार्वजनिक हित सर्वथा योजनाओं में लिप्त रहा करते थे और चाहते थे कि लोग उनकी योजनाओं में भाग लेकर समाज और देश के पुनरुद्धार में जुट जायँ। वे स्वयं यद्यपि सरकारी नौकरी की बेड़ियों में जकड़े होने के कारण अपने समकालीन राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की भाँति खुलकर सामाजिक और राजनीतिक अखाड़े में उतरते नहीं देखे गये, फिर भी यह सबकी जानी हुई बात थी कि क्यों क्या राजनीति और क्या समाज सुधार, दोनों ही के रंगमंच पर यवनिका की ओट से यथावत सूत्र-संचालन करने वाले व्यक्ति वही थे।[2] उनके सबसे प्रबल राजनीतिक प्रतिपक्षी लोकमान्य तिलक तक ने कहा था, 'महाराष्ट्र का तेज विविध कारणों से नष्ट होकर एकदम ठंडे गोले की तरह बन गया था। उसे चैतन्यमय बनाकर पूर्वावस्था तक पहुँचाने की रात-दिन चिंता करने के साथ-साथ उस कठिन कार्य को अपने सिर पर लेने और उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करने वाले सबसे पहले वीर महादेव गोविन्द रानाडे ही थे।[3]

बम्बई में नवजागरण की हिलोर सन् १८२६ ई० में आई थी, जब परमहंस सभा के नाम से एक संस्था की स्थापना हुई थी, परन्तु इस सभा के सदस्यों ने छिप-छिपाकर तथाकथित छोटी जाति के लोगों के हाथ का भोजन करके जाति प्रथा के बन्धनों को तोड़ने तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली थी। सन् १८६४ में बंगाल से केशवचन्द्र सेन जब ब्रह्मसमाज का सन्देश लेकर बम्बई पहुँचे तो उनके भाषणों से वहाँ काफी उत्तेजना फैली और परमहंस सभा के पुराने सदस्यों ने डा० आत्माराम पांडुरंग की अध्यक्षता में एक नई संस्था प्रार्थना समाज बनाई, जिसमें जाति-प्रथा-विरोध, बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह-समर्थन और स्त्री शिक्षा-

---

१ "The first personal singular did not exist in his vocabulary" —Gokhale (T V Parvate . Mahadev Govind Ranade, P 310).

२ श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी भारत निर्माता, पृष्ठ ८६।

३. वही—पृष्ठ ८६।

प्रचार को कार्यक्रम का मुख्य ध्येय माना गया। रानाडे ने प्रार्थना-समाज की उन्नति में विशेष योगदान किया। प्रार्थना समाज के तत्वावधान में उन्होने समाज को घोर निवृत्ति की दिशा मे ले जानेवाली प्रवृत्तियो पर बार-बार प्रहार किया। समाज के जिस अग में नैराश्य और दैन्य की भावना थी, उसी की ओर उनका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ। यद्यपि स्वय हिन्दुओ ने उनके मार्ग में कम रोडे नही अटकाये, वे अपने पथ से विचलित नही हुए और हिन्दू-समाज के गलित खोखले अग का वे बडे ही धैर्य और साहस के साथ सुधार का इलाज करते रहे। समाज-सुधार के कार्यों को अधिक ठोस रूप देने के लिए रानाडे ने सन् १८८७ में 'इडियन नेशनल सोशल कान्फरेन्स' की स्थापना की। इसके वार्षिक अधिवेशन 'इडियन नेशनल काग्रेस' के अधिवेशन के साथ हुआ करते थे। उन्होने भिन्न-भिन्न प्रान्तो में 'सोशल रिफार्म एसोसिएशन' के नाम से इसकी शाखाएँ स्थापित की। सोशल कान्फरेंस के तत्वावधान में जाति-प्रथा के बन्धन ढीले करना, छुआ छूत की भावना को मिटाना, समुद्री यात्रा को उत्साहित करना, दलित जातियो को उठाना, स्त्रियो की शिक्षा और जागरण के लिए उद्योग करना, बाल-विवाह के विरुद्ध आवाज उठाना, विधवा-विवाह का प्रचलन आदि रूपो में समस्याओ के समाधान की दिशा मे प्रयास किए गए। सोशल कान्फरेंस की विशेषता यह थी कि यह सस्था शुद्ध रूप से एक सामाजिक सस्था थी। इसका दरवाजा किसी वर्ग के लिए बन्द न था, मुसलमान और ईसाई भी इसके कार्यक्रमो में भाग लिया करते थे।

रानाडे देश की दरिद्रता से क्षुब्ध थे। उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि देश की गरीबी का मुख्य कारण बढती हुई जनसख्या और ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषणनीति है। जनसख्या की वृद्धि के कारण भोजन की समस्या दिन-प्रति दिन उग्र रूप धारण करती जा रही थी। उन्होने घनी आबादी वाले प्रदेशों से कम आबादी वाले स्थानों में ही नही, वरन् विदेशो की नई बस्तियो में भी लोगो के स्थानान्तरण का सुझाव पेश किया।[1] कहना न होगा कि रानाडे का यह सुझाव निरर्थक नही हुआ। आज हम देखते है कि आस्ट्रेलिया, कैनेडा और अफ्रीका आदि देशो में भारतीयों की कालोनी की कालोनियाँ बसी हुई है। ब्रिटिश आर्थिक नीति की स्वार्थ-परता को भी रानाडे ने खूब अच्छी तरह समझा। सरकार केवल शासन और स्वरूप में ही *ब्रिटिश नही थी*, वरन् सहानुभूति, रुचि और नीति में भी ब्रिटिश थी,[2] जिसकी आर्थिक नीति के कारण देश के उद्योग-धन्धे और व्यवसाय तो हाथ

1 He recommended a programme of migration abroad as also into the sparsely populated parts of the country which could be developed

—T. V. Parvate . Mahadev Govind Ranade, P. 174.

2. "The Government was not only British in personnel and

से निकले ही जा रहे थे, जीवन-यापन के समस्त साधनों के उत्पादन की क्षमता भी दिनों-दिन क्षीण होती जा रही थी।[१] रानाडे ने देश की गरीबी दूर करने के लिये आर्थिक दृष्टि से औद्योगीकरण और यन्त्रों के अधिकाधिक प्रयोग की दिशा में जागृति फैलाने का भरसक प्रयत्न किया।

रानाडे देश की पतनावस्था, दरिद्रता और दु:खपूर्ण परिस्थिति से जूझते रहे, परन्तु कभी नैराश्य के शिकार नहीं हुए। उनकी जीवन-दृष्टि सर्वत्र प्रवृत्तिमूलक वैदिक जीवन-दृष्टि के साँचे में ढली हुई दृष्टिगत होती है। पग-पग पर उनका जीवन आशापूर्ण दृष्टिकोण से रंजित प्रतीत होता है। यही कारण है कि वे जीवन-पर्यन्त सुधार-मार्ग पर चलते ही रहे—न तो कभी थके और न ही कभी विश्रान्ति की आवश्यकता महसूस की।

भटकी हुई मनुष्यता के कदमों के लिए सही मार्ग-निर्देश करने वाले प्रकाश-पुंज-रूप रानाडे की विचार-धारा बहुमुखी थी, परन्तु उनके जीवन की समस्त रुचि एक ही दिशा में केन्द्रित थी। वह था मनुष्य का सर्वतोमुखी सुधार और मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पूर्ण विकास जिससे कि कवियों की कल्पना का स्वर्ग या पौराणिक कथाओं में वर्णित देश का सुनहला युग धरती पर फिर से लाया जा सके।[२] प्रवृत्ति चिन्तन का इससे अधिक मुखर रूप और क्या हो सकता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४—१८८३)

'विचारक बनो, पर साथ ही करनेवाले भी बनो, आत्मा बनो, पर साथ ही मनुष्य भी बनो, परमेश्वर के सेवक बनो, पर साथ ही प्रकृति के स्वामी भी बनो' का प्रवृत्ति परक अमर सन्देश देने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती में राजा राम-

appearance but British also in sympathies, interests and policies"

—T V Parvate Mahadev Govind Ranade, p 176.

१ "The Industry and Commerce of the country, such as it was, is passing out of our hands and except in large Presidency Towns, the country is fed, clothed, warmed, washed, lighted, helped and comforted generally by a thousand arts and industries in the manipulation of which its sons have every day a decreasing share".

—T V Parvate Mahadev Govind Ranade P 176.

२ His interest really was only one and that was all-sided reform of man, renovation of the whole man, so as to bring the heaven of poetic imagination —Ibid P. 147.

मोहन राय और रानाडे की अपेक्षा अधिक दर्प दिखाई देता है। रूढ़ियों और गतानुगतिकता में फँसकर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने भारतवासियों की कडी निन्दा की और उनको सुझाया कि उनका धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है।[१] इनके पूर्व आधुनिक युग के मनीषियों ने हिन्दू धर्म की कुरीतियों की ओर तो ध्यान आकृष्ट किया था, पर अन्य धर्मों की कमजोरियों का पर्दाफाश करने का साहस किसी ने नहीं किया था। स्वामी दयानन्द ने ईसाई और मुस्लिम पुराणों में घुस कर इन धर्मों के भी ऐसे ही दोष निकाले, जैसे दोष उनके पूर्व हिन्दू धर्म में निकाले जा रहे थे।

स्वामी दयानन्द सीधे भारतीय जीवन और संस्कृति के असली मूल तक पहुँचे और इसके आमूल नवीन जन्म के लिए उन्होंने इसके सबसे प्रथम निकले फूल (वेद) से बीज प्राप्त किया।[२] उन्होंने वेद की इस वास्तविक श्रेष्ठता को पहचाना कि यह वह धर्मपुस्तक है, जिसमें इस देश और राष्ट्र को बनाने वाले पूर्वजों की गहरी और प्रबल भावना छिपी हुई है। उन्होंने वेद को भारत की युगों से चली आ रही चट्टान के रूप में ठीक-ठीक पकड लिया और इसमें अपनी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि द्वार यौवन की सपूर्ण शिक्षा अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्यता और सम्पूर्ण राष्ट्रीयता को देखकर इस चट्टान पर इनके भवन को बनाने का साहसपूर्ण विचार किया।[३] राजा राम-मोहन राय ने भी भारत के पूर्व गौरव को पहचानने के लिए अतीत पर दृष्टि डाली थी, परन्तु उनकी दृष्टि वेदान्त से आगे न जा सकी, परन्तु दयानन्द की दृष्टि वेदान्त से भी परे पहुँची और वेदों पर जाकर टिक गई। उन्होंने निश्छल भाव से यह घोषणा कर दी कि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में केवल वेद ही मान्य हैं, अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहिए। छ शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं है, अत. स्वामी जी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।[४]

वस्तुत. स्वामी दयानन्द वेदों के प्रवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर यह बतलाना चाहते थे कि भारतीय जीवन की आदि-परंपरा निवृत्ति की नहीं, प्रवृत्ति की रही है। वेदकालीन समाज ने कभी हार नहीं मानी, जीवन में कभी पराजय को नहीं स्वीकार की, प्रवृत्ति के विभिन्न अवयवों के साथ

---

१. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४६३।
२. श्री अरविन्द : दयानन्द, पृष्ठ १६।
३. वही, पृष्ठ १७।
४. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४६६।

मित्रता स्थापित कर कर्मशीलता और कर्मठता को ही जीवन का चरम सत्य माना। जीवन से संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त करनेवाले जीवन-दर्शन को लोग लगभग भूल चुके थे, स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वारा पुनः उसी 'शुद्ध शक्ति, उच्च स्पष्टता, सूक्ष्मदर्शी आँख, सिद्ध हाथ तथा श्रेष्ठ और प्रभुत्वपूर्ण सत्यता'[1] के प्रति आग्रह रखने का सन्देश दे भारतीय जनता का बड़ा उपकार किया।

स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों को साकार रूप में मूर्तिमान करने के लिए सन् १८७५ में बम्बई में अपने सबसे महान् स्मारक 'आर्यसमाज' की नींव डाली। दो वर्ष बाद उन्होंने लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की। पंजाब के लोगों में आर्यसमाज के प्रति अधिक उत्साह जाग्रत हुआ और पंजाब आर्यसमाजियों का प्रधान केन्द्र बन गया। अन्य प्रान्तों में भी आर्यसमाज का अच्छा प्रचार हुआ। उन्होंने आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए समस्त देश में भ्रमण किया। ईसाइयत, इस्लाम और सनातनधर्मी मोर्चे से लोहा लेना सरल काम न था—कठिनाइयों का दुर्लंघ्य पर्वत और विरोधियों की अपार भीड़—पर उन्हें कोई अपने पथ से डिगा नहीं सकता था। मादाम ब्लेवास्की का कथन था कि जनसमूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमरमर की मूर्ति भी स्वामीजी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य का दृढ़ निश्चय, सच्चाई और ईमानदारी प्रबल रचना-शक्ति की क्षमता रखती है। प्रकृति अपने दरवाजे पर हमेशा एक स्पष्ट सच्चे और पहचानने योग्य खटखटाने वाले को पहचान लेती है और परिणाम में वैसी ही पूरी सजगता और पूरे यत्न के साथ उत्तर देती है।[2]

स्वामी दयानन्द ने बुद्धिवाद की निश्चल ज्योति जगाई और आधुनिक नवोत्थान को पूर्ण प्रकाश प्रदान किया। उन्होंने वैदिक परम्परा को जगाकर भारतवासियों में अतीत के प्रति अभिमान की भावना भरी, परन्तु उन्होंने इस बात को खूब अच्छी तरह समझा कि केवल अतीत-चिन्तन मनुष्य को निष्क्रिय ही बनाता है, इसीलिए उन्होंने मृत की संजीवनी-शक्ति को ग्रहण करके उसे वर्तमान की धारा में डालकर देश में पुनरुद्धार और नवनिर्माण का मन्त्र फूंका। उनकी स्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेश की आवाज ने कालान्तर में इस देश में स्वराज्य का नारा बुलन्द करने में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मूल्यवान योग दिया। वस्तुतः उनका काम हमारे आगे आने वाले सर्वांगीण राष्ट्रीय संग्राम के लिए अग्रिम रण-शिविर तैयार करने का था, जिसको उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचाकर बड़ी खूबी के साथ किया।

---

१. श्री अरविन्द : दयानन्द, पृष्ठ २२।
२. श्री अरविन्द : दयानन्द, पृष्ठ २०।

स्वामी दयानन्द के 'समाज' ने वेदपाठ, मन्त्र-स्तवन और हवन तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व कार्य किए। आर्यसमाजी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करना था। मनुष्य का जीवन स्वकेन्द्रित नहीं होना चाहिए, वह उस समाज के प्रति भी उत्तरदायी होता है, जिसमें वह जन्म लेता है और संस्कार ग्रहण करता है। राष्ट्र के खर्च पर जो भी व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करता है उसे ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो उसे समाज का लाभदायक सदस्य बना सके।[1] स्वामी दयानन्द ने जगह-जगह आर्यसमाजी सिद्धान्तों पर विद्यालयों की स्थापना प्रारम्भ कर दी। लाहौर और कांगड़ी में उच्च शिक्षा के लिए महाविद्यालयों की स्थापना हुई। इन शिक्षा-केन्द्रों में फीस कम ली जाती थी और नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। सभी शिक्षक भारतीय होते थे और राज्य से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली जाती थी। शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखा गया, यद्यपि अंग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा की भ समुचित व्यवस्था की गई, यहाँ तक कि शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की गई। सन् १६२० के बाद जब देश में राष्ट्रीय भावना की लहर दौड़ी तब ये संस्थाएँ अत्यधिक लोकप्रिय हो गईं।

राजा राममोहन राय की तरह स्वामी दयानन्द ने भी स्त्रियों के उत्थान के लिए अपनी आवाज बुलन्द की और उनको पुरुषों के समान अधिकार देने के लिये समाज को ललकारा। बाल-विवाह का उन्होंने घोर विरोध किया और लड़कों के लिए कम-से-कम २५ वर्ष तथा लड़कियों के लिए कम-से-कम १८ वर्ष विवाह की उम्र निश्चित की। सन् १८८० में उन्होंने वर और वधू के लिए विवाह से पूर्व एक दूसरे की फोटो दिखाने की प्रथा का समर्थन किया। विवाह के समय के अनावश्यक बाह्याडंबर की भी उन्होंने भर्त्सना की, और आर्यसमाजी रीति से बिना किसी आडंबर के उन्होंने न जाने कितने नवयुवकों और नवयुवतियों का गठबन्धन कराया। आर्यसमाज की शिक्षा-योजना में स्वामी दयानन्द ने बालिकाओं की शिक्षा के लिए विशेष रुचि दिखाई। उन्होंने बालक-बालिकाओं को समान शिक्षा देने की योजना कार्यान्वित की। उन्होंने विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया और स्त्रियों के लिए मातृत्व-प्राप्ति ही परम धर्म तथा विवाह का एकमात्र ध्येय उद्घोषित कर विशेष परिस्थितियों में नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न

---

१. Those who do receive education at the national cost, should receive it in a manner best suited to make them useful members of the community

—Lala Lajpat Rai · The Arya Samaj, P.203-204

करने की प्राचीन प्रथा तक का अनुमोदन किया।[1]

स्वामी दयानन्द ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में एक और क्रान्ति का स्वर जगाया। उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों को, विशेषकर उन लोगों को जो कि विवश होकर ईसाई या मुसलमान बन गये थे, शुद्ध करके फिर से हिन्दू बना लिया। उनके इस प्रयास से उन ईसाइयों को बडी निराशा हुई जो हिन्दू धर्म की दुर्बलताओं से लाभ उठाकर अनगिनत हिन्दुओं को ईसाई बनाये जा रहे थे। वस्तुत: उन्होंने असख्य अहिन्दुओं को हिन्दू बनाकर हिन्दुओं के सामाजिक सगठन को दृढता प्रदान की।

स्वामी दयानन्द के बाद आर्यसमाज की वृद्धि और विकास करने में जिन्होने सबसे अधिक योग दिया, उनमें प० गुरुदत्त विद्यार्थी, स्वामी श्रद्धानद, लाला लाजपत राय, महात्मा हसराज आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्ही अनुयायियो के प्रयास और लगन का फल था कि स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् भी आर्य-समाज ने प्रशसनीय कार्य किये। सन् १९२१ में मालाबार के मोपला लोगो ने अपने पडोसी हिन्दुओ को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया तो आर्यसमाज ने इस विपत्ति के समय सकट के सामने छाती खोली और कोई ढाई हजार भ्रष्ट परिवारों को फिर से हिन्दू बना लिया। इसी काड के बाद आर्यसमाजियो ने राजस्थान के मलकाना राजपूतो की शुद्धि करके उन्हें हिन्दू जाति में सम्मिलित कर लिया। आर्यसमाजियों ने अपने साहस का दूसरा परिचय सन् १९३७ में दिया जब कि हैदराबाद की निजाम सरकार ने यह फरमान जारी किया था कि हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज का प्रचार नही होने दिया जाएगा। इस आज्ञा के विरुद्ध आर्य-समाजियो ने सत्याग्रह का शस्त्र निकाला और एक-एक करके कोई बारह हजार आर्यसमाजी सत्याग्रही जेल चले गए।[2]

वस्तुत स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में आर्यसमाज ने देश में जागृति की जो चिनगारी उत्पन्न की, उसने उस देशव्यापी क्रान्ति की लपट को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत के कलेवर में फिर से एक विद्युच्चेतना का सचार कर दिया।

श्रीमती एनी बेसेन्ट (१८४७-१९३३ ई०)

श्रीमती एनी बेसेन्ट थियोसॉफिकल सोसायटी की अध्यक्षा (१९०७-३३ ई०) के रूप में जानी जाती है। थियोसॉफिकल सोसायटी की नीव मादाम ब्लावस्की और आलकाट साहब ने मिलकर सन् १८७५ में न्यूयार्क में डाली थी। सन् १८७९ में दोनो अपनी सस्था लेकर बम्बई चले आए। उनके आगमन पर आर्यसमाजियो

१. श्रीकृष्णवल्लभ द्विवेदी भारत निर्माता, पृष्ठ २९।
२ श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४७०-४७१।

ने उनका भव्य स्वागत किया। सन् १८८२ में थियोसॉफिकल सोसायटी का प्रधान कार्यालय अडयार (मद्रास) स्थानान्तरित किया गया। थोड़े ही दिनों बाद मादाम ब्लावस्की इंगलैंड चली गईं। वहाँ उन्होंने 'दि सीक्रेट डाक्ट्रिन' (गुह्य सिद्धान्त) नामक पुस्तक लिखी। इसी पुस्तक को पढ़कर श्रीमती एनी बेसेन्ट थियोसॉफिकल सोसायटी से प्रभावित हुई थीं और इस समाज में प्रवेश किया था। सन् १८९२ में उन्हें भारत आने का निमन्त्रण मिला, जिसके उत्तर में उन्होंने लिखा, जब कर्म का द्वार खुलेगा, मैं आऊँगी।[१] अगले ही वर्ष श्रीमती बेसेन्ट ने अनुभव किया कि उनके लिए कर्म का द्वार खुल गया है और भारत के लिए प्रस्थान करने का समय आ गया है। सन् १८९३ में ४६ वर्ष की आयु में वे भारत पहुँचीं। आल-काट साहब के निधन के पश्चात् सन् १९०७ में वे थियोसॉफिकल सोसायटी की सभानेत्री नियुक्त हुईं।

जिस कर्म की भावना से प्रेरित होकर श्रीमती बेसेन्ट आई थीं, जीवन-पर्यन्त उसी कर्म की साधना में लगी रहीं। कर्म के पथ का पथिक होकर ही समाज प्रवृत्ति-मार्गी होता है। स्वयं उस कर्म के पथ पर चलकर और दूसरों को भी उसी कर्म का पथिक होने के लिए आह्वान करके श्रीमती बेसेंट ने प्रवृत्ति के उत्थान में विशेष योगदान दिया है।

कालान्तर में जो हिन्दू समाज निवृत्तिमार्गी हो गया था, उसने जब यूरोपीय वाक्‌विजय को देखा तो एक ही झटके में उसने यह समझने की भूल की कि भारतीय दर्शन निवृत्ति का सन्देहवाहक रहा है और यूरोपीय दर्शन प्रवृत्ति का। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ह्यूम्ले, मिल और स्पेन्सर के विचारों का तो समर्थन करते थे, पर भारतीय धर्म और दर्शन से विमुख होते जा रहे थे, उन्हें हिन्दुत्व के समग्र रूप के प्रति घृणा हो गई। इधर यूरोप के मिशनरी भारतीयों की इस भावना से लाभ उठाकर भारत और विशेषतः हिन्दू धर्म के प्रति विष-वमन कर रहे थे। श्रीमती एनी बेसेंट जिस समय भारत आईं, उन्होंने भारतीयों को आस्तिकता और नास्तिकता, आध्यात्मिक और आधिभौतिकता के बीच में डूबते-उतराते हुए देखा। यद्यपि श्रीमती बेसेंट के पूर्व स्वामी दयानन्द ने अन्य धर्मों की आलोचना करते हुए हिन्दुत्व को अभिनव स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया था, पर जो विष यूरोप के मिशनरी उगल रहे थे, उसके लिये यूरोप के ही प्रति विष के रूप में एनी बेसेन्ट के जवाबों का अधिक असर हुआ। भारतीयों में हिन्दुत्व के प्रति उस हिन्दुत्व के प्रति जो अपने मूल रूप में प्रवृत्तिमार्गी था—आस्था जगाने का सबसे अधिक श्रेय

---

१ "When Karma opens the door, I will walk through it."
—Mrs. Annie Besant (D. S. Sharma - The Renaissance of Hinduism, P. 201).

एनी बेसेंट को ही है। भारतीयों को प्रवृत्ति के पथ पर ले जाने के लिए आवश्यक था कि उनके हृदय में भारतीयता के प्रति अभिमान जगाया जाय। उनमें गजब की दूरदर्शिता थी। वस्तुत वे भारतीयों के हृदय से हीनता, नैराश्य और मुर्दादिली की भावना निकालकर उन्हें प्रवृत्ति के प्रकाश में ले जाना चाहती थी, जिससे प्रेरित हो वे अन्तत देश को उसी प्राचीन भव्य गौरव से विभूषित कर सकें—उनका विश्वास था कि भारत-सूर्य कुछ दिनो के लिए काले बादलों से ढँक गया है तो क्या हुआ, वह दिन दूर नही कि देश को अपनी स्वतन्त्रता मिलकर रहेगी।[1]

सर वैलेन्टाइन शिरोल ने एनी बेसेंट को भारत-सेवा देखकर अपनी 'इण्डियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक में लिखा है कि जब अत्युच्च बौद्धिक शक्तियो एव अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन भारत जाकर भारतवासियों से यह कहे कि उच्चतम ज्ञान की कुञ्जी यूरोपवालो के नही, तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन और तुम्हारी नैतिकता की यूरोप वाले छाया भी नही छू सकते, तब इसमें क्या आश्चर्य है कि भारतवासी हमारी सभ्यता स पीठ फर लें।[2]

श्रीमती एनी बेसेंट न भारतीयो के स्वाभिमान को जगाने के लिए यह आवश्यक समझा कि उनके हृदय में हिन्दुत्व का गौरव जगे। उनका कहना था कि हिन्दू यदि हिन्दुत्व की रक्षा नही करेगा तो कौन करेगा ? यदि भारत के अपने सपूत उसके विश्वास की रक्षा नही करेंगे तो उसकी रक्षा कौन करेगा ? भारत ही भारत की रक्षा कर सकता है, और भारत तथा हिन्दुत्व एक हैं। कोई विदेशी भारत के लिए उतना क्या करेगा, जितना कि कोई भारतीय कर सकेगा। हिन्दू तो जन्मजात हिन्दू होता है, हिन्दू बनाया नही जा सकता। इस बात में किसी प्रकार का भ्रम न होना चाहिए कि बिना हिंदुत्व के भारत का भविष्य अधकारमय है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है, जिसमें भारतवर्ष की जड़ें गडी हुई है। उस मिट्टी से अलग कर देने पर भारत का वृक्ष सूख जाएगा। भारत से यदि अन्य धर्म लुप्त हो जाएँ तो भारत बना रहेगा, परन्तु इस देश से यदि हिंदुत्व लुप्त हुआ तो उसका शव ही

---

1. "O India ? O Perfect Nation ?
O India that shall be
How long till thou take station ?
How long ere thralls live free ?
How long ere all thy soul
Be one with all the sea ?"
—Mrs Annie Besant, 1 May, 1930, New India
(Annie Besant Builder of New India)
Compiled by Mrs Adeltha Peterson, P 510

२ श्री रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४७६।

हाथ लगेगा, तब भारत स्मृति मात्र की वस्तु रहेगा....न तो देशभक्ति का ही विषय रह जाएगा और न राष्ट्र के रूप में उसका रूप अक्षुण्ण रहेगा।[1] यो तो हिन्दुत्व की ओर भारतीयो को उन्मुख करने का प्रयास ब्रह्म-समाज और आर्य समाज ने भी किया था, परन्तु इन दोनों समाजो के नेताओ ने सशोधित हिन्दुत्व का समर्थन किया था। ब्रह्मसमाज का सशोधित हिन्दुत्व ईसाइयत का भारतीय सस्करण हो गया था और आर्यसमाज भी प्रचलित हिन्दुत्व से बहुत पृथक दीखता था। श्रीमती बेसेंट ने खण्डित नही, अखण्ड हिन्दुत्व का वीरतापूर्ण आख्यान किया। उन्होंने केवल वेद, उपनिषद् और गीता का ही हवाला नही दिया, प्रत्युत स्मृति, पुराण, धर्म-शास्त्र और महाकाव्य, जब जहाँ जो बात मिली, सबके द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया।[2]

श्रीमती एनी बेसेंट ने समाज-सुधार की दिशा में ठोस कार्य किये। वे ऊँच और नीच, कुलीन और अकुलीन तथा ब्राह्मण और शूद्र के बीच की खाई पाटकर देश में भाई-चारे का मंत्र फूंकना चाहती थी। उन्होंने मनुस्मृति का उद्धरण देकर, जिसमें शूद्र को परिवार का छोटा पुत्र मानने की शिक्षा दी गई है, भारत के प्राचीन भाई-चारे के सिद्धात की ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट किया।[3] जाति-प्रथा के सबध में उनका मत यह था कि जाति और गुण का मेल परमावश्यक है। कोई की जाति ऊँची नही हो सकती, यदि वह गुणविहीन है। उन्होंने बार-बार इस मत की पुष्टि की है कि उच्च वश में जन्म लेने के साथ-साथ मनुष्य को गुणो से सम्पन्न भी होना चाहिए, नही तो वह ऊँची जाति का मनुष्य नही रह जाएगा।[4]

श्रीमती एनी बेसेंट के शिक्षा-सबंधी विचार रानाडे के विचारो से मिलते है। उन्होने भी राष्ट्रीय शिक्षा पर जोर दिया है। शिक्षा तभी सही शिक्षा होगी, जब कि वह विद्यार्थी के मन में राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न कर सके और उसे राष्ट्र-हित

---

१. From a lecture given to the students of Central Hindu College, Banaras
(D S Sharma · Renaissance of India, P. 205)

२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४७६

३. "The one thing that has saved her that she has never quite lost sight of the great principle of Brotherhood, for, as Manu taught, let the Shudra be the younger son in the household."
—Annie Besant , Builder of New India, P 319

४. "There is no caste, it is written over and over again, unless birth and quality go together." —Ibid, P 322

की ओर उन्मुख कर सके। शिक्षा देश के अतीत और वर्तमान के ज्ञान की नींव पर आधारित होनी चाहिए, उसका स्वरूप देश की प्राचीन परम्पराओं और राष्ट्रीय आचरण के साँचे में ढला होना चाहिए एवं उसकी व्यवस्था एक सतत विकासशील राष्ट्र की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार सुनियोजित होनी चाहिए।[१] तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था से श्रीमती बेसेंट सन्तुष्ट न थी, सकुचित घेरे में आबद्ध शिक्षा केवल परीक्षा भवन की सफलता तक सीमित रह गई थी, विषय की पुस्तकों से कठस्थ कर लेने और परीक्षा भवन में जाकर उगल देने के फलस्वरूप शिक्षा समाप्ति पर छात्र के पास कुछ शेष नही रह जाता, वह रह जाता है निरा शून्य का शून्य। उन्होंने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि शिक्षा का उद्देश्य मात्र डिग्री प्राप्त करना नही है, वस्तुत शिक्षा का उद्देश्य है छात्र की आन्तरिक क्षमता का विकास उसकी बौद्धिक अनैतिक शक्ति का विकास भी महत्त्वपूर्ण है, जिससे कि शिक्षा पूर्ण होने पर वह एक उपयोगी, देशभक्त और निष्ठावान नवयुवक के रूप में बाहर आये, जो अपने स्वाभिमान की रक्षा करता हुआ दूसरों को भी सम्मान प्रदान करे।[२] श्रीमती बेसेंट ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी स्वप्नों को साकार करने के लिए सन् १८९८ मे बनारस मे सेंट्रल-हिन्दू कालेज की स्थापना की। यह सस्था उनके जीवन की सबसे अमूल्य निधि थी। कहते है कि जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए प० मदनमोहन मालवीय ने घर-घर भिक्षा के लिए हाथ फैलाया था तो श्रीमती बेसेंट ने अपनी इसी सस्था को मालवीयजी के चरणों में डाल दिया था। कहना न होगा कि इसी सेन्ट्रल

---

१ "Education must be founded on a knowledge of the past of the country as well as of its present, it must be designed in accordance with the ancient tradition and national habits and adapted to modern necessities to meet at every-point the growing needs of an ever increasing nation"
—Speeches and writings of Annie Besant—Natesan, P 17

२ The aim of education is to draw out all the faculties of the boy on every side of his nature, to develop in him every intellectual and moral power, and to strengthen him physically, emotionally, mentally and spiritually, and that he may turn out at the end of his college carrer a useful, patriotic, pious gentleman, who respects himself and respects those around him —ibid, P. 23

हिन्दू कालेज की नींव पर मालवीयजी ने बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की।

एक स्त्री होने के नाते श्रीमती बेसेन्ट नारी-जागरण की दिशा में अधिक ठोस सुझाव दे सकीं। उन्होंने इस बात की बार-बार घोषणा की कि भारतीय नारी को 'भारतीय नारीत्व' की रक्षा करते हुए घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर देश के उद्धार में पुरुषों का हाथ बँटाना चाहिये। उन्होंने भारतीय स्त्रियों के सामने दमयंती, सीता, गार्गी, कुन्ती, गांधारी आदि का आदर्श प्रस्तुत किया। आर्थिक परिस्थितियों से विवश होकर यूरोप की स्त्रियाँ पुरुषों की प्रतिद्वन्द्विता में जिस कुत्सित वृत्ति का शिकार हो रही हैं, उस वृत्ति के घेरे से दूर रहकर भारतीय स्त्रियों को अपने समुचित विकास के लिये प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्होंने इस बात का ऐलान किया कि स्त्री को शिक्षा मिलनी ही चाहिये, वह उसकी आधारभूत आवश्यकता है। दर्शन साहित्य, विज्ञान और कला का खजाना उसके लिए भी उसी भाँति खुल जाना चाहिये, जिस भाँति पुरुष के लिए खुला है।[1]

सन् १९१४ से श्रीमती बेसेन्ट ने भारत की राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। तिलक द्वारा चलाये हुए होमरूल आन्दोलन का उन्होंने जोरदार समर्थन किया था। इस अपराध में मद्रास सरकार ने उन्हें सन् १९१७ में नजरबन्द कर डाला, जिस पर देश में इतना तूफान मचा कि नजरबन्दी अविलम्ब उठा ली गई। इसी अवसर पर वे भारतीय कांग्रेस की सभानेत्री निर्वाचित हुईं और लगभग तीन वर्ष तक उन्होंने भारत की मन्त्रदात्री रहकर सुप्त देश में राजनीतिक चेतना जगाने की दिशा में बड़ा काम किया, किन्तु गांधीजी के आगमन के बाद भारतीय राजनीति में उनका महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा। तब भी गांधीजी के आविर्भाव के लिए जमीन तैयार करने वालों में एक अमर नाम श्रीमती एनी बेसेन्ट का भी है। "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनी बेसेन्ट की वे सेवाएँ भी जीवित रहेंगी जो उन्होंने इस देश के लिये की थीं। उन्होंने भारत को अपनी जन्म-भूमि मान लिया था, उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था उसे उन्होंने भारत के चरणों पर चढ़ा दिया था। इसीलिए भारतवासियों की दृष्टि में वे इतनी प्यारी और श्रद्धेय हो गईं।"[2]

---

१ "Woman must be educated, that is her fundamental need, the treasure of philosophy, literature, science, art must be thrown open to her as to man"
—Annie Besant, Builder of New India, P 355

२ महात्मा गांधी (श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४७७ से उद्धृत)

आज 'थियोसॉफी सोसायटी' एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में विख्यात है। इसमें दीक्षा लेने वाले लोग ऊँचे विचारक, चिन्तक और साहित्यकार हैं। किसी एक विशेष धर्म के प्रति इसका आग्रह नहीं। वस्तुत यह धर्म नहीं, धर्म का आश्रय है। जब तक लोक-कल्याण और विश्व-बन्धुत्व के लिए ससार के लोगों में प्रयास जारी रहेगा, थियोसॉफिकल सोसायटी का अस्तित्व ससार में अक्षुण्ण रहेगा।

श्रीरामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६-१८८६)

विश्व-साहित्यकार रोम्या रोलां के शब्दों में, 'श्रीरामकृष्ण परमहस भारत के तीस कोटि नर-नारियों की दो सहस्राब्दियापी आध्यात्मिक तपस्या के चिर-वाछित वरदान के रूप में प्रकट हुए थे।'[1] श्रीरामकृष्ण वस्तुत एक महान् साधक थे और उनकी महत्ता उनकी तपोमय जीवन-साधना में निहित थी, परन्तु राष्ट्रीय इतिहास के जिस सकटपूर्ण सक्रान्ति-युग में वे अवतीर्ण हुए, वह युग प्रवृत्ति के पुनरुत्थान का प्रारम्भिक युग था, उनका बालकों का-सा सरल, निश्छल और भावुक हृदय युग की छाप से कैसे बच सकता था? असामान्य भावावेग और असाधारण आवेश से परिप्लावित उनके जीवन से प्रवृत्ति का स्रोत नि सृत हुआ। एक पहुँचे हुए साधक होते हुए भी उन्होंने ऐसा कोई उपदेश नहीं दिया, जिससे उनके शिष्यों या तत्कालीन समाज को स्वप्न में भी निवृत्ति की प्रेरणा मिलती। न उन्होंने गृहस्थों को सन्यास का सदेश दिया, न जीवन को निस्सार और दु खपूर्ण कहा और न नारी को विकार-पूर्ण मान उपेक्षा का पात्र बनाया। वस्तुत उनके परमहस-पद की प्राप्ति की अन्तिम परिणति दीन-हीन-दु खी मानव-जीवन को सँवारने में हुई।

श्रीरामकृष्ण ने अपने तीस वर्ष तक की अवस्था की निरन्तर कठिन साधना के फलस्वरूप जो ज्ञान की कमाई अर्जित की थी, उसे वे अपने जीवन के अतिम बीस वर्ष तक मनुष्य-मात्र के हित के लिए वितरित करते रहे। वे केवल परमहस का पद पाकर सतुष्ट न हुए। उस पद की प्राप्ति तो मानव-जाति की सेवा के लिए मात्र प्रारम्भिक तैयारी थी। उन्हें यह बोध हो गया कि उनकी अन्तरात्मा व्यक्तिगत मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी, उनसे मानव-जाति प्रेम तथा सेवा की आशा करती थी।[2] फलत इस कर्तव्य की पूर्णता के लिए उन्होंने ससार में कल्याण के लिए ही शिष्यों का एक दल एकत्र किया। उन शिष्यों ने ससार में घुसकर मानव मात्र की सेवा का व्रत ले लिया। यदि हम श्रीरामकृष्ण की अन्य देनों को भूल भी

---

१ Romain Rolland . The Life of Ramkrishna (Advaita Ashram) page 14.

२ Romain Rolland, The Life of Ramkrishna (Advaita Ashram), P. 188-89

जायें तो यह क्या कम महत्त्व की बात है कि उन्ही से हमें विवेकानन्द जैसे महान् जन-नायक और शिक्षा गुरु प्राप्त हुए,[१] जिनके ये वचन आगे आनेवाले युगो तक मानव-जाति को गुमराह होने से बचाते रहेंगे, 'जब तक लाखो लोग भूख और अज्ञानता में सांस लेते रहेंगे, मेरी दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य विश्वासघाती रहेगा, जो उन्ही के व्यय पर शिक्षा पाकर उनकी ओर से विमुख है।[२]

श्रीरामकृष्ण ने किसी को जीवन से विमुख होने की प्रेरणा नही दी। अपने शिष्यों तक को वे गृहस्थाश्रम छोडने का आदेश नही देते थे। उनके एक शिष्य ने जब उनसे सन्यासी की आज्ञा लेनी चाही तो उन्होने कहा, 'ससार त्याग से तुम्हे क्या मिलेगा ? परिवार एक किला है। बाहर की अपेक्षा किले के अन्दर से शत्रु का मुकाबला आसान होता है।'[३] एक दूसरे शिष्य को उपदेश देते हुए उन्होने कहा था, 'पूर्णतया ससार को छोड देने की क्या आवश्यकता है ? ससार के प्रति आसक्ति छोड देना ही यथेष्ट है।[४]

जब युवक नरेन्द्र (विवेकानन्द) ने अपने लिए निर्विकल्प समाधि का द्वार खोलने की प्रार्थना की तो उन्होने उनकी भर्त्सना करते हुए अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, 'तुम्हें धिक्कार है ! मैंने समझा था कि तुम सहस्रो श्रान्त प्राणियों को आश्रय देने वाले विराट वट वृक्ष होगे, और तुम स्वार्थपूर्वक अपना ही कल्याण चाहते हो। इन छोटी बातो को छोडो मेरे बच्चे। तुम कैसे इतने एकपक्षीय आदर्श से सन्तुष्ट हो सकते हो ? तुम्हें सर्वाङ्ग पूर्ण होना होगा। सब रूप से भगवान् का आनन्दपूर्ण अनुभव करो।' (इसमें उनका आशय समाधि और कर्म दोनो से था, जिसमे सर्वोच्च

---

१ श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी भारत निर्माता, पृ० ३२

२ 'So long as millions live in hunger and ignorance, I hold every man a traitor who, while educated at their expense, pays not the least heed to them"

—S Natesan , A Century of Social Reform in India, Forword XIII,

३ What will you gain by renouncing the world ? Family life is like a fort, It is easier to fight the enemy from within the fort than from without"

—D S Sharma, Renaissance of Hinduism, P 24

४ "What is the necessity of giving up the world altogether ? It is enough to give up the attachment to it"

—D S Sharma Renaissance of Hinduism, p 241.

ज्ञान की सर्वोच्च मानव-सेवा मे परिणति हो सके)।[१] निर्विकल्प समाधि का अधिकार वे केवल उन्ही लोगों का मानते थे जो जीवन में अपना कर्तव्य पूर्ण कर चुके हैं।[२]

उन्होने अपने आपको उक्त सिद्धान्त से बरी नही किया। विश्व के दुखी प्राणियों के लिए उनके हृदय में इतनी करुणा भरी थी कि वे उस परमानन्द से सन्तुष्ट नही थे जिसमें वे दूसरों को भागी नही बना सकते थे। (जैसा पहले सकेत किया गया है) गम्भीरतम समाधि की आसन्न भूमि पर उन्होने माँ से, जो उन्हें अपने आप मे समेट रही थी, प्रार्थना की 'हे माँ। मुझे मानवो के सम्पर्क में रहने दो, मुझे शुष्क सन्यासी न बनाओ और माँ ने उन्हें सिन्धु के गर्भ से जीवन के तट पर डालते हुए—जैसा उन्हें अर्द्धचेतनावस्था में कर्णगोचर हुआ—उत्तर दिया "मानव-जाति के प्रेम के लिए सापेक्ष चेतना की देहली पर अधिष्ठित रहो।"[३]

करुणा-परवश श्रीरामकृष्ण में बोधिसत्व का आदर्श पूर्णत प्रतिफलित हुआ है। प्राणि-सेवा के लिए उन्होने न केवल निर्विकल्प समाधि तथा मोक्ष (निर्वाण) की उपेक्षा की, जीवन की सन्ध्या में बोलने में बड़ा कष्ट होने पर भी वे दर्शन तथा उपदेश के इच्छुको को लौटाने नही देते थे। उनका कहना था, 'मैं बार-बार कुत्ते का भी जन्म पाऊँ यदि इस प्रकार एक भी प्राणी की सेवा कर सकूँ।' उन्होंने यह भी कहा, 'मैं बीस हजार ऐसे शरीर त्यागने को तैयार हूँ एक भी मनुष्य की सहायता के लिए।'[४]

उन्होने सदैव ऐसे उपदेशको के भ्रामक प्रचार से बचने की शिक्षा दी है, जो यह कहते फिरते हैं कि यह ससार दुखपूर्ण है और अधकार से घिरा हुआ है।[५] उन्होंने बार-बार इसी बात पर जोर दिया कि मनुष्य मात्र पापी नही होता। अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मै पापी हूँ, ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।[६]

श्रीरामकृष्ण ने नारी निन्दा कभी नही की। वे बार-बार यही कहा करते थे कि स्त्री चाहे कोई भी हो और उसका चरित्र कैसा भी हो, उसके प्रति सदा यही

---

१ Romain Rolland The Life of Ramakrishna, (Advaita Ashram), page 78-79

२. वही, पृ० २३६

३. वही, पृ० ८७।

४. वही, पृ० २८१।

५ He disapproved of those who say that this world is a dark miserable place Ibid P. 250.

६ श्री रामधारी सिंह दिनकर · संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४८६।

भावना रखनी चाहिए कि वह माता है। नारी की निन्दा करने का किसी को अधिकार नहीं।[१]

श्रीरामकृष्ण का हृदय दया की भावना से लबालब भरा हुआ था। वे 'दया-धर्म का मूल है' की उक्ति में विश्वास करते थे। उनके सम्पर्क में जो भी आता था, वह उनकी दया की अनुभूति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। एक प्रकार से उनके समस्त उपदेशों का सार यही है कि भूख से पीड़ित व्यक्तियों और संघर्षशील आत्माओं के उद्धार में अपने जीवन की समस्त पूँजी लगा दो।

सन् १८६६ में श्रीरामकृष्ण मथुर बाबू (रानी रासमणि के जामाता) और उनकी पत्नी श्रीमती जगदम्बा के आग्रह पर प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा पर निकले। अपनी यात्रा के दरम्यान जब वे देवघर पहुँचे तो वहाँ के भूखे-नंगे संथालों की भयानक दशा देखकर व्याकुल हो उठे। उन्होंने वहाँ के समस्त लोगों के भोजन की व्यवस्था करने के लिए मथुर बाबू से कहा। मथुर बाबू ने यह कहकर बात टालनी चाही कि सारी दुनिया के दु:ख को दूर करने जितना पैसा उनके पास कहाँ है। श्री रामकृष्ण उन गरीब प्राणियों के बीच में बैठकर फूट-फूट कर रोये। अन्त में जब उनकी इच्छा पूरी हुई तभी वे वहाँ से टले।

सन् १८७० में एक बार लगान-वसूली के समय मथुर बाबू उन्हें अपनी एक रियासत में ले गये। वहाँ दो वर्षों से लगातार फसल अच्छी न होने के कारण किसानों की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। श्रीरामकृष्ण ने न केवल लगान माफ करने पर ज़ोर दिया, वरन् किसानों को अन्य सहायता देने और एक शानदार भोज देने के लिए मथुर बाबू को आदेश दिया और उनके आनाकानी करने पर अपनी बात मनवाकर छोड़ी। ऐसे परम उदार थे श्रीरामकृष्ण परमहंस।

इसी उदार स्वभाव के कारण वे समाज-सुधार की दिशा में क्रान्ति के समर्थक नहीं हो सके थे। प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने के सम्बन्ध में वे कहा करते थे कि आजकल के लोग तरह-तरह के रूढ़ि-रिवाज पसन्द नहीं करते। जो अनिवार्य मुख्य अंश है, उन्हीं को अपनाना चाहते हैं, इसलिए रूढ़ियों को कम करना ठीक है। समाज-सुधार का प्रयास धीरे-धीरे करने पर ही सफलता हाथ लगती है, ऐसा उनका मत था। वे कहा करते थे कि आटे की काजी बनाने के लिए आटे को पहले थोड़े कुनकुने पानी में घोला जाए और बाद में खूब गरम पानी डालकर चलाते-चलाते उबाला जाय तो काजी अच्छी बनती है। शुरू में ही उबलता हुआ पानी डाल देने से आटे में गाठें पड़ जाएँगी। इसी प्रकार हम एकदम समाज-सुधार करने लगेंगे तो नए छोटे-बड़े सम्प्रदाय पैदा हो जाएँगे। सुधार धीरे-धीरे करते जाएँ तो सफलता पा सकते हैं।[२]

---

१. चक्रवर्ती राजगोपालाचारी : रामकृष्ण उपनिषद्, पृष्ठ, २१।

२. वही, पृष्ठ, ६६।

इसका तात्पर्य यह नही कि वे भीरु थे। वस्तुत उनका सरल और निश्छल व्यक्तित्व समाज सुधार जैसे कार्य को जडमूल समेत गहराई से लाने के पक्ष में था, भले ही उसमें थोडा विलम्ब हो जाये। उनके कर्म और साधना की गहराई का सच्चा स्वरूप उनके जीवन की एक छोटी-सी घटना में मिलता है। एक बार श्रीरामकृष्ण एक जाति-बहिष्कृत गरीब आदमी के घर गए और उसके घर की सफाई की इच्छा व्यक्त की। बेचारा गरीब घबराया, एक कट्टर हिन्दू की दृष्टि में यह कितना अक्षम्य अपराध माना जाएगा, इसकी कल्पना से वह सिहर उठा। उसने घर साफ करने की इजाजत नही दी। अब श्रीरामकृष्ण उस गरीब के घर रात्रि के अधकार में, जब सारा घर निद्रा में लीन था, पहुँचे और पूरे फर्श को अपने लम्बे बालो से साफ कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने प्रार्थना की, ओ माँ! मुझे ऐसे जाति-बहिष्कृत गरीबो की सेवा का मौका दो।

श्रीरामकृष्ण देव की दृष्टि तथा भावना इतनी विशुद्ध हो गई थी कि उन्हें सब कुछ सेव्य भगवान् का रूप दीख पडता था। उनका हृदय करुणा-परवश था, किन्तु वे दया की बात सोच ही नही सकते थे क्योंकि दया तो बडा छोटों पर करता है, सब को पूज्य, सेव्य मानते थे। वे ऐसी उच्च स्थिति प्राप्त कर चुके थे कि पूजा में चढाने के लिए फूलों को तोडने को तैयार न थे। उनके जीवन के निम्नांकित प्रसग में एक क्या ही सुन्दर मार्मिक झांकी मिलती है।

"एक दिन (१८८४ में) श्रीरामकृष्ण अपने शिष्यों से वार्तालाप कर रहे थे वे वैष्णव धर्म के मुख्य सिद्धान्तो की व्याख्या कर रहे थे, जिनमें से एक है 'जीवे दया'। 'यह विश्व श्रीकृष्ण का है। इसे अपने अन्तस्तल में जानो, और सब जीवों पर दया करो।' उन्होंने दुहराया 'सब जीवों पर दया' और समाधिस्थ हो गये। प्रकृतिस्थ होने पर वे बडबडाने लगे 'सब जीवो पर दया! दया? क्या तुम्हें लज्जा नही आती, तुच्छ कीट? तुम ईश्वर के जीवों पर दया कैसे दिखा सकते हो? दया दिखाने वाले तुम होते कौन हो? नही, नही, दया असभव है। उनकी सेवा करो मानो वे शिव हो! "[1]

वस्तुत श्रीरामकृष्ण परमहस का लक्ष्य था—आध्यात्मिकता को ही कर्म का स्वरूप प्रदान करना, व्यक्तिगत मोक्ष की परवाह न कर सामाजिक समस्याओ के समाधान में अपने को खपा देना, निवृत्ति को प्रवृत्ति के स्वरूप में विलीन कर देना।

अपने ज्ञान की अनमोल कमाई वितरित करते हुए श्रीरामकृष्ण परमहस त्रस्त मानवता को उबारने के लिए जैसे-जैसे आगे बढते गए, उनकी कीर्ति रश्मियाँ दिन-प्रतिदिन विस्तृत होती गईं तो फिर क्या आश्चर्य यदि बगाल के केशवचन्द्र सेन जैसे महान् जननायक तक उनको ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके और विवेकानन्द

१ रोमाँ रोलाँ : दी लाइफ ऑफ रामकृष्ण (अद्वैत आश्रम) पृ० २३२।

जैसे ऊर्ध्वचेता मनीषी ने तो उनके नाम पर अपना सारा जीवन ही न्यौछावर कर संसार में उनका सन्देश फैलाने के लिए गेरुआ बाना धारण कर लिया।[1]

स्वामी विवेकानन्द (सन् १८६३-१९०२)

श्रीरामकृष्ण परमहंस को अपनी साधना के बल पर अत्युच्च अनुभूति प्राप्त हुई थी, विवेकानन्द उसी अनुभूति की व्याख्या बनकर आए थे। यदि श्रीरामकृष्ण दर्शन थे तो स्वामी विवेकानन्द ने उनके क्रियापक्ष का आख्यान किया।[2] स्वामी विवेकानन्द ने लौकिक और धार्मिक के बीच की विभाजक रेखा को हटाकर दोनों को एकाकार करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि कर्म करना ही उपासना करना है, विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है, स्वयं जीवन ही धर्म है। प्राप्त करना और अपने अधिकार में रखना उतना ही कठोर न्यास है, जितना कि त्याग करना और विमुख होना।[3] स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति थी, जिसने प्रवृत्ति-पथ पर डटे रहकर मनुष्य को इहलौकिक विजय की ओर उन्मुख होने के लिए प्रेरित किया।

मध्ययुग में बड़े-बड़े दार्शनिकों ने दार्शनिक स्तर पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जीवन मिथ्या है। प्रत्येक हिन्दू माँ के पेट से ही इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। इसीलिए कंठी, माला, आरती और घन्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है और वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं।[4] उन्नीसवीं सदी के पुनरुद्धार के युग में भारतीयों की तन्द्रा एक लम्बे समय के बाद टूटी। भारतीयों की पहली अंगड़ाई ब्रह्म-समाज प्रकट हुई और तब से एक के बाद एक अनेक मनीषियों ने देश में जन-जागृति की लहर फैलाने का प्रयास किया। स्वामी विवेकानन्द के पूर्व हिन्दुत्व के उत्थान और भारतीयों के हृदय में अतीत भारत के प्रति गौरव जगाने का सबसे प्रशंसनीय कार्य श्रीमती एनी बेसेंट ने किया था। वे हिन्दुत्व-विहीन भारत की कल्पना नहीं कर पाती थीं—भारत से यदि हिन्दुत्व विलीन हो गया तो रह गया जाएगा, केवल भारत का शव। हिन्दुत्व के उद्धार के लिए उन्होंने भारतवासियों से बड़ी मार्मिक अपील की थी। वस्तुतः यही कार्य, जिस पैमाने पर वह चाहती थीं, श्री रामकृष्ण के अनन्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द के हाथों सम्पन्न हुआ। अभिनव भारत को जो

१. कृष्णवल्लभ द्विवेदी : भारत निर्माता, पृ० ३७।
२. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४६३।
३. विवेकानन्द-साहित्य : प्रथम खंड—भूमिका, ड।
४. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४६६।

और दयार्द्र हृदय पाया था, लोगो के दुख-दारिद्र्य को निकट से देखकर उनका हृदय चीत्कार कर उठा था और उन्होंने अपने जीवन का व्रत निश्चित कर लिया था—'यदि देश के लोगों की आत्माओं को प्रबुद्ध करने के लिए मुझे सैकड़ों बार मृत्यु यातना का भोग करना पड़े तो भी मैं पीछे नही हटूँगा।'[1]

स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन भारतीयों के ही सम्मुख नही, वरन् अन्य देशवासियों के भी सम्मुख करना चाहते थे। सौभाग्य से उन्हें शिकागो में विश्व-धर्म-सम्मेलन में जाने का अवसर मिल गया। जिस व्यापक और समन्वयात्मक दृष्टि को लेकर वे इस सम्मेलन में गए थे, उसने उनको और हिन्दू धर्म को समग्र विश्व की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया था। ११ सि० १८६३ को सम्मेलन के पहले ही दिन उन्होंने सभी देशो के प्रतिनिधियों पर अपनी धाक जमा ली थी, उन्होंने कहा—'मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है जिसमें इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देश के उत्पीड़ितो और शरणार्थियो को आश्रय दिया है।'[2] २० सि० १८६३ को उन्होंने भारत में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए आने वाले मिशनरियों पर करारी चोट की, "आप ईसाई लोग जो मूर्ति-पूजकों की आत्मा का उद्धार करने के निमित्त अपने धर्म-प्रचारको को भेजने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं, उनके शरीरों को भूख से मर जाने से बचाने के लिए कुछ क्यो नही करते ?. आप लोग सारे हिन्दुस्तान में गिरजे बनाते हैं, पर पूर्व का प्रधान अभाव धर्म नही है, उसके पास धर्म पर्याप्त है—जलते हुए हिन्दुस्तान के लाखो दुःखार्त भूखे लोग सूखे गले से रोटी के लिए चिल्ला रहे हैं। वे हमसे रोटी माँगते हैं और हम उन्हे देते हैं पत्थर। क्षुधातुरो को धर्म का उपदेश देना उनका अपमान करना है, भूखो को दर्शन सिखाना उनका अपमान करना है।"[3] २७ सि० १८६३ के अन्तिम दिन के भाषण में उन्होंने गर्जना की थी, "यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूँ कि शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा, "सहायता करो, लड़ो मत! पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव विनाश, समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह।"[4] स्वामी विवेकानन्द के भाषणो पर टिप्पणी लिखते हुए 'दि न्यूयार्क हैराल्ड' ने लिखा कि विश्व-धर्म-सम्मेलन में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न

---

१ उदयचन्द जैन : विवेकानन्द (विश्व के सन्त महापुरुष-सं० डा० देवराज) पृ० १८७।

२. विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड—पृष्ठ ५।

३ वही-पृष्ठ २२।

४ विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खंड, पृष्ठ २७।

उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजने की बात कितनी मूर्खतापूर्ण है।[1]

स्वामी विवेकानन्द सम्पूर्ण विश्व में एक महान् सन्देशवाहक के रूप में पहचाने गये। न केवल भारत ने, वरन् अमेरिका और यूरोप ने भी उनके सन्देश को गभीरतापूर्वक सुना और उसकी सच्चाई के सम्मुख नतमस्तक हुए। उनकी विशेषता यह थी कि पूर्वी और पाश्चात्य देशों को उन्होंने पृथक्-पृथक् सन्देश दिया। यूरोप और अमेरिका को तो उन्होंने सयम और त्याग का महत्त्व समझाया, किन्तु भारतवासियों को आधिभौतिक उन्नति की ओर खीचा और प्रवृत्ति का सन्देश दिया। यूरोप और अमेरिका के लोग आधिभौतिकता के शिकंजे में स्वय इतना फस गये थे कि उनमें स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए परस्पर होड़-सी मची हुई थी। यूरोपवासियों के लिए उनका सदेश था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश उसी प्रकार अवश्यभावी है जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है। यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामी विवेकानन्द ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियो पर नही बल्कि उसकी आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सच्चाई, निःस्वार्थता और प्रेम का विकास करे तथा बाद में अन्य गुणों का।[2]

यूरोप में जीवन को भोगने की समस्त सामग्रियाँ उपलब्ध थीं, इसलिए वहाँ के लोगों को स्वामी विवेकानन्द ने त्याग और सयम की शिक्षा दी, परन्तु भारत देश के लिए उन्होने त्याग और सयम की खुराक अपर्याप्त समझी। त्याग और संयम का राग तो भारतवासी स्वय ही एक लम्बे समय से अलापते आ रहे थे। यद्यपि हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान आवश्यक था, परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक था जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न करना। भारत के लोगों के लिए धर्म का उपदेश उतना आवश्यक नही था जितना उनमें असतोष जगाना। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियो से आती हुई निवृत्ति की विषैली जजीरों से मुक्त करने के लिए उन्होंने भारतवासियो को कर्म-

१. "He is undoubted the greatest figure in the Parliament of Religions After hearing him we feel how foolish it is to send missionaries to this learned nation".—D S. Sharma
Renaissance of Hinduism, P. 273

२ श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय; पृष्ठ ५००।

मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया।[1]

स्वामी विवेकानन्द अपने अधिकाश उपदेशो में शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता पर जोर देते थे। भौतिक सभ्यता की निन्दा करने वालो के लिए वे कहा करते थे कि अगूर खट्टे जो हैं। मुसलमानो का हिन्दुओ पर विजय प्राप्त करना भौतिक सभ्यता सबधी हिन्दुओं की अनभिज्ञता के ही कारण सभव हुआ। भौतिक सभ्यता आवश्यक है, इतना ही नही, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का व्यवहार भी आवश्यक है, ताकि गरीबो के लिए नये-नये काम निकलते रहें। अन्न! अन्न! अन्न चाहिए! जो ईश्वर इस धरती पर अन्न नही दे सकता वह स्वर्ग में अनन्त सुख क्या प्रदान करेगा? भारत को उठाना होगा, दरिद्रों को दो रोटियाँ देनी होगी, शिक्षा-विस्तार करना होगा तथा पुरोहितों की बुराइयो को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चक्कर खाती हुई एकदम अटलाटिक महासागर में जा गिरें।[2] स्वामी विवेकानन्द इस बात को सहन नही कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियो की उन्नति का मार्ग रोके अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे। उपनिषदो का उपदेश है कि सभी आत्माए एक है, क्योकि वे सब की सब एक ही परब्रह्म के असख्य प्रतिबिंब हैं। इस सिद्धान्त से स्वामी विवेकानन्द ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते है वह सभी जीवों के योग से अधिक नही है। अतएव सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओ की सेवा में अपने-आप को लगा दें। उन्होंने कहा कि मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध सघर्ष करना है जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियो से वचित रखता है, जो विधवाओ के आँसू पोछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकडा नही दे सकता।[3] उनके लिए कारखाना, अध्ययन कक्ष, खेत और क्रीडा-भूमि आदि भगवान के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान है, जैसे साधु की कुटी या मदिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष और श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और आध्यात्मिकता मे कोई अन्तर नही है।[4]

गृहस्थो को उपदेश देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि तुम गृहस्थ हो, तुम अपने धर्म का आचरण करो, हिन्दू-शास्त्र यही कहते है। हिन्दू-शास्त्रो मे धर्म की अपेक्षा मोक्ष को बडा ठहराया है, किन्तु स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म पहले करना होगा। बौद्धो ने इसो स्थान पर भ्रम में पडकर अनेक उत्पात खडे कर दिये। अहिंसा ठीक है, पर शास्त्र कहते है, तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे गाल पर यदि

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : पृष्ठ ५०१।
२. स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ १३१।
३. दिनकर सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५०३।
४. भगिनी निवेदिता : विवेकानन्द साहित्य प्रथम खंड, भूमिका—ड।

कोई एक थप्पड़ मारे और यदि तुम उसका जवाब दस थप्पड़ों से न दो तो तुम पाप करते हो। वीरभोग्या वसुन्धरा—वीर्य प्रकाशित करो, साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति को प्रकाशित करो, पृथ्वी का भोग करो, तब तुम धार्मिक बनोगे। गाली-गलौज सह कर घृणित जीवन बिताने से यहाँ नरक भोगना होगा और परलोक में भी वही होगा। यही शास्त्र का मत है।[1]

स्वामी विवेकानन्द स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। उन्होंने गौतम बुद्ध को ईसा की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ ठहराया कि ईसा ने स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष नहीं माना और गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को पुरुषों के समान समझकर उन्हें भिक्षुणी बनने का अधिकार दे दिया था। उनका विचार था कि यदि नारी-समाज का अभ्युदय न हुआ, यदि महिलायें शिक्षित न हुई तो भारत के कल्याण की संभावना नहीं है, क्योंकि एक डैने से पक्षी का उड़ना संभव नहीं। स्त्री-शिक्षा का व्यापक रूप से प्रचार करने के लिए उन्होंने सन् १८९९ में बागबाजार में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की और उसके संचालन का भार भगिनी निवेदिता को सौंपा। वे कहते थे कि संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान नहीं करती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।[2] उन्होंने जोर देकर कहा है 'पक्षी जिस प्रकार एक डैने से उड़ नहीं सकता उसी प्रकार स्त्री को छोड़कर कोई भी जाति उठ नहीं सकती—कोई भी समाज उन्नत नहीं हो सकता।[3]

वर्तमान शिक्षा-पद्धति की ओर संकेत करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि पिछले पचास वर्षों से दी जाने वाली शिक्षा ने एक भी स्वतन्त्र विचारों का मनुष्य उत्पन्न नहीं किया और जो स्वतन्त्र विचार के लोग हैं, उन्होंने यहाँ शिक्षा नहीं पाई है, विदेशों में प्राप्त की है, अथवा भ्रममूलक सन्देहों का भंजन करने के लिए अपने पुराने दर्शनों का अध्ययन किया है। उनकी दृष्टि में जिस शिक्षा द्वारा मनुष्य अपने जीवन का निर्माण कर सके, मनुष्य बन सके, चरित्र-गठन कर सके तथा विचारों का सामंजस्य कर सके, वही वास्तविक शिक्षा है। पूरी की पूरी लायब्रेरी कंठस्थ कर लेने की अपेक्षा पाँच भावों को हजम करके तदनुसार जीवन तथा चरित्र का गठन अधिक उत्तम है। यदि बहुत तरह की खबरों का संग्रह कर लेना ही शिक्षा है, तब तो ये लाइब्रेरियाँ संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि तथा एनसाइक्लोपीडिया ही ऋषि हैं। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि अपने देश की आध्यात्मिक एवं लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले लें

१. डा० देवराज : विश्व के सन्त महापुरुष, पृष्ठ १८८।
२. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५०४।
३. स्वामी अपूर्वानन्द : युगप्रवर्तक विवेकानन्द, पृष्ठ ११२।

और जहाँ तक संभव हो, जातीय रीति से जातीय-शिक्षा का विस्तार करें।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, परन्तु जिसने भी उनकी वाणी सुनी, उसमें देश-भक्ति और राजनीतिक भावना आपसे आप उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने देशवासियों से कहा कि आगामी पचास वर्षों के लिए जननी जन्म-भूमि को ही तुम आराध्य देवी बना लो। इस आधी शताब्दी के लिए अपने मस्तिष्क से अन्यान्य देवी-देवताओं को हटाने में कोई हानि नहीं है। अपना समस्त ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ। देश को जगाओ, जाति को जगाओ, इसी में उस परब्रह्म परमात्मा को देखो।[2]

यदि भारत को महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन-शक्ति की, शक्ति-संग्रह की तथा बिखरी हुई इच्छा-शक्तियों को एकत्र करने की। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि ऋग्वेद संहिता की एक ऋचा मुझे याद आ गई, जो सदैव ध्यान में रखने योग्य है। उसमें कहा है कि तुम सब एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि पुरातन काल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पाई है।[3]

एकान्त स्वजाति-प्रेम तथा परजाति विद्वेष राष्ट्र की उन्नति का मुख्य कारण है। इसी स्व-जाति-प्रेम तथा परजाति-विद्वेष ने ईरान-द्वेषी यूनान को, कारथेज-द्वेषी रोम को, काफिर-द्वेषी अरब जाति को, मूर-द्वेषी स्पेन को, स्पेन-द्वेषी फ्रांस को, फ्रांस-द्वेषी इग्लैंड को तथा जर्मनी को एवं इग्लैंड-द्वेषी अमेरिका को उन्नति के शिखर पर चढ़ाया है।[4] अतः स्वामी विवेकानन्द पाश्चात्य जातियों के विरोध और प्रतिवाद को आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि दूसरों की हाँ में हाँ मिलाकर, दूसरों की नकल करके, दूसरों का ही मुँह ताककर दासों जैसी दुर्बलता से अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। भारतीयों में स्वजाति-प्रेम की भावना भरने के उद्देश्य से वे कहते हैं कि यह मत भूलो कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार तथा मेहतर तुम्हारे रक्त हैं और तुम्हारे भाई हैं। हे वीर! साहस का आश्रय लो और गर्व से कहो कि मैं भारत-वासी हूँ तथा प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारतवर्ष का समाज मेरे बचपन का झूला, यौवन का उपवन तथा वृद्धावस्था की काशी है। हे भाई! तुम यह कहो कि भारतवर्ष की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है।[5]

---

१. स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ ७६।
२ स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ ७३।
३ स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ ७०।
४ स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ ३१।
५. स्वामी विवेकानन्द : हमारा भारत, पृष्ठ ४०-४१।

स्वामी विवेकानन्द न भारतवासियों को कर्म की ओर प्रेरित किया, जीवन स्तर उठाने और ससार के भोग का आदेश दिया। उनकी कामना थी कि भारत देश स्वतन्त्रता को प्राप्त कर भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाय। भोग में सफलता किस तरह मिल सकती है, यह बात उन्होंने पाश्चात्य जातियो से सीखने के लिए कहा। उनकी दृष्टि में पूर्ववर्ती काल के समाज द्वारा यह एक बडी भूल हुई कि प्रत्येक मनुष्य को सन्यास के नियमों में बांधने का प्रयत्न किया गया। वे कहते है कि दरिद्र लोगो के जीवन को इतने बडे बधन में बांधने की कोई आवश्यकता नही है। उन्हें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक तथा नैतिक नियमों में जकड़ना तो और भी हानिकारक है। उन्हें भी ससार का थोड़ा-सा आनन्द लेने दीजिए। तब आप देखेंगे कि वे क्रमश उन्नत होते जाते है तथा बिना किसी विशेष प्रयत्न के उनके हृदय में स्वय ही त्याग का उद्रेक होगा।[1]

कर्म और भोग का आदेश देते हुए स्वामी विवेकानन्द भारतवर्ष के जन-जन को प्रवृत्ति-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते है, क्योंकि इसी मार्ग पर चलकर भारत का आधिभौतिक उत्थान हो सकता है। परन्तु उनका 'कर्म, योरप के कर्म का पर्यायवाची नही है। भारतवासी की श्रेष्ठता तो इस बात में है कि वह गीता द्वारा निर्दिष्ट 'निष्काम-कर्म' को अपनाये। वे कहते है कि यह ससार कायरो के लिए नही है, पलायन की चेष्टा मत करो। समझ लो कि सिद्धि पाने के लिए जन्मी बुद्धि अपने अपने दृढ सकल्प में लय करके सतत कर्मरत रहती है। कर्म में तुम्हारा अधिकार है, पर इतने पतित मत बनो कि फल की कामना करने लगो। जीवन-सग्राम के मध्य डटे रहो। सुप्तावस्था में अथवा एक गुफा के भीतर तो कोई भी शान्त रह सकता है। कर्म के आवर्त्त और उन्माद के बीच दृढ रहो और केन्द्र तक पहुँचो।[2]

वस्तुत स्वामी विवेकानन्द का दर्शन मानवता का दर्शन है और इस दर्शन के द्वारा मानवता के उच्च सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता है। स्वामीजी ने निषेधात्मक निवृत्तिवादी दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन कर मानवीय मूल्यो को प्रश्रय दिया है—उनका दर्शन ससार को मानव के उत्थान और विकास का मार्ग दिखाने वाला है। विश्व उनकी दृष्टि में विशाल कर्मभूमि था, कर्म-दर्शन के प्रश्रय का सन्देश देकर उन्होंने सत्कर्म के अभ्यास एव मानव-सेवा का मार्ग प्रशस्त किया एव प्रवृत्ति-मार्ग को ससार के कल्याण के लिए उपादेय बताया।

अपने ३६ वर्ष के लघु जीवन में स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्ति और समाज के भीतर की छिपी हुई सभावनाओ को विकसित करने के लिए जो सदेश दिया था, उसी को जीवित रखने का प्रयास देश-विदेश के विभिन्न रामकृष्ण आश्रमो द्वारा

---

१ स्वामी विवेकानन्द हमारा भारत, पृष्ठ ११२-११३।
२ विवेकानन्द साहित्य · नवम खण्ड, पृष्ठ १६८।

किया जा रहा है। जब तक मनुष्य के भीतर की चिन्तन-शक्ति जीवित रहेगी, तब तक उस चिंतन-शक्ति को सही दिशा प्रदान करने के लिए स्वामी विवेकानन्द की वाणी और उनके उपदेश भी जीवित रहेंगे और मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाते रहेंगे।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (सन् १८५६-१९२०)

सन् १८९७ से १९०० तक सम्पूर्ण भारत देश में अकाल और महामारी का भयंकर प्रकोप रहा और सम्पूर्ण भारत-भूमि मानो श्मशान बन गई, परन्तु इस भयानक विपत्ति ने भारतवासियों को नवीन चिन्तन-शक्ति प्रदान की। इसके पहले की बहुत दिनों की पाली गई विचार-धारा कि हम मर्त्यलोक में रहते हैं और हमें एक दिन मरना ही है, अतः मनुष्य को मृत्यु के आलिंगन के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए, धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। नवीन संकटपूर्ण परिस्थितियों ने भारत-वासियों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि जब हर घर में युवक, प्रौढ़ और बालक-बालिकाओं की चिता जलाने की नौबत आती है और घर-घर में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ने लगती है तो इसे मर्त्यलोक का शाश्वत चिह्न नहीं कह सकते। हमारे देश से करोड़ों मन अनाज विदेशों को जा रहा है, जिसके फलस्वरूप देश के लाखों किसान भूखों मर रहे हैं, इसमें परमेश्वर का हाथ नहीं, बल्कि ब्रिटिश-नीति का हाथ है, यह भारत का जन-जन समझने लगा।[१] इस चिन्तन ने भारतीयों के हृदय की नियतिवादी भावना पर करारी चोट की, जिसके परिणाम-स्वरूप निवृत्ति-मूलक विचारधारा दिन-प्रति-दिन कमजोर पड़ने लगी। इसके कुछ ही वर्षों पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के दर्शन को प्रवृत्तिमुखी बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया था, उस प्रवृत्तिमुखी चिन्तन-शक्ति को शाश्वत रूप प्रदान करने का सबसे महान् कार्य लोकमान्य तिलक ने किया। तिलकजी ने देखा कि हिन्दुओं के घर-घर में अब भी गीता का प्रवेश है, अतः उन्होंने गीता की ही प्रवृत्ति-परक व्याख्या कर 'गीता-रहस्य' (कर्मयोग शास्त्र) लिखा। गीता की व्याख्या के बहाने उन्होंने समस्त हिन्दू-दर्शन को मथकर नवीन कर दिया तथा हिन्दू जाति में वह प्रेरणा भर दी, जिससे मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाता है, जिससे कर्ताव्याकर्तव्य विनिश्चय में दार्शनिक सूक्ष्मतायें उसके मार्ग का अवरोध नहीं कर सकती तथा जिससे वह परिस्थितियों के अनुसार धर्माधर्म का ठीक-ठीक समाधान कर पाता है।[२]

भागवत धर्म या नारायणीय धर्म के अनुसार सन्यास न लेकर मरणपर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म करते रहने को ही प्रवृत्ति-पथ का अनुसरण कहा गया

---

१. आचार्य जावड़ेकर : आधुनिक भारत, पृष्ठ ११२।

२. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५१२।

है और इस धर्म के माध्यम से प्रवृत्ति मार्ग पर चलने का आदेश दिया गया है।[1] गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है, वह विशेष करके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परम्परा से चले हुए प्रवृत्ति-विषयक भागवत धर्म ही का है, और उसमें निवृत्ति-विषयक मत धर्म का जो निरूपण पाया जाता है, वह केवल आनुषंगिक है।[2] इस प्रकार तिलकजी ने इस मत को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि गीता का मौलिक रूप प्रवृत्ति-परक ही रहा है और शंकराचार्य के पूर्व गीता-विषयक जितने भाष्य[3] लिखे गये उनमे इसी विषय को उभारने का प्रयास किया गया कि ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ-साथ मृत्युपर्यंत स्वधर्म-विहित कर्म करना चाहिये।

शंकराचार्य ने वैदिक धर्म के आधारभूत तीन मुख्य ग्रन्थों—उपनिषदों, वेदान्त-सूत्रों और भगवद्गीता-का तात्त्विक विवेचन कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उक्त ग्रन्थों में केवल अद्वैत ज्ञान ही नहीं है, उनमें सन्यास मार्ग का भी उपदेश है। गीता के शांकरभाष्य में इसी मत की पुष्टि मिलती है कि कर्म ज्ञान-प्राप्ति का गौण साधन है और सर्वकर्म-सन्यासपूर्वक ज्ञान ही से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए तिलक जी को यह कहना पड़ा कि गीता के प्रवृत्ति-विषयक स्वरूप को बाहर निकाल करके उसे निवृत्ति-मार्ग का साम्प्रदायिक रूप शांकरभाष्य के द्वारा ही मिला है।[4]

शंकराचार्य के बाद भी प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रन्थो के साथ-साथ गीता पर अनेक स्वतन्त्र भाष्य लिखे गये, किन्तु किसी भी भाष्य में यह स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की गई कि गीता में प्रवृत्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। तिलक जी ने सदियों से चली आती हुई परम्परा को भंग करने के लिए ही 'गीता-रहस्य' लिखा और भारतीयों को यह बताने की चेष्टा की कि गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति की शिक्षा दी है। भारतीय युद्ध का आरम्भ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनायें लड़ाई के लिए सुसज्जित हो गई थी और एक-दूसरे पर शस्त्र चलने ही वाला था कि इतने में अर्जुन ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बतलाने लगा और विमनस्क होकर सन्यास लेने को तैयार हो गया, तभी उसे अपने क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त करने के लिए भगवान ने गीता का उपदेश दिया है। जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्मुख

---

१. नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः। —महाभारत शांतिपर्व (.४७-८०)
(गीता रहस्य, पृष्ठ १०)

२. गीता-रहस्य, पृष्ठ १०।

३. वही, पृष्ठ ११

४. वही, पृष्ठ १४।

हो रहा था, वही गीता का उपदेश सुनकर अपना यथोचित कर्त्तव्य समझ गया, और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से युद्ध के लिये तत्पर हो गया।[1] इस प्रकार तिलक जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भगवान् कृष्ण ने तो अर्जुन को निवृत्ति के पथ पर जाने से रोका और उसे प्रवृत्ति का कर्म-परक मार्ग दिखाकर उस ओर जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि भगवान कृष्ण का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन संन्यास-दीक्षा लेकर और वैरागी बनकर भीख मांगता फिरे, या लँगोटी लगाकर और नीम के पत्ते खाकर मृत्युपर्यन्त हिमालय में योगाभ्यास करता रहे। अथवा भगवान् का यह भी उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन धनुष-बाण फेंक दे और हाथ में वीणा तथा मृदंग लेकर कुरुक्षेत्र की धर्म-भूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्र-समाज के सामने भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ बृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावे।[2]

तिलक जी कहते हैं कि गीता कहते-कहते भगवान् ने स्थान-स्थान पर अनुमान-दर्शक अत्यन्त महत्त्व के 'तस्मात' (इसलिए) पद का उपयोग करके अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्मविषयक उपदेश दिया है कि 'तस्माद्युद्धस्व भारत'—इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गी० २-१८), "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय"—इसलिए हे कौन्तेय अर्जुन! तू युद्ध का निश्चय करके उठ (गी० २-३७), 'तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर'—इसलिए तू मोह छोड़कर अपना कर्तव्य-कर्म कर (गी० ३-१९) 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्व"—इसलिए तू कर्म ही कर (गी० ४-१५), "मामनुस्मर युद्ध च"—इसलिये मेरा स्मरण कर और लड़ (गी० ८-७)।[3] इस प्रकार गीता के एक नहीं अनेक उद्धरण देकर तिलक जी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रवृत्ति-धर्म का ज्ञान ही गीता का प्रधान विषय है।

हिन्दू जाति लोकमान्य की चिरऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस छुड़ाकर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के पथ पर लगा दिया। जातियाँ जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, उनका आचरण और साहित्य भी वही रूप ले लेता है। यही कारण है कि जब हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य हमें जीवन से विमुख करने का काम करता था, आज का सारा का सारा भारतीय साहित्य मनुष्यों को जीवन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहा है।[4]

लोकमान्य तिलक प्रधानतः समाज और राजनीति के पुरुष थे। वे भारतीयों के हृदय में ब्रिटिश सरकार के प्रति सदैव एक प्रकार की क्रान्तिकारी भावना को जीवित रखना चाहते थे। उन्होंने 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' का

---

१ गीता-रहस्य, पृष्ठ २४।
२ वही, पृष्ठ २४।
३ वही, पृष्ठ २५-२६।
४ दिनकर संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ ५१७ ५१८।

नारा लगाकर अपने खोये हुए अधिकार को प्राप्त करने के लिए समस्त देशवासियो को ललकारा था। 'केसरी" के एक लेख में उन्होने लिखा था कि स्वतन्त्र राष्ट्र की विधि-विहित राजनीति से परतन्त्र राष्ट्र की राजनीति सर्वथा भिन्न होती है। नाक दबाये बिना मुंह नही खुलता। यदि हम ऐसा कार्यक्रम न बनाएँगे जो सरकार को चुभने वाला हो तो सरकार का दर्प कभी नही जाएगा। हजारो-लाखों लोगो का समुदाय निश्चय ही रस्सी मे बँध जाना चाहिए। लोकमत का बल निश्चय में है, केवल समुच्चय में नही। शब्दो की जरूरत नही, कृति चाहिए और वह भी निश्चययुक्त। हिन्दुस्तान के लोकमत के विकास के इतिहास मे आज ऐसा दिन आ पहुँचा है जब कि हमारे नेताओ को निश्चय के साथ आगे बढकर कार्य सिद्ध करना चाहिए या मुँह की भाप से दूषित वातावरण में व्यर्थ दम घुटकर मर जाना चाहिए।[1] 'केसरी' के लेखो को राजद्रोहात्मक बताकर सरकार ने लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष के काले पानी की सजा देकर माडले जेल में भेज दिया। कर्म का उपासक मनस्वी और राजनीतिज्ञ जेल में चुपचाप कैसे बैठ सकता था? उन्होने इसी ६ वर्ष की अवधि में गीता-रहस्य के नाम से गीता की नई व्याख्या प्रस्तुत की, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

वस्तुत गीता में जिस निष्काम कर्म का उपदेश अर्जुन को भगवान् कृष्ण के द्वारा मिला था, उसी की जीती-जागती प्रतिमूर्ति बनकर लोकमान्य तिलक भारत मे अवतीर्ण हुए थे। यही कारण है कि राजनीति के क्षेत्र में उनके पदार्पण के साथ ही गरम-दल का बोलबाला हो गया। वे कांग्रेस की नरमाई की नीति के हिमायती न थे, वे भारत के राजनीतिक उत्थान के लिये अधिक-से-अधिक तेजी से आगे बढ़ने के लिए बेकरार थे। उन्होने अपने उग्र विचारों को "केसरी" और "मराठा" नामक पत्रो में उतारकर अल्पकाल में ही इन दोनों पत्रो को लोकप्रिय बना दिया।

सन् १८८४ ई० में जब 'डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई तो लोकमान्य ने अपने अन्य सहयोगियो के साथ नाममात्र के पारिश्रमिक पर आजन्म शिक्षण कार्य करने का व्रत ले खुशी-खुशी इस संस्था की स्थायी सदस्यता स्वीकार कर ली और इसके तत्वावधान मे चलाई जाने वाली संस्था मे गणित और संस्कृत के प्राध्यापक हो गये। उन्होने महाराष्ट्र के लोगो में जातीय भावना जगाने के उद्देश्य से सन १८९३ में गणेशोत्सव का त्योहार सार्वजनिक रूप स मनाये जाने का आयोजन किया, और अगले ही वर्ष शिवाजी जन्मोत्सव का सार्वजनिक त्योहार चलाकर देश की बिखरी हुई लोकशक्ति के सगठन को बढ़ावा दिया और इस प्रकार राष्ट्रीयता का एक जबर्दस्त मोर्चा तैयार किया।

सन् १८९५ में महाराष्ट्र में भीषण अकाल और महामारी का प्रकोप

---

१ आचार्य जावडेकर आधुनिक भारत पृष्ठ १२०-१२१।

हुआ, जिसके सिलसिले में बन्दोबस्त के नाम पर पूना और अन्य स्थानों में गोरे सैनिकों तथा पुलिस द्वारा जनता के साथ अनेक सख्तियाँ और ज्यादतियाँ की गईं। तिलकजी ने जन-कष्ट को दूर करने के लिए गाँव-गाँव में अन्न-वितरण के लिए सार्वजनिक रूप से प्रबन्ध कराया और महामारी से पीड़ित व्यक्तियों की शुश्रूषा के लिए पूना में जनता के चन्दे से एक चिकित्सालय की स्थापना करायी। इसके साथ ही साथ गोरी नौकरशाही और पुलिस की ज्यादतियों के विरुद्ध 'केसरी' में विरोध की आवाज बुलन्द कर भरपूर रोष प्रकट किया।

माँडले के कैदी-जीवन से मुक्त होने के पश्चात् तिलक जी श्रीमती एनी बेसेंट के साथ होमरूल आन्दोलन में जुट गये और देशव्यापी दौरा करते हुए अपने व्याख्यानों द्वारा लोगों के साथ जनशक्ति का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रीय पक्ष में उनके सबसे महान् और लोकप्रिय होने का ठोस सबूत यही है कि गांधीजी के भारतीय क्षितिज पर अवतीर्ण होने के बाद भी जब तक तिलक जीवित रहे, पथ-प्रदर्शन के लिए भारतवासियों की दृष्टि उन्हीं पर लगी रहती थी।

तिलक जी के ये शब्द युग-युगान्तर तक मानवमात्र को प्रवृत्ति-पथ पर आरूढ़ रहने का सन्देश देते रहेंगे, 'कर्मयोगी स्वराज्य के लिए उद्यम करता है, जब कि ज्ञानी उसकी आकांक्षा रखता है। निरुद्योगी की सहायता ईश्वर नहीं करता। तुम्हें उठना चाहिए और कर्मशील होना चाहिए। कर्म—निरन्तर सुनियोजित निष्काम कर्म-ही हमारा मार्गदर्शक सिद्धान्त होना चाहिए।'[1]

जब तक भारत देश को अपने अतीत पर गर्व रहेगा और भविष्य के लिए आशा रहेगी, लोकमान्य तिलक का नाम स्मरणीय रहेगा।[2]

श्री अरविन्द घोष (सन् १८७२-१९५०)

लोकमान्य तिलक ने देश में राष्ट्रीय स्वाभिमान की जिस भावना को उत्तेजना प्रदान की थी, उसे देखते हुए दादाभाई नौरोजी भारत के भविष्य के प्रति पूर्ण आशावान् हो उठे थे। इंग्लैंड में टेक्स्टन हाल की सभा में उन्होंने कहा था 'हमारे शासक कहते हैं कि तुम्हारे देश को स्वराज्य कभी नहीं मिल सकता।

---

1. "The Karma Yogi strives for Swaraj and the jnanin or spiritualist yearns for it, God does not help the indolent. You must be up and doing, Action alone must be our guiding principle",—Shri Ramgopal Lokmanaya Tilak, P. 390.
2. ".... a name to be ramembered gratefully so long as the country has pride in its past and hope for its future" —Shri Aurobindo, (Shri D P Karmarkar Bal Gangadhar Tilak P. 296.)

हम ऐसा मौका ही नही देंगे, जिससे तुम लोग स्वराज्य के लायक बन सको। इसके विरुद्ध हिन्दुस्तानी अब जाग्रत होकर कहने लगे हैं कि इस हालत को हम बर्दाश्त नही कर सकते। शासकों और उनके बीच यही सवाल हैं। वे एक-दूसरे से भिड पड़े हैं। अब सवाल यह है कि प्रजाजन और शासकों के इस संघर्ष का नतीजा क्या होगा ? बम्बई के गवर्नर और पोलिटिकल एजेन्ट सर जान मालकम ने ब्रिटिश शासन-पद्धति के अनिवार्य परिणाम के संबध में लिखा है, इसका नतीजा महज हमारे अधःपात के रूप में ही न होगा, बल्कि हमारे समाज के विनाश के बीज भी इसमें निहित हैं।[1] दादाभाई नौरोजी के शब्दों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उन दिनों राजनीतिक चेतना की बदौलत भारतवासियों को यह विश्वास होने लगा था कि अब भारत देश का विनाश असंभव है। अब तो उनके हृदय में यह चेतना भी कुलबुलाने लगी थी कि वह दिन दूर नही कि भारत देश न केवल अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके रहेगा, वरन् अब वह सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व भी कर सकेगा।

ऐसे राजनीतिक वातावरण में श्री अरविन्द का आविर्भाव हुआ था। यह वह समय था जब कि पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति की टकराहट से हिन्दुत्व में जो कँपकँपी उत्पन्न हुई थी, वह अब खत्म हो चुकी थी एवं कुछ तो पुरातत्त्व की प्रगति से भारत के उज्ज्वल अतीत के साकार हो उठने के कारण और कुछ दयानन्द और विवेकानन्द के द्वारा भारतवासियों में स्वाभिमान जगाने के प्रयास से, हिन्दू अब यूरोप के सामने मस्तक झुकाने के बदले, गर्व से सिर तानने लगे थे।[2] मैजिनी की विचारधारा का भी भारत देश पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। मैजिनी के इन विचारों से अवगत होते ही कि पराधीन जाति का कोई व्यक्तित्व नही होता, ऊँचा उठकर दुनिया को कुछ सन्देश देने की योग्यता तो स्वतन्त्र जातियों में ही होती है, भारतवासियों में पराधीनता से मुक्त होने की विह्वलता और भी बढ़ गई। समसामयिक विचारधारा को उभारने में श्री अरविन्द का भी हाथ रहा है। उन्होंने विदेशी सत्ता के खिलाफ 'गरम-दल' के क्रांतिकारी नेता बनकर बंग-भंग-आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और इस दिशा में देश का नेतृत्व किया। उन्हीं के नेतृत्व में बंगाली राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में सबसे आगे निकल गये और जो वेदान्त इस बात के लिये दुनिया भर में बदनाम था कि वह व्यक्ति या राष्ट्र को सांसारिक जीवन-संघर्ष के अयोग्य बना देता है, उसी का आधार लेकर वे प्रवृत्ति-क्षेत्र में कूद पड़े और सारे संसार को राष्ट्र-संगठन और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के मार्ग-दर्शन का गौरव इस प्राचीनतम भारत-भूमि के पुत्रों को ही

---

१. आचार्य जावडेकर : आधुनिक भारत, पृ० १२१-१२२।

२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५१६।

मिलेगा, ऐसी आत्मविश्वास की भाषा भी बोलने लगे।[1] श्री अरविन्द ने पत्रकार के नाते कलकत्ते से 'वन्देमातरम्' नामक एक उग्र राष्ट्रीय दैनिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया, जिससे जन-जन के हृदय में देश-भक्ति की हिलोर उत्पन्न करने का प्रयास किया था। इसमें कोई सन्देह नही कि जब तक अरविन्द राजनीति के क्षेत्र में रहे देश का विशेषत. बगाल का नेतृत्व करते रहे, परन्तु शीघ्र ही वे भौतिक शक्तियो पर विजय पानेवाली अत करण की शक्ति से प्रेरित हो आध्यात्मिक साधना में निमग्न हो गये। उनकी साधना का केन्द्रस्थल अरविन्द-आश्रम अब भी सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक सन्देश प्रदान कर रहा है।

श्री अरविन्द पर विवेकानन्द और रामकृष्ण दोनो का प्रभाव था, किन्तु अपनी समस्त बौद्धिकता को लिये हुए भी वे विवेकानन्द से अधिक रामकृष्ण के समान थे। सन्त तो विवेकानन्द भी थे, किन्तु भगवान का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्म-भावना को जगाना चाहते थे। परन्तु श्री अरविन्द में दिव्य-शक्ति के भरोसे काम करने का भाव अधिक था। विवेकानन्द की दृष्टि भारत के आधिभौतिक उत्थान पर थी और उन्होने धर्म को यह कहकर ग्राह्य बनाना चाहा कि धर्म आधिभौतिक उन्नति का बाधक नही है। आरम्भ में, अरविन्द भी कदाचित् यही चाहते थे, किन्तु साधना मन्दिर में पहुँचते ही उनकी दृष्टि भारत से निकल कर सम्पूर्ण मानव-जाति पर जा पडी और वे उन दुर्बलताओ के मूल मे पहुँच गये जिनके कारण मनुष्य शोषण करता है, लोभ में आकर दूसरो को दुःख देता है, दूसरों को अपनी पराधीनता में रखता है तथा विविध इच्छाओं की अधीनता में रहकर स्वय भी दुखी तथा अशान्त बना रहता है।[2]

श्री अरविन्द ने 'लाइफ डिवाइन' (दिव्य जीवन) के आरम्भ में ही कहा है कि मनुष्य आनन्द की खोज में है, वह किसी ऐसे आनन्द की तलाश मे है, जो दुःखरहित हो। उसे एक प्रकार की गोपन अमरता की खोज हैरान कर रही है। किन्तु ससार में दुःख ही दुःख है और मनुष्य अशान्त है। दुःखो से छुटकारा पाने के प्रश्न पर जडतावादी (प्रवृत्तिवादी) यह मत व्यक्त करते है कि मनुष्य की यह गोपन तृषा ही मिथ्या है। इस जड ससार के आगे सब कुछ शून्य है, अत हमें इसी ससार में सुख की खोज करनी चाहिए। इसके विपरीत वैरागियो (निवृत्ति-वादियो) का दल कहता है कि यह ससार माया है, इसमें उलझना जीवन के वास्तविक ध्येय से दूर पड जाना है। जडतावादी (प्रवृत्तिवादी) कहता है कि दिव्य जीवन की कल्पना निरी कल्पना है अत इस पृथ्वी पर जब तक जीवित रहो, इसी को स्वर्ग मानकर जियो और इसके आनन्द का उपभोग करो। वैरागी (निवृत्तिवादी) कहता है कि यह पृथ्वी स्वर्ग बन ही नही सकती। स्वर्ग तो तब

१ आचार्य जावडेकर आधुनिक भारत, पृ० १२७-१२८।
२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५२०-५२१।

मिलेगा जब हम मिट्टी के घेरे से बाहर चले जाएँगे। श्री अरविन्द जड़तावादी (प्रवृत्तिवादी) दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहते हैं कि इसने जिज्ञासा से पीड़ित मनुष्य की अनेक शंकाओं का समाधान करके उसके जीवन के निचले-स्तर-सम्बन्धी ज्ञान का भण्डार बढ़ाया है। इसके साथ-ही-साथ वैरागियों (निवृत्तिवादियों) की वृत्ति के समर्थन में वे कहते हैं कि इसने मनुष्य को संसार के मोह से मुक्त करके अज्ञात की खोज में निकल पड़ने के साहस से युक्त किया एवं आत्मा की सतह की झाँकी लेने में उनकी सहायता की है। श्री अरविन्द दोनों ही दृष्टिकोणों को अपूर्ण और सीमित बताकर दोनों के समन्वित रूप को वह आधार मानते हैं जिस पर दिव्य जीवन का महल खड़ा हो सकता है, वह महल जिसमें सत्य, शिव और सुन्दर तीनों ही अपने-अपने सन्तुलित भाग को पाकर सन्तुष्ट होंगे तथा इसी समन्वय के कारण श्रीअरविन्द के पास जड़तावादी एवं वैरागी (प्रवृत्तिवादी और निवृत्तिवादी) दोनों ही प्रकार के लोगों के लिये कुछ देय सन्देश है।[1]

श्री अरविन्द ने जिस योग की साधना की, उसमें सन्यास को कभी स्वीकार नहीं किया। आश्रम के साथ सन्यास की बद्धमूल भावना का ठीक विरोधी है, पाण्डिचेरी का श्री अरविन्दाश्रम। यहाँ गैरिकवसन सन्यासी नहीं रहते, यहाँ रहते हैं साधक—जिनका जीवन आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर निर्मित है और इसका लक्ष्य है इस पृथ्वी पर और जिसे हम जड़ कहते हैं उस जगत् में भगवदीय चेतना का अवतरण।[2]

कितने ही लोग श्री अरविन्द की योग-साधना को जगत् से पलायन समझते हैं, परन्तु उनके जिस अध्यात्म में इस विश्व का ही दिव्यीकरण माना गया है, उसमें इस जड़ जगत् की उपेक्षा या अवहेलना कैसे हो सकती है? श्रीअरविन्द इस जड़ जगत् में ही भागवत्-चेतना उतारना चाहते थे। फिर ऐसा योगी इस जगत् का तिरस्कार क्यों करेगा? वे सम्पूर्ण जगत् और सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बनाना चाहते थे, इसलिये पाण्डिचेरी जाने पर भी संसार की ओर से उन्होंने आँखें नहीं फेरीं। संसार में क्या हो रहा है, इस पर उनकी बड़ी सतर्क दृष्टि रही है। उन्होंने यह अवश्य माना है कि संसार की किसी भी शक्ति से बढ़कर है आध्यात्मिक शक्ति—आत्मा की शक्ति, और किसी को जागृत करने तथा जगत् में कार्यशील करने में वे सदा प्रवृत्त रहे।[3]

श्री अरविन्द के योग में एक जातिगत भावना है, अर्थात् वह जाति के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने का अभ्यास और क्रम है। उनका कहना है कि जगत् एक

१. श्रीरामधारीसिंह दिनकर : श्री अरविन्द की साहित्य साधना, (डॉ० इन्द्रसेन द्वारा संपादित— श्री अरविन्द की प्रेरणा, पृ० १४३-१४४)।

२. आचार्य भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' श्री अरविन्द, (डॉ० इन्द्रसेन द्वारा संपादित —श्री अरविन्द की प्रेरणा, पृष्ठ ३१)।

अपने पूर्णयोग में कर्मयोग के स्थान के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—'पुराने योगों का उद्देश्य जीवन को छोड़कर भागवत स्थिति को प्राप्त करना है—अतएव वहाँ दृष्टि कर्म के परित्याग की है। हमारे नये योग का उद्देश्य भागवत स्थिति को प्राप्त करके वहाँ जो पूर्णता प्राप्त होती है, उसे जीवन में उतारने का है, और इस कारण यहाँ कर्मयोग अनिवार्य है।'[1]

स्वामी विवेकानन्द ने भारत को आधिभौतिक उन्नति के लिये प्रेरित किया था। श्री अरविन्द भी आधिभौतिक उन्नति में विश्वास करते हैं, परन्तु वे योरप की घोर प्रवृत्तिमूलकता के प्रति भारतवासियों को सचेत करना चाहते हैं और योरप का अनुकरण काफी सावधान रहकर करने का आदेश देते हैं। पश्चिमी देशों ने एक समय जिस प्रगतिशीलता की झोंक में भारत को अप्रगतिशील देश कहकर ठुकरा दिया था, वही प्रगतिशीलता अवसर पाकर रजोमुखी मानव-प्रवृत्ति का विकासोन्मुख स्वरूप बन गई और उसने जीवन को वाह्याडम्बर से घेरकर सङ्कटपूर्ण बना दिया। घोर प्रवृत्ति-मूलक दृष्टि की नई देन-जीवन के सङ्कट—पश्चिम को पूर्व की जीवन-शैली के प्रति नई जिज्ञासा दे रहे हैं। घोर प्रवृत्ति के गह्वर में फँसे योरपवासियों को शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में भारत की उच्च जीवन-शैली की झलक दिखाकर ही स्वामी विवेकानन्द ने असख्य लोगों को मुग्ध कर लिया था। श्री अरविन्द ने भी बताया कि योरप का घोर प्रवृत्तिपरक समाज तभी सात्विक-जीवन का अधिकारी होगा जब वह भारत की आन्तरिक विकास की नीति को अपनायेगा।

श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन मुख्यरूप से आध्यात्मिक जीवन का समर्थक है, उनकी आध्यात्मिकता न तो निराशावादी है और न पलायनवादी, वह जीवन को अतिशय भोगवाद से रक्षा करने वाली है। श्री अरविन्द की दृष्टि में आध्यात्मिक विकास सर्वांगीण विकास है, जो गीता के दर्शन के समान सन्यास और भोग का समन्वय है और हठवादी सन्यास तथा भोगवादी गार्हस्थ्य दोनों का निषेध करता है।

महात्मा गाधी (सन् १८६९—१९४८)

भारत को महात्मा गांधी की देन महान् है। जब वे १९२५ में दक्षिण अफ्रीका से अन्तिम रूप से स्वदेश लौट आये, तब भारतीय कांग्रेस को स्थापित हुए तीस वर्ष हो चुके थे। कांग्रेस ने एक हद तक राष्ट्रीय भावना जाग्रत और सगठित कर दी थी, लेकिन यह जागरण मोटे रूप से अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोगों तक ही सीमित था। जनता में उसने अभी प्रवेश नहीं पाया था। जनता तक उसे महात्मा गांधी ले गये और उसे जन-आन्दोलन का स्वरूप दे दिया। महात्मा गांधी का

1. Sri Aurobindo on himself and on the mother, p. 197.

आन्दोलन जहाँ व्यापक था, वहाँ गहरा भी था।[1] उन्होंने पहली बार देश के सामने आजादी हासिल करने के लिए एक खुला हुआ कार्यक्रम रखा और ऐसे साधन प्रदान किये जिससे देश की स्वतन्त्रता की व्यापक सम्भावना हुई। 'असहयोग' और 'अहिंसा' नामक दो अस्त्र देकर उन्होंने देश से कहा कि यह ब्रिटेन की अपनी शक्ति नहीं, वरन् उसे मिलने वाले तुम्हारे सहयोग की शक्ति है, जिस पर तुम्हारी गुलामी का यह भवन—यह शासन—टिका है। अपना सहयोग खींच लो, यह भवन निरवलंब तथा निराधार होकर ढह पड़ेगा।[2] वस्तुतः लगभग सौ वर्षों तक भारत देश ने जो आत्म-मंथन किया था, पराधीनता की ग्लानि को धोने के लिए अपनी श्रेष्ठ शक्तियों का जो चिन्तन और ध्यान किया था, गांधीजी उसी तपस्या के वरदान बनकर प्रकट हुए थे। एक ओर भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र था, दूसरी ओर संसार अपनी समस्याओं के समाधान के लिये व्याकुल था, गांधीजी दोनों की मनोकामना पूर्ण करने के लिये आये थे।[3]

गांधी जी के बताये हुए मार्ग पर चलकर देश को स्वतन्त्रता मिली, अतः वे निश्चित रूप से राजनीति के पुरुष थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के साथी हेनरी एम० एल० पोलक से एक बार उन्होंने कहा था कि लोग कहते हैं कि मैं सन्त हूँ, मगर राजनीति में फँसकर अपने-आपको गँवा रहा हूँ। पर सच बात यह है कि मैं एक राजनीतिज्ञ हूँ और सन्त बनने का भगीरथ प्रयत्न कर रहा हूँ।[4] अन्यत्र उन्होंने कहा है, 'मेरा उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म-पालन का मार्ग नहीं देखता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है, क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यों से एकाकार होने की सम्भावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ, एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाय, यह सम्भव नहीं। जो मनुष्य में क्रियाशीलता है, वही उसका धर्म भी है जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है, उससे मेरा परिचय नहीं है।[5]

जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द में अद्वैतवाद का आधुनिक प्रवृत्तिवादी क्रियाशील रूप प्रगट हुआ है, उसी प्रकार आदर्शवादी महात्मा गांधी में हम सन्त-

१ डा० राजेन्द्र प्रसाद - गांधी जी का भारत पर ऋण (गांधी अभिनन्दन-ग्रन्थ-सं० डा० राधाकृष्णन्, पृष्ठ २३३-३४।)
२ श्री रामनाथ 'सुमन' गांधीवाद की रूपरेखा, पृष्ठ १६७-१६८।
३ श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५३२।
४. गांधीजी का उपदेश हेनरी एस० एल० पोलक (गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ, सं—डॉ० राधाकृष्णन, पृष्ठ २१८)
५ श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५३३।

परम्परा का आधुनिक क्रियाशील प्रवृत्तिवादी रूप पाते हैं। जैसा पं० परशुराम चतुर्वेदी ने दिखलाया है, "महात्मा गांधी की आस्तिकता, विश्वकल्याण की भावना, मानव-समाज की एकता में पूर्ण विश्वास, विचार-स्वातन्त्र्य, स्वानुभूति के प्रति आस्था, बाह्य विडंबनाओं से असन्तोष, सार्वभौम विचार, विश्वप्रेम, तथा सबसे बढ़कर अपने शुद्धाचरण द्वारा सिद्ध किया हुआ आदर्श एवं व्यवहार का सामंजस्य सन्तों के ही अनुसार थे।....वे भी सन्तों की ही भांति स्वर्ग एवं नरक का कहीं अन्यत्र होना नहीं मानते थे और न मोक्ष के लिए परिवार के त्याग को आवश्यक समझते थे। इन्होंने विविध-विपद्ग्रस्त भूतल को ही स्वर्ग बनाने का प्रयत्न किया तथा व्यक्ति मोक्ष एवं विश्वकल्याण, में सामंजस्य प्रदर्शित किया।"[1] सन्तों के समान ही गांधी जी का रामनाम की साधना में विश्वास था। उनकी दृष्टि में "रामनाम राम का प्रतीक है, और सत्य ही वस्तुत: राम, नारायण ईश्वर, खुदा, अल्लाह या गॉड है, और उसके सिवा कुछ भी नहीं है।"[2] गांधी-दर्शन में जो तप तथा त्याग का प्राधान्य और भोग की उपेक्षा है, और उसके अहिंसा के मूल में जो आत्म-पीड़न का भाव है, उसमें निर्गुण सन्त-परम्परा का ही विकास है।[3] पूर्व सन्तों से गांधी जी की विशेषता तथा नवीनता यह है कि वे विश्वकल्याण में, भूतल को स्वर्ग बनाने की चेष्टा में अधिक दत्तचित्त, क्रियाशील, अर्थात् अधिक प्रवृत्तिवादी हैं।

गांधी जी कर्म के अनन्य पुजारी थे। चाहें वे धर्म की व्याख्या करते हों, चाहे राजनीति की समस्या सुलझाते हों, चाहे समाज-सुधार में व्यस्त हों, वे कर्म को महत्त्व देते थे। वस्तुतः उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से हल करने का प्रयास किया—उनका धार्मिक दृष्टिकोण गीता का प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण था। तिलक ने भी गीता की प्रवृत्तिपरक व्याख्या कर जीवन और धर्म को एकाकार करने का सन्देश दिया, पर व्यापक रूप से जीवन में इसका प्रयोग गांधीजी ने ही किया। श्री अरविन्द ने जिस अति-मानस के स्तर तक मनुष्य को ले जाने के लिये साधना आरम्भ की थी, उसी को जन-साधारण के लिए सुलभ बनाने के लिये—धरती को ही स्वर्ग बनाने के लिये—महात्मा गांधी ने जीवन और धर्म को एकाकार कर जीवन को कर्ममय बनाने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दुस्तान की राजनीति को और सम्भवतः संसार की पीड़ित मानव-जाति को जो सबसे बड़ी चीज दी, वह है बुराइयों से लड़ने का वह बेजोड़ तरीका-जिसे उन्होंने प्रचलित और कार्यान्वित किया। उन्होंने हमें और संसार को युद्ध का नैतिक

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ६८४।
२. 'यंग इंडिया' १४, ८, २४।
३. देखिए—डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ४३।

स्थान ग्रहण कर सकने वाली वस्तु दी है। उन्होंने राजनीति को, जो कि धोखा-धड़ी और असत्य से भरी हुई थी, जो गिरी-से-गिरी हालत में नीच षड्यन्त्रों की स्थिति में पहुँच गई थी और ऊँची-से-ऊँची स्थिति में कूटनीतिपूर्ण द्वि-अर्थी गोल-मोल भाषा और गुप्त चालों से ऊँची न उठ सकती थी, ऊपर उठाकर एक ऐसे ऊँचे आदर्श पर पहुँचा दिया है, जिसमें कि कितने ही ऊँचे उद्देश्य के लिए किसी भी स्थिति में भी, दोषपूर्ण और अपवित्र साधनों का उपयोग नहीं किया जा सकता।[1] वास्तव में गाँधी जी के लिए धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो मनुष्य के क्रिया-कलाप से परे हो; वह तो आचरण की वस्तु थी भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में यद्यपि गाँधी जी की स्थिति एक ऐसे राजनीतिक क्रांतिकारी की थी, जो अत्याचार अथवा दासता के सामने झुकने से इनकार करता था, परन्तु वे ऐसे क्रान्तिकारी भी नहीं थे, जो अपनी ही बात पर अड़ा रहता हो और अपने हठ के सामने दूसरे पक्ष की बातें सुनने से इन्कार करता हो। वे ऐसे सन्त भी नहीं थे, जो अपनी धुन के अंधे होकर मनुष्यों को अस्वाभाविक और अमानुषिक प्राणी बना डालते हैं। अनुभव की अग्नि-परीक्षा में वे न राजनीतिज्ञ थे, न सुधारक, न दार्शनिक थे, न आचार-शास्त्री; बल्कि इन सबके सम्मिश्रण थे। उनमें उच्चतम मानवीय गुण थे। फिर अपनी मर्यादाओं से परिचित होने तथा अपने स्वभाव की नित्य-प्रासादिकता के कारण वे सबके अधिक प्रेमपात्र बन गये थे।[2]

एक बार गाँधी जी के एक मित्र ने उनसे अहिंसा के सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिख देने के लिए कहा। प्रत्युत्तर में गाँधी जी ने कहा कि इस प्रकार से निबन्ध लिख कर किसी सिद्धान्त का प्रचार करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। मेरा निर्माण शास्त्रीय रचनाओं के लिए नहीं हुआ है। अपनी दृष्टि से जिसे मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ और जो मेरे सामने आता है, मैं कहता हूँ। मेरे समस्त कर्म सेवा-भाव से प्रेरित होते हैं। आज के संसार को शास्त्रों की भूख नहीं है। आज उसे जिसे वस्तु की अभिलाषा है और भविष्य में भी रहेगी—वह है सच्चा कर्म। जिस मनुष्य को इस भूख को मिटाने की लगन लग जायेगी, वह शास्त्र-रचना में अपना अमूल्य समय व्यर्थ नहीं गँवायेगा।[3]

---

१. डा० राजेन्द्र प्रसाद : गांधी जी का भारत पर ऋण (गाँधी-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृ० २३५)।

२. डॉ० राधाकृष्णन् : गाँधी जी का धर्म और राजनीति (गाँधी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १८)।

३. "The world does not hunger for Shastras, what it craves and will always crave is sincere action. He who can appease this hunger will not occupy his time in elaborating a Shastra." Harijan, May 6, 1933.

गांधी जी का संदेश कर्म का अनासक्त प्रवृत्ति-मूलक धर्म का—सदेश था। उनके सम्मुख जीवन्मुक्त जनक का आदर्श था। उनका विश्वास था कि गुफावासी योगी भी हवाई महल की कल्पना में फँस सकता है किन्तु राजमहल का वासी जनक ऐसी कल्पनाओं से मुक्त है। शरीर गुफा में और मन ससार में रहे तो गुफावासी को भी शाति नही मिल सकती। किन्तु महलो के चाकचिक्य के भीतर बसने वाले जनक को ऐसी शांति प्राप्त हो सकती है, जिसे वे ही जानते हैं जिन्हें शाति मिल चुकी है। मेरे लिए मोक्ष का मार्ग स्वदेश एव निखिल मानवता की सेवा का ही मार्ग है।[1]

नवोत्थान के सभी नेताओं ने हिन्दुओ को अभिनव स्वरूप प्रदान करने के प्रयास में एक ओर तो भोगवाद को स्वीकृति प्रदान की और दूसरी ओर धर्म पर भी आवश्यक बल दिया। प्रवृत्ति-मार्गी दर्शन का समर्थन करते हुए एक ओर तो उन्होंने धर्म की इस व्याख्या को गलत ठहराया कि संसार असार है और इस ससार से मुक्ति के लिये कामिनी काचन का परित्याग करना चाहिये, वहाँ दूसरी ओर धर्म को मानव-धर्म का पर्याय बताते हुए जनता में यह भाव जगाया कि जीवन सत्य है और जीवन के विविध क्षेत्रो में कर्तव्य-पथ पर उतर पडना ही मानवोचित धर्म है। उन्होंने कर्तव्य पालन के साथ-साथ निष्काम कर्म पर ही जोर दिया एव जन समाज में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' वाला पुराना औपनिषदिक आदर्श प्रस्तुत किया और अति-निवृत्ति तथा अति प्रवृत्ति दोनों का समन्वय स्थापित करते हुए मध्यम मार्ग के अवलम्बन पर जोर दिया। निवृत्ति से प्रेरित प्रवृत्ति की इसी पर-परा को अत्यधिक बल प्रदान करने के लिए गाधी जी ने समाज सेवा और उच्च नैतिक आचरण को धर्म का एकमात्र आधार मानकर सन्यासी और गृहस्थ के भेद को मिटाते हुए यह घोषणा की कि धर्म की साधना सन्यासी और जीवन की साधना गृहस्थ करें, यह उचित स्थिति नही है। आदर्श समाज वह होगा जिसमें सन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी सन्यासी होंगे अथवा दोनो के बीच कोई भेद नही रह जायेगा। गाधी जी स्वय वैरागी के वैरागी और गृहस्थ मे गृहस्थ थे। व स्वय वैरागी थे, पर गृहस्थो के आनन्द में कभी बाधा नही डालते थे। वे स्वय निर्धन एव दरिद्र थे, किन्तु सबको सुखी एव सम्पन्न बनाने की दिशा में सदस अधिक क्रियाशील थे। वे ओर रूप में क्रातिकारी थे, किन्तु क्रान्ति के पक्ष में वे जिन शक्तियो को जाग्रत करते थे, उन्हें अपने नियत्रण में भी रखते थे। वे एक साथ प्रतिमापूजक और प्रतिमा-भजक भी थे। मूर्तियो को यथास्थान रखते हुए भी वे आराधकों को उच्च स्तर पर ले जाकर प्रतिमाओ के दर्शन करन की शिक्षा दते थे। वे वर्णाश्रम के विश्वासी थे, किन्तु जाति-प्रथा को चूर्ण किए जा रहे थे। काम-

१ यग इण्डिया, ३ अप्रैल, १९२४ ई०।

भावना को भी वे मनुष्य की नैतिक प्रगति में बाधक मानते थे, किन्तु टालस्टाय की भाँति वे सौन्दर्य और नारी को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखते थे। प्रत्युत, उनकी मान्यता थी कि नारियों के लिए आदर और कोमलता का भाव पुरुष-चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है। गांधी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जो सुधार वे दूसरों को सिखाते थे, उन सुधारों की कीमत पहले आप चुका देते थे।[1]

गांधीवाद—सत्याग्रह के प्रवर्त्तक तथा असहयोग के संचालक गांधी जी के नेतृत्व के पीछे एक आदर्शवादी भाव-धारा है, एक सुचिंतित विचार दर्शन है, जिसने देश के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक—सभी क्षेत्रों में गहरा प्रभाव डाला। यह विचार-दर्शन जिसे प्रायः 'गांधीवाद' कहा जाता है, दार्शनिक शब्दावली में आध्यात्मिक मानववाद कहा जा सकता है। इसके मूलाधार हैं सत्य और अहिंसा। यह युग्म ही उनके दर्शन में अन्य दर्शनों के सत्य-ऋत, शिव-शक्ति, शून्यता करुणा (प्रज्ञोपाय), निर्गुण-सगुण आदि युग्मों का रूप है। गांधी जी ने कहा है कि सत्य, जिसका शाब्दिक मूल सत् (अर्थात् होना) है, एकमात्र सत्ता है, चराचर जगत में व्याप्त है परमेश्वर का स्वरूप है। 'सत्य का दूसरा नाम परमेश्वर है" (आत्म-शुद्धि, पृ० १)। वे एक ही परम सत्य के रूप होने के आधार पर ईश्वर तथा मानव में, और मानव तथा अन्य प्राणियों में कोई मौलिक भेद नहीं मानते। आत्मा की चरम एकता और जीवों में समबुद्धि के आधार पर गांधी जी मानव-मानव के भेद—वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, रंग आदि के सभी भेद—को अस्वीकार करते थे, और उनका विश्वास था कि यह महान् सत्य मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि का स्वामी नहीं, सेवक बनाता है।' इस चरम एकता के आधार पर वे यह भी मानते थे कि, 'यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उससे सारे संसार का लाभ होता है, और यदि एक मनुष्य का पतन होता है तो उसी अंश में सारे संसार का पतन होता है।'[2]

इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से समबुद्धि प्राप्त होती है, और समबुद्धि से सबके प्रति अहिंसा का भाव उत्पन्न हो जाता है। जैसा गांधी जी ने बार-बार कहा है—अहिंसा सत्य का ही दूसरा पहलू है। वास्तव में अहिंसा सत्य का भाव पक्ष है, इसका अर्थ केवल हिंसा का अर्थात व्यापक रूप में द्वेष-वैर का अभावमात्र ही नहीं। अहिंसा का अर्थ प्रेम ही है। गांधी जी की इस अहिंसा में (अभावात्मक) द्वेष वैर त्याग, (भावात्मक) चराचर प्रेम और पूर्ण निष्काम भाव की सेवा का समन्वय है। स्वतन्त्रता संग्राम के असहयोग आन्दोलन में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध शस्त्र रूप में गृहीत होने के प्रसंग में विपक्षी के प्रति दुर्भाव न रखने का भाव प्रमुख

१ रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ ५४१-५४२।

२ हरिजन मे प्रकाशित गांधी जी के वक्तव्य (सर्वोदय-तत्त्वदर्शन में उद्धृत)।

होने के कारण ही अहिंसा की नकारात्मक संज्ञा गृहीत हुई।

सत्य से अनुप्राणित इस अहिंसा या प्रेम की उपलब्धि के लिए जड़ीभूत अहंकार वाले अन्तराय का विलयन-रूप आत्मशुद्धि आवश्यक है। वस्तुतः अहंकार प्रेम से भिन्न नहीं है, जो ससीम-संकीर्ण-सीमा-बद्ध-रूप में अहंकार है, वही असीम-सर्व-समावेशी रूप में प्रेम है। अहंकार को, उदार वैश्व-भावना द्वारा उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) या शोधन द्वारा, प्रेम में रूपान्तरित करना है। जब मनुष्य अपने अहंकार को पूर्णतया घुलाकर अखिल विश्व के साथ अपनी सत्ता का तादात्म्य कर लेता है तो अहिंसा का भाव उसके लिए सहज-स्वाभाविक हो जाता है। इसकी सिद्धि के लिए आवश्यकता होती है तप तथा विश्व-रूप भगवान् की भक्ति की। तप की आँच में पिघल कर ही अहंकार रूपी हिम प्रेम-रूपी जल में रूपान्तरित होता है। यह आत्मशुद्धि व्यक्ति-कल्याण का ही नहीं, लोक-कल्याण का भी साधन है। तप-आत्म पीडन-से केवल अपने पाप का—अपने हिंसा इत्यादि का ही नहीं, पापमात्र का—हिंसामात्र का—नाश होता है। यही गांधी जी के हृदय-परिवर्तन-सिद्धान्त का मूल रहस्य है।[1]

वीर सावरकर आदि कुछ नेताओं ने सिद्धान्ततः मान्यता देते हुए भी व्याव-हारिक क्षेत्र में पूर्ण अहिंसा के सिद्धान्त का विरोध किया। गांधीवाद की अहिंसा की भावना के प्रभाव से ही तत्कालीन छायावादी हिन्दी कविता में विश्व मानवता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना तथा बलिदानवाद की अभिव्यक्ति और पकड़ गई।

सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् (सन् १८८८-१९७५)

इटली के राष्ट्रीय नेता मेजिनी का कहना था कि जातियाँ जब तक पराधीन रहती हैं, उनका व्यक्तित्व दबा रहता है तथा जो संदेश उनके पास निहित है, उनकी अभिव्यक्ति पराधीनता के काल में नहीं की जा सकती।[2] मेजिनी की यह वाणी भारत के संबंध में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। पराधीनता के काल में स्वामी विवेकानन्द, एनी बेसेंट, लोकमान्य तिलक आदि ने पाश्चात्य देशों के सम्मुख अपने देश के गौरव के अनेक प्रकार के चित्र खींचे और उनके नेत्रों में चकाचौंध भी उत्पन्न की, परन्तु पाश्चात्य देशों ने भारत को अप्रगतिशील कहकर उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा, जिसके कारण श्री अरविन्द क्षुब्ध होकर सम्पूर्ण भारत के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने के लिये 'पृथ्वी के स्वर्गीकरण' के प्रयास में साधना के क्षेत्र में लीन हो गये। अन्ततः पाश्चात्य देशों में भारत के आध्यात्मिक आदर्शों को अपनाने की

१ गांधीवाद के निरूपण के लिए देखिए—डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ४०-४४।

२ श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, ५१९।

ख्वाहिश स्वतन्त्र भारत के मनीषी महात्मा गांधी और डा० राधाकृष्णन् के ही सन्देशों द्वारा सम्भव हुई।

गांधीजी ने डा० राधाकृष्णन् को बुलाकर एक बार कहा था कि मैं तुम्हारा अर्जुन हूँ और तुम मेरे श्रीकृष्ण हो।[1] वस्तुतः कर्मयोग के मार्ग पर चलकर अर्जुन ने संसार के समक्ष जो आदर्श प्रस्तुत किया, गांधीजी ने उसी आदर्श पर चलकर शब्दों द्वारा नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवन द्वारा बोलकर संसार को 'कर्म' का अद्भुत और अपूर्व सन्देश दिया। डा० राधाकृष्णन् के मन में श्री कृष्ण की नीति अपनाकर सम्पूर्ण विश्व को जीवन का सुखद, सुन्दर और मनोरम बनाने के लिए अपूर्व सन्देश देने का कार्य आया। उन्होंने विश्व की दार्शनिक विचारधारा को एक नया मोड़ दिया, संसार के चिन्तकों को एक नई उत्तेजना दी और विश्व-कल्याण के लिये एक ऐसा सामाजिक दर्शन खड़ा करने पर ज़ोर दिया, जिसमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही दर्शनों के श्रेष्ठ तत्त्व समन्वित हों। संसार के कोलाहल में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय की माधुरी का संचार किया है, जिससे विश्व-दर्शन की उत्पत्ति दिनों दिन संभव होती जा रही है।[2] डा० राधाकृष्णन् ने इस बात को स्वीकार किया कि पूर्व और पश्चिम दोनों आज एक ही समस्या का समाधान ढूँढने में लगे हैं और वह समस्या है मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों के एकीकरण की। पूर्व और पश्चिम दोनों एक-दूसरे से सीखने, नवीन, चिर परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ अतीत से प्राप्त परम्परा का सामंजस्य बिठाने तथा उसे एक नया जीवन्त रूप देने को प्रयत्नशील हैं। आध्यात्मिक मूल्यों और मस्तिष्क की उपलब्धियों के बीच के तनाव को कम करने के प्रयास में ही हमें मानवीय आत्मा की अतुलनीय उड़ानों और नये क्षितिजों के उद्घाटन के दर्शन होते हैं। आज भी मानव की अजेय आत्मा पीछे नहीं आगे देख रही है, ऊँचाई की ओर निरख रही है, तारों तक पहुँच रही है, फिर चाहे इसका मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो और परिणाम कुछ भी हो।[3] पूर्व और पश्चिम की विचार-धाराओं को मिलाकर डा० राधाकृष्णन् विश्व-दर्शन को संभव बनाने में प्रयत्नशील हैं। उनका कहना है कि प्रयत्न करना हमारा धर्म है, असफलता से कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि असफलताएँ ही सफलता की आधार हैं।[4]

जो पाश्चात्य विद्वान यह कहते हैं कि हिन्दुत्व में निवृत्ति को प्रधानता है,

---

१ D S Sharma Mahatma Gandhi

२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५५८।

३. डा० राधाकृष्णन् : पूर्व और पश्चिम—कुछ विचार, पृष्ठ ९-१०।

४. वही, पृष्ठ १०।

उनके आरोप को डा० राधाकृष्णन् निराधार मानते हैं। वे बौद्ध-धर्म को भी प्रवृत्ति-परक ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में गौतम बुद्ध का अष्टांग मार्ग वैदिक धर्म का ही दूसरा रूप है। बोधि प्राप्ति का तात्पर्य ही है नीचे गिरे हुए प्रत्येक अन्य व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति में सहायक होने में समर्थ होना। हिन्दू-धर्म की ही भांति बौद्ध-धर्म का लक्ष्य है सम्पूर्ण मानवता का दुःख दूर करना। महायान बौद्ध-धर्म के अनुसार, बुद्ध ने जान-बूझ कर बोधि की अन्तिम अवस्था को प्राप्त नहीं किया, ताकि वे राह के अन्य लोगों की सहायता कर सकें। उन्होंने प्रण किया कि जब तक सारी सृष्टि, धूल का प्रत्येक कण तक उस तक नहीं पहुँच जाएगा, वे निर्वाण नहीं लेंगे।[1] इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को प्रवृत्तिमुखी सिद्ध करने का जो अभिनव अभियान आधुनिक पुनरुत्थान युग के मनीषियों ने प्रारम्भ किया था, डा० राधाकृष्णन् का आविर्भाव उसी अभियान को सफल करने के लिए हुआ। वैदिक प्रवृत्तिमार्गी धारा को प्रत्यावर्तित करने का प्रयास स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया, वेदान्त की प्रवृत्तिपरक सिद्ध करने का श्रेय राममोहन राय, परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को है, गीता की प्रवृत्ति-परक व्याख्या लोकमान्य तिलक ने की, और डा० राधाकृष्णन् ने बौद्ध-धर्म को प्रवृत्तिमूलक सिद्ध करने का प्रयास करके हिन्दुत्व का सबसे महान् उपकार किया।

डा० राधाकृष्णन् जब आध्यात्मिक अनुभूतियों पर बल देते हैं, तब निश्चित रूप से वे धर्म का समर्थन करते हैं परन्तु उनका धर्म निवृत्ति के मार्ग पर पहुँचाने वाला धर्म नहीं है। वे स्वामी विवेकानन्द की भाँति ही धर्म को आधिभौतिक उन्नति का अवरोधक नहीं मानते। उनका मत है कि निवृत्ति मार्ग संसार से पलायन और वैराग्य का मार्ग है, परन्तु जिन आध्यात्मिक अनुभूतियों को पाकर मनुष्य विश्व-सेवा का मार्ग अपनाता है, वे निवृत्ति मूलक कैसे हो सकती हैं। गांधीजी धर्म के मनुष्य थे, विश्व को छोड़कर उन्होंने अपनी मुक्ति अन्यत्र नहीं खोजी। सेवा की क्रियात्मक भावना आध्यात्मिक जीवन का ही अंश है।[2]

डा० राधाकृष्णन् का मत है कि आध्यात्मिक अनुभूतियाँ सामाजिक जीवन से जब तक संबंधित रहेंगी, वे निवृत्तिमुखी हो ही नहीं सकतीं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस 'सुखद' मान्यता के कारण संसार के कष्टों से पलायन की चेष्टा करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन सामान्य सामाजिक जीवन से भिन्न है। वे भागकर एक ऐसे आध्यात्मिक रहस्यवाद में शरण लेते हैं, जो जीवन से दूर हो जाता है। ज्ञान एवं कर्म के ठोस क्षेत्र से अलग होकर

---

१ डॉ० राधाकृष्णन् 'पूर्व और पश्चिम'—कुछ विचार, पृष्ठ २८।
२ श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५७१।

से जीवन का त्याग करनेवाले इस विश्वास के एक सौन्दर्य-एवं विचार-प्रधान कल्पित जगत में पहुँच जाते हैं कि धर्म का सबंध मुख्यतः सत्ता की एक दूसरी ही श्रेणी से है और जो श्रेय वह चाहता है, वह इहलौकिक या इस दुनिया का नहीं है। जीवन के ये भगोड़े आवश्यक मानवी कर्मों से दूर खिसक जाते हैं, पवित्र एवं सासारिक के बीच एक खाई बनाकर ससार के दुःखान्त भाग्य के प्रति उदासीन बनकर, मानव-जाति की सामाजिक वेदना के दृश्य से अपने को हटाकर धर्म को सामाजिक पुनर्जीवन की संभावना से विरत करते हैं।[1] डा० राधाकृष्णन् धर्म को एक सामाजिक संयोजक—सीमेंट—मानते हैं, और उसे पलायन का मार्ग स्वीकार करने से इनकार करते हैं। वे गीता की भी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या का समर्थन करते हैं। गीता केवल सिद्धान्तों का आख्यान न करके व्यावहारिक धर्म को प्रधानता देती है। गीता के अनुसार मनुष्य के सामाजिक और नागरिक कर्तव्य ही धर्म के क्रिया क्षेत्र हैं, धर्म-कार्य के वास्तविक अवसर हैं। धर्म वह है जिससे सासारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक उन्नति, दोनों ही प्राप्त होते हैं।[2]

डा० राधाकृष्णन् जहाँ एक ओर हिन्दुत्व को प्रवृत्तिमार्गी मानते हैं, वहाँ वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दुत्व में घोर प्रवृत्ति के बदले निवृत्ति से आच्छन्न प्रवृत्ति की भावना है। उनका विचार है कि न तो ससार के अन्य धर्म ही निवृत्ति की भावना से शून्य हैं और न हिन्दू धर्म ही। वस्तुतः सभी धर्म अति सासारिकता का विरोध करते हैं। जब तक मनुष्यों पर धर्म का प्रभाव रहा, समाज में अशिक्षा और अन्धविश्वासों के रहते हुए भी, आज की अपेक्षा अधिक शान्ति और सद्भाव था। किन्तु ज्यों ज्यों ज्ञान की वृद्धि हुई और धर्म का अनादर बढ़ा, त्यों त्यों समाज में अशांति की वृद्धि होती गई। हाल में पश्चिमी जगत् ने विज्ञान और टेकनीक में जो आश्चर्यजनक उन्नति की है, समाज में सुधार और राजनीति में जो प्रगति की है, उससे वहाँ का धर्म प्रवृत्तिमार्गी कहा जाने लगा है। किन्तु सभ्यता है क्या? क्या पाश्चात्य सभ्यता ही सभ्यता का एकमात्र मानदण्ड है? क्या पश्चिम की उन्नति और पूर्व का पतन धर्म के कारण हुआ है? बात यह है कि कार्यकारी मनुष्य (एक्जीक्यूटिव मैन) वैचारिक (रिफ्लेक्टिव) मनुष्य से बहुत आगे निकल गया है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन के आध्यात्मिक मूल्य और गहनता में वृद्धि लायी जाय। ससार को आदर्श नहीं, आदर्शों को काम में लाने का उत्साह चाहिए। विश्ववाद का आदर्श काफी पुराना है। वह ससार के कार्यक्रमों में बहुत दिनों से पड़ा हुआ है। पर वह आत्मा कहाँ है, जो शरीर को सजीव करे? स्वयं धर्म को पुनर्जन्म लेना है। यदि विश्व भर के मनुष्य एक होकर आगे नहीं

१. डा० राधाकृष्णन् सत्य की ओर, पृष्ठ २८।

२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५७१।

बढ़ने तो पृथ्वी पर दूसरा तिमिराच्छन्न युग आकर रहेगा।[1]

डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'हम एक उत्तेजना, संकट और सुयोग के युग में जी रहे हैं। हमें अपनी अपूर्णताओं का ज्ञान है, और यदि हममें लक्ष्य को देख सकने की दृष्टि और उसके लिए कर्म करने का साहस हो तो हम अपनी अपूर्णताओं-अपर्याप्तताओं को दूर कर सकते हैं।[2]



१ ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट (दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५७६)

२ डा० राधाकृष्णन् सत्य की ओर, पृष्ठ १८१।

भाग : २

अध्ययनात्मक

अध्याय ४

भारतेन्दु-युग (सन् १८६८-१८६६)

तत्कालीन परिस्थितियाँ

भारतेन्दु-युग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पड़ता है। यह युग आधुनिक भारतीय इतिहास में जागृति के प्रथम प्रहर से नाम के जाना जाता है। इस युग के विस्तृत अध्ययन के लिये तत्कालीन परिस्थितियों पर एक विहगम दृष्टि डालना समीचीन होगा।

सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद भारत देश का राजनीतिक ढाँचा नये सिरे से निर्मित हुआ। क्रान्ति के पूर्व भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, उसके बाद शासन-सूत्र इगलैंड की पालियामेण्ट के हाथ में आ गया। लार्ड कैनिंग (१८५६-६१) भारत के प्रथम वाइसराय नियुक्त हुए। उनके शासन-काल में फैले हुए असन्तोष को मिटाने के लिए १ नवम्बर, ५८ को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया, जिसमें इस बात का ऐलान किया गया कि प्रजा के लोग चाहे वे किसी भी जाति, रग व धर्म के हो, बिना किसी रोक टोक और भेद भाव के सरकारी नौकरियो में शिक्षा, योग्यता और कार्यक्षमता के अनुसार भर्ती किये जाएँगे।[१] इस

---

१ Queen Victoria's proclamation of Nov 1 58 declared that the rights, dignity and honour of Indian ruling princes were to be preserved as Her Majesty's own and that so far as might be, all her Majesty's subjects of whatever race and creed were to be freely and impartially admitted to offices in the public by service the duties of which they might be qualified by their education, ability and integrity to discharge

—The Nations of To-day : India—13, Sir Verney Lovett, p. 135.

घोषणा-पत्र का देशवासियों ने स्वागत किया एवं उनमें नवीन आशा और उत्साह का सचार हुआ । ब्राह्मणों ने यज्ञोपवीत हाथ में लेकर महारानी के यश और कीर्ति के लिए मंगल-कामना की । लार्ड कैनिंग ने जनता की शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए अनेक सुधारात्मक कार्य किए । पाश्चात्य शिक्षा का इनके समय में अच्छा प्रसार हुआ, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई एवं कृषि सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया । वास्तव में लार्ड कैनिंग ने बड़े ही धैर्य से भारत की स्थिति को वश में करने का प्रयत्न किया ।

लार्ड कैनिंग के पश्चात् क्रम से ऐल्गिन (१८६२-६३), लारेंस (१८६४-६९), मेयो (१८७९-७२) और नार्थब्रुक (१८७२-७६) भारत के वाइसराय नियुक्त हुये, जिन्होंने सुधारवादी नीति का ही अवलम्बन किया । इन लोगों के शासन-काल में सेना, पुलिस आदि के संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया गया । परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के सग्रह में इस बात की पुष्टि होती है कि उपर्युक्त सभी वाइसरायो ने दोहरी नीति से काम लिया । यद्यपि जनता के प्रति वे पूर्ण सहानुभूति की भावना का प्रदर्शन करते रहे, परन्तु सुधारवादी नीति की आड़ में वे शोषण नीति को अपनाते जा रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप इस बीच सन १८६१, १८६६, १८६८-६९, १८७३-७४ में देश में भयकर अकाल पड़े । भूख की ज्वाला ने अंग्रेजों की शासन-नीति पर शका उत्पन्न की, और धीरे धीरे अंग्रेजों की नेकनीयती पर से भारतीय जनता का विश्वास उठता गया ।

लिटन ने (१८७६ ८०) प्रतिक्रियावादी नीति को खुल्लमखुल्ला अपनाया । इनके समय में द्वितीय अफगान युद्ध हुआ, जिससे भारत को धन-जन की भारी क्षति उठानी पड़ी । सन् १८७८ में भारतीय मिलो के कपड़ो पर कर लगा दिया गया, जिससे विदेशी कपड़ो की तुलना में भारतीय कपड़ों की खपत कम हो गई । सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होने की प्रवेश-वय घटा दी गई, जिसके कारण भारतीय छात्रों को बड़ा असन्तोष हुआ । देश में एक ओर जब मद्रास हैदराबाद, मध्य प्रदेश, पंजाब, बम्बई और मैसूर में अकाल-ग्रस्त जनता हाहाकार कर रही थी, दूसरी ओर दिल्ली में महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करने के लिए एक बड़ा शानदार दरबार किया गया, इससे भारतवासी अत्यन्त क्षुब्ध हुए । देशी समाचार-पत्रों में जब इसकी आलोचना हुई, जैसा कि पूर्णत स्वाभाविक था, तो सन् १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट बनाकर भारतीय भाषाओं में प्रकाशित समाचार-पत्रों की स्वाधीनता छीन ली गई ।

रिपन (१८८०-८४) ने एक बार पुन सुधारवादी नीति अपनाने का प्रयास किया इस दिशा में उनके द्वारा प्रशसनीय कार्य यह हुआ कि द्वितीय अफगान-युद्ध स्थगित कर दिया गया और प्रेस-एक्ट रद्द कर दिया गया । शिक्षा का भी अच्छा

प्रचार-प्रसार हुआ एवं सन् १८८२ में स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित किया गया।

इसके बाद डफरिन (१८८४-८८), लैंसडाउन (१८८८-९३), ऐल्गिन (१८९३-९८), कर्जन (१८९८-१९०५) के शासन-काल में ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति खूब फली-फूली। बर्मा-युद्ध (१८८५) और डफरिन, लैंसडाउन, ऐल्गिन की सीमान्त प्रदेश सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप देश का आर्थिक भार पहले से कहीं अधिक बढ़ गया। रेलों पर उधार लेकर खर्च किया गया। सैनिक-व्यय में वृद्धि हुई।[1] भारत में युद्धों (सीमान्त प्रदेशों में) और महामारियों (बम्बई, कानपुर आदि शहरों में) का प्रकोप रहा। नित्य नये कर लगाए गए। उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। गैर सरकारी शिक्षा-संस्थाओं के प्रति उदासीनता का भाव ग्रहण किया गया। किसानों को घोर यातनायें सहनी पड़ीं। प्रेस, प्रतिनिधि संस्थाओं, राष्ट्रीय और स्वतन्त्र विचारों का दमन किया गया। काले-गोरे के भेद-भाव के कारण भारतवासियों के लिए बहुत कम ऊँची सरकारी नौकरियाँ रहने दी गईं।[2]

सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके संस्थापक ह्यूम ने इंगलैंड के स्वार्थ की दृष्टि से ही इसकी स्थापना की थी—ग० ज० लार्ड डफरिन ने यह सोचकर इसकी स्थापना को स्वीकृति दी कि भारतीयों के बढ़ते हुए असंतोष को रोककर कुछ वर्षों के बाद यह संस्था बन्द कर दी जाएगी। आरम्भ में कांग्रेस का उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक न था, लेकिन १८८६ की कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी ने सभापति की हैसियत से इस बात की घोषणा की कि कांग्रेस एक शुद्ध राजनीतिक संस्था है, उसको उन सामाजिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिनके बारे में मतभेद पाया जाता है। प्रारम्भ में कांग्रेस की मांग केवल नौकरी, सिविल सर्विस और बराबरी के बर्ताव तक ही सीमित रही, अधिकारों के लिए वैधानिक आन्दोलन से आगे कुछ सोचा नहीं जा सकता था। प्रार्थना और समालोचना उसके शस्त्र थे और राजभक्ति का विश्वास बराबर दिलाया जाता था, नेताओं की राजभक्ति ही उनकी सुदृढ़ देशभक्ति का चरण थी।[3] अंग्रेजों की शोषण-नीति का ज्यों-ज्यों पर्दाफाश होता गया, त्यों त्यों कांग्रेस की सहयोग और सामंजस्य की नीति समालोचना एवं विरोध की नीति का रूप धारण करती गई।

---

१ मौलवी मजहर अली सदीलवी की डायरी (१८६७-१९११) के आधार पर—(डा० वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ ६१ में उद्धृत)।

२ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ६२।

३ "The loyalty was the foot of their sturdy patriotism" —Indian Liberalism by V N Naik

पढ़े-लिखे लोगों के बीच बढ़ती हुई विरोध की भावना का संकेत श्री करकेरिया ने इन शब्दों में किया है—"अंग्रेज शासकों को अपना सच्चा हितेच्छु समझने के स्थान पर वे प्रत्येक अवसर पर उनकी आलोचना करने के साथ उनके कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ शासक और शासित के बीच जाति-द्वेष कम होने के स्थान पर बढ़ता ही गया है।"[1]

इस बढ़ते हुए असन्तोष ने भारतीय जनता का एक प्रकार से बड़ा उपकार किया। उसने अपने चारों ओर की सृष्टि को नयी आँखों से देखना सीखा। इसके पूर्व विदेशी सत्ता हमारी शत्रु बनकर हमारी बगल में बैठकर हमारे शोषण करती थी। हम थे कि देखकर भी नहीं देख पाते थे। ब्रिटिश शासन-नीति की प्रतिक्रिया हमारे ऊपर होती थी तो राजभक्ति के रूप में, परन्तु शिक्षितों के बढ़ते हुए असंतोष ने हमें अपने देश के प्रति नये सिरे से सोचने के लिए विवश कर दिया। इसी बीच योरोपीय देशों में स्वतन्त्रता की लहर दौड़ गई। सन् १८६१ से १८८४ के बीच जर्मनी, इटली, रूमानिया, सर्बिया और मांटीनीग्रो राष्ट्रीय दृष्टि से संयुक्त हुए। इटली और स्पेन में वैधानिक राज्यतन्त्र बना और अमेरिकी शासन-विधान भी अधिकाधिक लोकतान्त्रिक बनाया गया। इसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा। छोटे-छोटे देशों को स्वतन्त्र होते देख भारत में राष्ट्रीयता[2] की भावना पनपी एवं देश में राष्ट्रीय चेतना की अभूतपूर्व लहर दौड़ गई।

राजनीतिक जागृति ने लोगों का ध्यान देश की आर्थिक अवस्था की ओर भी आकृष्ट किया। वस्तुतः राजनीतिक अधिकारों की माँग ही इसलिए की जा रही थी कि ब्रिटिश सरकार का आर्थिक शोषण खत्म किया जा सके। ब्रिटेन की आर्थिक नीति का इतिहास भारत के प्रति घोर अन्याय की कथा कह रहा है। यह अन्याय कृषि, व्यापार और आर्थिक शासन व्यवस्था तीनों में झलक रहा है। ये तीनों अपने ह्रास और ब्रिटिश स्वार्थ की घोषणा कर रहे हैं। कृषक और कृषि की दयनीय अवस्था का पता दुर्भिक्ष से लग सकता है। ब्रिटिश व्यापारिक नीति ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि भारत कच्चा माल बाहर भेजने को बाध्य हुआ और उसे इंगलैंड से तैयार माल लेना पड़ा। ब्रिटेन की स्वार्थमयी नीति के कारण भारतीय नेताओं के बार-बार प्रार्थना करने पर भी यहाँ के उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया।

---

१ Forty Years of Progress and Reform by Karkaria, p. 94.

२. "राष्ट्रीयता का अर्थ यह है प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए इसको धन्य धान्य से समृद्ध बनाने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए इसके प्रत्येक नागरिक को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करना चाहिए।"

—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृ० ३६५।

शासन में निरकुशता भी कुछ कम न थी। देश की सत्ता कम्पनी के हाथ से निकल-कर महारानी विक्टोरिया के हाथ में आने के बाद प्रथम बारह वर्षों में भारत का आर्थिक शोषण चौगुना हो गया था।[1] विद्रोह के बाद के १८ वर्षों में सरकारी आय ३ करोड ६० लाख से बढकर ५ करोड १० लाख पौंड हो गई। इसमें से ब्रिटेन में खर्च होने वाली रकम ७५ लाख से बढकर एक करोड पौंड हो गई। अपने १०० वर्ष के राज्य में कम्पनी ने भारत पर ६ करोड ९५ लाख पौंड का सार्वजनिक कर्ज लाद दिया था। लेकिन विक्टोरिया शासन के १९ वर्षों में कर्ज की यह रकम दुगुनी—१३ करोड ९० लाख पौंड हो गई।[2] भारत से बाहर ब्रिटिश हितों में लडी गई लडाइयों का खर्च भी भारत पर लाद दिया गया। फौजी महत्त्व के स्थानों को ब्रिटेन के लिए सुरक्षित रखने के लिए लडाइयाँ लडी जा रही थी, लेकिन इन सब का खर्च भारत को देना पडता था।[3]

ऐसी स्थिति में कौन देश सम्पन्न बना रह सकता है? जबकि व्यापार नष्ट हो चुका हो, कृषि-करों से लदी हो, आय का एक तिहाई देश के बाहर भेजा जाता हो तो कोई भी देश गरीबी और दुर्भिक्ष के चगुल में जकड जाएगा। इस प्रकार का सतत आर्थिक शोषण तो इगलैंड को भी गरीब बना देता। फिर भारत की क्या बात जहाँ एक मजदूर की दैनिक आय केवल दो या तीन पैसे है।[4]

ब्रिटिश सरकार की इस आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप भी असतोष बढ़ता गया और १९वी शताब्दी के समाप्त होते-होते स्वदेशी और बहिष्कार का वातावरण गरम हो गया। सन् १९०५ में ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की नीति मान ली गई। बहिष्कार और स्वदेशी ने इस बात की स्पष्ट सूचना दे दी कि १९वी शती की प्रार्थना और आलोचना का युग बीत चुका और प्रस्तावों के स्थान पर क्रिया-शीलता का समय आ गया है।

आर्थिक नीति की भाँति ही ब्रिटेन की शैक्षिक नीति भी सतोषजनक न थी। १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि चार्ल्स वुड के एजुकेशन डिस्पैच, विश्वविद्यालयों की स्थापना और एजुकेशन कमीशन का स्थान महत्त्वपूर्ण था, परन्तु वस्तुत. लार्ड मैकॉले की नीति (क्लर्कों का उत्पादन) का पालन हो रहा था। उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण केवल कुछ इने-गिने लोगों तक ही उच्च-शिक्षा सीमित रही, देशी भाषाओं पर कुठाराघात हुआ और भारतीय

---

१. R C Dutt : Indian Trade Manufacture and Finance, P. 138

२. रामगोपाल : भारतीय राजनीति, पृष्ठ ७६।

३. वही—पृष्ठ ७७।

४. R. C Dutt : Economic History of India, P. 9.

सस्कृति को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

अगरेजी राज्य के अन्तर्गत शासन, आर्थिक व्यवस्था और नव-शिक्षा नीति के कारण जहाँ अनेक परिवर्तन हुए वहाँ सबसे बडा परिवर्तन भारत की सामाजिक व्यवस्था में मध्यम वर्ग का जन्म होना था, और एक प्रकार से सभी परिवर्तन इसी मध्यम वर्ग के कारण हुए। सबसे अधिक नवचेतना प्रभावित यही वर्ग था। मध्यम वर्ग की इसी नवचेतना ने भारतीय नवोत्थान का रूप ग्रहण किया। यद्यपि शिक्षा से एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ, जो देश की सस्कृति को हेय दृष्टि से देखने लगा, पर समस्त हिन्दू जाति अग्रेजों की आधिभौतिकता के शिकंजे में न आ सकी। वास्तव में भारतीय नवोत्थान भारत में उन व्यक्तियों के विरोध में आया, जो देश की सस्कृति को हेय दृष्टि से देखते थे। उसका उद्देश्य उन लोगों को भारतीय वृत्त में सुरक्षित रखना था, जो नई लहर में बहते हुए परिधि से बाहर जा रहे थे।

भारतीय नवोत्थान की लहर बगाल में सबसे पहले उठी, क्योंकि वहाँ पर अग्रेजी शासन सबसे पहले स्थापित हुआ था। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु-युग के प्रादुर्भाव के पूर्व ही राजा राममोहन राय ने बगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी। इस धर्म की स्थापना उन्होने समस्त धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके नवीन धर्मों की विशिष्ट मान्यताओं को हिन्दू-धर्म की विशुद्ध मान्यताओं के साथ जोडने की दृष्टि से किया था। उनका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन प्रचलित हिन्दू धर्म की कुरीतियों, कुप्रथाओं और प्राचीन रूढ़ियों को विनष्ट करके उसे नवीन स्वरूप प्रदान करना था। सती-प्रथा का उन्होंने घोर विरोध किया और देश की प्रगति के लिए पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा पर विशेष बल दिया था।

भारतीय नवोत्थान के विशुद्ध दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण हमें भारतेंदु-युगीन आर्यसमाजी आन्दोलन में मिलता है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों से शिक्षित-अशिक्षित सभी जनता प्रभावित हुई। आर्यसमाज ने अनेक हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई होने से बचा लिया। सामाजिक क्षेत्र में समाजियो ने सबसे बडा कार्य किया। विधवा विवाह का समर्थन, अछूतोद्धार, बाल-विवाह का विरोध, स्वदेशी प्रचार, ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्डो और अन्धविश्वासों का विरोध 'समाज' का मुख्य कार्य था। स्वामी जी ने विशुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार पर जोर दिया और देश के अतीत के प्रति लोगों के हृदय में गर्व की भावना उत्पन्न की। राष्ट्रीय जागृति एव राजनीतिक चेतना के विकास में आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

इस नवोत्थान से भारत देश का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकार यह हुआ कि पश्चिमी मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी भारत का पश्चिमीकरण नहीं होने पाया। धर्म की प्राचीन रूढ़ियाँ धूलिवत् धीरे-धीरे झड गईं और भारत ने अपनी जीवन-दृष्टि को

एक बार फिर माँजकर सँवार लिया। निवृत्तिवादी दर्शन का अतिशय अनुराग, जो कालान्तर में उत्पन्न हो गया था, धीरे-धीरे नष्ट हो गया और उन्नतिशील पाश्चात्य देशों द्वारा गृहीत प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता, जिसकी परम्परा वेदों में निहित है, हमारा ध्यान पुन आकृष्ट करने लगी। भारतीय जनता ने एक बार फिर अनुभव किया कि जीवन से भागकर अपना सुख खोजने के दिन लद गये और अब तो हमें जीवन में पैठकर जीवन का उपभोग करना है, समर्थ बनकर वसुन्धरा को भोगना है। भारत देश ने कालान्तर में उत्पन्न उस भावना को हृदय से निकाल फेंका, जिससे प्रेरित हो हम स्वाधीनता और पराधीनता के भेद को भूल बैठे थे, न्याय और अन्याय में हमारे लिए कोई अन्तर न रह गया था, जीवन-संग्राम की शक्ति निस्पन्द हो गई थी और मनुष्य यह सोचने को विवश कर दिया गया था कि सुख-दु ख सब मिथ्या है, मनुष्य को भूखे रहकर भी सन्तोष करना चाहिए और विजय-पराजय की सभी दशाओं में तटस्थ रहना चाहिए। इस भावना का परित्याग कर एक बार फिर हममें यह आस्था दृढ हुई कि अपनी सत्ता और अधिकार की रक्षा के लिए महाभारत का संग्राम छिड जाये तो वह भी अनुचित नहीं है।

भारतवासियों ने एक बार पुन वैदिक-जीवन के प्रवृत्तिमूलक पथ का अवलंबन कर इस मनोवृत्ति को अपनाया कि निवृत्ति जीवन की सच्ची राह नहीं है, एवं जीवन का चरमोत्कर्ष प्रवृत्तिमार्ग के ही अवलम्बन में है। वास्तव में उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान भारत के प्रवृत्ति-दर्शन का ही अनुपम उत्थान है।

भारतेन्दु-युग का सामान्य परिचय

उपर्युक्त परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य ने भी अपना चोला बदला। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों ने, जिनका नेतृत्व भारतेन्दु ने किया, नवीन परिस्थितियों का न केवल स्वागत किया, वरन् उनका सूक्ष्म अध्ययन करके देश के नेताओं (गोखले, तिलक आदि) के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश की उन्नति का उत्तरदायित्व भी वहन किया। इस युग के कर्मठ नेताओं के विचारों से तत्कालीन साहित्य पूर्णतया स्पंदित हुआ है। साहित्य की परिधि को इतना व्यापक बना लेना जिसमें जीवन समा जाय, भारतेन्दु जैसे सुयोग्य साहित्यकार के लिए ही सम्भव था। अपने प्रतिभा-बल से इन्होंने एक ओर तो परम्परा से चली आती हुई पुरानी कविता को अर्थहीन रूढ़ियों से मुक्त किया और दूसरी ओर समयानुकूल नयी कविता की स्थापना की। जीवन से प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त कर भारतेन्दु ने साहित्य में भी नवजीवन का संचार किया। यही भारतेन्दु-युग का सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है।[1]

भारतेन्दु-युग में सांस्कृतिक-जागरण की जो लहर उठी, उससे प्रेरित हो

---

१ डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्य धारा, पृष्ठ २१।

कविगण निवृत्तिवाद से भाग रहे थे और प्रवृत्ति के महत्त्वपूर्ण सोपान—राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागरण, देश-प्रेम, स्त्रियों की स्वाधीनता, गृहस्थ-धर्म की प्रतिष्ठा आदि—की ओर अग्रसर हो रहे थे। यद्यपि इस युग में निवृत्ति मूलक काव्य का भी सृजन हुआ, पर मुख्यरूप से कवियों ने प्रवृत्ति-मूलक साहित्य-सृजन की ओर ध्यान केन्द्रित किया। 'कहना पड़ता है कि भारतेन्दु व्यक्तिगत प्रेरणा से तो भावात्मक भक्ति की ओर उन्मुख थे, परन्तु वे समकालीन रीति-परम्परा के बोझ से भी आक्रान्त थे। यह उनका वैयक्तिक संघर्ष था, जो रीति-काव्य की ऐहिकता और भक्ति-काव्य की भावात्मकता के बीच एक या दूसरी ओर पारी-पारी से खिंचता रहा। परन्तु भारतेन्दु और उनके युग की वास्तविक देश भक्ति और रीति के इस संघर्ष में नहीं पाई जाती। उनका असली कार्य नई सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने में था।'[1]

भारतेन्दु-युगीन काव्य में जिन विचारों का समावेश हैं, वे भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के संघर्ष के परिणाम हैं, वे इस नवीन प्रेरणा से उद्भूत विचार हैं कि जब देश अथवा मनुष्य पर संकट आया हो तब कवि को भी मात्र आनन्द-सृजन को छोड़कर समाजोपयोगी ध्येयों की प्राप्ति में लग जाना चाहिए। शुद्ध कलावादियों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रीति-काल के बाद की हिन्दी-कविता कला की पराजय और जीवन की जय की कविता थी।[2]

जीवन का सही चित्र खींचने की व्यग्रता भारतेन्दु-युग की अपनी विशेषता है। रीति-युगीन कवि जीवन की शंकाओं से पीड़ित नहीं था और न ही किसी प्रकार की द्विधा और संघर्ष से उसका परिचय था। भारतेन्दु-युग का कवि कला की उपेक्षा कर जीवन की ओर आकृष्ट होता है, उस जीवन की ओर जो दीन-दुःखी और दयनीय था—

> बाबा उनसे कह दो जो जीवन की रक्षा करते हैं।
> लोहे को सोना कर लेने की चिन्ता में मरते हैं।
> प्रजा तुम्हारी दीन दुखी है रक्षा किसकी करते हो।[3]

भारतीय आर्थिक दुरवस्था का सही चित्रण भारतेन्दु की इन पंक्तियों में मिलता है—

> अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
> पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, भूमिका।
२ श्री रामधारी सिंह दिनकर काव्य की भूमिका, पृष्ठ २७।
३ बालमुकुन्द गुप्त स्फुट कविता, पृष्ठ ६४।

ताहू पर मँहगी काल रोग बिस्तारी,
दिन दिन दूनो दु ख देत ईस हा हारी।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा हा भारत-दुर्दसा न देखी जाई।[1]

वस्तुत भारतेन्दु-कालीन मनीषी एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नये ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रसाद का निर्माण करना चाहते थे, जिसके साये में रहकर अपार भारतीय जनसमूह सुख और शांतिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता है। वे युगधर्म में पोषित थे। उनकी वाणी में नवभारत का स्वर प्रतिध्वनित था।[2]

भारतेन्दु-युग को प्राप्त साहित्यिक परम्परा

रीति-काव्य के अंतिम लोकप्रिय कवि पद्माकर (सं० १८१०-९०) थे। उनके बाद साहित्याकाश का अन्धकार तीव्र गति से सिमट-सिमट कर घोरतर होता गया। 'पीड़ा के अन्तिम क्षण अनन्त, और प्राणान्तक से प्रतीत होते हैं, किन्तु इन्हीं में होता है मुक्ति का शुभ-संकेत।'[3] आधुनिक युग की नवीन वेला में भारत के तमसाच्छन्न आकाश में भारतेन्दु का उदय ऐसी ही शुभ सूचना थी।

भारतेन्दु-युग को उत्तराधिकार में जो रीतिकालीन साहित्यिक परम्परा मिली, उसकी संजीवनी-शक्ति नष्ट हो गई थी। क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभी कुछ रूढ़ि से जकड़ा हुआ था। रीति-काल के कवियों ने उन सभी सामग्रियों पर अधिकार कर रखा था, जिनसे कविता सजाई जाती है अथवा जिनसे उसकी शक्ति में वृद्धि होती है, केवल उसी तत्व को उन्होंने छोड़ दिया, जिससे कविता का जन्म होता है।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग में अभिव्यक्ति की सजावट तो मिलती है, पर अनुभूति की सचाई नहीं मिलती, समाज की चेतना को आलोड़ित करना उस युग में कवि-धर्म नहीं समझा जाता था। साहित्य-मंदिर से जीवन की मूर्ति उतार दी गई और कला की उपासना में कवियों ने अपनी समस्त शक्ति की पूंजी खर्च कर दी।

'रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं है—अर्थात् उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है, न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो

१ 'भारत-दुर्दसा' भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला भाग, पृष्ठ ४७० ।
२ डा० वार्ष्णेय · आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० ९६ ।
३ बंगीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित भारतेन्दु-कला, 'आह्वान' से उद्धृत ।
४. रामधारीसिंह दिनकर . काव्य की भूमिका, पृ० ७ ।

जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रांत होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दुःखो और पराभवों को भूल जाता है।'[1]

रीतिकाल के कवियो ने जिस काव्य-शास्त्र का सृजन किया, उसे काव्य-कला की दृष्टि से उच्च-कोटि का काव्य कहने में किसी को भी आपत्ति नही होगी, परंतु परवर्ती काव्य में तो वह सब कुछ भी नहीं मिलता जो कला की कसोटी, पर भी खरा उतरे। जब सामन्तशाही का प्राय: अन्त-सा होने लगा था, जन-साधारण भी अपनी उमग के अनुसार कविता—सस्कृत अथवा असस्कृत—में रस लेने लगा था। वह गा भी लेता था और गीत भी सुन लेता था। देखते-देखते काव्य-जगत् में कविताओं की बाढ़-सी आ गई और कविता का कलेवर बेनाप-तौल बढ़ने लगा। रससेत्र में रसराज शृङ्गार का स्थान वासना ने ले लिया और काव्य-कला तथा कौशल के स्थान पर सस्ती आलंकारिक ठूंस-ठास और शब्दों की चमत्कारिक कला-बाजी घर कर बैठी थी।[2]

नवयुग के प्रारम्भ में शिक्षा-प्रसार और सामाजिक आन्दोलनों से यद्यपि जनता की चेतना जागृत हो गई थी, तथापि भारतेन्दु के आगमन के पूर्व साहित्य रीतिकाल की परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था, साहित्य-क्षेत्र में तब तक रीतिकाल के रोमांटिक आदर्शों की ही प्रतिष्ठा थी। एक ओर समाज जीवन को लिये-दिये व्यावहारिक पथ में बहुत आगे बढ़ आया था और दूसरी ओर हिन्दी-काव्य शृङ्गार की केवल पद्यबद्ध रचना लिए हुए बहुत पीछे छूट गया था। इस पिछड़े हुए साहित्य को जीवन से जोड़ देने की बड़ी आवश्यकता थी, भारतेन्दु ने यही किया।'[3]

अतः भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के प्रयत्न से जीवन और साहित्य का जो संबंध रीतिकाल में शिथिल हो गया था, वह तो घनिष्ठ हुआ ही, कविता जनता की वाणी बनी, इसके अतिरिक्त इस युग में सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि परम्परा-प्राप्त भावों को भी सजाया और सँवारा गया तथा काव्य में चली आती हुई परम्परा की परिपाटी का निर्वाह शृङ्गार, नीति, धर्म आदि से समन्वित काव्य को विकसित करके भी किया गया।

भारतेन्दु-युग को ब्रजभाषा उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। ब्रजभाषा की अपनी शैलीगत विशेषतायें थी, जिसकी उपेक्षा भारतेन्दु तथा उनके सह-

---

१ डा० नगेन्द्र : रीति-काव्य की भूमिका, १६३।

२. बंगीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित—भारतेन्दु-कला में संकलित आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल द्वारा लिखित 'भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि' शीर्षक निबंध के पृष्ठ १११ से उद्धृत।'

३. प० विश्वप्रसाद मिश्र : वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ ३००।

योगियों से न हो सकी और उन्होंने भौतिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भी उसी प्राचीन काव्य-भाषा को अपनाया। वास्तव में भारतेन्दु-युगीन कवि परिवर्तन का स्वागत तो कर रहे थे, परन्तु प्राचीन के सर्वथा बहिष्कार के लिए तत्पर नहीं थे। यद्यपि निज भाषा[1] की उन्नति से भारतेन्दु का तात्पर्य हिन्दी खड़ी बोली की उन्नति से था—हिन्दी गद्य के लिए उन्होंने उसी को अंगीकार किया, परन्तु पद्य के क्षेत्र में वे व्रजभाषा की देहली का मोह न छोड़ सके।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०६— १९४१)

भारतेन्दु ने अपने व्यक्तित्व का परिचय स्वयं इस कवित्त में दिया है —

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुन गानी के।
सीधन सों सीधे, महाबांके हम बांकन सों,
'हरीचंद' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह,
नेही नेह के, दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सर्वस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा स्याम कृष्ण के, गुलाम राधारानी के।[2]

भारतेन्दु के व्यक्तित्व की यही विशेषता उनके सम्पूर्ण साहित्य में छाई हुई है। उनके व्यक्तित्व के यदि विभिन्न रूप थे तो उनके जीवन की साहित्यिक साधना भी बहुमुखी थी। एक ओर यदि वे अपनी प्रचुर साहित्यिक रचनाओं और प्रेरणाओं द्वारा राष्ट्र और समाज की सेवा करते रहे, तो दूसरी ओर वैष्णव-भक्त होने के कारण भक्ति की मनोरम और ललित रचनाओं का अपार भण्डार भी साहित्य को समर्पित करते रहे। यही नहीं, बीच बीच में वे शृङ्गार-रस से परिप्लुत और हृदय-स्पर्शी काव्य की रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का आँचल भरते रहे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की समस्त प्राप्त कविताओं का संकलन 'भारतेन्दु-ग्रंथावली द्वितीय भाग में किया गया है। सं० १९३७ के पूर्व की रचनाओं में, जिनमें मुहूर्त-दिलावली, राजकुमार शुभागमन, भारत-भिक्षा, भारत-वीरत्व, जातीय संगीत और रिपनाष्टक प्रमुख हैं, राष्ट्रीयता का स्वर मिलता तो है, परन्तु इतना तीव्र नहीं, इनमें राजभक्ति का ही स्वर प्रबल है। विजय-वल्लरी और विजयिनी विजय

---

१ निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।४।
भारतेन्दु ग्रंथावली (२रा भाग) पृष्ठ ७३१

२ श्री किशोरीलाल गुप्त- भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ७ से उद्धृत।

वैजयन्ती में देश-भक्ति का स्वर अधिक गहरा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी कविताओं में राजनीतिक चेतना का आरम्भ तो हुआ राजभक्ति में, परन्तु क्रमशः मोह का परदा हटता गया और समय तथा दासता की कठोरता सामने आती गई, जिससे राजभक्ति का पर्यवसान धीरे-धीरे देश-भक्ति में होता गया। जिस समय उनका ध्यान भारत की तत्कालीन परिस्थितियों की ओर जाता था, बरबस उन्हें प्राचीन गौरव की स्मृति कुरेदने लगती थी—

कोटि-कोटि ऋषि पुन्य-तन, कोटि-कोटि नृप सूर।
कोटि-कोटि बुध, मधुर कवि मिले यहाँ की धूर॥[1]

जो भारत सब देशों से उत्तम माना जाता था, उसकी दुर्दशा देखकर भारतेन्दु क्षुब्ध हो उठते हैं—

हाय वहै भारत भुव भारी।
सब ही विधि तें भई दुखारी॥[2]

नीलदेवी और *भारत-दुर्दशा* आदि नाटकों में आई हुई कविताओं में देश-दशा की बड़ी ही मार्मिक व्यंजना हुई है। भारत की दुर्दशा देखकर जब उनका हृदय क्रन्दन कर उठा, तब उन्होंने समस्त राष्ट्र को मिलकर रोने के लिए आह्वान किया—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दसा न देखी जाई॥[3]

साहित्य-साधना द्वारा वे देश प्रेम का बिगुल बजाते रहने पर भी अपने उपास्य-देव को काव्य-कुसुमों की सुरभिमयी भजन-माला द्वारा सदा पूजते रहे। भक्त सर्वस्व, कार्तिक स्नान, प्रेम-सरोवर, कृष्ण चरित्र, विनय प्रेम पचासा, होली, गीत-गोविन्द, प्रेम माधुरी आदि रचनाओं से वे अपने इष्टदेव की उपासना निरन्तर करते रहे। राधाकृष्ण की मनोहर जोड़ी उन्हें सदैव ही प्रेम-विभोर बना देती थी—

नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।
मनमोहन सुन्दर नट नागर श्री वृषभानु किसोरी।[4]

श्रृंगार का रीतिकालीन रूप हमें प्रेम-तरंग, प्रेम माधुर्य, मेघ मुकुल आदि में दिखाई पड़ता है। प्रेमी के 'पयान' के समय नायिका के हृदय में उठते हुए भावों की कैसी मार्मिक अभिव्यक्ति है।

---

१. 'विजयिनी विजय वैजय ती' भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा भाग), पृष्ठ ८०२।
२. वही पृष्ठ ८०३।
३. 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु ग्रंथावली पहला भाग, पृष्ठ ४६६।
४. प्रेम मालिका, भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ४६।

रोकहिं जो तो अमंगल होय औ प्रेम नसै जो कहैं प्रिय जाइए।
जो कहैं जाहु न तौ प्रभुता, जो कछू न कहैं तो सनेह नसाइए।
जो 'हरिचंद' कहैं तुमरे बिन जीहैं न तो यह क्यों पतिआइए।
तासों पयान समै तुमरे हम का कहैं आपै हमैं समझाइए॥[1]

भारतेन्दु की प्रतिभा बहुमुखी थी। हिन्दी-साहित्य इस महान् युग-प्रवर्तक का चिरऋणी रहेगा। भारतेन्दु की साहित्यिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्र में जिस प्रकार कार्य करने की शक्ति थी, उसी प्रकार योग्य कार्यकर्ताओं को ढूंढ निकालने की भी उनमें अद्भुत शक्ति थी। हिन्दी के सत्रह प्रारम्भिक साहित्यकार उनके सम्पर्क में आये और एक ही प्रेरणा, एक ही उद्देश्य, एक ही प्रकार के अदम्य उत्साह के साथ। भारतेन्दु उनके मूल प्रेरणा स्रोत थे। अपने इस मंडल में वे शशि के समान विराजते थे। बालकृष्ण भट्ट, दामोदर शास्त्री सप्रे, काशीनाथ, राव कृष्णदेव शरणसिंह 'गोप', लाला श्रीनिवास दास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, कार्तिकप्रसाद खत्री, केशवराम भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, पं० सुधाकर द्विवेदी, श्री राधाचरण गोस्वामी, लाला सीताराम और राधाकृष्ण दास भारतेन्दु-मंडल के साहित्यकार हैं, इनमें 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्ण दास प्रमुख हैं।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सं० १९१२-सं० १९७९)

प्रेमघन के काव्य में भारतेन्दु के काव्य की अपेक्षा नवीनता के तत्त्व अधिक हैं, यद्यपि नवीनता के आदि स्रोत भारतेन्दु ही हैं। इनकी 'अलौकिक लीला' (अपूर्ण प्रबन्ध काव्य), प्रेम-पीयूष वर्षा, 'साहित्य लहरी', 'शृंगार बिन्दु' में ही प्राचीनता के तत्त्व निहित हैं, शेष समस्त काव्य में—मंगलाशा, हार्दिक हर्षादर्श, भारत बधाई, आर्याभिनन्दन, सौभाग्य समागम, जिनमें देश-प्रेम की भावना कम उभर पाई है, राजभक्ति का ही स्वर अधिक प्रमुख है, कलिकाल तर्पण, पितर प्रलाप, स्वागत-पत्र, भारत बधाई, आनन्द अरुणोदय और आर्याभिनन्दन, जिनमें राष्ट्रीयता का स्वर अधिक प्रबल है, 'आनन्द बधाई, जिसमें हिन्दी के प्रति प्रेम परिलक्षित होता है, जीर्ण जनपद (प्रबन्ध काव्य), जिनमें मातृभूमि के प्रति प्रेम छलक रहा है—नवीनता के ही तत्व मिलते हैं। 'प्रेमघन-सर्वस्व' प्रथम भाग इनकी समस्त कविताओं का संकलन है।

भारतीय संपत्ति का ह्रास 'प्रेमघन' को व्याकुल बना देता है। राजभक्ति

---

१. भारतेन्दु-ग्रंथावली, भाग—२, पृ० १४६।

की आड में वे देशवासियों का ध्यान भारत की आर्थिक दीनता की ओर आकृष्ट करते हैं—

यदपि बिहारो राज भयो भारत अति उन्नत,
आने से अब सब कोऊ सब विधि सुख पावत।
पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता,
भारत में संपत्ति की दिन दिन होत छीनता।[1]

जिस भावी भारत की कल्पना उनके मस्तिष्क में थी, उसका चित्र उन्होंने इस प्रकार खींचा है—

सब द्वीप की विद्या कला विज्ञान इत चलि आवई,
उद्यम निरत आरज प्रजा रहि सुख समृद्धि बढ़ावई।
दुष्काल रोग अनीति नसि, सद्धर्म उन्नति पावई,
भट, विबुध, अन्न, सुरत्न भारत भूमि नित उपजावई॥[2]

भारतीयों को उदबुद्ध करते हुए वे पुकार उठते हैं—

उठो आर्य संतान सकल मिलि, बस न विलंब लगाओ।[3]

प्रेमघन जी का काव्य प्रचुर परिमाण में सामयिक है। वे धरती के कवि थे, आसमान के नहीं। वे भारतेन्दु को छोड़, भारतेन्दु युग के सबसे बड़े कवि हैं। और किसी कवि की रचना न तो इतने अधिक परिमाण में है और न इतनी उच्च-कोटि की। केवल प्रतापनारायण मिश्र उनके सामने लाये जा सकते हैं। पर उनकी भी रचनाएँ परिमाण में प्रेमघन जी की रचनाओं की एक तिहाई है।[4]

प्रताप नारायण मिश्र (सं० १९१३-१९५१)

मिश्र जी भारतेन्दु-युगीन अन्य साहित्यकारों के समान साहित्य के सभी क्षेत्रों को अपने कृतित्व का दान दे गये हैं। उस युग का साहित्यकार हिन्दी को किसी प्रकार दीन नहीं देखना चाहता था, अतः यथाशक्ति हर ओर हाथ पाँव मारता था और उससे जो कुछ बनता था, माँ भारती की अकिंचनता को दूर करने के लिए कर जाता था।[5]

मिश्र जी की समस्त उपलब्ध कविताओं का संग्रह 'प्रताप लहरी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें लोकोक्तिशतक, मन की लहर, ब्रैडला स्वागत, प्रेम-पुष्पा

१ हार्दिक हर्षादर्श, प्रेमघन सर्वस्व प्रथम भाग पृ० २८५।
२ शुभ सम्मिलन, प्रेमघन सर्वस्व प्रथम भाग पृष्ठ ३६६।
३ आनन्द अरुणोदय,—वही—पृष्ठ ३७३।
४ किशोरीलाल गुप्त भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृष्ठ ३८१।
५ वही, पृष्ठ ३८४।

पती, और दगल खण्ड आल्हा नामक पाँच पुस्तकें तो सकलित हैं, पर उनकी अन्य धार पुस्तकें शृङ्गार विलास, सगीत शाकुतल, दीवाने बरहमन और रसखान शतक नही हैं।[1]

'ब्रैडला-स्वागत', 'तृप्यताम्' और 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' उसकी लोकप्रिय कविताएँ हैं। 'ब्रैडला-स्वागत' का अग्रेजी में अनुवाद हुआ है, इसमें देश की गरीबी का अत्यन्त करुण वर्णन है—'पेट अधम अनगिनतिन अकरम करावत।[2]

कठोर यातना और दु सह अपमान की भावना से प्रेरित हो उन्होंने 'तृप्यताम्' नामक कविता लिखी थी। इन गुलाम हाथों और गुलाम सिर से तर्पण किया जाय तो कैसे किया जाय—

इन हाथ सो देहि कहा जल जे सेवहि पर चरनमुदाम।
रहत विरव पदत्रान-दलित नित तेहि सिर सों किमि करै प्रणाम,
जीन जीह निशिदिन सूखति है बकत खुशामद कपट कलाम।
यासों कैसे कहैं हहा हम अहो पुलह मुनि तृप्यन्ताम्॥[3]

लोगों में हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना भरने के लिए इन्होंने 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा लगाया था—

चहहु जो सांचहु निज कल्यान।
तो सब मिली भारत सन्तान।
जपो निरन्तर एक जबान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥[4]

जनता के लिए जनभाषा में जिन लोगों ने कविता लिखी है, उनमें प्रतापनारायण मिश्र का स्थान अन्यतम है। यदि सहृदयता का अर्थ पीड़ित जन समुदाय के प्रति निर्दयता नहीं है, वरन् उसके विकास के लिए है तो ये कृतियाँ भी कविता हैं और उच्चकोटि की कविता है, जिसके टक्कर की कम रचनाएं उस युग में हिन्दी साहित्य में हैं।[5]

पंडित अम्बिकादत्त व्यास (सं० १६१५-१६५६)

व्यास जी ने 'रसीली कजरी', आनन्द मजरी, पावस पचासा, सुकवि सतसई,

---

१. 'मन की लहर' की एक प्रति के अंत मे मिश्रजी के १७ ग्रंथों की समूल्य सूची है। वही, पृष्ठ ३८६।
२. डॉ० रामविलास शर्मा - भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १४५ से उद्धृत।
३. वही, पृष्ठ १४५।
४. प्रेमनारायण टंडन प्रताप समीक्षा, पृष्ठ २६ से उद्धृत।
५. डॉ० रामविलास शर्मा - भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १३८।

'बिहारी विहार' और 'समस्यापूर्ति सर्वस्व' नामक काव्य-पुस्तकें लिखी हैं, यद्यपि ये उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य भारतेन्दु-युगीन कवियों के समान व्यास जी ने भी अनेक विषयों पर फुटकर कवितायें लिखी थीं, जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। भारत की भव्यता का स्मरण कर उन्होंने वर्तमान हीन दशा का करुण चित्रण प्रस्तुत किया है—

> कहाँ आजु इक्ष्वाकु ककुत्स्थहु कहँ मान्धाता,
> कहँ दिलीप रघु अजहूँ कहाँ दशरथ जगत्राता।
> पृथ्वीराज हमीर कहाँ विक्रम सक-नासक,
> कहाँ आजु रनजीत सिंह जग विजय प्रकासक।
> जाही दिन दुरदसा सबै भारत में आई,
> ताही दिन क्यों नहीं गयो पाताल समाई।[1]

रीतिकालीन परम्परा में उन्होंने होली खेलने के लिए अधीर नायिका का बड़ा सरस वर्णन किया है—

> धरती धरती डरती पद को, घुँघुरू नहिं नेकु बजावती हो।
> झुकी झाँकती भौंह चलावती हो, नकबेसर झूमि झुमावती हो।
> कहि अबिकादत्तहि हेरि, चितै, छिपती सी हहा मुसकावती हो,
> कर में पिचकारी लिये किनको तुम रंग भिगावन आवती हो।[2]

राधाकृष्णदास (सं० १९२२-१९६४)

राधाकृष्ण दास की मेकडानल पुष्पाञ्जलि विजयिनी विलाप, पृथ्वीराज-प्रणाम, भारत बारहमासा जुबिली, देश दशा, छप्पन की बिदाई और नये वर्ष की बधाई, राम-जानकी, प्रताप विसर्जन, रहिमन विलाप, विनय, फुटकर कविता और सुनीति नामक कवितायें राधाकृष्ण ग्रंथावली में संकलित हैं।

वर्तमान दुःख-दैन्य-पीड़ितों के प्रति राधाकृष्ण के हृदय में पूर्ण सहानुभूति थी—

> कौन नाज का करै ठिकाना, कौन घास औ चारे का।
> जल का टोटा, प्रान बचै क्यों जल बिन हाय बिचारे का।[3]

और देश की निष्क्रियता उनका हृदय कम नहीं कचोटती थी—

---

१ 'मन की उमंग' आधुनिक काव्यधारा, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पृष्ठ ५३-५४।

२ किशोरीलाल गुप्त : भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृष्ठ ४११।

३ देश-दशा, राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ २९।

एक हम अभागे देस भर के बैठि के रोवत रहैं।
नहि काम कोउ करलो हमें, बस व्यर्थ दिन खोवत रहैं।[1]

प्राचीन वैभव के विनाश पर राधाकृष्ण को अत्यन्त दुःख है। अच्छे शासकों और वीरपुंगवों की स्मृति इनको लज्जा एवं ग्लानि से अभिभूत कर देती है—

काल-बिवस जो गए नृपति वे तो क्यों, उनके बालक,
भए न उनके सम काकी अशा उपजे कुल-धालक।
हा कबहूँ वह दिन फिर ह्वै हैं, वह समृद्धि, वह सोभा।
के अब तरसि-तरसि मसूसि के दिन जैहैं सब खोभा।[2]

भारतेन्दु-युग के काव्य में प्राचीन और नवीन का सामंजस्य

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत पर एक सत्ता और संस्कृति का प्रभाव जम गया था। यह प्रभाव इसलिए विजयी हुआ था कि भारतीय संस्कृति और सत्ता दुर्बल हो चली थी। नए का सर्वथा बहिष्कार असम्भव था और प्राचीन की पूर्ण प्रतिष्ठा अव्यावहारिक। ऐसी स्थिति में इस आंधी को रोकने का एकमात्र उपाय यही था कि सम्यक् त्याग और ग्रहण से काम लिया जाय। सामंजस्य की इस नीति से पश्चिम की बढ़ती हुई आंधी को रोकने और अपनी दुर्बल संस्कृति में फिर से बल लाने का साधन प्राप्त हो रहा था और देश में नवीन चेतना और स्फूर्ति लाने के लिए समय मिल रहा था।[3]

भारतीय इतिहास का यह समय यों भी औदार्य युग (Liberal Age) के नाम से प्रसिद्ध है। औदार्यवाद की नीव में अतिवाद का तिरस्कार और मध्यम मार्ग का अवलम्बन माना जाता है।[4] युग की भावना से भारतेन्दु-युग के लेखक भी अनुप्राणित थे।

राजभक्ति और देशभक्ति का अनूठा सामंजस्य इसी युग में संभव था। भारतेंदु-युग के कवि एक ओर तो राज्याधिकारियों के प्रति राजभक्ति के प्रदर्शन से नहीं थकते

---

१ 'भारत बारहमासा, राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ १५।
२ 'विभयिनी-विलाप', राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ ८।
३. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ ११८।
४ "The liberals of those days as the early Congress men can be rightly so called, knew the essentials of true compromise" V. N Naik Indian Liberalism, P. 15. the fundamental position of Congress till 1919 .. was to co-operate where we can and criticise where we must.—Ibid—P 120.

और दूसरी ओर देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत होकर कभी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते हैं, कभी प्राचीन सभ्यता का स्मरण दिलाते हैं और कभी देशवासियों का उद्बोधन करते हैं।[१] राजभक्ति और देशभक्ति का सामंजस्य इन पंक्तियों में मिलता है—

> अंगरेज-राज सुखसाज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।[२]
> यदपि विहारो राज भयो भारत अति उन्नत,
> जाने से अब सब कोऊ सब विधि सुख पावत।
> पै दुख अति भारो इक यह जो बढ़त दीनता,
> भारत में संपत्ति की दिनदिन होवत छीनता।[३]

राजभक्ति और देशभक्ति का स्वर संयोग कुछ लोगों को बेसुरा-सा प्रतीत होता है[१] और उनको आश्चर्य में डाल देता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। वह युग ही ऐसा था, जिसमें राजभक्ति और देशभक्ति में सामंजस्य संभव था। राजभक्ति का प्रदर्शन इसलिए किया जा रहा था कि उनको ब्रिटेन से बड़ी आशायें थीं और उनकी समझ में बुराइयों के रहते हुए भी ब्रिटिश शासन कई दृष्टियों से आवश्यक था। वास्तव में उस परिस्थिति में यही संभव और श्रेयस्कर था कि एक ओर अधिकारियों से अधिकारों की प्रार्थना की जाय और दूसरी ओर जनता में जागृति लायी जाय और देश भक्ति की भावना जगाई जाय। भारतेन्दु-युग के साहित्यिकों ने इसी मार्ग को अपनाया।[४]

यह सामंजस्य बुद्धि सामाजिक क्षेत्र में और भी स्पष्टता से लक्षित होती है। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने न तो प्राचीन समाज का आमूल खण्डन किया और न

१ डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ १०१।

२ भारत-दुर्दशा', भारतेन्दु ग्रन्थावली पहला भाग, पृष्ठ ४७०।

३ 'प्रेम प्रलाप', प्रेमघन सर्वस्व प्रथम भाग, पृष्ठ ३८५।

२ देखिए—अंग्रेजों के आर्थिक शोषण भुखमरी और अकाल का उल्लेख उनकी तुकबंदियों में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है, किन्तु साथ ही राजभक्ति के उद्गार, और आश्वासन इतने परिमाण मे मिलते हैं कि उन सबको तत्कालीन परिस्थिति की विवशता के मत्थे मढ़ देना प्रवचना को प्रश्रय देना मात्र है।

—श्री शिवदानसिंह चौहान, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष/पृष्ठ २४ २५।

४. डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृ० १००-१०१।

नवीनता को आँख मूँदकर अपनाया। उन्होंने प्राचीन और नूतन परिस्थिति दोनों की अच्छाइयों और बुराइयों का उद्‌घाटन कर अपनी सामंजस्य बुद्धि का परिचय दिया है—

> सीखो नई पुरानी दोनो प्रकार की विद्यायें,
> दोनों प्रकार के विज्ञान सिखाओ रच शालायें।[1]
> प्रचलित हाय अघ परिपाटी पर तुम चलते जाते,
> आर्यवंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते।[2]

भाषा सामंजस्य की कथा भी कम रोचक नहीं है। भारतेन्दु-युग में अधिकांश समय तक यही सामंजस्यवादी मत मान्य था कि काव्य की रचना परम्परा से चली आई हुई ब्रजभाषा में हो और गद्य के विकास के लिए खड़ी बोली को चुना जाय जो उसके लिए उपयुक्त थी और जिसका समावेश आवश्यक था। उन्होंने परम्परा और आवश्यकता दोनों का ऐसा सम्यक निर्वाह किया कि किसी की क्षति न हुई और न किसी की बलि चढ़ाई गई।[3]

भाव-सामंजस्य के दर्शन भी भारतेन्दु साहित्य में होते हैं। व्यष्टि और समष्टि के बीच न इन कवियों के व्यक्तित्व में विरोध था और साहित्य सर्जन में। उन्हें अपने समाज विशेष से भी प्रेम था और समग्र देश से भी। एक ओर वे हिन्दुओं की दशा सुधारने को प्रयत्नशील थे और दूसरी ओर सम्पूर्ण भारत के अभ्युदय के इच्छुक थे। इसी से उस समय के साहित्य में दो धारायें बिना किसी विरोध वैषम्य के समानान्तर चलती हुई दिखाई देती हैं। एक धारा तो देश-भक्ति की और दूसरी हिन्दुत्व की।[4]

भारतेन्दु-युग के कवियों ने अतीत और वर्तमान का भी अभूतपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत किया है। ये कवि कभी अतीत के गौरवमय चित्र खींच भारत के प्राचीन भव्य गौरव की ओर संकेत करते हैं और कभी वर्तमान अवस्था पर क्षोभ प्रकट करते हैं। अतीत और वर्तमान का स्वरूप कितना सत्य है—

> जहँ भये शाक्य हरिचन्द नहुष ययाती,
> जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।

---

१ 'आनन्द अरुणोदय', प्रेमघन-सर्वस्व प्रथम भाग, पृ० ३७६

२ आनन्द अरुणोदय, प्रेमघन सर्वस्व पृष्ठ ३७६।

३. डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ १०६-१०७।

४ वही, पृष्ठ १०७।

जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।[1]

अतीत के प्रति अनुराग के होने पर भी ये कवि वर्तमान की ओर से उदासीन नहीं हैं। इन कवियों में अतीत की ओर उतना ही झुकाव है जितना कि प्रत्येक शिष्ट समाज में स्वाभाविक है। पलायन के लिए नहीं शक्ति प्राप्त करने के लिए इन कवियों ने अपने को अतीत के स्वप्नों में भुला नहीं दिया है; वरन् ये कवि तत्कालीन वस्तुस्थिति के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं।[2]

भारतेन्दु-युगीन कवियों ने प्रवृत्ति और निवृत्तिवादी दार्शनिक चिन्तन-धाराओं को भी परस्पर टकराने नहीं दिया है। यद्यपि यह युग ही प्रवृत्ति के उत्थान का था; परन्तु परम्परा के मोह ने यहाँ भी उन्हें निवृत्ति से विमुख नहीं होने दिया। बड़ी ही कुशलता से उन्होंने अपनी साहित्यिक साधना के दो पहलू कर दिए, एक को समाज और देश की ओर उन्मुख करके प्रवृत्ति की राह में ला दिया और दूसरे को मात्र स्वान्तः सुखाय बनाकर निवृत्तिमुखी रहने दिया।

भारतेन्दु-युगीन कवियों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण

कविता और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होते ही इस युग के कवि देश-व्यापी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं में इतने उलझ गये कि इनकी साहित्य साधना प्रवृत्ति-दर्शन की अनेक धाराओं में प्रवाहित हो चली। तो भी अपने चिन्तन के एकान्त क्षणों में वे इस अनुभूति से मुक्त न हो सके कि संसार अनित्य है, जीवन क्षणभंगुर है और इसलिए दुःखपूर्ण है, हमारे सब सांसारिक नाते व्यर्थ हैं, अतः जितना शीघ्र हो सके, इस जीवन से मुक्त होना है, वास्तविक सुख और मुक्ति घनश्याम के चरणों में है—जीवन के निषेधात्मक पक्ष के इस चिन्तन ने इन कवियों को निवृत्ति-मूलक साहित्य-सृजन की ओर प्रेरित किया।

यह कितना कठोर सत्य है कि जिस भौतिक संसार में हम जीते हैं, वह मात्र मोह का बंधन है, सब झूठा जाल है, यदि कुछ सत्य है तो वह है नंदनन्द (नन्दनन्दन)—

हम तो श्री वल्लभ कृपा इतनो जान्यौ सार।
सत्य एक नँदनन्द है, झूठो सब संसार॥[3]

इसलिए कवि भारतेन्दु इस भव जाल से मोह-माया तोड़कर, समस्त साधनों

---

१. 'भारत दुर्दशा', भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पहला भाग, पृ० ४६६।
२. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ ११३।
३. 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल', भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृष्ठ २७०।

से मुख मोड़कर नन्दलाल के भजन का आदेश देते हैं—

मोरो मुख घर ओरं सों तोरो भव के जाल।
छोरो जग साधन सबै भजो एक नदलाल ॥[१]

इस अनित्य ससार का एक भी सम्बन्ध अन्त में काम नहीं आता है। सब अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, अन्त में सब नाते बिसर जाते हैं, रह जाता है 'जीव' और उसके 'प्रियतम' का सग—

द्वारहि पै लुटि जायगो बाग और आतिसबाजी छिनै में जरैगी।
ह्वै हैं विदा टका लै हय-हाथिहु साथ-पकाय बरात फिरैगी॥
दान दै मातु पिता छुटिहैं 'हरीचद' सखीहु न साथ करैगी।
गाय-बजाय जुदा सब ह्वै हैं अकेली पिया के तू पालें रहेगी॥[२]

यह सासारिकता जितनी जल्दी छूट सके, अच्छा है, इसलिए भारतेन्दु प्रार्थना करते हैं—

अहो हरि वह दिन बेगि दिखाओ।
दै अनुराग चरन पकज को सुत-पितु-मोह मिटाओ।[३]

भौतिक सुख से जब वास्तविक विरक्ति हो जाती है, तो सब-कुछ बेस्वाद हो जाता है, ईश्वर के बिना कही सुख की अनुभूति नही होती—

तुम बिन प्यारे कहूं सुख नाही।
भटक्यौ बहुत स्वाद-रस, लपट ठौर ठौर जग माही।[४]

× ×

निछावरि तुम पै सो कहा कीजै।
सब कछु थोरो लगत जगत में कैसे इनको लीजै।[५]

यह जीवन क्षणभगुर है, चार दिन का बसेरा है, यह अनुभूति प्राचीनकाल से ही भक्त कवियों को होती आई है, भारतेन्दु को आकाश का उड़ता हुआ पक्षी, जलता हुआ दीपक, बहती हुई नदी और खिलता हुआ फूल, सभी जीवन की क्षण-भगुरता की ओर सकेत करते हुए से प्रतीत होते हैं—

सांझ सवेरे पछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब एक दिन उड़ जाएंगे, यह दिन चार बसेरा है।

---

१ 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल', भारतेन्दु ग्रथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ २७०।
२. 'विनय प्रेम पचासा' वही, पृष्ठ १४५।
३ 'प्रेम मालिका' वही, पृष्ठ ५६।
४ 'प्रेम प्रलाप', वही, पृष्ठ २८३।
५ 'प्रेम फुलवारी', वही, पृष्ठ ५६३।

× ×

दिया सामने खड़ा तुम्हारो, करनी पर सिर धुनता है।
एक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तू नहिं सुनता है॥
तेरी आँख के आगे से यह नदी बही जो जाती है।
यों ही जीवन बह जाएगा यह तुमको समझाती है॥
खिल-खिलकर सब फूल बाग में कुम्हला-कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गति यही है गाफिल यह तुमको दिखलाते हैं॥[1]

वास्तव में, भारतीय इतिहास का एक समय ऐसा था, जब इस बात का खूब प्रचार हुआ कि जीवन क्षणभंगुर है। समस्त धार्मिक हिन्दुओं के सामूहिक मन पर स्थायी रूप से यह भावना बैठ गई। भारतेन्दु जी भी, वैष्णव-भक्त थे और इनके यहाँ राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की सेवा होती आती थी। उन्होंने 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में धर्म की प्राचीनता स्थापित करते हुए लिखा है कि उपासना हृदय की एक रत्न-वस्तु है।[2] अतः भारतेन्दु के मन पर यदि संसार की असारता और जीवन की क्षणभंगुरता स्थायी रूप से बैठ गई हो तो क्या आश्चर्य! आश्चर्य तो इस बात का है कि उनके एकान्त क्षणों की निवृत्ति-मूलक साधना अनन्य होती हुई भी न तो कहीं उत्साहहीनता पैदा करती है और न ही कहीं निराशा। आत्म-निन्दा का पुट भी कहीं-कहीं है—

कहाँ लौं निज नीचता बखानौं।
जब सो तुमसों बिछुरे तब सों जनम ही जनम सिरानौं।[3]

पर युग की जिन्दादिली के कारण भारतेन्दु की आत्म-निन्दा की भावना उनके आत्म-विश्वास को आहत न कर सकी। वास्तव में यह युग आत्म-साधना का युग था। यह उन लोगों का युग था, जो ३५-३६ की आयु में अपने प्राणों की होली खेलकर चल दिए, जिन्होंने अपने दीर्घ जीवन को कुछ धने वर्षों में केन्द्रित कर दिया। उनकी वह आहुति आज भी प्रज्वलित है, हिन्दी भाषा और साहित्य को उससे आज भी जीवन और प्रकाश मिल रहा है।[4] वास्तव में भारतेन्दु के जीवन की निवृत्तिमूलक साधना अत्यन्त सीमित रही, जो उनकी साहित्य-साधना के दूसरे पहलू-प्रवृत्तिमूलकता को आसक्ति वाली एकांगिता के दोष से बचाती रही।

१. 'प्रेम प्रलाप', भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ३००।
२. श्री व्रजरत्नदास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १६८।
३. 'विनय प्रेम पचासा', भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ५४२।
४. डा० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १६५।

प्रतापनारायण मिश्र और प्रेमघन ने भी भारतेन्दु से इस कोटि की साहित्य-साधना से प्रेरणा ग्रहण की है। मिश्र जी देश भक्ति से बढ़कर कोई धर्म नहीं मानते हैं, देशोन्नति के जितने भी कार्य हो सकते थे, सभी में उन्होंने अपने जीवन को खपा दिया।[1] परन्तु अपने एकान्त क्षणों में वे उकताहट का अनुभव करते हैं—

काम जो कुछ दुनिया के आ पड़ते हैं तो उकताता हूँ,
ध्यान में तेरे हमेशा, अपना वक्त बिताता हूँ।[2]

वे इस बात को भूल नहीं पाते कि यह संसार दुःख की खान है। इसमें सुख है कहाँ—

कौन सुख जो लूटत जगत के फिरत पूजन पाऊँ।[3]

यही कारण है कि उन्हें और द्वार सूझता ही नहीं—

दीनबन्धु कृपायतन! मैं सर्वाहि भाँति तुम्हार।[4]

उनकी 'पितु मातु सहायक स्वामि सखा ..' से आरम्भ होने वाली प्रगाढ़ भक्ति-पूर्ण सवैया तो 'क्लासिक' हो गई है, जिसने इस देश के ईसाई समाज में भी स्थान पा लिया है।

प्रेमघन जी भी भारतेन्दु की भाँति इस संसार को असार मानते हैं, परन्तु भारतेन्दु जहाँ ईश्वर को ही 'सार' मानते हैं, उनकी दृष्टि में समस्त संसार असार है, प्रेमघन की दृष्टि में इस असार संसार में ईश्वर के अतिरिक्त भी अन्य कुछ तत्व है, जो 'सार' माने जा सकते हैं—

या असार संसार में सज्जन संगति सार।
जासो सुधरत 'प्रेमघन,' उभय लोक व्यवहार॥[5]

और—

या असार संसार में सत्य धर्म एक सार।
लह्यो न ताहि जो जग जनमि भयो व्यर्थ भूभार॥[6]

प्रेमघन वैदिक उदात्त भाव 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' को प्रतिबिंबित करते हुए कहते हैं कि फकीरी (त्याग भाव) के बिना अमीरी (भोग) फीकी, बेमजा है—

---

१ ब्राह्मण खण्ड १ सं० ६, डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल, प० प्रतापनारायण मिश्र-जीवन और-साहित्य, पृष्ठ ५१।
२ 'प्रताप लहरी' (मन की लहर), पृष्ठ ७६।
३ 'प्रेम पुष्पावली' प्रताप लहरी पृष्ठ १४५।
४ वही, पृष्ठ १४५।
५ 'लालित्य लहरी' प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३३।
६ वही, पृष्ठ ३३४।

बिना फकीरी दिल मये, मजा अमीरी नाहिं।
प्रथा त्याग बिन लाभ नहिं, यह विचार जिय माहि।[1]

इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन कवियों की स्वान्त सुखाय भक्तिमूलक रचनाओं पर निवृत्ति-मुखी प्रभाव है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु युग का तकाजा ऐसा था कि उनके युग की मुख्य देन उपर्युक्त निवृत्तिमुखी पंक्तियाँ नहीं मानी जा सकती।

भारतेन्दु युग के कवि यदि अन्तर्मन से जीवन को अस्वीकार करते तो वे अपनी काव्य-रचना में सफल नहीं हो पाते। कवि भारतेन्दु भक्त भारतेन्दु के रूप में ही रह जाते, युग प्रवर्तक न बन पाते। अपनी ऐकान्तिक भावना में निवृत्तिवादी होते हुए भी कवि भारतेन्दु और उनके युग के कवि प्रवृत्ति-दर्शन के प्रबल समर्थक थे। वस्तुत उनकी दृष्टि सन्तुलन की थी, न एकान्त निवृत्ति की न एकान्त प्रवृत्ति की। उनकी निवृत्तिवादी भावना उनकी प्रवृत्तिवादी दृष्टि में भोगासक्ति के दोष का प्रक्षालन करने वाली थी।

भारतेन्दु-युगीन काव्य में रीतिकालीन प्रभाव

जो रीतिकालीन परम्परा भारतेन्दु-युग को उत्तराधिकार में मिली थी, उसमें न तो आध्यात्मिकता और न भौतिक जीवन की व्यवस्था ही मिलती है। उनका आधार-फलक इतना सीमित रह गया था कि उसमें जीवन की अनेकरूपता के लिये स्थान नहीं रह गया था। इस युग में रीतिकाव्य का केन्द्र बदला। जो काव्य दरबारी महलों तक सीमित था, वह जनजीवन पर केन्द्रित हुआ। रीति परम्परा पर चलने वाले इस युग के प्राय सभी कवियों ने शृ गारिक कवितायें लिखी हैं। ठाकुर जगमोहन सिंह की तो प्राय समस्त रचनायें शृ गारिक हैं, प्रेमघन, प्रताप-नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्ण दास ने भी शृ गारिक कवितायें लिखी हैं।

सयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण भारतेन्दु ने किया है। सहजता और स्वाभाविकता से, उमड़ते-घुमड़ते हुए भाव को पूर्ण मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता के साथ अभिव्यक्त कर पाठक के हृदय को झनझनाते हुए छोड़ जाने की कला में भारतेन्दु निष्णात हैं।[2] परकीया के नि शक विहार का चित्रण कितना सजीव है—

बृज के सब नाँव धरैं मिलि ज्यौं-ज्यौं बढ़ाइवै त्यौं दोउ चाव करैं।
'हरीचन्द' हसैं जितनो अबहो तितनी दृढ दोउ निभाव करैं।

---

१. 'लालित्य लहरी' प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३५।
२ डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृष्ठ २१२।

सुनिकै धहूँघा परचा 'रिसि सों परतच्छ ये प्रेम-प्रभाव करै।
इत दोऊ निसंक मिलैं बिहरैं उत चौगुनो लोग चवाव करै॥[1]

विप्रलम्भ शृंगार सदा से ही संयोग की अपेक्षा अधिक मार्मिक बन पड़ता है। भारतेन्दु ने मरणोन्मुख विरहिणी का बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है—

आजु लौं जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहिनो है कछु नाहिं सबै फल आपुनो भाग को पावैं।
जो 'हरीचन्द' भई सो भई अब प्रान चलैं चहैं तासो सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावैं॥[2]

नायिका की चेष्टाओं का बड़ा ही सरस रूप प्रस्तुत किया है प्रेमघन ने—

आनन इंदु अमंद चुराय चकोर चितैं ललचाय में टालो।
ठोढ़ी गुलाब प्रसून दुराय, मलिन्दन लोचन लोच न सालो।
ह्वं घनप्रेम दया बरसो, रस के बस बानि अनीति सभालो।
रूप अनूपम देहु दिखाय, दया करि हाय न घूँघट घालो॥[3]

प्रेमघन की कविताओं में स्वाभाविकता और कवित्व शक्ति का सुन्दर सामञ्जस्य है। इन्हीं की भाँति मिश्र जी ने स्वाभाविकता और काव्य-सरसता से परिपूर्ण शृंगारिक कवितायें लिखी हैं। मथुरा की दिशा में जाते हुए बटोही से गोपियों का सन्देश-निवेदन अत्यन्त दीनतापूर्ण है—

जेते गये धीरज दै मधुपुर पथिक लोग,
तेऊ फिरे ना एक नैन थकि रहियो।
चित्र सी ठाढ़ी ह्वं जोवतीं परीन मग,
तुमको विलोकि उर धीर कछु लहियो॥
आत ही कहा पै 'प्रताप' नेक ठाढ़े होहु,
एक हम दीनन की बात हिये गहियो।
हा हा बटोही मधुपुर पधारयो तो,
मेरी गोपाल सों जै गोपाल कहियो॥[4]

अंबिकादत्त व्यास ने लोकगीतों की शैली में शृंगारिक काव्य लिखा है। उनकी चंचल नायिका कर में पिचकारी लिये कृष्ण को रंग से भिगोने के लिए व्रज के मार्ग में जा पहुँची, पर उनको देखते ही उसका हाल-बेहाल हो गया—

---

१ प्रेम-माधुरी', भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृष्ठ १५१।
२ वही, पृष्ठ १२८।
३. 'प्रेम पीयूष वर्षा', प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग पृष्ठ २०३।
४ प्रताप लहरी, पृष्ठ १८५।

गई आज हुती ब्रज बाट सखी, सु कहा कहूँ साथ घरी की धरी रही।
हरि आय अचानक धौं कित सो, मोहि अक भरी मैं खरी की खरी रही।
कवि अंबिकादत्त के हाथ परी, भरी झोरी अबीर परी की परी रही।
लरकी लरी हार, चुरी कर की करकी, पिचकारी भरी की भरी रही॥[1]

ठाकुर जगमोहन सिंह ने श्यामा से प्रेम किया और उसी के विरह में *श्यामा-स्वप्न, श्यामा-विनय, श्यामालता, श्यामा सरोजनी* आदि रचनायें प्रस्तुत कीं। इनका काव्य इनके जीवन का प्रतिबिम्ब है। यह इनके हृदय का स्वच्छ अलकृत उद्‌गार है। इनकी सुन्दरतम रचनायें तब की हैं, जब ये श्यामा के विरह में पागल थे।[2] इनका विरह-काव्य निश्छल और अकृत्रिम है, अत सहज ही सवेद्य है—

अब कौन रह्यौ मुहि धीर धरावनो, को लिखिहैं रस की पतियाँ।
सब कारज धीरज में निबहै, निबहै नहिं धीर बिना छतियाँ।
फलिहैं कुसुमैं नहिं कोटि करो, तरु, केतिक नीर सिंचो रतियाँ।
जगमोहन के सपने सी भई, सु, गई सुख नेह भरी बतियाँ॥[3]

राधाकृष्ण दास ने विरहावस्था के प्रेम-पथ का विश्लेषण कुछ और ही रीति से किया है—

विरह पलेट्यो तन दसा, मन गति हू बदलानि।
निज प्रतिबिंबहि लखि चकित, दूजी तिय जिय जानि॥
प्रेम पथ कछु और, प्रियतम बिछुरे सुख बढ़ै।
प्रिय लखात सब ठौर, भेंटे इक प्रिय भेंटही॥[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में रीतिकालीन वासना का विस्फोट उसी रूप में अब नहीं रहा था। अब कवियों की रुचि और भावना की छाप इस काव्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रेम भी बहुत-कुछ घिस-घिसा कर आया है। इसके अतिरिक्त इसमें निर्बन्ध लोक-हृदय का जो चित्रण हुआ है, वह रीतिकाल की दरबारी कविता में चित्रित कृत्रिम जीवन से सर्वथा भिन्न कोटि का है। यदि लोक-काव्य शुद्ध साहित्य में ही माना जाय तो यह रचना समष्टि इस बात को प्रमाणित करती है कि अब हिन्दी कवि का हृदय लोक-हृदय के साथ एकाकार *हो गया है।*[5]

---

१. किशोरीलाल गुप्त भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृष्ठ ४११ से उद्धृत।
२ किशोरीलाल गुप्त भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृष्ठ ४०४।
३. वही पृष्ठ ४०६ से उद्धृत।
४ फुटकर कविता, राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ ६३।
५. डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य, पृष्ठ २१६।

भारतेन्दु-युगीन काव्य में प्रवृत्तिमुखी जीवन की अभिव्यक्ति का स्वरूप

जिस दिन भारतेन्दु-युगीन कवि ने परिपाटी विहीन रसज्ञता और रूढ़ि समर्पित काव्य-कला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रान्ति का दिन समझना चाहिए। सब कुछ झाड़-फटकार कर कवि ने अपने आत्म निर्मित आधार की कठोर भूमि पर अपने आपको आजमाया। इस भूमि पर, इस आत्मनिर्मित क्षेत्र के अन्दर खड़े होकर हिन्दी के कवि ने अपनी आँखों से दुनिया को देखा, कुछ समझा। पहली बार उसने प्रश्नभरी मुद्रा से दुनिया के तथाकथित सामञ्जस्य की ओर देखा। उसे सन्देह हुआ, असंतोष हुआ, संसार रहस्यमय दिखा। हिन्दी कवि के विचार और हिन्दी कविता की रूपरेखा दूसरी हो गई।[1] इसका प्रमुख कारण यही था कि हम एक जीवित जाति के संस्पर्श में आये थे और जीवन के आघात से ही जीवन की स्फूर्ति होती है।[2]

सही बात, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, शायद यह है कि यूरोप का साहित्य और यूरोप का दर्शन मानस-शरीर को सहला नहीं देता, केवल धक्का मार देता है। यूरोप की सभ्यता चाहे अमृत हो, मदिरा हो या हलाहल हो, उसका धर्म ही है मन को उत्तेजित करना, उस स्थिर न रहने देना। इसी अंग्रेजी सभ्यता के संस्पर्श से हम समूचे देश के आदमी जिस किसी एक दिशा में चलने के लिए छटपटा उठे। सौ बात की एक बात यह है कि हम उन्नतिशील हों या अवनतिशील, लेकिन हम गतिशील जरूर हैं—कोई स्थितिशील नहीं।[3]

इस गतिशीलता के प्रवाह में जीवन के अन्दर इतने आलोडन विलोडन हुए कि ऊपरी सतह भले ही फनिल हो उठी हो, गहराई तक की बहती हुई धारा के सामने जीवन की निषेधात्मक प्रवृत्तियों का अवरोध टिक न सका, निर्जीव रूढ़ियाँ बहाव में अपना अस्तित्व खो बैठी, हमारे समस्त जीवन मूल्य धुलकर स्वच्छ हो गये और हमारी साहित्य भूमि अधिक उर्वर हो गई। इसके साथ ही-साथ ३५-३६ वर्षों की आयु में अपने प्राणों की होली खेल अपने दीर्घ जीवन को कुछ थने वर्षों में केन्द्रित कर देने वाले साहित्यकारों की लगन से[3] साहित्य यथार्थ से उद्बुद्ध हो उठा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐहिकपरक प्रवृत्तिमूलक साहित्य को अच्छा प्रोत्साहन मिला।

यथार्थवादिता की प्रवृत्ति से जीवन और साहित्य का जो संस्पर्श हुआ, उससे प्राचीन गतानुगतिकता का स्थान मानवता ने ले लिया, साहित्य में पीड़ित मानवता

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १३३।

२ वही—पृष्ठ १३५।

३ देखिए पृष्ठ २११।

को वाणी मिली, जिससे शोषित भारतवासियों के प्रति सहानुभूति की भावना प्रतिष्ठित हुई, राजनीतिक चेतना ने देश-प्रेम, स्वातन्त्र्य-प्रियता, राष्ट्रीयता की भावना और अतीत के प्रति अनुराग की भावना से साहित्य को सुसज्जित किया। नारी जागरण की भावना ने साहित्य को और अधिक जीवन के निकट ला दिया। विराग नहीं, जीवन के प्रति उत्कट राग ने साहित्य को सञ्जीवनी शक्ति प्रदान की और भारतेन्दु-युगीन प्रवृत्ति-दर्शन के उत्थान के इस युग में प्रवृत्तिमुखी जीवन को न केवल काव्य में वरन् साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों-नाटक, उपन्यास, निबन्ध, जीवनी और पत्र-पत्रिकाओं में नयी अभिव्यक्ति मिली।

जीवन के प्रति उत्कट राग की भावना मानव-हृदय में अपनी वस्तुओं के प्रति ममता उत्पन्न करती है। भारतेन्दु-युग में देशवासियों के हृदय में अपने राष्ट्र, अपने देश और अपनी स्वतन्त्रता की भावना ने जोर मारा। राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए ज्वार के युग में भारतीयों के हृदय में भी राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई और दृढ़ हुई, मातृभूमि की स्वतन्त्रता एवं किसी भी मूल्य पर उसकी संस्कृति की रक्षा के लिए चेष्टा प्रारम्भ हुई, सबके हृदय में देश-प्रेम का सागर हिलोरें लेने लगा। देश-प्रेम स्वदेश और संस्कृति की रक्षा के लिए साहस और त्याग का आह्वान करता है, क्योंकि अपना शासन और अपनी संस्कृति खरी-खोटी आलोचना के बाद भी विदेशी शासन और सभ्यता की अपेक्षा देशवासियों के अधिक निकट होने कारण उन्हें भली प्रतीत होती है। इसका लक्ष्य स्वाधीन देश की स्वतन्त्रता की रक्षा और परतन्त्र देश की पराधीनता से मुक्ति है।[१]

भारतेन्दु-युगीन कवियों ने त्याग और बलिदान का आह्वान तो नहीं किया, त्याग और बलिदान की भावना काफी आगे चलकर विकसित हुई, परन्तु उस भावना की भूमिका तैयार करने का उत्तरदायित्व इन्हीं कवियों का था। इस युग में देश के प्रति गौरव का भाव अवश्य जगाया गया। यह कार्य भारत की सुषमा के गीत गाकर किया गया।

भारतेन्दु को अपनी, अपने साहित्यिक बन्धुओं और देशवासियों की साधना में अटूट आस्था और दृढ़ विश्वास है, इसी के बल पर कवि भावी भारत का बड़ा मनोरम स्वप्न देखता है—

सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवैं।
कर राजा नहिं लेई, प्रजन पै हेत बढ़ावैं।
गाय दूध बहु देहि, तिनहि कोऊ न नसावैं।
द्विज गन आस्तिक होई मेघ सुभ जल बरसावैं।

---

१ डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्यधारा, पृष्ठ ५१।

तजि क्षुद्र वासना नर सबै, निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिका नाथ जय, हमहूँ जिय आनद भरहिं॥[1]

प्रेमघन पर भारतेन्दु की पूरी-पूरी छाप है। उन्होंने भावी भारत का जो मनोरम चित्र खींचा है, वह भारतेन्दु के स्वप्न से कितना मिलता-जुलता है—

सब दीप की विद्या, कला, विज्ञान इत चलि आवई।
उद्यम निरत भारत प्रजा रहि सुख समृद्ध बढ़ावई॥
दुष्काल, रोग, अनीति नसि, सद्धर्म उन्नति पावई।
भट, विबुध, अन्न सुरत्न भारत भूमि नित उपजावई।[2]

भारत-भूमि की जय-जयकार करते हुए कवि कहता है—

जय जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी॥
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी।
जाकी श्री शोभा लखि अलका अमरावती खिसानी॥
धर्म्म सूर जित उयो, नीति जहँ गई प्रथम पहचानी।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सों सबहि सुझानी॥[3]

यद्यपि भारत-देश में विपत्ति छाई हुई है, तो भी इसकी सुयश-पताका आकाश में फहरा रही है—

धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि,
वीर विबुध विद्वान आति नरवर प्रगटावनि।
यदपि सबै दुख सों सब भाँति भई है आरत,
तऊ अन्य अनेक सुतम अजहूँ लौं धारत।
यथा एक अहई है जाकी सुयश पताका,
फहरत आज अकास प्रकासत भारत साका।[4]

जो मनुष्य जन्मभूमि के हित के लिए व्यग्र नहीं होता, वह मानव नहीं, जड़ जीव है—

जन्मभूमि-हित के हित चिन्ता जा हिय नाहीं।
तिहिं जानौ जड़ जीव, प्रगट मानव मन माहीं॥[5]

---

१ 'प्रबोधिनी', भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ६८५।
२ 'सौभाग्य समागम', प्रेमघन-सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ३६।
३. 'स्वदेश विन्दु', प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ६२६।
४. नागरी-नीरव, ८ सि०, १८६३(डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य-धारा-पृष्ठ ५८ से उद्धृत।)
५ 'जीर्ण जनपद' प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ६।

प्रतापनारायण मिश्र को भी अपने देश के प्रति महान् गर्व है। भारत को वे सभी देशों का शिरोमणि मानते हैं—

जय जय जगत शिरोमणि भारत।
जासु दिव्य उपदेश पाय सब, निज आचरन सुधारत॥
जासु सपूत पवित्र प्रीति पर, निज तन मन धन वारत।
जाकी सुता प्रेम परिचय हित जियत देह निज जारत॥
जलहु थल जहँ लसत ब्रह्ममय, सुमिरित सुखहिं पसारत॥[1]

राधाचरण गोस्वामी ने जन्मभूमि की प्रशस्ति इस प्रकार गाई है—

हमारो उत्तम भारत देश।
जाके तीन ओर सागर हैं, उत हिम गिरि अति वेश।
श्री गंगा यमुनादि नदी हैं विन्ध्यादिक परवश।
राधाचरण नित्यप्रति बाढ़ो जब लो रवि-राकेश॥[2]

प्रवृत्तिमुखी साहित्यिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अतीत के प्रति अनुराग भारतेन्दु-युगीन काव्य की मुख्य प्रवृत्ति थी। अतीत के प्रति अनुराग से प्रेरित हो इन कवियों ने भारत की भव्यता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। साहित्य में अतीत के प्रति अनुराग भारतेन्दु-युग के पूर्ववर्ती कवियों को पलायन की दिशा में ले गया है और खूब ले गया है, परन्तु इस युग में शक्ति प्राप्त करने के लिए ही कविगण अतीत की ओर उन्मुख हुए हैं। 'अतीत के संकेतों के बीच कहीं तो ये कवि उन व्यक्तियों का नाम लेते हैं, जो हम सब की श्रद्धा के पात्र बन गये हैं या उन स्थलों का इंगित देते हैं जिनके साथ हिन्दुओं की मधुर और मर्मपूर्ण स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं।[3]

भारत के अतीत में झाँककर देखने की उद्दाम प्रेरणा धीरे-धीरे युग-व्यापी बनती गई। जागृति के इस प्रथम प्रहर में जहाँ पश्चिमी ज्ञान और साहित्य के भंडार से चयन के प्रयत्न हुए, वहाँ भारत के अतीत में झाँककर देखने की उद्दाम प्रेरणा से इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता, साहित्य और दार्शनिक गवेषक सभी इस क्षेत्र में उतर पड़े और क्रमश भारत का चित्रपट उन्मीलित हो चला। हमारी संस्कृति और साहित्य, दर्शन और इतिहास में अब केवल मुख्यत भाववाचक संज्ञा को विशेषता

---

१ 'जातीय गीत' ब्राह्मण खंड ५, संख्या ४, (डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल, प्रतापनारायण मिश्र-पृष्ठ ८५।)

२ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका कला ८, सन् १८८१ (डा० केसरी नारायण शुक्ल आधुनिक काव्यधारा पृष्ठ ५८ से उद्धृत।)

३ डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ १११।

नहीं रह गई, प्रत्युत उन्होंने सुनिश्चित और वास्तविक अर्थ ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। हमारी विरासत अब छायात्मक गरिमा नहीं रह गई, किन्तु कुछ ऐसी वस्तु बन चली, जो प्रत्यक्षवत् अनुभव की जा सकती है। ज्यों-ज्यों हमारे इतिहास के पृष्ठ खुलते गये, त्यों-त्यों देश में आत्मविश्वास और आत्मगौरव की भावना पुष्ट होती गई।[1]

युग के साथ कदम से कदम मिलाकर चलनेवाले साहित्य के क्षेत्र में भी आत्म-विश्वास और आत्मगौरव की अभिव्यक्ति प्राचीन गौरव की स्मृति के माध्यम से शुरू हुई। इस युग के काव्य में विगत से प्रेरणा लेकर पुनः उस गौरव की अवतारणा का मन्त्र फूंका। भारत के उज्ज्वल अतीत का गौरव गान कवि भारतेन्दु की वाणी में सशक्त ढंग से मुखरित हुआ है—

याही भारत देश में रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गान सों भारत बदन प्रकास॥

× × ×

कोटि-कोटि ऋषि पुन्य तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि-कोटि बुध, मधुर, कवि मिले यहाँ की धूर॥[2]

भारत की प्राचीन अवस्था का एक और ओजपूर्ण चित्र इस प्रकार है—

जब लेत रहे कर में कृपान।
इनही महँ हो जग तृन समान॥
मुनि के रन बाजत खेत माँहि।
इनही कहँ हो जिय सके नाहिं॥[3]

भारत में कभी वह युग था जब—

रह्यो रुधिर जब आरज सीसा।
ज्वलित अनल समान अवनीसा।
साहस बल इन सम कोउ नाहीं,
तबै रह्यो महि मंडल माहीं॥[4]

---

१ आलोचना २५ काव्यालोचन विशेषांक, डा० गंगाधर झा आधुनिक राष्ट्रीय-चेतना का विकास, पृष्ठ २५७।

२ 'विजयिनी विजय-वैजयन्ती', भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ८०२-८०३।

३ 'भारत दुर्दशा,' भारतेन्दु-ग्रंथावली, पहला भाग पृष्ठ ४६४।

४ विजयिनी विजय वैजयन्ती, भारतेन्दु-ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ८०४।

अतीत का गौरवपूर्ण चित्र खींचते हुए कवि प्रेमघन कहते हैं—

> बिबुध बिप्र बिज्ञान सकल बिद्या जिनते लग जामीं,
> जग विजयी नृप रहे कबहुँ जहँ न्याय निरत गुण खीनों।
> जिन प्रताप सुर असुरन हूँ की हिम्मत बिनसि बिलानी।
> कालहु सम अरि तृन समुझत जहँ के छत्री अभिमानी।।[2]

नारी के प्रति भी भारतेन्दु-युगीन कवियों का दृष्टिकोण परिवर्तित और परिष्कृत हुआ। अपभ्रंश-काव्य से भारतेन्दु युगीन काव्य तक नारी के प्रति दृष्टिकोण में उलट-फेर की ओर संकेत करते हुए डा० रांगेय राघव कहते हैं—

'अपभ्रंश-काव्य में पुरुष एक ओर वैराग्य की बात करता है और नारी की निन्दा करता है, दूसरी ओर वह नारी को अपने विलास की वस्तु बना लेता है, पर नारी का मातृत्व अधिक सम्मान प्राप्त करने लगता है। हिन्दी-काव्य की वीर-गाथाओं में नारी का यौवन केवल भोग का साधन है। भक्ति-काव्य में वैराग्य में युवती की निन्दा है, किन्तु उसके मातृत्व की उपासना है। तत्कालीन सूफी कवियों में हम युवती के वर्णन की प्रशंसा भी पाते हैं और प्रेम में पुरुष को भी उसके लिए समान रूप से आकर्षित पाते हैं। जबकि वह प्रेम सदैव रूप के आकर्षण से ही जन्म लेता है। रीतिकाव्य में नारी के नख शिख का वर्णन है, जिसमें स्त्री-पुरुष की शारीरिक वासना को ही विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। हिन्दी के पुनर्जागरण में हम नारी का सम्मान फिर देखते हैं और पुरुष को नारी के प्रति अधिक सम्मान देते हुई पाते हैं।[3]

पुनरुत्थान के युग में अमेरिकन स्वाधीनता संग्राम, फ्रांस की राज्य-क्रांति और जर्मनी तथा इटली की सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप नारी को समाज में आदर प्राप्त होने लगा। भारत में भी एक ओर पाश्चात्य युग-चेतना की आँधी ने और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्रचार और नवीन विचार धारा ने नारी-जागरण की भावना को विकसित किया, जिसका परिचय भारतेन्दु-युगीन साहित्य में यत्र तत्र मिलता है।

भारतेन्दु स्त्री शिक्षा के पक्षपाती थे। वे वर्तमान युग की नारियों में आत्म-विश्वास की भावना भरने के लिए प्राचीन इतिहास से राधा, सीता, अनुसूया और अरुंधती की चर्चा, शिक्षा और शील का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति।
> जो नारी सोई पुरुष यां में कछु न विभक्ति।।'

---

२ 'स्वदेश बिन्दु' प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ६२१।

३ हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार, पृष्ठ १७।

सीता अनुसूया सती अरुंधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण लहो सकल जग नारि ॥[1]

प्रेमघन भी भारतीय स्त्रियों का ध्यान उन भामिनियों की ओर आकृष्ट करते हैं, जिनका सुयश संसार भर में छाया हुआ है—

धनि-धनि भारत की भामिनियाँ जिनको सुजस रह्यो जग छाय।

× × ×

कलि पद्मिनी, कमलावती तिनहिं कुल जाय।
रूपवती, संयोगिता जगत अचरज दियो देखाय ॥
कर्म्मदेवि, तारा, दुर्गावति कर कृपाण चमकाय।
विजयिनी, रच्छिनि, देस प्रजा, चण्डी बनि समर सुहाय ॥[2]

मिश्र जी की आकांक्षा है कि भारत-देश की स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार हो—

स्त्रीगण को विद्या देवें, करि पातिव्रत यश जग लेवें ।[3]

इतिहास में देखा गया है कि जब भी समाज में वैरागियों और सन्यासियों का आदर बढ़ता है, तब गृहस्थ और नारी-जाति के आदर में उसी अनुपात में कमी आ जाती है। इसके विपरीत, जब भी प्रवृत्ति का उत्थान होता है तब गार्हस्थ्य और नारी जाति दोनों का सम्मान पहले से अधिक हो जाता है।[4] कहना न होगा कि भारतेन्दु-युग के कवियों ने नारी के प्रति उपेक्षा का भाव दूर कर उसकी शिक्षा-दीक्षा और उन्नति की दिशा में कदम उठाकर प्रवृत्तिमूलक अभियान में योगदान दिया। स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती मिश्र जी ने लिखा है—

"पुरुषों के लिए सब कहो पाठशाला, इनके यदि हैं भी तो न होने के बराबर। यदि आज सब लोग इधर झुक पड़ें तो शायद कुछ दिनों में कुछ आशा हो।[5]

भारतेन्दु-युग के कवियों ने धीरे-धीरे भारतीय जनता के हृदय में सर्वव्यापी युग-चेतना की भावना जागृत कर ब्रिटिश-राज्य का वास्तविक परिचय देना प्रारम्भ किया। 'अंग्रेज' का परिचय देते हुए एक मुकरी में भारतेन्दु कहते हैं—

---

१. 'बालाबोधिनी'-डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृष्ठ ७१ से उद्धृत।

२ 'स्वदेश बिन्दु,' प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ६३१।

३. 'प्रम-पुष्पावली', (डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृष्ठ ७१ से उद्धृत।

४. श्री रामधारीसिंह दिनकर काव्य की भूमिका, पृष्ठ २८।

५. डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल : पं० प्रतापनारायण मिश्र, पृष्ठ १०१ से उद्धृत।

'भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अंगरेज ॥'[1]

कवि ने जब राजनीतिक तथ्यों को जनता तक पहुँचाकर आन्दोलन की भूमिका तैयार करने का प्रयास किया तो सरकार ने उनके प्रति कम अत्याचार नहीं किया। "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'कवि-वचन-सुधा', 'बाला-बोधिनी' की जो सौ-सौ प्रतियाँ सरकार लेती थी, उन सबको लेना उसने बन्द कर दिया।

गुलामी के प्रति घृणा के भाव व्यक्त करते हुए भारतेन्दु कहते हैं—

कब लौं दुख सहिहो सबै रहिहो बने गुलाम।[2]

एकता, धीरता, देशभक्ति के साथ प्रेमघन भी स्वाधीनता की महत्ता प्रतिपादित करते हैं—

....एकता धीरता प्रेमघन देशभक्ति स्वाधीनता।
हरि बैर फूट अन्याय सब हरै दोष दुखदीनता ॥[3]

और प्रतापनारायण मिश्र ने तो वर्तमान शासन के प्रति खुल्लमखुल्ला रोष प्रकट किया है—

धन धरती जिन हरी सुकरिहैं कौन भलाई।
जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई ॥
सब तजि गहौ स्वतंत्रता नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाव ॥[4]

अंगरेजी-शासन के प्रति रोष और विद्रोह का अधिक तीव्र रूप उस समय के प्रचलित लोक-गीतों में मिलता है, जिनमें भारतीय वीरों के साहस और शौर्य का रूप अंकित है। सन् ५७ के विद्रोह में भारतीय वीरों की वीरता व्यक्त करने में किसी प्रकार के संकोच से काम नहीं लिया गया है।[5] उनानी, जिला फैजाबाद का एक लोक-कवि राना बेनीमाधो बक्स सिंह की ओर संकेत करता हुआ कहता है—

राना बहादुर सिपाही अवध में धुम मचाई, मोरे राम रे।
लिख-लिख चिठिया, लाट ने भेजी, आन मिलो, राना भाई रे।
जगी, खिलट लंदन से मँगा दूँ, अवध में सूबा बनाई रे।

---

१. [illegible] २१०।
२. [illegible] पृष्ठ ७३७।
३. [illegible] ग, पृष्ठ ३७८।
४. प्रतापनारायण मिश्र : लोकोक्ति शतक, पृष्ठ २।
५. आश्चर्य की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के बहुत कम हिन्दी कवियों ने विद्रोह के संबंध में कुछ लिखा है। जिन्होंने कुछ लिखा भी है वे

मदाव सवाल लिखा राना में, हमसे न करो चतुराई रे।
अब तक प्रान रहैं तन भीतर, तुम क्त खोद बहाई रे।[1]

झाँसी की रानी की वीरता का उल्लेख इस लोकगीत में मिलता है—

खूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसी वाली रानी।
बुरजन बुरजन तोपें लगाइ दई, गोला चलाए आसमानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युगीन कवियों ने जीवन के प्रति अभिनव रुचि के उत्थान के इस युग में प्रवृत्ति-मुखी जीवन की अभिव्यक्ति के लिये व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत किया। जीवन को चेतना, जागरूकता और सामंजस्य की भावना से युक्त करने के लिये कवियों ने साहित्य को अपने हृदय रक्त से रंजित शब्दों का माध्यम दिया। जीवन के विभिन्न पक्षों की ओर दृष्टिपात करने के कारण वे कहीं देशभक्ति के गीत गाते हैं, कहीं स्वतन्त्रता की गुहार मचाते हैं, कहीं पीड़ित मानवता को सहानुभूतिपूर्वक सहलाते हैं, कहीं अतीत के पृष्ठों से संजीवनी-शक्ति बटोरते हैं और कहीं नारी-जागरण की भावना से साहित्य को अनुगुंजित करते हैं। ऐकान्तिक क्षणों की अभिव्यक्ति में ही कहीं-कहीं निवृत्ति के दर्शन होते हैं, अन्यथा साहित्य के क्षेत्र में सर्वत्र प्रवृत्ति का स्रोत दिखाई देता है—सर्वत्र व्यक्ति की संवेदना जागृत करने और समाज की चेतना को प्रबुद्ध बनाने का प्रयास दिखाई देता है, सर्वत्र जीवन को मंगलमय बनाने की चेष्टा दृष्टिगत होती है।

भारतेन्दु-युगीन कवियों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण

पंडित मदनमोहन मालवीय ने एक बार रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति पर चोट की थी—

भारत चारहुँ ओर दुखी दुख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय-सों होय निवारण।[3]

वास्तव में रीतिकालीन कवियों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं था। मनोवांछित अभिव्यक्ति के अभाव में जीवन की वृत्तियों का वह संतुलन नष्ट हो गया था, जो जीवन दर्शन को स्वच्छ और परिपुष्ट बनाता है।[4]

विद्रोह को कुछ बहके हुए भारतीयों की नाजायज हरकत बताकर चुप हो जाते हैं। उन्होंने उसे भयावह दृष्टि से देखा है।
—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २५१-२५२।

१ वही पृष्ठ २५४ से उद्धृत।
२ वही पृष्ठ २५५ से उद्धृत।
३ श्री रामधारीसिंह दिनकर काव्य की भूमिका, पृष्ठ २७।
४ डॉ० नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १६३।

नवयुग की देहली के भीतर प्रवेश करने वाले भारतेन्दु-युग के कवियो की एक ही चिन्ता दिखाई देती है। इनकी चिन्ता उपयुक्त जीवन की खोज में है—ऐसा जीवन जो प्रभावपूर्ण, शक्ति-सम्पन्न और औचित्य की भावना से युक्त हो। इनकी भावना सामजस्य और सद्बुद्धि को नही छोडती और अत्यन्त सतुलित है। इसी ने कवियों को समाज-सुधारक बना दिया। इसी से इनकी देशभक्ति प्रकट हुई और इसी से प्रेरित होकर उस सघर्ष और सक्रान्तिकाल के बीच इन्होने सास्कृतिक स्वतन्त्रता और सामाजिक पुनरुद्धार की पुकार मचाई। सास्कृतिक स्वतन्त्रता ने 'पश्चिमी आँधी' के बीच इनके स्वरूप की रक्षा की और सामाजिक पुनरुद्धार ने गरीबी के खिलाफ आवाज उठाई और उन्नति का रास्ता दिखाया। इस प्रकार इन लोगो ने अपने ढग पर जीवन का विकास किया। जीवन कैसे सचालित हो, इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने काव्य में दिया।[१]

वस्तुत भारतेन्दु-युग के कवियों ने बद्ध और सकुचित दायरे को छोडकर जीवन के आर-पार देखने की दृष्टि प्राप्त की। काव्य का आधार-फलक इतना विस्तृत हुआ कि उसमें जीवन के एक नहीं अनेक स्वरूप अकित हुए। काव्य-सृजन के लिये ऐसे कवियो का चुनाव हुआ, जिनकी इनके पूर्ववर्ती युग में कल्पना तक नही की जा सकती थी। इस युग में जीवन के मूलगत गभीर प्रश्नों के स्पर्श, गहन विवेचन और समाधान से जीवन की विभिन्न समस्याओ पर चिन्तन हुआ और उन्हें सुलझाने का प्रयास किया गया।

भारतेन्दु युग बडी विलक्षणता के साथ हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुआ। इस युग के कवियो का दृष्टिकोण *मानवता का था। वे मानव-मात्र के दु ख को अपना* दु ख समझते थे और उसको दूर करने का उपाय सोचते थे। उनमें और पाठको में कोई दूरी न रह गयी थी। अपने काव्य में ये बडे खुले हुए और स्पष्ट रूप से सामने आये। यह स्पष्टता और सहृदयता उनके सबल व्यक्तित्व का परिणाम थी। उन्होंने जिस जिन्दादिली से हिन्दी कविता को रीतिकालीन पकिलता से बाहर निकालकर मानवता की भूमि पर खडा किया, वह चिरस्मरणीय घटना है।[२]

भारतेन्दु-युगीन काव्य मे प्रवृत्ति दर्शन की विभिन्न दिशाएँ

भारतेन्दु-युगीन साहित्य अत्यत महत्वपूर्ण एव रोचक है। इस युग का साहित्य अपने युग से प्रभावित था, अत युग की विभिन्न दिशाओ में जो चेतना की लहर व्याप्त थी, जो प्रवृत्ति का स्रोत प्रवाहित था उसका पूरा प्रतिबिम्ब भारतेन्दुकालीन साहित्य में मिलता है। वस्तुत भारतेन्दु साहित्य से उस युग की बहुमुखी चेतना

१ डा० केसरीनारायण शुक्ल: आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ १३१-३२।

२. डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल प० प्रतापनारायण शुक्ल, पृष्ठ २१३-२१४।

का पूरा परिचय मिल सकता है।

जनता की राजनीतिक चेतना को भारतेन्दु-युग के कवियों ने बराबर सजीव बनाए रखा। प्रायः सभी प्रमुख कवि मासिक या पाक्षिक पत्रिकाएँ प्रकाशित करते थे, जिनमें वे सभी विषयों पर उपयोगी लेख लिखा करते थे। देश की जागृति में उन पत्रिकाओं का विशेष योग रहा है। ये कवि राजनीतिक जीवन में प्रवृत्त हुए थे, पत्रकार के नाते नहीं, परन्तु, कवि रूप में और इनका कार्य बड़ा महत्वपूर्ण दिखाई देता है। उपयुक्त अवसरों पर, जनता के भावोन्मुख होने पर ये कवि ऐसी कविताएँ लिखा करते थे। विक्टोरिया की जयंती से लेकर वाइसराय, ड्यूक और गवर्नरों के आगमन तथा अफगान और बोअर युद्धों तक कविता के लिये इन्हें अनेक उपयुक्त विषय एवं अवसर मिलते रहे। सामाजिक और धार्मिक उत्सव भी प्रचार के साधन थे।[1]

राजनीतिक चेतना का प्रथम स्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के प्रदर्शन के रूप में मिलता है। कवियों ने भारतीयों की राजभक्ति का उल्लेख बड़े ही गर्व के साथ किया है। ब्रिटिश शासन की नई सुविधाओं और विज्ञान के नूतन आविष्कारों से कवियों तथा जनता दोनों की मति आच्छादित थी। वे इस अवसर से पूरा लाभ उठाना चाहते थे। हरिश्चन्द्र और प्रेमघन देशवासियों और देशी शासकों को अंगरेजी शासन-सुविधाओं से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिये प्रेरित करते हैं। भारतेन्दु खेद प्रकट करते हैं, यह देखकर कि देशी राज्य शासन का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं—

अँगरेजहु को राज पाइकै रहे मूढ़ के मूढ़,
स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़।[2]

प्रेमघन ब्रिटिश राज्य से लाभ उठाने के लिए देशवासियों से कहते हैं—

उठो आर्य संतान सकल मिलि बस न विलंब लगाओ।
बृटिश राज स्वातंत्रमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ॥[3]

परन्तु मोह का पर्दा हटते ही जब ब्रिटिश-नीति का पर्दाफाश होता गया तो इन कवियों की रचनाओं में भी असंतोष की झलक मिलती गयी। वही असंतोष देश-भक्ति का स्वरूप ग्रहण कर ब्रिटिश शासन की बुराइयों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने लगा। राजनीतिक स्वत्वों की माँग बढ़ती गई और भारतीय राजनीतिक चेतना धीरे-धीरे देश-व्यापी आन्दोलन के लिये वातावरण तैयार करने

---

१. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ २८-२९।
२. भारत-दुर्दशा, भारतेन्दु-ग्रंथावली, पृष्ठ ४८५।
३. 'आनन्द-अरुणोदय', प्रेमघन सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ३७३।

लगी। वास्तव में आगे आने वाले स्वतन्त्रता-आन्दोलन के लिये भूमिका तैयार करने का श्रेय इसी युग के कवियो को है।

राजनीतिक-क्षेत्र में चेतना जगाने के लिये भारतेन्दु कहते हैं—

राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्व-विचार।
पहिचानें निज धरम को जानें शिष्टाचार॥[1]

भारतेन्दु ने प्रेस-एक्ट और आर्म्स-एक्ट के विरुद्ध भी आवाज उठाई—

सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोक।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को रोक॥[2]

ब्रिटिश-शासन की विदेश-नीति के विषय में वे कहते हैं—

स्ट्रेची डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध अकाल॥[3]

प्रतापनारायण मिश्र कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में कानपुर का प्रतिनिधित्व लेकर (१८८८ ई०) गये थे। कांग्रेस के कार्यों को देखकर वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने लिखा है—कांग्रेस की जय। क्यो न हो, कांग्रेस साक्षात् दुर्गा जी का रूप है, क्योंकि वह देश-हितैषी देव-प्रकृति के लोगों की स्नेहशक्ति से आविर्भूत हुई है, 'देवानादिव्य गुणविशिष्टाना तेजोराशि समुद्भवा' है।[4] कांग्रेस को भगवती मानते हुए वे लिखते हैं—

जय जयति राज प्रबन्ध शोधन हेतु बर बपु धारिनी।
जय जयति भारत की प्रजा उर एकता सचारिनी॥
जय जयति सागर पार लौं निज रूप गुन विस्तारिनी।
जय जयति भगवति कागरेस असेस मगल कारिनी॥[5]

प्रेमघन भारत और ब्रिटेन की प्रजा के अधिकारो की तुलना करने के उपरात इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मे भारतवासियो के किसी प्रतिनिधि के बिना भारत का दुःख दूर नही हो सकता—

तासों कोउ भारतवासी के बिना वहाँ पर,
भारत के दुख मिटिबे की आसा नहिं दुस्तर।

१. 'हिन्दी की उन्नति', भारतेन्दु ग्रथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ७२६।
२. 'विजय-वल्लरी', वही पृष्ठ ७९१।
३. वही, पृष्ठ ७९५।
४. डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल प० प्रतापनारायण मिश्र, पृष्ठ ९१।
५ वही, पृष्ठ ९१।

नहिं उपाय इहि के सिवाय कछु और अहै अब,
राजसभा में पहुँचि दुख निज गाय कहै सब।[1]

युग की सामाजिक चेतना में भी प्रवृत्ति-दर्शन का प्रभाव पड़ा, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति भारतेन्दु-युगीन काव्य में दिखाई देती है। प्रवृत्ति दर्शन का उन्मेष स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। स्वामी जी ने वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया और जीवन की निषेधात्मक प्रवृत्तियों के लिए जनता को खूब फटकारा। उन्होंने महन्तों के धार्मिक माया-जाल और समाज की अंधविश्वासपूर्ण नीति की कड़ी आलोचना की और हिन्दू समाज में नवजीवन का संचार किया।' रूढ़िवाद से स्वतन्त्र चिन्तन की स्थिति में पहुँचना—अभी तक के सहज शिरोधार्य को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बदल देने की तत्परता-नये भारत की जन्मभूमि है।[2]

भारतेन्दु सामाजिक आन्दोलनों को सदैव सहायता देने के लिये तत्पर रहते थे। उन्होंने समाज सुधार के लिये समन्वित दृष्टि अपनाई—

खलजनन सों सज्जन दुखी मत होहिं परिपद-मति रहै,
उपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख बहै।
बुध तर्जहि मत्सर नारि-नर सम होहिं जग आनन्द लहैं,
तजि ग्राम-कविता सुकवि-जन की अमृतबानी सब कहैं॥[3]

प्रेमघन देशवासियों से सभलने के लिये कहते हैं—

बीती जो उसको भूलो सभलो अब तो आगे से,
मिलो परस्पर सब भाई बँध एक प्रम धागे से।[4]

प्रतापनारायण मिश्र ने भी एकता के प्रचार का प्रयास किया—

प्रीति परस्पर राखहु मीत, अइहै सब दुख सहजहिं बीत।
नहिं एकता सरिस बल कोय, एक एक मिलि ग्यारह होय।[5]

स्वामी दयानद के आर्यसमाजी आन्दोलन से सांस्कृतिक चेतना को बल मिला। इस युग के समाज-सुधारक स्वामी जी पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण से हिन्दू संस्कृति की रक्षा करना चाहते थे और इसके साथ-ही-साथ हिन्दू संस्कृति की रूढ़िवादी

१. 'नागरी नीरद', ८ सि० १८९२ ई० (डा० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृ० ३६)
२ 'प्रबोधिनी', भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ६८४।
३ 'कविवचन सुधा' (डा० केसरीनारायण शुक्ल - आधुनिक काव्यधारा पृष्ठ ७०-७१ से उद्धृत।
४ अरुणोदय, प्रेमघन सर्वस्व पहला भाग, पृष्ठ ३७५।
५. 'लोकोक्तिशतक', पृष्ठ २।

परम्पराओं को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे। उन्होंने भारतीय मानवता को प्रवृत्ति-दर्शन के पोषक बुद्धिवाद का संदेश दिया और समाज को निवृत्ति-दर्शन के पोषक पौराणिक संस्कारों से मुक्त करने का प्रयास किया।

भारतेन्दु-युग के सभी प्रमुख कवि भारतीय-संस्कृति की रक्षा के लिये सचेष्ट थे। भारतेन्दु ईश्वर से आर्य संस्कृति की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं—

कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो घूरहि धूर दिखात जग,
जागो अब खल बल दलन रक्षहु अपनो आर्यमग।[1]

प्रतापनारायण मिश्र का मत है कि जब तक हम अपनी संस्कृति को गौरव की दृष्टि से नहीं देखेंगे, तब तक वास्तविक सुख संभव नहीं होगा—

अपनी भाषा भेष भाव भोजन भाइन कहँ।
जब लग जगते उत्तम नहिं जानिहौ जिय महं॥
तब लग उपाय कोटिन करत अगनित जनम बितायही।
पै साँचो सुख सम्पत्ति सुजस सपनेहु नहिं लखि पायही॥[2]

प्रेमघन की आस्था वैदिक संस्कृति में है। वे प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा करते हुए आर्यवंश को एक करने की कामना करते हैं—

आर्य वंश को करो एक, अब द्वैत भेद विनसाओ।
मन बच कर्म्म एक हो वेद विहित आदर्श दिखाओ॥[3]

इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन कवियों में जीवन के प्रति सर्वतोमुखी उत्साह की भावना दिखाई देती है। वस्तुतः इस युग की कविता पारदर्शी है, जिसमें जीवन की गहराई साफ-साफ दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु-युग के हृदय में जिस चेतना की लहर चली—चाहे वह राजनीतिक हो, चाहे सामाजिक हो, चाहे सांस्कृतिक हो—उस युग के कवियों ने बड़ी ही ईमानदारी और सचाई के साथ उसे साहित्य में उतार देने की चेष्टा की।

उपसंहार

भारतेन्दु-युगीन काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन कविता का सम्बन्ध-सूत्र जीवन के साथ जोड़ देने की थी। रीतियुगीन कविता जब संकुचित दृष्टिकोण से बद्ध घेरे में छटपटा उठी थी, नये युग की नई हलचल के प्रतीक बनकर भारतेन्दु साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए। भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों की अनुभूति जीवन

१. 'प्रबोधिनी', भारतेन्दु-ग्रंथावली दूसरा भाग, पृष्ठ ६८४।
२. ब्राह्मण खंड ७, सं० १२ (अंतिम सम्भाषण) (डा० सुरेशचन्द्र शुक्ल : पं० प्रतापनारायण मिश्र, पृष्ठ १०८ से उद्धृत)।
३. आनन्द अरुणोदय, प्रेमघन-सर्वस्व, पहला भाग, पृष्ठ ३७५।

की वास्तविकताओं के सामने खड़े होकर टक्कर लेने की नई अनुभूति थी। वही अनुभूति सचाई और ईमानदारी के सहारे अभिव्यक्ति-क्षेत्र में उतरी। कहने का तात्पर्य है कि भारतेन्दु-युगीन कविता अपने युग के सामयिक विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

उन्नीसवीं शताब्दी का युग घोर संघर्ष का युग था, राजनीतिक जागरण का युग था, सामाजिक क्रांति का युग था, और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। भारतेन्दु-युगीन कवियों का उत्तरदायित्व महान् था, उन्हें साहित्य को 'दर्शन' का स्वरूप देना था, जिसके माध्यम से युग की बहुमुखी चेतना की जानकारी हो सके। उन्हें देशव्यापी समस्याओं के अन्दर घुसकर जनता की भावना को वाणी प्रदान करना था। यही कारण है उन्हें सफल राजनीतिज्ञ भी बनना पड़ा, समाज-सुधारक भी बनना पड़ा और सांस्कृतिक नेता भी बनना पड़ा। वे सब-कुछ बने, परन्तु सबसे बढ़कर वे साहित्यकार बने रहे। जिन्होंने कविता को जीवन के विस्तृत आधार फलक पर उतारा, उसे पारदर्शी बनाया एवं उसमें अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की सरलता पिरोई। उन्होंने साधारण जनता के जीवन में, जन-जीवन में घुल-मिलकर साहित्य को युगव्यापी चेतना में उत्तेजना भरने का माध्यम बनाया।

भारतेन्दु युग के कवियों ने कविता का साज-शृङ्गार वाला पक्ष छोड़ दिया। जीवन के वे पक्ष भी उन्हें आकृष्ट न कर सके, जो गति नहीं अगति के सूचक होते हैं, जो नैराश्य के अंधकार की ओर ले जाते हैं, जो निषेधात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। उन्हें आकृष्ट किया जीवन के उस पक्ष ने जो नई हलचल, नया कोलाहल नई चेतना और नयी स्फूर्ति की ओर उन्मुख था, जो प्रवृत्तिमुखी था। इस युग की कविता ने वह मार्ग नहीं चुना, जो विराग की ओर जाता है, वह तो उस ओर बढ़ी जिस ओर इन्सान जीवन भोगने के लिए आतुर था, जहाँ साज शृंगार-विहीन लोहू की स्वस्थ लाली का सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। जहाँ जीवन के प्रति उत्कट राग की आकांक्षा बाँहें पसारे थी। कहने का तात्पर्य है कि भारतेन्दु-युग की कविता विराग नहीं, जीवन के प्रति उत्कट राग पूर्ण जीवन की गहराइयों में उतरकर प्रवृत्ति-पथ की ओर अभियान कर रही थी।

परन्तु नवचेतना के इस युग में प्रत्येक क्षेत्र की चेतना कुलबुलाती हुई नजर आती है, उसकी आग धीरे-धीरे आगे आने वाले युगों में प्रज्वलित हुई। विभिन्न धाराओं [redacted] स्रोत अवश्य फूट चुका था, परन्तु धाराओं के पुष्ट और विकसित होने का कार्य अभी शेष था। भारतीय नवल-क्रांति की शंख-ध्वनि के साथ राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति, दोनों क्षेत्रों में नवयुग के निर्माण-कार्य की ठोस नींव रखी जा चुकी थी, पूरे भवन का निर्माण कार्य आगे

आने वाले युगों के लिये शेष था। वस्तुतः भारतेन्दु-युग के कवि युग-धर्म में पोषित थे। वे युग के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहे थे, वे युग के पीछे न थे। उनके युग में जितनी चेतना व्याप्त हुई, उसकी आँच उन्होंने झेली और उसकी मर्म-कथा साहित्य में लिख दी।

'साहित्य जनता की सेवा के लिये है'—यह भारतेन्दु-युग का नारा था। आज सब साम्राज्यवादी आततायियों और उनके चाकरों के खिलाफ समूची एशिया में स्वाधीनता और शांति के लिये संघर्ष छिड़ा हुआ है, तब इस नारे को गर्व के साथ याद करते हैं और कहते हैं—आजादी और गुलामी के बीच न साहित्य तटस्थ रह सकता है, न साहित्यकार। आज हमें न सिर्फ नयी चेतना के वाहक साहित्य की रचना करनी है, बल्कि उस पर अमल भी करना है।[1]

१. डा० रामविलास : भारतेन्दु-युग, पृष्ठ १८०।

अध्याय ५

द्विवेदी-युग

(१९००-१९२०)

तत्कालीन परिस्थितियाँ

द्विवेदी-युग की तत्कालीन परिस्थितियाँ—क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, क्या सांस्कृतिक—भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कुछ भिन्न दृष्टिगत होती हैं। इस युग की परिवर्तित मनःस्थिति का बहुत कुछ कारण इन्हीं परिस्थितियों में ढूँढ़ा जा सकता है। इस युग की कविता का क्षेत्र भी भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक प्रवृत्तिमुखी दिखाई देता है। वस्तुतः इस युग के आरम्भ होते-होते काव्य के लिये एक निश्चित भाव-भूमि स्थापित हो चुकी थी। ऐतिहासिक अनुसंधानों से अतीत की भव्य विशेषताएँ प्रकाश में आने के कारण भारतेन्दु-युग की बची-खुची हीनता की भावना अब तक निःशेष हो चुकी थी। इस महत्त्वपूर्ण भूमिका में तत्कालीन परिस्थितियों ने इस नवीन साहित्य को युग की नवीन मनःस्थिति से रंजित किया।

द्विवेदी-युग का प्रारम्भिक काल लार्ड कर्जन (सन् १८९८-१९०५) का शासन काल था। लार्ड कर्जन की शासन-नीति अत्यन्त कठोर और दमन की नीति थी। देश अकाल और महामारी के निरन्तर प्रकोप के कारण अत्यन्त कठिन परिस्थिति से गुजर रहा था। सरकार ने जो छोटे-मोटे सुधार किए (सन् १९०१ में कृषि-विभाग खुला और सन् १९०४ में सहयोग समिति का कानून पास हुआ) उनसे न तो जनता को ही विशेष लाभ हुआ और न कांग्रेस ही सन्तुष्ट हुई। १९०४ में 'युनिवर्सिटी ऐक्ट' पास हुआ, जिससे गरीबों के लिये ऊँची शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। इस कानून के अनुसार सिन्डीकेट के अधिकार सीमित कर दिये गए, शिक्षा-संस्थाओं के कड़े निरीक्षण का प्रबन्ध किया गया और शिक्षा विभाग में डाइरेक्टर जनरल की नई जगह कायम की गई।[1] वास्तव में 'युनिवर्सिटी ऐक्ट

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव : राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ २१।

द्वारा भारत के विश्वविद्यालयों को ऐसे बधनो में बाँधने का प्रयत्न किया गया, जिनसे परीक्षाएँ कठिन हो जाएँ और परीक्षार्थी उत्साहित न हों।[1]

लार्ड कर्जन अंग्रेजी भारतीयो को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पदवीदान समारोह के अध्यक्ष-पद से उन्होंने कहा था कि भारतीयों को सत्य का वैसा आग्रह नही है, जैसा यूरोपियनो को होता है। पूर्वी सभ्यता पर इस आक्रमण से शिक्षित भारतीय बौखला उठे थे।

सन् १९०५ में बग-विच्छेद कर कर्जन ने बढ़ती हुई अशान्ति की आग में पूर्णाहुति दी। सरकार का कहना था कि शासन की सुविधा की दृष्टि से ही बगाल के दो टुकड़े किए जा रहे हैं, पर बगालियों के विचार में इसमें गहरा उद्देश्य छिपा हुआ था। उनका विचार था कि इस प्रकार सरकार बगालियों की शक्ति को क्षीण और कलकत्ते की राजनीतिक प्रधानता को नष्ट करना चाहती है।[2] जगह-जगह सभाएँ हुई और जनता ने भारी रोष व्यक्त किया। माँ काली की दुहाई देकर सार्वजनिक रूप से बग भग-विरोधी आन्दोलन चलाया गया।[3] बगाली नेताओं ने यह सोच कर कि जब तक अंग्रेजों के मुख्य स्वार्थ व्यापार पर आघात नही पहुँचाया जायेगा, सरकार जनता की ओर ध्यान न देगी, स्वदेशी आन्दोलन भी साथ-साथ चलाया। 'वन्देमातरम्' की गूंज हर जगह सुनाई देने लगी तथा स्वदेशी और विदेशी-बायकाट की धूम मच गई।[4] सरकार जनमत के उबाल से आशंकित हो दमन का रास्ता अपनाने लगी। शान्ति और सुरक्षा के नाम पर जनता की भावना की अभिव्यक्ति रोकने की लगातार कोशिश की जाती रही और हमेशा की तरह दमन नीति पलटकर दमनकारियो पर आघात करने लगी। जितने ज्यादा दमनकारी हथियार उठाते गये, जनता की उत्तेजना और असन्तोष उतना ही बढ़ता गया और हर हथियार उसे रोकने मे असफल रहा।[5]

६ फरवरी १९०४ को रूस-जापान का युद्ध छिड़ा। इस युद्ध में जापान ने रूस जैसे बलशाली यूरोपीय राष्ट्र को पराजित कर दिया। इस घटना ने विश्व के पराधीन देशों और विशेषत भारत पर बड़ा अनुकूल प्रभाव डाला। भारतवासियों

---

१ इन्द्र विद्यावाचस्पति भारतीय स्वाधीनता सग्राम का इतिहास, पृष्ठ ६३।

२ आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ २१-२२।

३ "In order to enlist mass sympathy the anti-partition movement *was placed under the patronage of Mother Kali*, the terrible goddess" —Sir Verney Lovett The Nations of to-day India, p 159

४ आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ २२।

५ रामगोपाल भारतीय राजनीति पृष्ठ १६३।

को यह विश्वास हो गया कि शक्ति का संचय कर किसी भी देश से लोहा लिया जा सकता है। समस्त एशिया और साथ-ही-साथ भारत में स्वाभिमान और आत्म-विश्वास की लहर छा गई और राष्ट्रीयता की भावना ने अधिक दृढ स्वरूप धारण कर लिया।

लार्ड मिन्टो (१९०५-१०) के समय में भी भारतीय जनता में असन्तोष की ज्वाला कम न हुई, दिन-पर-दिन सुलगती ही गई, बंग-भंग आन्दोलन भी चलता रहा। ब्रिटिश सत्ता की निरंकुशता के कारण कांग्रेस में एक नये दल की प्रतिष्ठा हुई, जिसे लोग गरम दल के नाम से पुकारने लगे। इसके प्रमुख नेताओं में लोक-मान्य तिलक, बाबू विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय थे, श्री अरविन्द भी गरम दल के नेताओं के समर्थक थे। नरम दल वालों में प्रमुख नेता दादाभाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले थे। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ नरम दल का ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य था, वहाँ गरम दल का ध्येय पूर्ण स्वराज्य था। नरम दल वैध उपायों द्वारा ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति चाहता था। इसके विरुद्ध गरम दल का कहना था कि जो देश परतन्त्र है उसके पास कोई शासन-विधान नहीं है, जो उसको मान्य हो सके।[1] गरम दल ने जगह-जगह राजनीतिक सभाएँ आयोजित कर क्रान्ति की ज्वाला भड़काने की पूरी-पूरी कोशिश की। सन् १९०७ में राज-नीतिक सभाओं को रोकने के लिये एक कानून बना। इसी वर्ष लाला लाजपतराय और सरदार अजीत सिंह को (सन् १८१८ के रेगुलेशन ३ के अनुसार) देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया। इस दमन के कारण देश में क्रान्तिकारियों का एक दल तैयार हो गया, कई राजनीतिक हत्याएँ हुईं। क्रान्तिकारियों ने देश में रेलें गिराना, गोली चलाना, बम गिराना, हत्या करना, गुप्त समितियाँ बनाना आदि कार्यवाहियाँ शुरू कर दीं।[2] समितियों को बन्द करने के लिये और षड्यन्त्र के मुकदमों में फैसला करने के लिये सन् १९०८ में क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट पास हुआ। जुलाई १९०८ में तिलक को ६ वर्ष का कारावास मिला और बंगाल के भी प्रसिद्ध नेता दिसम्बर मास में देश-निर्वासित कर दिये गये। सन् १९०९ में सरकार ने मिन्टो-मार्ले सुधार प्रस्तुत किया। इसके द्वारा चार-पाँच भारतवासियों को इंडियन कौंसिल, गवर्नर

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव : राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ २३।

२. "In December 1907, the first fruits of the harvest from these seeds were reaped when the train on which the Lieutenant Governor of Bengal was travelling was detained by a bomb. In the same month a British district officer was shot in the back in an Eastern Bengal Railway Station."
—Sir Verney Lovett : The Nation of To-day India, p. 162.

जनरल और प्रान्त की कार्यकारिणी-समिति की सदस्यता मिली, पर इन सुधारों से सामान्य जनता को कोई लाभ न हुआ। सन् १९१० में प्रेस ऐक्ट पास करके प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली गई।[१]

लार्ड हार्डिंज (१९१०-१९१६) के समय में बंगाल फिर से एक अलग प्रान्त बना दिया गया और बंग-भंग-आन्दोलन शान्त हुआ। सन १९१४ में जब तिलक मांडले जेल से छूट कर आये तो श्रीमती एनी बेसेन्ट के प्रयास से कांग्रेस के दोनों दलों में एकता हो गई। इसी वर्ष तिलक और श्रीमती बेसेन्ट ने मिलकर 'होम-रूल-लीग' की स्थापना की और इसके आधार पर देशव्यापी आन्दोलन शुरू किया। सन् १९२० तक राष्ट्रीय दल के संगठन और संवर्द्धन का काम तिलक ने किया और कांग्रेस को अपने प्रभाव में लेकर महात्मा गाँधी के निःशस्त्र क्रांतिवादी राजनीति के लिये एक प्रभावशाली राष्ट्रीय संस्था का स्वरूप प्रदान किया।[२] इधर सन् १९१४ में ही प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ जो १९१८ तक चलता रहा। युद्ध के बीच ही लार्ड चेम्सफोर्ड (सन १९१६-२१) भारत के नये वाइसराय नियुक्त हुये। इसी बीच महात्मा गाँधी जैसे व्यक्तित्व का भारतीय राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश हुआ। उन्होंने युद्ध में सरकार की सहायता करना स्वराज्य पाने का सीधा और सरल उपाय बताया। भारत ने इस युद्ध में अंग्रेज सरकार की तन-मन-धन से सहायता की, परन्तु युद्ध की समाप्ति पर देश जिन वैधानिक उपलब्धियों की आशा लगाये बैठा था, उन समस्त आशाओं पर भयंकर तुषारपात हुआ।

भारतीयों का असन्तोष दिन-प्रति दिन बढ़ता गया। ८ जुलाई, १९१८ के दिन मांटफोर्ड सुधार की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस पूरी योजना की खूबसूरत बात यह थी कि बहस करने वाली परिषदों में भारतीयों की तादाद जरूर बढ़ा दी गई, पर असली अधिकार अंग्रेजों के ही हाथ में रहे। देखने में जो शक्ति भारतीय मन्त्रियों और सलाहकारों के हाथ आई थी, वह केवल नाम के लिये थी; क्योंकि उन्हें वित्त पर कोई अधिकार नहीं था। स्वशासन अभी दूर था। इस सुधार के बाद भी भारतीय आर्थिक व्यवस्था की बागडोर पहले की तरह ब्रिटिश उद्योगों के साभार्य संचालित होती थी और आम जनता को पहले की तरह गरीबी की चक्की में पिसना था। सिवा इसके कि इन सुधारों से कुछ भारतीयों को दिखा के लिये कुछ इज्जत का ओहदा मिल जाय, जनता की दशा में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं था, न उसे राजनीतिक आजादी मिलनी थी, न गरीबी से राहत।[३]

जनवरी १९१९ में ब्रिटिश सरकार ने 'रौलट कानून' जो कि काले कानून

१. आचार्य नरेन्द्रदेव : राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृष्ठ २७।
२. आचार्य जावडेकर . आधुनिक भारत, पृष्ठ १५०।
३. राजगोपाल : भारतीय राजनीति, पृष्ठ २६४।

के नाम से पुकारा गया, बनाकर देश की आतंकवादी प्रवृत्तियों को दबाने की कोशिश की। यह वज्रपात देश के लिए असह्य हो गया। देश-भर की जनता ने गाँधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लिया। देश-भर में ज्वाला सुलग उठी, अमृतसर की ज्वाला राष्ट्र के इतिहास में एक ज्वलन्त अध्याय बन गई। नव वर्ष के नूतन दिवस बैसाखी (१३ अप्रैल) को जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई,-उसमें बीस हजार व्यक्तियों की भीड़ पर अंग्रेज सरकार ने गोली चलाई। ४०० हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध हत हुए और १,५०० आहत। इस भयंकर नर-संहार को देखकर राजनीति ने अपना सज्जित मस्तक झुका लिया। यह आसुरी काण्ड जब प्रकट हुआ और हंटर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, गाँधीजी ने भारत को निःशस्त्र क्रान्ति की दीक्षा देते हुए असहयोग-आन्दोलन की रण-नीति चलाने का संकल्प किया। असहयोग का सूत्रपात १ अगस्त, १९२० को हुआ, उसी दिन लोकमान्य तिलक का महाप्रयाण हुआ। देश में गाँधी ने जिस सत्याग्रह का प्रारम्भ किया, वही भिन्न-भिन्न रूपों में १९४१ तक चलता रहा। गाँधी ही सत्याग्रह के स्रष्टा थे। इसी के द्वारा भारत ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की और संसार की राजनीति में अभूतपूर्व अध्याय जोड़ा।[1]

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थिति के साथ भारत की आर्थिक और सामाजिक अवस्था भी कम डावाडोल न थी। जिस देश की मिट्टी सोना उगलने की क्षमता रखती हो, वही देश गरीबी की अवस्था से गुजर रहा था।[2] यद्यपि यह सत्य है कि भारत में भी कारखाने स्थापित किये गये, बैंक खोले गये, रेल-कम्पनियाँ शुरू की गईं, पर ये सब कार्य अत्यन्त सीमित रूप में हो रहे थे। उन सब पर अंग्रेजों का ही स्वामित्व था और वे ही उनका प्रबन्ध करते थे। खरीदारों के तौर पर भारतीयों को व्यष्टित तो कुछ लाभ था भी, पर समष्टित- धन विदेश जाने से वे गरीब ही होते जा रहे थे। न तो मजदूरों को सुख था और न किसानों को चैन। बिजली-

१ डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ २३।

२. Two facts stand out in the present situation of India. one is the wealth of India—the natural wealth, the abundant resources, the potential prosperity within reach of the entire existing population and of more than the present population. The other is the poverty of India—the poverty of the overwhelming majority of the people of India, a poverty beyond the imagination of any accustomed to the conditions of the western world. R Palme Dutt Today P. 21

उद्योगों के इस्पाती शिकंजे की जकड़ में आकर देशी उद्योग-धंधे निर्जीव हो गये थे। कुछ थोड़े से मेहनती मजदूर आधुनिक कारखानों में खप गये, पर उनकी स्थिति गुलामों से बदतर थी—वे अपने विदेशी मालिकों की दया पर जीते थे। उन्हें बचाने के लिये न तो कोई श्रम-कानून थे और न ही उनके पास यह शक्ति थी, जो संघबद्ध होने से आती है। जो खेती की ओर झुके, वे अज्ञानता, ऋण और मलेरिया के प्रकोप में पिस रहे थे। जो कुछ कपास और गेहूँ वे उत्पन्न कर लेते थे, उसे घटिया बताकर कम भाव पर खरीदा जाता था। उनका नील रासायनिक रंगों के मुकाबले में नहीं टिक सकता था, अतः वहाँ भी उन्हें हार खानी पड़ी।[1] किन्तु यह आर्थिक दासता कब तक चल सकती थी। किसानों के शोषण-पीड़न के विरोध में चंपारन और खेड़ा में किसानों ने करबन्दी के आन्दोलन शुरू किये और गांधीजी के नेतृत्व में उन्हें सफलता भी मिली। हिन्दुस्तान के किसानों में धीरे-धीरे यह विश्वास जमने लगा कि उनमें अपार शक्ति है और संगठन के बल पर वे ब्रिटिश-सत्ता को झुका सकते हैं। मजदूर-दल भी किसानों से पीछे न था। लोकमान्य तिलक को जब ६ वर्ष की सजा हुई तो बम्बई की लगभग सब मिलों के मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। इन्हीं दिनों देश के अनेक केन्द्रों में मजदूर-संघ भी स्थापित हो रहे थे, जो मजदूरों की आर्थिक तथा अन्य माँगों को पूरा कराने के लिये सम्मिलित प्रयत्न में लगे हुए थे।[2]

युग-व्यापी चेतना का प्रभाव तत्कालीन समाज पर भी पड़ रहा था। वस्तुतः इस युग में सामाजिक सुधार के अनेक प्रयत्न हुए। ब्रह्म समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, थियोसोफी-समाज और रामकृष्ण मिशन नामक संस्थाएँ उन्नीसवीं शताब्दी की जड़ता एवं रूढ़िवादिता को जड़ से उखाड़ फेंकने में लगी हुई थीं, जिसके परिणाम स्वरूप अनेकानेक सामाजिक बंधन धीरे-धीरे टूटते जा रहे थे। बाल-विवाह सती-प्रथा आदि कुरीतियों का विरोध तो १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही होने लगा था, इस युग तक आते-आते जन-समाज ने इन कुरीतियों को अवैध स्वीकार कर लिया। विधवा-विवाह का भी अनुमोदन हुआ, पर्दा-प्रथा और अस्पृश्यता के विरुद्ध भी आन्दोलन हुए। २०वीं शताब्दी के भारत के सामाजिक शरीर को ऐसा शरीर कह सकते हैं, जिसकी रुग्णता का बोध उसके मस्तिष्क को हो चुका है और शरीर भी अपने-आप में विकल है। युग-युग की पराधीनता के रोग से जर्जर शरीर को स्वास्थ्य-साधन के लिये जो अथक साधना करनी पड़ती है, उसकी चेष्टाएँ अब सजग दिखाई देती हैं। समाज-सुधार के विधायक कार्यक्रम में आर्यसमाज ने विशेष

---

१. डा० आबिद हुसैन . भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ ८३।

२. श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृष्ठ १७०।

योगदान दिया है।[१]

सबसे बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन महिलाओं में हो रहा था। विभिन्न समाज-सुधारक-संस्थाओं की चेष्टा से स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार दिनों-दिन बढ़ रहा था। उनमें पुरुषों के समान अधिकारों की भावना धीरे-धीरे जन्म ले रही थी। राष्ट्र का वह भाग जो एक शताब्दी पहले अर्धांग रोग से प्रभावित अवयव की भाँति सुन्न पड़ा था, चेतना पाकर जीवन के रण-क्षेत्र मे कूद पड़ने के लिए तैयार हो गया।

अनेक बाधाओं के होते हुए भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रसार बढ़ रहा था। मध्यम और उच्च वर्ग के लोगों में शिक्षा के प्रसार का वेग कुछ अधिक था, परन्तु वह शिक्षा केवल पुस्तकीय शिक्षा तक ही सीमित थी, व्यावहारिक शिक्षा से कोसों दूर थी। फलतः विश्वविद्यालयों के स्नातक या तो सरकारी नौकरी करते थे, अथवा वकालत-डाक्टरी आदि पेशों में आकर रोज़ी-रोटी का प्रश्न हल कर लेते थे। परन्तु ६० फीसदी नवयुवक पढ़-लिख कर बेकारी के दलदल में फँस जाते थे। बेकारी असन्तोष को जन्म देने वाली है और असन्तोष की भावना क्रान्ति की आग भड़काती है। उस समय की व्यावहारिकता से शून्य पुस्तकीय शिक्षा बेचैनी को बढ़ाकर जनता के राजनीतिक जागरण का कारण बन रही थी।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की नवीन विचार-धाराओं का स्पष्ट प्रभाव भारतेन्दु युगीन साहित्य में ही दृष्टिगोचर होने लगा था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के विचारों की गूँज साहित्य में यत्र-तत्र सुनाई दे रही थी। द्विवेदी युग के जिन नवीन सांस्कृतिक एवं दार्शनिक नेताओं ने देश की नवचेतना जागृत करने में योगदान दिया, वे हैं लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी। लोकमान्य तिलक ने गीता की प्रवृत्तिपरक व्याख्या कर देश को कर्मयोग का सन्देश दिया, जिससे युवक-युवतियों को निष्काम-भाव से देश-रक्षा के लिये मर-मिटने की प्रेरणा मिली। इधर लियो टालस्टाय के विचारों से प्रेरणा लेकर महात्मा गान्धी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह का पवित्र नाम देकर देश का राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व किया और सत्याग्रह आन्दोलन के ही बल पर आगे चलकर महात्मा गांधी ने देश के राष्ट्रीय जीवन को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराया।

द्विवेदी-युगीन काव्य का सामान्य परिचय

भारतेन्दु यदि हिन्दी के आकाश के इन्दु थे तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी बीसवीं शताब्दी के साहित्य-गगन के उदयादित्य थे। भारतेन्दु मण्डल ने प्राचीन भाषा में भावकल्प के द्वारा कविता में एक परिवर्तन की सृष्टि की, परन्तु द्विवेदी-

१ डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ २५।

युग तो वस्तुत: नवीन हिन्दी के जन्म और विकास का काल ही है। इस नवीन हिन्दी कविता ने इस काल में शैशव की बाल्य-कौमार्य-कैशोर्य की अवस्थाएँ पार की और यौवन के सिंहद्वार पर चरण-निक्षेप किया।[1]

भारतेन्दु-युग में जिस जीवन की जय का उद्घोष हुआ, द्विवेदी-युग में उसी जीवन की जय के बड़े-बड़े दृष्टान्त दिखाई पड़ते हैं। यह वह समय था, जब स्वामी दयानन्द के उपदेश हिन्दी प्रान्तों में भली-भाँति घुल चुके थे और चिन्तक तथा साहित्यकार जीवन को उस स्वच्छ दर्पण में देखने के अभ्यासी हो चले थे, जो दर्पण स्वामीजी के उपदेशों से तैयार किया जा सकता था। यही नहीं, इसी समय स्वामी विवेकानन्द के मुख से कर्मठ वेदान्त और लोकमान्य तिलक के मुख से कर्मयोगशास्त्र सुन लेने के बाद द्विवेदी-युग के कवि उस वैराग्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, जिसमें जीवन से भाग खड़े होने का संकेत मिलता है। इस युग में गार्हस्थ्य-जीवन और नारी-जाति के प्रति कवियों के हृदय में सम्मान की भावना बढ़ रही थी। वस्तुत: द्विवेदी-युग की कविता को प्रवृत्ति और कर्मयोग की कविता होने का श्रेय प्राप्त है।[2]

भारतेन्दु-कालीन कविता में जीवन का स्पर्श दिखाई देता है, परन्तु जैसे अभी उसमें पूर्वजन्म के संस्कार शेष हैं। जातीय जीवन की भूमिका में देखें तो भारतेन्दु-काल की कविता में वर्तमान से असंतोष है, पर दृष्टि अतीत की ओर है। २०वीं शताब्दी की कविता में भी वर्तमान से असंतोष है परन्तु दृष्टि भविष्य की ओर है। उसमें जागरण का स्पन्दन है, इसमें सृजन और निर्माण की चेतना है। उसमें मूर्च्छना से जागरण का स्पन्दन है, इसमें एक ओज, एक शक्ति, एक गति है।[3]

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का युग ऐतिहासिक अनुसंधानों का युग था। राजेन्द्रलाल मित्र तथा भंडारकर आदि की खोज का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। प्राचीन इतिहास, साहित्य और संस्कृति सभी विषयों की छानबीन इन लोगों ने की और प्राचीन भारत के सभी पक्षों का उज्ज्वल चित्र जनता के सामने रखा।[4] अपने गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास के ज्ञान से जनता में राष्ट्रीय भावना ने खूब जोर पकड़ा। द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से ही यह राष्ट्रीय जागरण साहित्य में अधिकाधिक प्रतिबिंबित होने लगा। द्विवेदी-युगीन कविता राष्ट्रीय जागरण के राजपथ पर चलती है। विगत युग के कवियों की राजभक्ति इस युग तक आते आते पूर्ण रूप से नष्ट

१. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४०।
२. श्री रामधारीसिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृष्ठ २७-२८।
३. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४३-४४।
४. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृ० १३६।

हो जाती है और इस युग की कविता में भारत के सांस्कृतिक-राजनीतिक जागरण की पूरी-पूरी प्रतिच्छवि और प्रतिध्वनि देखने और सुनने को मिलती है।[1]

द्विवेदी-युगीन कवियों की दृष्टि जीवन की दीनता, हीनता और अकिंचनता के प्रति आर्द्र दिखाई देती है, उन्होंने पीड़ितों-शोषितों के प्रति मानवीय करुणा जगाने के लिये वर्तमान जीवन के यथार्थ चित्र खींचे हैं, जिनकी झलक इस युग के दर्पण ग्रन्थ 'भारत-भारती' में देखी जा सकती है। युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'हम क्या थे और क्या हो गये हैं'[2] का मूर्तिमान चित्र खींच युग की तत्कालीन परिस्थिति का पूरा परिचय देने का प्रयास किया है। परन्तु इस युग का कवि वर्तमान के कृष्ण-पक्ष को, जो उसकी पुतलियों में प्रतिक्षण विद्यमान है, कविता में उतार कर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। वह देश के दैन्य को दुलराने की अपेक्षा उस पर चिकित्सक की निर्मम दृष्टि डालना अधिक हितकारी समझता है। वह समाज की सब दुर्बलताओं, रूढ़ियों, कुरीतियों जैसे अशिक्षा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता साम्प्रदायिक विद्वेष, जातीय जड़ता, स्वाभिमान-भ्रंश, पश्चिमी सभ्यता से सांस्कृतिक गतिरोध, धार्मिक अन्धाचरण आदि-आदि की खूब विगर्हणा करता है। यही नहीं वह एक कदम और आगे बढ़कर उदात्त जीवन के आदर्श का उद्बोधन भी करता है। वह उदात्त जीवन के आदर्श चयन के लिये देश का प्राचीन इतिहास टटोलता है और प्राचीन हिन्दू संस्कृति के उच्चतम प्रतीकों और व्यक्तियों का भव्य चित्र अंकित कर न केवल भारतीयों के हृदय से हीनता-भावना दूर करने का प्रयास करता है, वरन् देशवासियों के हृदय में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति गौरव का भाव भी उत्पन्न करने का प्रयास करता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास', रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि' और मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' ऐसे ही प्रयास के अन्यतम उदाहरण हैं।

द्विवेदी-युग के साहित्य-गुरु आचार्य द्विवेदी थे। हिन्दी के मूर्द्धन्य कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'महावीर' के प्रसाद को स्वीकार किया। सर्वश्री कामता प्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, सियाराम शरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, लक्ष्मीधर वाजपेयी गोपालशरण सिंह जैसे कवि उन्हीं के वरदान से बढ़े। सिद्ध कवि श्रीयुत श्रीधर पाठक, श्री 'हरिऔध', श्री देवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा प० नाथूराम शंकर शर्मा और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार भी इनसे प्रभावित हुए। उनसे परोक्ष प्रभाव ग्रहण करने वाले कवियों में हैं सर्व श्री गिरिधर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी और बदरीनाथ भट्ट। जो कवि उनके प्रभाव में न आ सके, उनमें श्री जयशंकर प्रसाद, श्री माखनलाल चतुर्वेदी

१. डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृ० ४४।
२. हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ? —भारत-भारती, पृ० ४।

और श्री भगवानदीन के नाम उल्लेखनीय है।[1]

आचार्य द्विवेदीजी ने हिन्दी कविता के नव निर्माण में जो योगदान किया है, उनकी 'सरस्वती' ने कविता का जो प्रतिनिधित्व किया है, उसका हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थायी महत्त्व है। जो कुछ कार्य द्विवेदीजी ने किया, वह अनुवाद का हो, काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-संस्कार का हो, या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो—वह स्थायी महत्त्व का हो या अस्थायी—हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उसी के आधार पर नवीन युग का साहित्य-प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये, उन्होंने उनका मन्त्र ले लिया और जिन पर द्विवेदीजी की लेखनी चल गई, वे कला की शब्दावली में 'द्विवेदी-कलम' के लेख हो गये, तब क्यों न उनकी बीस वर्षों की सम्पादित 'सरस्वती' पर द्विवेदी-काल का लेबल लगा कर रख दिया जाय।[2]

पूर्ववर्ती उपलब्धि

भारतेन्दु युग के काव्य मंदिर में कला के स्थान पर जीवन की स्थापना हुई और युग का साहित्यकार जनता के हृदयगत भावों का सच्चा पारखी बना। इस युग के कवियों ने युग की धड़कन को सुना और देश की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षितिज पर होने वाली हलचलों से अपनी कविता को स्पन्दित किया। इस युग में क्षुब्ध लोक-चेतना और समष्टिगत वेदना को वाणी मिली। आर्थिक जीवन में महँगी और अकाल, टैक्स और धन का विदेश-प्रवाह, धार्मिक क्षेत्र में बहु-देव-पूजा और मत-मतान्तर के झगड़े, सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति के टंटे, खान-पान के पचड़े और बाल-विवाह, नैतिक क्षेत्र में पारस्परिक कलह और विरोध उद्यमहीनता और आलस्य, भाषा-भेष-भूषा की विस्मृति, तथा राजनीतिक क्षेत्र में पराधीनता और दासता, जीवन के ये भिन्न-भिन्न स्वर कवियों के वेणु से प्रसूत हुए। भारतेन्दु-युग के साहित्य का स्वर जनता का स्वर है, यह हमें गर्व के साथ स्वीकार करना पड़ेगा।[3]

भारतेन्दु-युग रीति-कालीन युग की मूर्च्छना से जागरण के स्पन्दन होने के नाते आधुनिक युग की साहित्यिक क्रान्ति का प्रथम चरण है, जो द्वितीय चरण, द्विवेदी-युग, के लिये मार्ग प्रशस्त करता हुआ दृष्टिगत होता है। द्विवेदी युग के कवि भारतेन्दु-युग के ही तैयार किये गये पथ पर चलते हैं, परन्तु ये कवि भारतेन्दु युगीन कवियों की तुलना में अपनी राजनीतिक या राष्ट्रीय कविता को अतीत से वर्तमान,

१. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४३।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ३।
३. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३६।

कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, पर-प्रार्थना से स्वावलम्बन, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास और दीनतापूर्ण नम्रता से क्रान्तिपूर्ण उद्गार की ओर ले जाते हुये दिखाई देते हैं।[1]

सामाजिक उन्नति के प्रयत्न में भी द्विवेदी-युग के कवि भारतेन्दु-युगीन कवियों के ही बताये हुए मार्ग पर चलते हैं, परन्तु सामाजिक परिस्थिति में थोड़ा परिवर्तन होने के कारण दोनों युगों के कवियों की मन स्थिति में अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है। भारतेन्दु-युग की सामाजिक परिस्थिति नवीन विचारों के कारण अशान्त थी। आर्य-समाज के आन्दोलन से खण्डन-मण्डन वाद-विवाद बहुत बढ़ गया था। द्विवेदी-युग में विरोध और आलोचना-प्रत्यालोचना का अभाव है। इस समय के कवि शान्त परिस्थिति में सद्भावना के साथ-साथ सामाजिक उन्नति का यत्न करते हैं। उनके हृदय में समाज के शोषित-पीड़ित प्राणियों के प्रति अधिक ममता, करुणा और सहानुभूति का स्रोत उमड़ता है। युगों से सताई गई नारी के प्रति कवि का हृदय वेदना-विदग्ध हो उठता है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।[2]

भारतेन्दु-युग के प्रमुख कवियों ने अपना स्वर भक्ति-काल से मिलाने की चेष्टा की थी। स्वयं भारतेन्दु ने वैष्णव-भक्त होने के नाते ईश्वर-सम्बन्धी अनेक सफल रचनाएँ की हैं, उनकी स्वान्तः सुखाय कवितायें जो एकान्त-क्षणों की उपज हैं इष्टदेव के प्रति अनन्य भक्ति की द्योतक हैं। द्विवेदी-युगीन कवियों की रचनाओं में धर्म या ईश्वर आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप ग्रहण करता हुआ दिखाई देता है। यह आध्यात्मिक शक्ति स्त्री-पुरुष के प्रेम, पीड़ितों की सेवा और परम सत्य की खोज में प्रकट होती है। इसी शक्ति ने मानवतावाद के आदर्श की प्रतिष्ठा की प्रेरणा उत्पन्न की।[3] अतीत के आख्यानों की ओर आकृष्ट हो इस युग के कवियों ने राम और कृष्ण जैसे युगावतारों को प्रबन्ध-काव्यों में मानवीय स्वरूप प्रदान करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

रीतिकालीन शृङ्गारिक कविताएँ प्रायः पर-प्रसन्नता-साधन, वस्तु-वर्णनात्मक, वासना प्रधान, सीमित और नखशिख-वर्णन, नायक-नायिका भेद आदि के रूप में लिखी गई थीं। उनका यह प्रवाह भारतेन्दु-युग तक चलता रहा। द्विवेदीजी के कठोर अनुशासन ने रतिव्यंजना की इस धारा को सहसा रोक दिया। परन्तु

---

१. डा० उदयभानु सिंह : महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ ३०१-३०२।

२. मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा, मुखपृष्ठ।

३. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ १५१।

मानव-मन की सहज प्रेम-प्रवृत्ति को रोकना असम्भव था। द्विवेदी-युग के कवियों की प्रेम-भावना परिवर्तित और संस्कृत रूप में व्यक्त हुई। यह द्विवेदीजी के आदर्श का प्रभाव था। उनके युग की प्रेम-प्रधान कविताओं में घोर शृङ्गारिकता के स्थान पर शिष्टता, संयम, व्यापकता लोकपावनत्व आदि का समावेश हुआ। प्रियप्रवास की राधा या साकेत की उर्मिला का प्रेमांकन उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये पर्याप्त है।[1]

कवि भारतेन्दु में भक्ति-कालीन भाव-परम्परा थी, रीति-कालीन भाषा-परम्परा थी और इसके साथ ही वे नवयुग की कविता के अग्रदूत थे।[2] नवयुग की नवीन कविता को प्रगति के पथ पर तीव्र गति से ले जाने के लिए आचार्य द्विवेदी ने संस्था-स्वरूप 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से न केवल नवीन युग की मन स्थिति के परिप्रेक्ष्य में भक्ति-कालीन भाव परम्परा को मानवतावादी बाना प्रदान किया, वरन् रीतिकालीन भाषा-परम्परा का भी पूर्ण कायाकल्प किया। इस दिशा में हिन्दी कविता का जीर्ण वस्त्र—व्रजभाषा—उतारकर खड़ी बोली से उसे सुशोभित करने का प्रयत्न भारतेन्दु-युगीन कवियों ने भी किया था, परन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगी थी। अन्तरंग में नवीनता लाकर उन कवियों ने नवयुग की कविता को जीवन की कविता तो बना दिया था, परन्तु प्राक्तन संस्कार-परम्परा में पल हुए व्यक्तित्व से सम्पूर्ण कायाकल्प की आशा नहीं की जा सकती। चिर प्रतिष्ठित व्रज भाषा को सिंहासन से उतार कर राष्ट्र की एक लोकभाषा—खड़ी बोली—को कविता की भाषा बना देना एक महामहनीय अनुष्ठान था। इस अनुष्ठान का परम श्रेय और प्रस्तुत साहित्यिक युग के अधिनायक—सूत्रधार महावीर प्रसाद द्विवेदी को है। श्रेय भारतेन्दु और द्विवेदी ये व्यक्तित्व आधुनिक हिन्दी कविता के शंकर और भगीरथ हैं। जिस कविता की गंगा में हम अवगाहन कर रहे हैं, उसका अवतरण तो शंकर के मस्तक पर हुआ, परन्तु अवतरण होने के उपरान्त उसे दिशा दिखाने वाले भगीरथ ही थे।[3]

द्विवेदी युग के प्रमुख कवि और उनका साहित्यिक परिचय

श्रीधर पाठक (सन् १८५९-१९२८)

हिन्दी भारती (खड़ी बोली) के आदि कवि श्रीधर पाठक, भारतेन्दु के पश्चात् उदय होने वाले प्रकाशमान् नक्षत्र थे। उन्होंने व्रजभाषा में अत्यन्त मधुर काव्य-सृष्टि की थी, परन्तु नवयुग की दिशा को भी पहचाना था और खड़ी बोली में भी

---

१ डॉ० उदयभानु सिंह महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ ३०४-३०५।

२ डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३९।

३ डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४०-४१।

काव्य का सफल श्रीगणेश किया था। कवि पाठक एक ओर ब्रजवाणी के कवि थे तो दूसरी ओर राष्ट्रवाणी के भी।[1]

श्रीधर पाठक १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ से प्रभावित थे। उन्होंने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का 'एकान्तवासी योगी' और 'ट्रैवेलर' का 'श्रांत पथिक' के नाम से हिन्दी खड़ी बोली में अनुवाद किया। उन्होंने ब्रजभाषा में कालिदास के 'ऋतु संहार' का काव्य-अनुवाद किया और ब्रजभाषा में मो-गोल्डस्मिथ के 'डेजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से अनुवाद किया है।

'एकान्तवासी योगी' की रचना के बाद श्रीधर पाठक काव्य-जगत् में प्रथम काव्य-निर्माता के नाम से जाने गये। ग्राउस, ग्रिफिथ, पिनकाट आदि पश्चिमी विद्वानों तक से उन्हें प्रशस्ति-पत्र मिले थे। उनके एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम और श्रान्त-पथिक में क्रमशः मानवी-प्रेम और स्वदेश-प्रेम का स्वरूप अंकित है। श्रांत-पथिक में स्वदेश-प्रेम का अत्यन्त सहज स्वाभाविक स्वरूप मिलता है—

है स्वदेश-प्रेमी का ऐसा ही सर्वत्र देश अभिमान।
उसके मन में सर्वोत्तम है उसका ही प्रिय जन्मस्थान॥[2]

जो प्रेम राधा-कृष्ण की लीला, नायक-नायिका की आँख-मिचौनी और अभिसार में पड़कर विलास की निम्न कोटि तक गिर गया था, उसे श्रीधर पाठक ने पहली बार हृदय के अधिक कल्याणमय, व्यापक और सार्वजनिक तत्त्व के रूप में देखा। केवल ऐन्द्रिय विलास के रूप में गृहीत प्रेम को पहली बार उन्होंने एक सार्वभौम शाश्वत भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया। प्रेम को पाठकजी एक नई दिशा के उद्भावक सिद्ध होते हैं।[3]

जिस देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की नींव भारतेन्दु ने डाली थी, उसने श्रीधर पाठक को पूर्ण रूप से अभिप्रेरित किया। कवि बड़ी कुशलता से वन्दनीय और निन्दनीय देश का परिचय देता है—

वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बाधवता में बँधे, परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतन्त्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥[4]

भारत देश की महिमा का गान कवि ने इन शब्दों में किया है—

१. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३६३।
२. श्रांत पथिक, पृष्ठ ४।
३. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगांतर, पृष्ठ ३६४।
४. 'स्मरणीय भाव', भारत-गीत, पृष्ठ २५।

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश।
जय जय भारत प्यारा देश ॥[1]

श्रीधर पाठक जीवन को कार्यक्षेत्र मानकर उसके संघर्षों से जूझने में ही मानव की मानवता मानते हैं। उनकी दृष्टि में संघर्षों से पलायन जीवन की निस्सारता और कायरता का द्योतक है, एवं जीवन का मर्म रोने में नहीं, वरन् हँसने में है।[2] उनका विचार है कि संसार को मिट्टी समझकर सन्यास लेने वाले अपना सर्वस्व मिट्टी में मिला देते हैं—

समझ के सारे जग को मिट्टी-मिट्टी जो कि रमाता है,
मिट्टी करके सर्वस अपना मिट्टी में मिल जाता है।[3]

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सन् १८६५-१९४१)

कवि हरिऔध मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श लेकर साहित्यजगत् में अवतीर्ण हुए। मानव हित की शुद्ध भावना के साथ इन्हें समाज को देखने की यथार्थवादी पैनी दृष्टि भी मिली थी, जिसके बल पर ये हिन्दी-समाज को कर्मण्यता का ठोस सन्देश प्रदान कर सके।

हरिऔध जी की प्रारम्भिक रचनाएँ रीतिवादी परम्परा में ढली हुई हैं, परन्तु नयी शताब्दी के साथ जब आचार्य द्विवेदी का साहित्य-सृजन संबंधी अनुशासन काव्य-जगत् पर छाने लगा तो उनकी वेणु से भी नई भारती के स्वर प्रसूत हुए। उन्होंने 'बोलचाल,' 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' की सृष्टि की, जिन्हें पढ़ कर कोई भी इन शब्दों में अपनी सहमति प्रकट कर सकता है कि भेद उसने कौन से खोले नहीं? कौन-सी बातें नहीं उसने कहीं? दिल नहीं उसने टटोले कौन से? घुस गया कवि किस कलेजे में नहीं? समाज का चित्रण और निर्देशन करने वाली राशि-राशि कविताएँ उन्होंने लिखीं, जिनमें उनके 'जी की कचोट' हैं, 'आठ-आठ आँसू' हैं, 'दिल के फफोले' हैं। एक ओर ये फारसी-संस्कृति के छन्द थे चौपदे, दूसरी ओर उनकी लेखनी से भारतीय संस्कृति के काव्य के राशि-राशि वर्णिक छन्द भी प्रसूत हुए। द्विवेदी जी के गुरुत्व को एकलव्य की भांति स्वीकार करके उन्होंने

---

१. भारत-गीत, पृष्ठ २६।
२. रामचन्द्र मिश्र : श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छंदतावादी काव्य, पृष्ठ १६१।
३. जगत्-सचाई-सार, पृष्ठ २।

इन छंदों मे 'प्रियप्रवास' की सिद्धि प्राप्त की।[1]

कृष्ण के व्रज से मथुरा को प्रवास जैसी छोटी-सी घटना को लेकर एक महाकाव्य की रचना कर लेना, जिसमें घुमा-फिराकर कृष्ण के पूरे जीवन-वृत्त को लेने के साथ समाज की विभिन्न समस्याओं को झलका कर उनका समाधान प्रस्तुत करना सरल कार्य न था, परन्तु 'हरिऔध' जी को इस कार्य में पूरी सफलता मिली। 'प्रियप्रवास' में उन्होंने समय से पहले ही राष्ट्र-जीवन की एक ज्वलंत समस्या प्रस्तुत की और उसका आदर्शवादी, अतः स्थूल समाधान भी उपस्थित किया। इसी समस्या को बाद में एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जैनेन्द्र कुमार ने अपनी रचनाओं में उठाया। समस्या है स्थानीय और सार्वदेशिक, व्यक्तिगत और समष्टिगत मानव-हितों, राग-संबंधों के वैषम्य और परस्पर समन्वय की। राष्ट्रीय संघर्ष को आगे बढ़ाने और देश की प्रगति में हाथ बँटाने के लिये प्रबुद्ध जनों को अपने घर-बार छोड़कर देश के कोने-कोने में अलख जगाते फिरना होगा, किन्तु अपने प्रियजनों का मोह क्या इस साधना को विफल नहीं कर देगा? प्रियजन इस वियोग को सहन कर सकेंगे? क्या स्त्रियाँ और प्रेमिकाएँ भी इस अनुष्ठान में योग दे सकेंगी? इसी समस्या को मूर्त काव्य-रूप देने के लिये 'हरिऔध' जी ने व्रज से कृष्ण-प्रवास का मार्मिक प्रसंग चुना। कृष्ण मथुरा गये और विश्व-कल्याण तथा राजनीति की समस्याओं में इतने उलझ गये कि लौटकर वापस न आ सके, इधर विरह-विदग्धा राधा भी कम न निकली, उन्होंने चिर-कौमार्य का व्रत लेकर लोक सेवा के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया।[2]

'वैदेही-वनवास' भी लोक-संग्रह की भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है, परन्तु वह 'प्रियप्रवास' की भाँति लोकप्रिय न हो सका।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६८-१९३८)

जिन दिनों महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने सतत उद्योग से हिन्दी का मार्ग विस्तृत और प्रशस्त बनाने के कार्य में लगे हुए थे, उन्ही दिनों लोकमान्य तिलक भारत के राजनीतिक क्षेत्र का नेतृत्व कर रहे थे। तिलक ने 'गीता-रहस्य' लिखकर जन-समाज को प्रवृत्ति-परक बनाने का जो अभूतपूर्व प्रयत्न किया, उसी का प्रयोग मानो आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्यिक दायरे में किया। स्वयं की मुक्ति के लिये मार्ग खोजना तो स्वार्थ-वृत्ति है; मनुष्य को चाहिए कि वह लोक-संग्रह की भावना से प्रेरित होकर समस्त लोगों की मुक्ति और उद्धार का उपाय खोजे—गीता-रहस्य के इस आदर्श को सामान्य जीवन में उतार लेना तो सहज था, किन्तु साहित्यिक जीवन में लोक-संग्रह की भावना को उतारना एक अनहोना कार्य था। द्विवेदीजी

१. डा० सुधीन्द्र - हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ ३६५।

२. डा० शिवदानसिंह चौहान - हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ ५१।

ने यही अनहोना कार्य किया। वे अपने समस्त स्वार्थों को तिलाजलि देकर, स्वय श्रेष्ठ कवि बनने के गौरव का लोभ छोडकर, दूसरो को ही कवि बनाने में लग गये। जो व्यक्ति दूसरो की कविताओ में सशोधन कर उन्हें उच्चकोटि की बना सकता था, यदि वह व्यक्ति अपनी शक्ति की समस्त पूँजी केवल काव्य सृजन में लगाता, तो निस्सन्देह उच्चकोटि का कवि सिद्ध होता, परन्तु कर्मयोगी को यह पथ अभिप्रेत न था। लोकमान्य तिलक यदि अपने समस्त स्वार्थों को तिलाजलि देकर अनेकानेक देशभक्तों की पंक्ति तैयार कर रहे थे तो आचार्य द्विवेदी हिन्दी भक्तो, हिन्दी-लेखको और कवियो की सेना तैयार करने में लगे थे, जो युग की धडकन महसूस कर युगधर्म पहचान सकें और युगधर्म निर्धारित कर सकें।

लोक-सग्रह की भावना के वशीभूत हो आचार्य द्विवेदी ने युग-प्रवर्तक का धर्म निभाया और युग-प्रतिनिधि दूसरे को बनाया। बडा नाजुक सा प्रश्न उठा कि साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जायेंगी? उनकी रचित कवितायें प्रदर्शनी में रखी जायें? किन्तु वे तो स्वय द्विवेदीजी के कथनानुसार कविता नही है। किन्तु जो विद्वज्जन द्विवेदीजी द्वारा निर्मित साहित्य पथ पर चलने के भागी हुये, उन्हें भले ही 'सरस्वती' की सब सख्याएँ, जिनमें द्विवेदी जी और उनकी मित्र-मडली की कृतियाँ हैं, मय सशोधनो के हिन्दी के स्थायी कला-भवन में रखने की आवश्यकता पड जाय, द्विवेदी जी के गौरव को पहचानने से इन्कार क्योंकर कर सकते थे।[1]

द्विवेदी जी ने किसी सस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु 'सरस्वती' की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारो के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन सस्थाओं के सचालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। द्विवेदी जी के 'सरस्वती-सम्पादन' का इतिहास उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाज के विकास का इतिहास कहा जा सकता है।[2] उन्होने इसी के माध्यम से लगातार बीस वर्षों तक लगभग दस करोड हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया।[3]

द्विवेदी जी की साहित्यिक रचनाओ में भावना की गहन तन्मयता भले ही न हो,[4] परन्तु प्रेरणा-प्रदान करने की अद्भुत शक्ति है। उनकी पर-सेवा सम्बन्धी पंक्तियाँ पढ़कर कौन परतन्त्रता को गर्हित नही मान बैठेगा—

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे,
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे।

---

१ देखिये-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृ० ३।
२ वही, पृष्ठ ३-४।
३. वही, पृष्ठ ४।
४ वही, पृष्ठ ११।

चाहे कभी नर नये पट भी न पावे,
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावे ॥[1]

देश की वर्तमान दशा को देखकर सबके हृदय में पीड़ा होनी चाहिये—

यदि कोई पीड़ित होता है, उसे देखकर सब घर रोता है ।
देश-दशा पर प्यारे भाई, आती कितनी बार रुलाई ॥[2]

लोक-संग्रह की भावना उनसे संगठन का संदेश दिलवाती है—

हिन्दू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई-भाई ।
सब के सब तेरे शैदाई, फूलो-फलो स्वदेश ॥

मैथिलीशरण गुप्त (सन् १८८६-१९६४)

मैथिलीशरण गुप्त की साहित्यिक साधना कोरी भावुकता के बल पर नहीं जीती; यह एक प्रकार का कर्मयोग है, जिसमें भावना का मणि-कांचन मेल मिला है। यह जीवन का अन्तर्मुखी प्रवाह है, जो संसार की आँखों की ओट ही रहना चाहता है। डाक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानों को सचेत करते हुए कहा था कि यहाँ के हिन्दू रात-रात भर सरस्वती की आराधना करके बड़े हुए हैं, तुम्हारी तरह सो-सोकर नहीं। यहाँ जिस साधना का उल्लेख किया गया है, वह ऐसी ही है। गुप्त जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं, जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नयी काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी-समाज को अभिसिंचित किया है। एक चेतन काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश में उनकी रचनाएँ चमक रही हैं।[3]

सरल अभिव्यक्ति गुप्त जी की सबसे बड़ी विशेषता है। यही उस व्यापक प्रभाव का दाता है, जो उनकी काव्य-धारा में सर्वत्र देख पड़ता है, यह कविता को लोक-सामान्य भाव-भूमि में लाकर प्रतिष्ठित करने वाला सबसे बड़ा साधन है। यह सरलता ही सार-ग्रहण में सबसे अधिक समर्थ होती है, इसी केन्द्र से महती शक्ति की सृष्टि होती है और नवीन काव्य-युगों का निर्माण होता है। सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्त जी की आदर्शवादिता भी चलती है। उनकी यह आदर्शवादिता बहुत कुछ वर्तमान कृतिशील जीवन का स्वाभाविक परिणाम है और उनके पारिवारिक वातावरण के फलस्वरूप है। यह आदर्शवादिता एक प्रकार से बुद्धि-

१. आचार्य द्विवेदी—सं० निर्मल तलवार, पृष्ठ ७६ से (सेवावृत्ति की विगर्हणा—भारतसमाचार, ७ सि० १९०२ ।
२. वही, द्विवेदीकाव्य माला पृष्ठ ११३
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ३१ ।

चेतना को उद्बोधन दिया गया है। इसमें देश-भक्ति, स्वदेश, स्वजाति-प्रेम, मातृ-भाषा-प्रेम, हिन्दू मुस्लिम एकता आदि के स्वर हैं।[1]

सामने की परसी हुई थाली को छोडकर धैर्य-पूर्वक परमार्थ के कार्य में लग जाने से ही देश का कल्याण सम्भव है—

थाली हो जो सामने भोजन से सम्पन्न,
बिना हिलाये हाथ के जाय न मुख में अन्न।
जाय न मुख में अन्न, बिना पुरुषार्थ न कुछ हो,
बिना तजे कुछ स्वार्थ सिद्ध परमार्थ न कुछ हो॥
बरसो, गरजो नही, धीर की यही प्रणाली,
करो देश का कार्य छोडकर परसी थाली॥[2]

यदि हमारी भुजाओ मे अपने पूर्वजो का शुद्ध रक्त बहता है, तो हम स्वयमेव देश-हित में लग जाएँगे—

यदि न देश-हित किया, कहेंगे सब अभिमानी,
शुद्ध नही तब रक्त, नही तुझमें कुछ पानी।[3]

'बसन्त-वियोग' काव्य में एक विराट रूपक है। भारत एक उपवन बन जाता है और बसन्त उसका स्वर्णयुग, कवि ने इसमे प्रकृति-सौन्दर्य द्वारा भारतीय वैभव और दैन्य-पूर्ण अतीत वर्तमान का चित्र खींचा है।[4]

नाथूराम 'शकर' शर्मा (सन् १८५६-१९३५)

नाथूराम 'शकर' शर्मा ने उस समय लिखना शुरू किया, जबकि महर्षि दयानन्द की सागर-गभीर वाणी ने कौम के एक बडे तबके को विचलित और आन्दोलित कर दिया था। सामाजिक हृदय एक नवीन भावना से कपित हो रहा था। राष्ट्र के उस नेत्रोन्मीलन के युग में, प्रभात की उस बेला में, प्रथम रवि-रश्मि-स्नात उस घटिका में जिन विहगो ने अपने विभास, भैरव, भैरवी और आसावरी के नव जीवनप्रद स्वरो में उद्बोधन के, जागरण के, विकास के, और नवनिर्माण के गीत सुनाये, उनमें पूजनीय स्वर्गीय प० नाथूराम 'शकर' शर्मा भी थे।[5]

कवि 'शकर' की विशेषता यह है कि उनकी कविता की प्रेरणा वैदिक तत्त्व-

---

१. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ ३७२।
२. पूर्ण पराग, पृष्ठ १८०।
३. वही, पृष्ठ १८६।
४ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३७३।
५ बालकृष्ण शर्मा नवीन के एक मुद्रित भाषण से (शकर-सर्वस्व—स० श्रीहरिशकर शर्मा, पृष्ठ ६।

दर्शन है। भक्ति, वेदान्त, समाज-सुधार, धर्म-सुधार के शुद्ध उद्देश्य से वे कविता लिखते थे। वैदिक सूक्ति और विचार को वे ओजस्विनी भाषा में उतार सकते थे। परन्तु उनकी समाज-दर्शिनी कविता में व्यंग्य बड़ा तीक्ष्ण है, वह अग्निबाण की भाँति दाह करता हुआ प्रवेश करता है।[1]

कवि 'शंकर' के हृदय में देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे लोकमान्य तिलक और भारत केसरी लाला लाजपत राय के विचारों से पूर्णतया प्रभावित थे। असहयोग आन्दोलन छिड़ जाने पर वे गान्धी जी के भी भक्त बन गये। जलियावाला बाग के भयंकर नरमेध के पश्चात् देश की उग्र जनता को तिलक और गान्धी ने उचित मार्ग-दर्शन दिया था—

जलियावाला में जनता पै पटके उग्र अंगारे,
आग बुझाने को शोणित के चलने लगे पनारे।
अत्याचार तिलक ने देखे उचित मंत्र उच्चारे,
हिंसाहीन सदय गान्धी ने शूर सहिष्णु उभारे।[2]

तिलक के देहावसान पर भारत के भाल का तिलक मिट गया—

मुकुट विहीन जिसे देखते हैं आज उस
भारत के भाल पै तिलक भी रहा नहीं।[3]

प्राणों के बलिदान के लिये वे देशभक्त वीरों का आह्वान करते हैं—

देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा,
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।[4]

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (सन् १८८३–१९७२)

काव्य-क्षेत्र में 'सनेही' जी का व्यक्तित्व द्विविध था। ब्रिटिश सत्ता के सामाजिक शोषण से अभिभूत होकर करुण-काव्य का सृजन उन्होंने 'सनेही' के नाम से किया है और हृदय पर चोट करने वाली त्रिशूल तुल्य लेखनी के माध्यम से देश की राष्ट्रीय धारा में योगदान देने का कार्य 'त्रिशूल' के नाम से किया है।

जो कवि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष के कठिनतम दिनों में एक हाथ में अहिंसा का ज्वलन्त असिपट्ट और दूसरे हाथ में अभिनव भाववाहिनी तीव्रगतिक लेखनी लिए हिन्दी-भाषी विशाल जन-समूह का भाव-पोषण करता रहा, साथ ही जो शान्ति के दिनों में साहित्य की नूतन परिष्कृत प्रणालियों और अलंकारमयी अभि-

---

१. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३७३।
२. शंकर सर्वस्व, पृष्ठ २३५।
३. वही, पृष्ठ १३।
४ वही, पृष्ठ २४८।

व्यंजनाओं का आचार्य बनकर सुदूर प्रदेशों में हिन्दी भाषा और काव्य के सौष्ठव का सन्देश प्रसारित करता रहा, ऐसे ऐतिहासिक स्तर के काव्य-स्रष्टा को साहित्य के क्षेत्र में युगपुरुष कहना ही समीचीन होगा।[१]

आर्त्त कृषक की दीन-हीन दशा का कवि ने सजीव चित्र आँका है—

गये गुजरे संसार में हीन है हम,
सुदामा से भी सौगुने दीन है हम।
पड़ी भाड़ में हो जो वह मीन है हम,
महा घोर अज्ञान में लीन है हम ॥[२]

युग के अन्य कवियों से प्रभावित हो कवि 'सनेही' ने पौराणिक विषयों पर भी लेखनी उठाई है। राम-वन-गमन के समय कौशल्या का क्रन्दन बड़ा मर्मभेदी है—

यह हृदय-विदारी दृश्य मैं देखती हूँ,
पवि-हृदय बनी हूँ, आज भी जी रही हूँ।
शत पतित अभागे प्राण जाते नहीं क्यों ?
रहकर तन में ये हैं लजाते नहीं क्यों ?[३]

'सनेही' जी का 'त्रिशूल' रूप उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व में झलकता है। स्वामी विवेकानन्द ने तीस कोटि जनता को तीस कोटि भगवान समझ उनकी सेवा में आत्मोत्सर्ग कर राष्ट्रीय-भक्ति का कर्म-योग में अधिष्ठान करने का जो युग-व्यापी-सन्देश दिया था, कवि 'सनेही' की पंक्तियों में उसी की झंकार है—

तीस कोटि लोगों में देखो,
तीस कोटि भगवान।
मुक्ति होगी इस साधन से।
भजो भारत को तन-मन से।[४]

कवि के स्वदेशाभिमान पर अंग्रेजी कवि वाल्टर स्कॉट का प्रभाव भी परिलक्षित होता है[५]—

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'करुणा कादम्बिनी' की अभ्यर्थना, पृष्ठ १।
२. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—'आर्त्त कृषक' करुणा कादम्बिनी, पृष्ठ ६१।
३. वही—कौशल्या क्रंदन, करुणा कादम्बिनी, पृष्ठ १।
४. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगांतर, पृष्ठ १८१ से उद्धृत।
५. Breathes there the man with soul so dead
Who never to himself hath said
'This is my own native land'. —Sir Walter Scott.

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है।[१]

रामचरित उपाध्याय (सन् १८७२-१९३८)

रामचरित उपाध्याय के चरित-काव्य रामचरित-चिन्तामणि पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है, परन्तु कवि मार्मिक स्थलों की सफल अभिव्यंजना में अधिक सफल नहीं हो सका है। इस काव्य की विशेषता है युग-चेतना का प्रभाव, जिससे कवि-हृदय अछूता नहीं रह सका। राम की अवतारणा राजनीतिक युग-पुरुष के रूप में करके कवि ने अपनी राजनीतिक चेतना का परिचय दिया है। राम की घुट्टी में ही देश-प्रेम की भावना दी गई है। सुत को माता जगा रही है—

जगो, जगो, हे सुत! नेत्र खोल दो, सुधा सने से 'जयदेश' बोल दो।[२]

रामचरित चिन्तामणि के सभी पात्र देश-हित और परार्थ की भावना से ओत-प्रोत हैं। अहिल्या शाप-मुक्त होते ही देश की चिन्ता से व्यग्र हो उठती है। राम से प्रश्न कर बैठती है—

भारत कलपता है विभो! निज धर्म-कर्मों के लिये,
क्या मुक्ति सोची आपने उसके लिये! कुछ बोलिये।[३]

जीवन धन्य उसी का है जो देश-हितकारी है, वही पुरुषोत्तम भी है—

स्वार्थ-सिद्धि के लिये विविध व्यापारी तो हैं,
किन्तु धन्य वे पुरुष, देश-हितकारी जो हैं।
× × ×
पुरुषोत्तम है वही, वही है सकल गुणाकर,
देशाराधन किया कि जिस ने चित्त लगाकर।[४]

अपने काल्पनिक भाव-काव्य 'देवदूत' में कवि ने स्वर्गलोक से निर्वासित एक भारतीय हृदय की आकांक्षा बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त की है—

नहीं स्वर्ग की चाह मुझे है नहीं नरक की भीति,
बढ़ती रहे सदा मेरी बस जन्म-भूमि से प्रीति।[५]

मैथिलीशरण गुप्त की भाँति रामचरित उपाध्याय की भावना नारी-जाति के प्रति अधिक सहिष्णु और उदार है। उनकी सीता में दर्प अधिक है, वह पुरुष के

१. 'सनेही'—प्रताप का मुखपृष्ठ।
२. रामचरित-चिंतामणि, पृष्ठ १०।
३. वही, पृष्ठ २१।
४. वही, पृष्ठ १२८।
५. मुखपृष्ठ, देवदूत।

अत्याचार का प्रतिकार करना जानती है—

हे राम ! मैं स्त्री हूँ इसी से पापिनी क्या हो गई ?
छू साँप को माला गले की साँपिनी क्या हो गई ?[1]

माखनलाल चतुर्वेदी (सन् १८८८-१९६८)

'एक भारतीय आत्मा' के नाम से पहचाने जाने वाले कवि माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं ने देश के युवक-युवतियों के समुदाय में देश को प्यार करने और उस पर जान न्योछावर की भावना जागृत करने का कार्य किया है। इनकी कविताओं की वाणी अद्भुत है, उनमें शक्ति इतनी है कि वे जीवन की जवानी को मरण का त्यौहार मनाने के लिये प्रेरित कर सकती है—

विश्व है असि का—
नहीं संकल्प का है।
हर प्रलय का कोण
कायाकल्प का है;
सून हो जाये न तेरा, देख पानी,
मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी।[2]

कौन कह सकता है कि अपने प्राणों की पूर्णाहुति देने वाले नवजवानों को चतुर्वेदी जी के आह्वान से प्रेरणा न मिली होगी। उनके समान कर्मठ राष्ट्र-सेवी ही स्वतन्त्रता-संग्राम में बलिदान होने की भावना से उच्छ्वसित हो पुष्प से यह कामना करा सकता है—

मुझे तोड़ लेना, वनमाली।
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।[3]

चतुर्वेदी जी की कला में भावनाएँ है, दर्द है, जोश है और कुछ ऐसा है जो सदा नवीन रहने वाला है। उनकी दृष्टि में बलि और गीत युग की बीहड़ भूमि पर एक-दूसरे के पूरक पंथी है, जो लोग गान गाते है, शुभ है। जो लोग जीवन का गान गाते हैं और भी शुभ है। किन्तु जो जीवन की मार, जीवन के प्रहार, प्रलय के बीच न्योतते हैं और फिर सर्ष न सकने वाले आवेगों में गाने का प्रयास

---

१. रामचरित-चिंतामणि, पृष्ठ २४६।
२. 'जवानी' हरिकृष्ण प्रेमी : आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि-माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ ६५।
३. पुष्प की अभिलाषा'—हरिकृष्ण प्रेमी, आज के लोकप्रिय कवि माखनलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ ९१।

भी करते हैं—उनका भाग्य ? उनका भाग्य हमारे बीच सदैव दुर्भाग्य बन गया। जो अभागे ऐसे पैदा हुए, जो जिन्दगी से चलने को कहते हैं और कलेजे से गाने को, उन्हें न हमने बलि की कीमत में कूता, न गायन की आज्वल्य ज्वाला में। हमने सोचा ही नहीं कि बलि और गीत युग की बीहड़ भूमि पर एक-दूसरे के पूरक पंथी हैं।[1]

राम नरेश त्रिपाठी (सन् १८८९-१९६२)

देश का दुःख-दैन्य यदि करुण रस उत्पन्न करता है, तो प्रकृति सौन्दर्य शृंगार और सुख के लिये प्रोत्साहित करती है। नवयुवकों का कार्य शृंगार और करुण रस के बीच का है। शुद्ध हृदय के लिये दोनों ओर प्रबल आकर्षण है। किधर जाना चाहिए।[2] इस समस्या का हल करने के लिए ही रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन', 'स्वप्न' और 'पथिक' तीन प्रबन्ध-काव्य लिखे, जिनमें कवि ने 'हरिऔध' या गुप्त जी की तरह पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों को न लेकर काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है।

त्रिपाठी जी के पात्र देश प्रेम के प्रतीक बनकर उनकी लेखनी से अविर्भूत हुए हैं। वे कर्त्तव्य और प्रणय दोनों में से कर्त्तव्य को ही अंगीकार करते हैं और सुख की सेज की अपेक्षा से दुःख-दैन्य को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः कवि ने 'प्रियप्रवास' के हरिऔध की वही समस्या उठाई है, जिसमें कृष्ण देशहित के लिये प्रणय और कर्त्तव्य में से कर्त्तव्य को प्रमुखता देते हैं और राधा को चिर कौमार्य का व्रत ले, देशहित में लग जाने के लिए प्रेरित करते हुए उनसे प्यारे कृष्ण के भी जनहित की भावना की कद्र करवाई है, चाहे कृष्ण गेह लौटकर आवें या न आवें।[3] त्रिपाठी जी ने भी देशहित को सर्वाधिक प्रमुखता दी है। 'पथिक' का यह सन्देश आज भी नव-दंपति को देश के लिए बलिदान होने की प्रेरणा दे सकता है—

पैदा कर निज देश-जाति ने तुमको पाला-पोसा।
किए हुए हैं वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा॥
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा का शेष स्वजीवन सारा॥[4]

१ माखनलाल चतुर्वेदी (हरिकृष्ण प्रेमी—आज के लोकप्रिय कवि माखनलाल चतुर्वेदी पृष्ठ १७ से उद्धृत।
२ रामनरेश त्रिपाठी (रामचन्द्र मिश्र श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छ-दतावादी काव्य, पृष्ठ ३६९।
३ देखिए पृष्ठ २६३।
४ पथिक, पृष्ठ ३६।

गोपाल शरण सिंह (सन् १८९१-१९६०)

कवि गोपालशरण सिंह इसी धरती के कवि और गायक हैं। उनकी दृष्टि चाहे जितनी दूर-दूर जाने को इच्छुक हो, उन्होंने धरती से नाता नहीं तोड़ा है—

पृथ्वी पर ही मेरे पद हो, दूर सदा आकाश रहे।[1]

पृथ्वी पर ही खड़े होकर कवि ने अपनी कविताओं में अनेकानेक समस्याओं की ओर संकेत किया, जो 'मानवी' में संग्रहीत है। 'मानवी' में मुख्यतः भारतीय समाज के चित्र हैं, किन्तु साधारणतः वे नारी-हृदय के ही भाव-चित्र हैं। गोपालशरण सिंह अंग्रेजी में 'इमेन्सिपेशन आफ वीमेन' नामक पुस्तक पढ़कर 'मानवी' के सृजन की ओर प्रेरित हुए थे।[2] 'अभागिनी' की बालविधवा सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है—

तू कभी नहीं कुछ कहती है,
चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रस-धारा बहती है,
पर तू प्यासी ही रहती है।[3]

कवि का विश्वास है कि भौतिकवाद में आध्यात्मिक चेतना कविता ही के द्वारा आ सकती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें पारस्परिक घृणा और ईर्ष्या-द्वेष को दूर करना होगा। प्रतियोगिता के स्थान में सहयोगिता को अधिष्ठित करना होगा, संघर्ष की बात छोड़कर शांति का स्वर ऊँचा करना होगा और विश्वहित के साथ अपने देश-प्रेम का सामंजस्य स्थापित करना होगा।[4]

सियारामशरण गुप्त (सन् १८९५-१९६३)

सियारामशरण गुप्त को काव्य-सृजन की प्रारंभिक प्रेरणा भारत के प्राचीन गौरव से प्राप्त हुई। अतीत के गौरव से आकृष्ट होकर उन्होंने मौर्य-विजय नामक खण्ड काव्य लिखा, जिसमें सिल्यूकस के भारत-आक्रमण के उत्तर में सम्राट् चन्द्रगुप्त की शूरवीरता का ओजस्वी वर्णन है। कवि इस काव्य के माध्यम से देशवासियों के हृदय में देशानुराग उत्पन्न करने के प्रयास की ओर अग्रसर हुआ है—

पुण्यभूमि यह हमें सर्वदा है सुखकारी,
माता के सम मातृभूमि है यही हमारी,

---

१. डा० शिवदान सिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ ५७ से उद्धृत।
२. गोपालशरण सिंह : आधुनिक कवि, पृष्ठ ७।
३. वही पृष्ठ ८।
४. वही पृष्ठ १६।

हमको ही क्या सभी जगत को है यह प्यारी,
इतनी गुप्ता और कही क्या गई निहारी।[1]

सियारामशरण की सामाजिक रचनाओं में भी राष्ट्रीय भावना की छाप है। उन्होंने सर्वहारा के जीवन के बडे ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'अनाथ' में ग्रामीण जीवन का एक करुण चित्र है, जिसमें जमीदारी-प्रथा, बेगारी तथा शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों की कहानी है, जिसमें तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर तीखा व्यग्य है। इनकी 'एक फूल को चाह' शीर्षक कविता में अछूतो के प्रति हिन्दू-समाज की हृदय-हीनता का मार्मिक चित्रण है।

सियारामशरण मुख्य रूप से गाँधीवादी विचार-धारा से प्रभावित थे, जिसकी छाप 'मौर्य-विजय' में छोडकर शेष समस्त रचनाओ में स्पष्ट रूप से अकित है। इनकी अधिकाश रचनाएँ छायावाद-युग में लिखी गई है।

अतीत के आख्यानो के नवीन उपयोग

राम और कृष्ण भारतीय साहित्य के मुख्य केन्द्र रहे है। वाल्मीकि ने जिस राम की और व्यास ने जिस कृष्ण की भारतीय साहित्य की अवतारणा की थी, वे अपने मूल रूप में मानव ही थे; यद्यपि उनमें मानवोत्तर वृत्तियो का निदर्शन भी था। राम और कृष्ण को ईश्वर और भगवान् का स्वरूप भक्ति-युग में मिला। रामानन्द और तुलसीदास ने राम का तथा वल्लभाचार्य, सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियो ने कृष्ण का ईश्वर और भगवान् के रूप में प्रचार किया, जिसका अवसान हुआ रीति-काल के कृष्ण के विकृत चरित्र के रूप में। आधुनिक काल में वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार और बुद्धिवाद के प्राधान्य से जब अधभक्ति के स्थान पर तार्किक शक्ति का प्रभाव बढा, तब शिक्षित और विचारवान् पुरुषों को ईश्वर के अवतारवाद में अविश्वास होने लगा।[2]

द्विवेदी-युग की ईश्वर-भावना में युग के प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण ने अपना हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। कोरी अध-भक्ति के स्थान पर भक्ति का वह स्वरूप युग को मान्य हुआ, जिसे प्रवृत्तिपूरक विचारों की सही प्राप्त हो। आर्य-समाज ने अवतारवाद के विरुद्ध झण्डा खडाकर युगावतारो को मानव-रूप में स्वीकृत करने के लिये विवश किया। युग-चेतना से प्रेरित हो स्वामी विवेकानन्द ने धर्म और मनुष्य के सबध में नवीन विचार प्रस्तुत किए, उन्होंने वेदान्त की व्याख्या करके इस बात पर जोर दिया कि प्रत्येक नर-नारी में ईश्वर का स्वरूप देखो।[3] लोकमान्य तिलक ने भी गीता की प्रवृत्ति-परक व्याख्या करके केवल निष्काम कर्म में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार युग के नवीन चिन्तन के फल-स्वरूप राम

१. मौर्य विजय, पृष्ठ १२।
२ डा० श्रीकृष्णलाल आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६।
3. "look upon every man, woman and every one as God"—Vivekanand Thus spake Vivekanand

और कृष्ण सम्बन्धी आख्यान केवल भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिये नहीं, वरन् राम और कृष्ण जैसे नायकों को प्रवृत्ति-परायण एवं कर्ममय मानवी स्वरूप प्रदान करने के लिये लिखे गये।

युगधर्म से प्रेरित हो अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को, ईश्वर के रूप में चित्रित न कर एक आदर्श मानव-चरित्र के रूप में चित्रित किया। बंगाल के प्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'कृष्ण-चरित्र' नामक पुस्तक में यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अति-मानुषिक रूप में परिवर्तित किये गये। 'प्रिय-प्रवास' के कवि ने कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाज के सेवक के स्वाभाविक और मानुषिक कार्यों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।[1] अपने दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए कवि ने स्वीकार किया है कि मैंने श्री कृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महा-पुरुष की भाँति अंकित किया, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में श्रीमद्-भगवद्गीता का यह श्लोक मानता हूँ, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।' अतएव जो महापुरुष है, उसका अवतार होना निश्चित है। पुराणों के कृष्ण से ईश्वरत्व निकालकर आदर्श मानवत्व प्रदान करने में हरिऔध को अभूतपूर्व सफलता मिली है। कृष्ण का गोवर्द्धन पर्वत धारण करनेवाले पुराणों के चिरप्रतिष्ठित प्रसंग को सहज स्वाभाविक स्वरूप प्रदान करना सरल कार्य नहीं था, किन्तु इन्होंने बड़ी आसानी से कर दिखाया है—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का,
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने।[2]

ब्रज के निवासी कृष्ण पर इसलिये आसक्त नहीं थे कि वे ईश्वरावतार थे या ब्रह्म थे, वरन् कृष्ण के गुणों ने ब्रजवासियों को मोह लिया था। गोप और ग्वाले उद्धव से कहते हैं—

अपूर्व जैसा घनश्याम रूप है।
तथैव वाणी उनकी रसाल है।
निकेत वे हैं गुण के, विनीत हैं,
विशेष होगी उनमें न प्रीति क्यों ?[3]

१. डा० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६।
२. प्रिय-प्रवास, पृष्ठ १६४।
३. वही, पृष्ठ १३७।

यदि 'प्रियप्रवास' के कृष्ण अपने शुद्ध मानव-रूप में विश्व-कल्याण के कार्य में निरत एक जन-नेता के रूप में चित्रित किये गये हैं तो इस ग्रन्थ की राधा भारतीय साहित्य में युगों की स्थापित प्राचीन राधा की मूर्ति को खंडित कर आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी (देवी नहीं) के रूप में अंकित हुई है—

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता-सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी-वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य हृदया सत्प्रेम-संयोजिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा ॥[1]

प्रिय-प्रवास की विरह विदग्ध राधा चिर-कौमार्य का व्रत धारण कर लोक-सेवा के लिये अपना जीवन अर्पित कर देती है। कृष्ण के लिये उनका जगहितकारी रूप ही उसे स्वीकार्य है—

प्यारे जीवें, जगहित करें, गेह चाहे न आवें।[2]

रामचरित चिन्तामणि में रामचरित उपाध्याय को 'हरिऔध' की भाँति राम के आदर्श-चित्रण के लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वाल्मीकि ने अपने काव्य में राम के जिस मानव-स्वरूप को उभारा है, उसी पर, 'रामचरित चिन्तामणि' आधारित है, उसी मानव-स्वरूप को राजनीतिक साँचे में ढाला गया है। बचपन में उनकी माता जिस देश-प्रेम की भावना उनके हृदय में भरने का प्रयास करती है, वही राम के जीवन का व्रत बन जाता है। पूरे महाकाव्य में नायक राम उसी राजनीतिक पुरुष के रूप में दिखाई देते हैं, जिसकी आवश्यकता देश को थी। श्रीरामचन्द्र का विश्वास है कि—

जिस देही को पंच तत्त्व हैं मिले जहाँ से,
वह कैसे निस्नेह रहेगा कभी वहाँ से?
अर्पण करना उन्हें वही पर उचित उसे है,
मानव होकर नहीं देश अभिमान किसे है?[3]

मैथिलीशरण गुप्त का जीवन दर्शन आधुनिक बुद्धिवादी विचारधारा के अनुकूल नहीं पड़ा, परन्तु वे युगधर्म की अवहेलना न कर सके। बड़ी ही कुशलता से वे अपने विश्वास को राम और कृष्ण के ईश्वरत्व में रँग लेते हैं, परन्तु साहित्यिक अभिव्यक्ति में उनके वर्णन इतने स्वाभाविक रूप धारण कर लेते हैं कि पाठकों को उनमें ईश्वरत्व की जगह मानवत्व का ही आभास मिलता है। वास्तव में गुप्त जी के लिये राम या कृष्ण का ईश्वरत्व उनके द्वारा प्रयुक्त 'हरि' और 'प्रभु' शब्दों में

१ प्रिय प्रवास, पृष्ठ ३७।
२. वही, पृष्ठ २५३।
३. रामचरित चिन्तामणि, पृष्ठ १२८।

ही निहित है। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति मैथिलीशरण गुप्त अपने विश्वास को पाठकों पर बलपूर्वक लादने का यत्न नहीं करते, न अविश्वासियों को मतिमन्द और मूढ की पदवी देते हैं और न उन्हें नरक का ही भय दिखाते हैं। उनके विश्वास में राम और कृष्ण ईश्वर बने रहे, परन्तु काव्य में वे आदर्श महापुरुष मात्र रह गये।[1]

गुप्त जी ने अपने काव्य-ग्रन्थों को अपने ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास की रक्षा करते हुए अतिमानुषिक और अलौकिक प्रसंगों से भरसक बचाने का प्रयास किया है। 'जयद्रथ-वध' में माया द्वारा सूर्य के ढँके जाने के प्रसंग का गुप्त जी ने बड़ी ही कुशलता से निर्वाह किया है। इस खण्ड काव्य में गुप्तजी इस अलौकिक प्रसंग को बादलों द्वारा सूर्य के ढँक जाने के रूप में प्रस्तुत कर कृष्ण द्वारा अर्जुन को आदेश दिलवाते हैं—

हे पार्थ ! प्रण पूरा करो देखो अभी दिन शेष है।[2]

बादलों के हटते ही सूर्य का प्रकाश दिखाई देने लगा। अर्जुन और युधिष्ठिर ने इसे श्रीकृष्ण की माया समझा, परन्तु आधुनिक पाठक इसे केवल एक घटना मात्र समझ सकते हैं। कवि को कृष्ण के ईश्वरत्व पर विश्वास है, परन्तु वह पाठकों के ऊपर यह विश्वास नहीं थोपना चाहता।[3] पंचवटी और साकेत में भी कवि युग-धर्म का पालन करता हुआ राम के अलौकिक स्वरूप को मानवी कर्ममय स्वरूप में चित्रित करता है। 'साकेत' का कवि अपने विश्वास में दृढ़ है, पर वह राम के मानव होने का प्रश्न भी उठाता है—

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए, सभी कहो नहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।[4]

यही नहीं, गुप्त जी देश की परतन्त्रता के कारणों पर जब दृष्टि डालते हैं, तब वे पाते हैं कि इसका प्रमुख कारण भारतीयों की निवृत्तिमूलक दृष्टि ही है, इसलिए उनके राम सृष्टि से विमुख होकर स्वर्ग पाने के उपायों की ओर उन्मुख होने की नहीं, वरन् देश की भौतिक उन्नति की बात कहते हैं—

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।

---

१ डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६।
२. जयद्रथ-वध, पृष्ठ ८६।
३. साकेत, मुखपृष्ठ।
४. साकेत, पृष्ठ, २३४।

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥[1]

राम के जिस चरित्र में स्वयं काव्य बन जाने की क्षमता थी[2], उसी का चित्रण 'साकेत' में आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया है। साकेत की कथा में कवि ने एक और कोमल प्रसंग को उभारा है। द्विवेदी ने अपने समय के साहित्यकारों का ध्यान कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया था, 'राम-लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर उर्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—'इयमप्यपरा का ?' अर्थात् 'लक्ष्मण, यह दूसरी कौन है ?'....उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों द्वारा आज तक उसी तरह ढकता चला आया।[3] गुप्त जी ने आचार्य द्विवेदी की पंक्तियों से प्रेरणा ग्रहण कर युगों की उपेक्षिता उर्मिला को वाणी प्रदान कर न केवल उर्मिला के प्रति किए गए अत्याचार का, वरन् युगों की उपेक्षिता समस्त नारी-जाति के प्रति किए गए अन्यायों का साहित्यिक रंगमंच पर खुलकर विरोध किया, वे कैकेयी के अक्षम्य अपराधों को मनोवैज्ञानिक साँचे में ढालकर पाठकों की सहानुभूति अर्जित करने में सफल हो सके। साकेत अभिनव रामचरित मानस होते हुए भी उपेक्षिता नारी के प्रति ही समर्पित महाकाव्य है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि युग के पौराणिक प्रबन्धकार के पास जो दृष्टि, जो आदर्श और जो अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वही साकेत में परिलक्षित होती है।[4]

राम और कृष्ण के पौराणिक आख्यानों को नवीन स्वरूप प्राप्त होते ही कवियों का ध्यान अनेकों अन्य पौराणिक आख्यानों की ओर आकृष्ट हुआ और उनके चरित्रों को युगानुकूल वाणी मिली। उर्मिला की बड़ी बहिन वैदेही पर वाल्मीकि और तुलसी की विरसता को धोने के लिये हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' के बाद 'वैदेही वनवास' नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा।[5] पूर्ण जी का 'राम-रावण-विरोध', ब्रज भाषा में एक चम्पू काव्य है। सनेही जी ने राम के वन-गमन के प्रसंग पर आधारित 'कौशल्या-विलाप' लिखा। श्री अंबिकादत्त व्यास ने 'कंस-वध', वियोगी हरि ने 'शुकदेव' और गोविन्ददास ने 'बाणासुर-पराभव' नामक काव्यों की रचना

१. 'राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।'
—साकेत का मुखपृष्ठ।

२. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविताओं में युगान्तर, पृष्ठ १२६।

३. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर।

४. वही, पृष्ठ १२८।

५ वही, पृष्ठ १२०।

की । जयशकर प्रसाद का 'सत्यव्रत', रामचरित उपाध्याय का 'लका का जयचन्द', कृष्ण चैतन्य गोस्वामी का 'ध्रुव', महन्त लक्ष्मणसिंह का 'विदुषी सुमित्रा', देवशरण शर्मा का 'धृदराष्ट्र का खेद', मन्नन द्विवेदी का 'सती सुलोचना', 'लक्ष्मणकुमार' कृष्णाकर का 'उत्तरा-मिलन' छोटे-छोटे प्रसग हैं। पौराणिक आदर्श व्यक्तियों के जीवन को दृष्टि में रखकर लिखी गई प्रशस्तियाँ हैं 'हरिऔध' जी का 'वीरवर सौमित्र' और रामनरेश त्रिपाठी का 'राम' ।

पौराणिक काव्य-सृजन के मूल में राजा रविवर्मा के चित्रों को भी प्रेरणास्रोत माना जा सकता है। द्विवेदी-युग के प्रारम्भिक काल से ही 'सरस्वती' में राजा रविवर्मा के तैल चित्र प्रकाशित होने लगे थे, बाद में ब्रजभूषणराय चौधरी, वामापद वद्योपाध्याय राजवर्मा के चित्र भी प्रकाशित हुए। द्विवेदी जी ने चित्रों में प्रदर्शित भाव या प्रसग पर स्वय भी परिचयात्मक कविताएँ लिखी और अन्य कवियों को भी इस ओर प्रेरित किया। फिर तो चित्र-माला पर आधारित चित्र-मुक्ताओं की 'सरस्वती' में बाढ-सी आ गई। इस चित्र-कला और कविता-कला के सयोग से अधिकाश पौराणिक वृत्तों और कथाओं का हिन्दी-कविता में अवतरण हुआ।[१] स्वतन्त्र रूप से जो पौराणिक कवितायें इस युग में लिखी गईं, वे हैं कविवर शकर की रामलीला, पडित गिरिधर शर्मा की राजकुमारी सावित्री, अशुमती, च्यवन पत्नी सुकन्या, हरिऔध की रुक्मिणी सन्देश, वीरवर सौमित्र, मैथिलीशरण गुप्त की आत्मोत्सर्ग, बन्धुविरोध, जयशकर प्रसाद की 'भरत', कामताप्रसाद की 'परशुराम' और रूपनारायण पाण्डेय की 'राजा रंतिदेव' और 'दानी दधीचि ।'

द्विवेदी-युग का समाज और राष्ट्र अगति से प्रगति की ओर और दासता से मुक्ति की ओर जाने में सघर्परत दृष्टिगोचर होता है। इस युग में आर्थिक और राजनैतिक ही नही, धार्मिक और सास्कृतिक दृष्टि से पतन से उन्नति की ओर जाने की उत्कट अभिलाषा सार्वभौम हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में कवियो का ध्यान पौराणिक युग-पुरुषो के अतिरिक्त उन ऐतिहासिक महापुरुषो की ओर भी आकृष्ट हुआ, जो अपने समय में जाति और समाज के सेवक, रक्षक और उन्नायक रहे।[२] मैथिलीशरण गुप्त का मत था कि आत्मविस्मृति ही अवनति का मूल कारण है और आत्मस्मृति ही उन्नति का। यदि आज हम अपने पूर्वजों के कृत्यों पर गर्व कर सकते है तो कौन नही कह सकता कि एक दिन-चाहे वह दिन दूर ही क्यो न हो—स्वयं ही उनका सा गौरव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करके उनके सच्चे वशज कहलाने की भी चेष्टा कर सकते हैं। ऐसा करना सर्वथा स्वाभाविक है, न करना ही अस्वाभाविक।[३]

---

१. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ १२०।
२. वही पृष्ठ १२१।
३. मैथिलीशरण गुप्त मौर्य विजय की भूमिका।

सियारामशरण गुप्त ने देश के प्रति प्रेम और आदर-भाव से प्रेरित हो प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक वीर चन्द्रगुप्त मौर्य की गाथा पर आधारित 'मौर्य-विजय' नामक खंड-काव्य लिखा। वे भारत की विजय गाने के लिए समस्त विश्व का आह्वान करते हैं—

साक्षी है इतिहास, हमी पहले जागे हैं;
जागृत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं।
शत्रु हमारे कहाँ नहीं भय से भागे हैं?
कायरता से कहाँ प्राण हमने त्यागे हैं?
हैं हमीं प्रकंपित कर चुके सुरपति तक का भी हृदय;
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय![1]

मौर्य-विजय देश-प्रेम और देशाभिमान के उदात्त भावों से उच्छ्वसित है। देश को विपज्जाल से मुक्त करने की प्रेरणा उसमें युग की भावना की छाया के रूप में आई है। उत्साह का परिपाक उसमें वीर-रस की अवस्थिति कर सका है। राष्ट्र का पददलित दर्प उसमें ऊर्जित रूप में फुकार कर उठा है।[2]

जयशंकर प्रसाद ने महाराणा प्रताप के तेजस्वी जीवन पर आधारित 'महाराणा का महत्त्व' नामक गीत-रूपक, द्वारका प्रसाद गुप्त ने औरंगजेब द्वारा रूपनगर की राजकुमारी प्रभावती (चंचलकुमारी) को राजप्रसाद में मँगाने के ऐतिहासिक प्रसंग पर 'आत्मार्पण' नामक लघुकाव्य, गोकुलचन्द्र शर्मा ने महाराणा प्रताप के वन-जीवन के प्रसंग को लेकर 'प्रणवीर प्रताप' नामक काव्य लिखकर प्रच्छन्न रूप से देश के स्वप्नों को साकार करने का प्रयत्न किया है। लाला भगवानदीन ने 'वीर पंचरत्न' लिखकर अपने धर्म, देश और जाति के गौरव का स्वर दुहराया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग' और 'विकट भट' की रचना चारणों की गाथाओं के आधार पर करके देश की आन-बान की आवाज बुलन्द की है।

मानव-मनोविज्ञान के अनुसार वीरगाथा और वीरगीत लिखने की प्रेरणा का रहस्य यह है कि जाति और समाज के वर्तमान को अपेक्षाकृत मलिन देखकर कवि अपने स्वप्नों के कल्पना-लोक में उज्ज्वल पक्ष की ओर भागता है और उनके स्तवन, अर्चन, पूजन और प्रशस्ति द्वारा महान् व्यक्तित्वों या सामान्य व्यक्तियों के आदर्श तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण से आत्म-संतोष अर्जित करता है।[3] परन्तु द्विवेदी-युग के कवियों ने अतीत की ओर आकृष्ट होने के बावजूद कल्पना-लोक के उज्ज्वल पक्ष की ओर भागने का प्रयास नहीं किया है, वरन् अतीत-काल से वर्तमान युग की

१. मौर्य-विजय, पृष्ठ ३८।
२. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १३०।
३. वही, पृष्ठ १३०।

समानान्तर परिस्थितियों को काव्य के विषय के रूप में चुनकर राष्ट्रीय उन्नयन में संपूर्ण योगदान दिया है।

आधुनिक जीवन की भूमिकाएँ

प्राचीन काल में महापुरुषों के महान् और वीर-कार्य ही कवियों के प्रधान विषय हुआ करते थे। जब कोई महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार जमा लेता, जब उसका महत् चरित्र कवि के वक्षस्तल से बाहर निकलने का प्रयास करता, तभी महाकाव्यों की सृष्टि होती थी। वाल्मीकि-रामायण इसी प्रकार की सृष्टि है। समय बीतने पर देव और देव-सभव मानव भी काव्य के विषय होने लगे। महाभारत के नायक पाण्डव तथा कर्ण देव सभव थे। कालान्तर में कविगण देवों और देवसभव मानवों से चलकर ईश्वर तक पहुँच गए और मध्यकाल में राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी काव्य-सरिता प्रवाहित हुई। ईश्वर तक पहुँचकर फिर प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और ईश्वर की मानुषिक भावनाओं को प्रधानता मिलने लगी और रामभक्ति एवं कृष्ण-भक्ति संबंधी काव्य लिखा गया। रीतिकाल तक आते-आते कविता राजदरबारों तक सीमित रह गई और नायिका-भेद काव्य का प्रधान विषय हो गया।[1]

रीति-कालीन-काव्य-विषयक-बंधन से कविता को मुक्त किया भारतेन्दु ने। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने काव्य-फलक इतना विस्तृत बनाया कि जीवन का कोई भी चित्र काव्य-विषय के दायरे से बाहर नहीं पड़ता था। समय के आलोडन विलोडन से उत्पन्न जो भाव-धारा बही, उसी को वास्तविक अनुभूति के नाम पर काव्य कहकर पुकारा गया। 'अनुभूति' के नाम पर भारतेन्दु-युग में जो कुछ व्यक्त हुआ, वर्तमान का जो चित्र कवियों की लेखनी से उभरा, उसने देश और जाति को कम नहीं रुलाया। परन्तु उससे आत्म-विस्मृति की मोह-निद्रा भंग हुई और आत्मस्मृति का पथ प्रशस्त हुआ।

द्विवेदी-युग तक आते-आते यद्यपि कविता का कलेवर बदल गया, परन्तु जिस आत्मस्मृति का चस्का कवियों को लग गया था, वह नहीं छूटा। कवियों ने अपना साहित्यिक जीवन देश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एकाकार कर दिया, परिणामस्वरूप जीवन का यथातथ्य स्वरूप-प्रत्यक्ष रूप से अथवा *अप्रत्यक्ष रूप से—काव्य में उतारा गया। कवि-नायक और अधिनायक द्विवेदी जी* के निर्देशन में जीवन का यथार्थ राशि-राशि कवि-वाणी बनकर छन्दों में प्रस्तुत होने लगा।

सर्वप्रथम कवियों का ध्यान देश की विपन्नता की ओर आकृष्ट हुआ। जो भारत देश प्राचीन काल में धन-धान्य से परिपूर्ण था, वही अब दरिद्रता का नग्न-

१. डा० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ ४५।

नृत्य-स्थल बना हुआ है—

रहता प्रयोजन से प्रचुर पूरित जहाँ धन-धान्य था,
जो 'स्वर्ग-भारत' नाम से संसार में सम्मान्य था,
दारिद्रय दुर्धर अब वहाँ करता निरन्तर नृत्य है,
आजीविका-अवलम्ब बहुधा मृत्य का ही कृत्य है ॥[1]

भारत-भारती में मैथिलीशरण गुप्त ने उन किसानों का जो रक्त का पानी बनाकर फसल उगाते हैं, बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है—

पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ,
फिर भी अभागे भूख से दिन-रात मरते हैं यहाँ।
सब बेचना पड़ता उन्हें निज अन्न वह निरुपाय है,
बस चार पैसे से अधिक पड़ती न दैनिक आय है।[2]

इधर कृषकों का यह हाल है और उधर उनकी पत्नियाँ—

कुछ रात रहते जागकर चक्की चलाने बैठती,
हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठती।
पर क्या कहें, उस गीत से क्या लाभ पाने बैठती,
वे सुख बुलाने बैठती, या दुःख भुलाने बैठती ॥[3]

भारतीय किसान के उत्पीड़ित जीवन का करुण चित्र मैथिलीशरण गुप्त के 'किसान' नामक काव्य में अंकित है। यह किसान फीजी द्वीप में पकड़कर ले जाये जाने के पश्चात् वहाँ भाँति भाँति की यातनाएँ सहता है। वह उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जो एक लम्बे युग से अत्याचार सहन करने का आदी हो गया है। उसकी दुर्बल काया विवश और निरुपाय है, वह दयाधाम राम से दया की याचना करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है—

क्यों हैं हम यों विवश, अकिंचन, दुर्बल, रोगी ?
दयाधाम हे राम ! दया क्या इधर न होगी ?[4]

सियारामशरण गुप्त ने एक ऐसे ऋणभार-ग्रस्त किसान की करुण कथा 'अनाथ' नामक खण्ड-काव्य में अंकित की है, जो लाखों मनुजों की व्यथा व्यक्त करता है—

पशु-तुल्य हम लाखों मनुज हा ! जो रहे क्यों लोक में ?
जीते हुए भी मर रहे पड़कर विषम दुःख-शोक में।[5]

---

१. भारत भारती, वर्तमान खण्ड, पृष्ठ ८७।
२. भारत भारती, पृष्ठ ९३।
३. वही, पृष्ठ ९५।
४. मैथिलीशरण गुप्त : किसान, पृष्ठ ५।
५. सियारामशरण गुप्त : अनाथ, पृष्ठ २९।

किसानो पर लगे हुए कर भार को कवि नाथूराम -'शकर' शर्मा भुजंग कहते है, जो उनकी सुख सम्पन्नता को दिन दहाडे डँस रहा है—

कुछ दीन किसान कमाय रहे,
हल का हलका फल पाय रहे,
इनको कर-भार भुजग हुआ,
बस भारत का रस भग हुआ।[१]

'सनेही' जी का आर्त्त कृषक आपत्ति से तग आकर बादलों का आह्वान करता है, जो बिजली गिराकर उन्हें आपत्ति से मुक्त कर सकते हैं—

चले आओ ऐ बादलो आओ आओ,
तुम्ही आके दो चार आँसू बहाओ।
दु खी है तुम्हारे कृषक दु ख घटाओ,
न जो बन पडे तो बिजली गिराओ।
न रोयेंगे हम, धज्जियाँ तुम उडा दो।
किसी भाँति आपत्ति से तो छुडा दो।[२]

द्विवेदी-युगीन काव्य में दीन-हीन-अकिंचन के प्रति करुणा धारा प्रवाहित हो रही है। भिखारी की दयनीय दशा का चित्र मैथिलीशरण गुप्त इन शब्दों में खीचते हैं—

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है?
मानो निकलने को परस्पर हड्डियो में टेक है।
निकले हुए है, दात बाहर, नेत्र भीतर हैं घुसे,
किन शुष्क आतो में न जाने प्राण उनके हैं फँसे।[३]

दीन-हीन लोगों के प्रति 'पूर्ण' जी के हृदय में भी अपार वेदना है—

है सूना अति दीन सपदा सुख से रीता,
है आश्चर्य अपार कि है वह कैसे जीता।[४]

'हरिऔध' के चौपदो में 'दीन की आह' अकित है—

चहल-पहल है जहाँ वहाँ मातम छा जाता,
स्वर्ण छटा है जहाँ वहाँ रौरव उठ आता

१. शकर-सर्वस्व, पृष्ठ २६।
२. सनेही : करुणा कादंबिनी, आर्त कृषक, पृष्ठ ५६।
३. मैथिलीशरण गुप्त : भारत-भारती, पृष्ठ ८८।
४. पूर्ण-संग्रह, पृष्ठ २०७।

दीन आह की ध्वनि परि हरि कानों में जाती,
नन्दन वन है जहाँ आज मरु वहाँ दिखाती।[1]

केशवप्रसाद मिश्र ने 'जाड़ा और निर्धन' कविता में विपन्न जीवन का ऐसा यथार्थ चित्र खींचा है, जो 'प्रगतिवादी' कविताओं के मुकाबले में ठहर सकता है—

सिर पर सदा घास को बोझा तन पर नहीं एक भी सूत,
हाय! हाय! कंपित होता है जाड़े से भारत का पूत।
छोटे-छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट।
किन्तु आज वह दुखित लौटा विफल हुई है उसकी हाट।[2]

नारी-जीवन की वेदना भी द्विवेदी-युगीन कवियों की लेखनी से निःसृत हुई है। स्वयं द्विवेदी जी ने 'कान्यकुब्ज अबला-विलाप' में अबला की जबान से एक आहत करुण क्रन्दन किया है—

महामलिन से मलिन काम हम करती हैं दिन-रात
दुखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो कृश करतीं गात।
हे भगवान हाय! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं,
'ढोल गँवार साडन अधिकारी' हमीं बनाई जाती हैं।[3]

करुणा से सहज ही अभिभूत हो जाने वाले कवि थे गोपाल शरण सिंह। उनका विश्वास है कि जिन कारणों से नारी-जीवन दुःखमय होता है, वे किन्हीं-न-किन्हीं रूपों में संसार की सब जातियों में विद्यमान रहते हैं और सभी देशों के साहित्य में स्त्रियों की दुःखावस्थाओं का वर्णन मिलता है।[4] उन्होंने 'मानवी' में स्त्रियों की भिन्न भिन्न कारुणिक अवस्थाओं का चित्रण किया है—

जग के सुन्दर प्रेम-सदन की
प्रेममयी है वनिता।
तो भी हाय! रही अभागिनी
तू सदैव पददलिता।
रोती रही सभी देशों में
तू कुररी-सी दीना।

---

१. दीन की आह: मर्यादा, चैत १६७२ (डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १५७।
२. सरस्वती फरवरी १६१५।
३. सरस्वती अगस्त, १६१४।
४. गोपालशरण सिंह आधुनिक कवि, पृष्ठ ७।

पावस की विभावरी-सी तू
रही सदैव मलीना ![1]

नारी-जाति की उपेक्षा सबसे अधिक कचोटती है, मैथिलीशरण गुप्त को। उनकी लेखनी नारी-जाति का यथातथ्य चित्रण कर अपने-आप को कर्कशा की संज्ञा से आरोपित करती है—

होगी यहाँ तब कर्कशा क्या लेखनी, तू परवशा—
गृह-देवियों की जो हमारी लिख सके तू दुर्दशा।[2]

गुप्त जी इस विश्वास को हृदय से निकाल नहीं पाते कि देश का पतन स्त्रियों की उपेक्षा होने के कारण ही हुआ है—

ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे,
भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ,
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियाँ।[3]

इस प्रकार सामान्य मानवता की भाव-भूमि पर उतर कर एक दीर्घ काल के पश्चात् वर्तमान की दीन-हीन दशा के चित्र साहित्य में उतारे गये। भारतेन्दु कालीन कविता में भारतीय जन-समाज का जो क्षीण निश्वास-प्रश्वास सुनाई दिया, उसी को स्पष्ट रूप से अंकित करने के लिए द्विवेदी-युगीन कवि कटिबद्ध हुए और वर्तमान जीवन का कटु रूप बड़ी निर्ममता से दिखाया। रीति-कालीन युग भी समाज के दैन्य से पीड़ित था, परन्तु उस युग में इस स्तर पर काव्य-सृजन की चेष्टा नहीं हुई, जिन्दगी की दयनीयता से अभिभूत होना रीतिकालीन कवियों ने नहीं सीखा था। सच तो यह है कि १९वीं शताब्दी के पुनरुत्थान-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप पुनः प्रवृत्तिमूलक दृष्टि प्राप्त करने पर ही कवियों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता की रही-सही पूँजी को टटोलना प्रारम्भ किया, परन्तु समस्त पूँजी टटोलने पर यही अनुभूति हाथ लगी कि हम तो दिवालिये बन गये हैं। दूध का जला मट्ठा भी फूँक-फूँक कर पीता है, द्विवेदी-युग के कवि इस ओर से निरन्तर सतर्क रहे कि जीवन की अत्यधिक वेदना का उभार आत्म-निषेध का मार्ग न दिखाने लगे। इस युग के कवियों का उद्देश्य समाज के अन्तर्मन से वह कटुता, वह निराशा और वह निर्बलता निकाल देना था, जो जीवन के प्रति आस्था कम करती हैं। हो सकता है कि यदि वे केवल वर्तमान के प्रति क्षोभ और असन्तोष तक ही अपनी लेखनी को सीमित रखते तो समाज को पुनः दिशा-भ्रम हो जाता, परन्तु इन कवियों ने वर्तमान

---

१. 'मानवी', आधुनिक काल, पृष्ठ ४०।
२. भारत-भारती, वर्तमान खण्ड, पृष्ठ १३२।
३ वही, पृष्ठ १३६।

की अवनति और अधोगति की भाव-भूमि में ही अपनी प्राचीन पूँजी भी टटोली और अतीत के भव्य रूपों को देश की वर्तमान पृष्ठभूमि में अंकित कर वे युग-चेतना जागृत करने पर ऐसे कटिबद्ध हुए कि कहीं-कहीं उन्हें उपदेशक तक बनना पड़ा। वर्तमान के प्रति क्षोभ के तीव्र स्वरों के समानान्तर ही अतीत-गौरव के तीव्रतम स्वर उत्पन्न किए गए और देशवासियों के हृदय में वह आत्म-चेतना आत्म-विश्वास जागृत किया गया कि जो हीन-भाव को दूर कर वर्तमान की कटुता को भविष्य की मधुरता में बदल सके, देश अपने पूर्वजों का-सा गौरव प्राप्त कर पुनः खुशहाल हो उठे।

द्विवेदी-युगीन कवियों का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण और उनका काव्यादर्श

द्विवेदी-युग जीवन के सर्वांगीण जागरण का युग है और द्विवेदी-युगीन कविता सर्वांगीण जीवन की कविता है। वस्तुतः स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द जन-साधारण की जिस भाव-भूमि का अनुष्ठान कर गये थे और लोकमान्य तिलक जिस निष्काम कर्म की प्राचीन परम्परा पर जोर दे रहे थे, द्विवेदी-युग के कवियों को उसी परम्परा में पूर्ण योग देना था। अतीत के आख्यानों से सम्पूर्ण द्विवेदी-युगीन साहित्य भरा हुआ है, परन्तु कहीं भी जीवन से भाग खड़े होने का स्वर झंकृत नहीं है, सर्वत्र इसी बात का सन्देश है कि यह संसार ही स्वर्ग का द्वार है। इस युग के कवि न तो संसार को क्षणिक स्वप्नवत् मिथ्या मानते हैं, न मिथ्या स्वर में संसार की क्षणिकता का राग अलापते हैं, जीवन में उनकी पूरी-पूरी रुचि है एवं उनकी दृष्टि में जीवन को जीवन्त बनाने के लिये सुख-दुःख तथा पाप-पुण्य दोनों ही आवश्यक हैं। इस युग के कवियों को मानव-स्वभाव की अच्छाई में पूर्ण विश्वास है। उनमें आत्म-विश्वास है और वे प्रत्येक कठिनाई को हंसते-हँसते झेलने को तैयार हैं। उनके लिये यह संसार झूठा नहीं, सच्चा है। कवियों की प्रवृत्ति के क्षेत्र की ओर अधिकाधिक अग्रसर होने की आकांक्षा है। उन्हें अपने जीवन के चारों ओर की वस्तुओं से प्रेम है। उनको अपने देश, अपने समाज और अपनी सभ्यता से प्रेम है और इसी कारण वे अपने जीवन की प्रत्येक वस्तु में सुधार और सुव्यवस्था चाहते हैं।[1]

द्विवेदी-युग के कवियों का दृष्टिकोण मानववादी है। जब व्यक्ति की श्रद्धा और बुद्धि हृदय को प्रत्येक दूसरे व्यक्ति में 'आत्म' की अनुभूति कराने लगती है तो मानववाद की भावना का जन्म होता है। मानव मात्र में एक ही सत्-चित् तत्त्व का अधिष्ठान है, एक ही मूलभूत तत्त्व ओतप्रोत है—यह विचारधारा मानववाद को जन्म देती है। प्रच्छन्न रूप से मानव-मानव के प्रेम के मूल में भी अद्वैत दर्शन

---

१. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ १०६।

के बीज हैं। स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत दर्शन का ही व्यावहारिक रूप मानववाद में देखा और उसे धर्म में परिणित करते हुए मानव-सेवा का पाठ सिखाया।[१] द्विवेदी-युग के कवि इसी मानववाद पर आस्था रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान और न्यायोचित व्यवहार चाहते हैं। ये सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा धार्मिक साम्प्रदायिकता की समान रूप से कड़ी आलोचना करते हैं। पूर्व उत्थान के कवियों के समान इस उत्थान के कवि केवल दुःख का चित्र खींच कर सन्तुष्ट नहीं होते, प्रत्युत् पीड़ित जनता के साथ सहानुभूति भी प्रदर्शित करते हैं।[२] मानववादी भावना से प्रेरित हो ये कवि जब अपने हृदय में पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत पाते हैं तो युगों के उपेक्षित साहित्यिक पात्रों के साथ भी ये न्याय का अभियान प्रारम्भ करते हैं।

द्विवेदी-युग के कवियों की पूरी सहानुभूति अछूत, विधवा तथा समाज द्वारा सताए अन्य प्राणियों के प्रति है। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण के शिकार अशिक्षित किसान और मजदूरों के पक्ष का समर्थन इन कवियों द्वारा बड़ी ओजपूर्ण भाषा में हुआ है। कवि इनकी तथा देश की समृद्धि के सच्चे इच्छुक हैं। इनकी व्यापक धार्मिक भावना ने इन्हें इतना उदार बना दिया है कि ये विश्व-प्रेम और मानवता की सेवा के प्रबल समर्थक बन जाते हैं।[३]

अपनी जाति, अपने समाज और अपने देश के अभ्युत्थान का प्रयत्न ही द्विवेदी-युग के कवियों का युग-धर्म बन गया। जीवन के समस्त दुर्गुणों पर आघात-प्रत्याघात और सद्गुणों का आमन्त्रण-आवाहन इस युग के कवियों का युग-कर्म बन गया। नैतिक उत्कर्ष सामाजिक उत्थान का और सामाजिक उत्थान राष्ट्रीय अभ्युदय का आधार है। इसलिए युग की कविता ने तीनों पक्षों के जागरण को प्रतिध्वनित किया है। पेड़ के ऊपरी वृन्त की भाँति द्विवेदी-युग का कवि वायु और वातावरण के क्षीणतम झोंके से सिहरता है, परन्तु प्रकाश-स्तम्भ की भाँति अंधकार में अविचल रहकर जन-समाज को उन्नति की दिशा दिखाता है। यह कविता-कला और सृजन-प्रतिभा को बहुजन हिताय, बहुजन-सुखाय नियोजित करता है। लोक-चिन्तन में वह आत्म-चिन्तन को भूल जाता है। लोक के सुख-दुःख में वह अपने सुख-दुःख को निहित देखता है। यही कारण है कि इस काल में ऐकान्तिक आत्मगत अर्थात् अन्तर्भाव-व्यंजक अथवा आभ्यन्तरिक कविता की रचना के लिये अवकाश नहीं था।[४]

द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति

---

१. डा० सुधीन्द्र : आधुनिक कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३६।
२. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य धारा, पृष्ठ १०८।
३ डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ १०८।
४. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १०६।

जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का साथ देना, शृङ्गार के विलास-वैभव का निषेध, ये सब द्विवेदी-युग आदर्श हैं। मध्यवर्ग की राष्ट्रीय भावना, जो अमीरों के आतंक से छूट नहीं पाई थी, द्विवेदी-युग की आधार शिला है। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ, जो अपनी कलात्मक पूर्णता का अवलम्ब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु अपनी सत्यवृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह कला धन्य है, जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करती है, परन्तु जो कला उदात्त और प्रशस्त न होती हुई भी समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करती है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखती है।[१]

द्विवेदी युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।[२] इस युग के कवि देश की सर्वतोमुखी उन्नति की भावना से प्रेरित होकर तथा इसके लिए सबको प्रेरणा प्रदान करने के लिए उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा तथा प्रत्यक्षीकरण के कार्य में लीन रहे। उनके काव्य का स्वरूप आदर्शवादी रहा।

प्रवृत्तिमुखी जीवन की अभिव्यक्ति का स्वरूप

उन्नीसवीं शताब्दी के पुनरुत्थान आन्दोलन की सबसे प्रमुख देन 'बुद्धिवाद' की प्रवृत्ति रही है। व्यक्ति में ज्ञान की प्रेरणा से सत् के अन्वेषण और जिज्ञासा की जो वृत्ति आती है, वही बुद्धिवाद कही जाती है। जब व्यक्ति अपने आस-पास बाहर-भीतर एक विशेष परीक्षक की सी दृष्टि लेकर जीवन के सब कदम जाँचने-परखने लगता है और शुद्ध-अशुद्ध का, उचित-अनुचित का विवेक करने लगता है तथा शुद्ध और उचित का पक्ष ग्रहण करता है, तब बुद्धिवाद का मार्ग प्रशस्त होता दिखाई देने लगता है।[३]

बुद्धिवाद की प्रवृत्ति ने जब मनुष्य को अंधविश्वासों से मुक्त होकर निर्भीकता-पूर्वक सोचने के लिए विवश किया, तब आधुनिक पुनरुत्थान के चिन्तकों ने देश को पौराणिक और मध्यकालीन संस्कारों में जकड़ी हुई परवश और परतन्त्र बुद्धि को प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जीवन को असत्य और क्षणभंगुर कहनेवाले निवृत्तिवादी दर्शन के अंधकार पर प्रकाश के बाण सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने बरसाये और विवेकानन्द ने लोगों को यह बतलाया कि वेदान्त जीवन से भाग खड़े होने की शिक्षा नहीं देता, प्रत्युत वह

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १२।
२ वही, पृष्ठ ७।
३ डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ३४।

सो जीवन की कठिनाइयों के साथ अनवरत संग्राम सिखाता है। जीवन-सम्बन्धी इसी प्रकार के सन्देश रामकृष्ण, श्रीमती एनी बेसेन्ट, श्री अरविन्द और महात्मा गान्धी ने दिए। किन्तु इस दिशा में सबसे महान कार्य लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' लिखकर किया। 'गीता' हिन्दुत्व के हाथ में सबसे बड़ी मशाल थी, किन्तु निवृत्तिमार्गी व्याख्याओं के कारण उसका तेज मन्द पड़ गया था। तिलक ने उसकी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या करके देशवासियों को चिन्तन की स्वस्थ दिशा प्रदान की।[1]

प्रवृत्ति के उत्थान का ही यह परिणाम था कि भारतेन्दु-युगीन कविता में कला की पराजय और जीवन की जय की गूँज सुनाई देने लगी थी। द्विवेदी-युग में प्रवृत्ति-भावना से प्रेरित होकर जीवन की जय की आवाज़ और बुलन्द हुई। लोक के सामने परलोक के हीन सिद्ध होते ही, स्वर्ग की अपेक्षा धरती का महत्त्व जो बढ़ा तो इस धरती को ही अधिक कीर्तिमयी बनाने के प्रयास प्रबल हो उठे। इस धरती का महत्त्व बढ़ते ही देश-प्रेम और राष्ट्रीयता को और विकास मिला और देश के इतिहास का जो अंग उज्ज्वल था, उसका आख्यानक काव्य लिखा गया, परलोक बनाने की चिन्ता दूर होते ही साहित्य में नारी के गौरव के गीत गाये गए और गार्हस्थ्य के सुमधुर वातावरण का चित्रण हुआ।

द्विवेदी-युग में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना भारतेन्दु-युग की तुलना में अधिक व्यापक और विशाल दिखाई देती है। श्रीधर पाठक हिन्दी में भारत दैवत के प्रथम महागायक थे। जिस समय देश में 'देश-वन्दना' एक अपरिचित भावना थी, तब कवि ने केवल कांग्रेस बधाई ही नहीं लिखी, 'हिन्द-वन्दना' भी की। उनके भारत-गीत संग्रह में देश के चरणों में चढ़े हुए श्रद्धा सुमन संग्रहीत हैं।[2] 'भारत-गीत' में उनकी 'भारत-वन्दना', 'गीत गोविन्द' की शैली में है—

सुख धाम अति अभिराम गुण-निधि नौमि नित प्रिय भारतम्।
सुठि सकल जग ससेव्य सुभ मत, सकल जग-सेवा-रतम् ॥[3]

भारत-माता की वन्दना का स्वर भारत के गौरव का भी उद्‌घोष करता है—

बंदहु मातृ-भारत धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि, तेज तप-मय-तरनि।
सरित-वन-कृषि-भरित-भुवि, छवि-सरस-कवि-मति हरनि ॥[4]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी "भारतवर्ष" कविता में देश का जय-जयकार किया है—

---

१. श्री रामधारी सिंह दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३।
२. नौमि भारतम्, भारतगीत, पृष्ठ ३३।
३. श्रीधर पाठक : मनोविनोद पृष्ठ ७५।
४. श्रीधर पाठक : मनोविनोद, पृष्ठ १५।

इष्टदेव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे।
मुक्ति-मुक्ति के हार हमारे, जै जै जै जै देश ॥
जै जै सुभग सुदेश ॥[१]

इन्हीं दिनों बँगला के सुप्रसिद्ध कवि बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' की धूम मची—

वन्दे मातरम् !
सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम्,
शस्य श्यामलां मातरम् !

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी में इसी भाव का गीत प्रस्तुत किया—

मलयानिल मृदु मृदु बहती है, शीतलता अधिकाती है।
सुखदायिनी वरदायिनी तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है।
वन्देमातरम् ![२]

द्विवेदी-युगीन कवियों ने भारत की अनेक प्रशस्तियाँ गाई हैं। वन्दना और प्रशस्ति में अन्तर यह है कि वन्दना प्रत्यक्ष भी होती है और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष वन्दना 'संबोध' की शैली में परिगणित हो सकती है और परोक्ष वन्दना प्रशस्ति कही जा सकती है। प्रशस्ति में वन्दना के साथ गौरव-वर्णन भी रहता है। मातृगान (शिवनारायण द्विवेदी), मातृभूमि (रूपनारायण पाण्डेय), जन्मभूमि (कामताप्रसाद गुरु), हमारा देश (लोचनप्रसाद पाण्डेय), मातृभूमि, भारतमाता (गोपालशरण सिंह), जन्म-भूमि भारत (रामनरेश त्रिपाठी), मातृभूमि (मन्नन द्विवेदी), जननी (सियारामशरण गुप्त) आदि अनेक प्रशस्तियाँ इस युग में गाई गई हैं।[३] सर्वाधिक प्रसिद्धि मैथिलीशरण गुप्त की मातृभूमि को मिली—

करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।[४]

इस युग में जितने भारत-वन्दना-गीत गाये गये और भारत की जितनी प्रशस्तियाँ गाई गईं, उतनी किसी अन्य युग में नहीं गाई गईं। देशभक्ति का और निखरा हुआ रूप भारत के वर्तमान और अतीत के चित्रण में मिलता है। वर्तमान को देखकर जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे प्रेरणा-रूप में बदलने का कार्य अतीत-गान करता है। स्वामी दयानन्द ने जिस आर्य-भारतीय गौरव-गरिमा का दर्शन कराया था और स्वामी विवेकानन्द ने जिस अतीत के बल पर पश्चिम में भारत का मस्तक

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी : 'भारतवर्ष'।
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'वन्देमातरम्'।
३. डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १७६।
४. सरस्वती, मार्च १९११।

ऊँचा किया था, उसी की सजग चेतना 'भारत-भारती' में है। यह काव्य-ग्रंथ वस्तुतः भारतीय गौरव-गरिमा का उदात्त चलचित्र है। आर्य संस्कृति और भारतीय सभ्यता के प्रति कवि की आस्था अविचल और अजस्र रूप में उसमें मुखरित हुई है। वैदिक काल से भारत-भारती की चित्ररेखा चलती है और रामायण-महाभारत युगों में से होती हुई, बौद्धकाल को पार करती हुई, विक्रम का स्मरण करती हुई उस सीमा रेखा पर आ पहुँचती है, जिसके आगे यवन-राजत्व का सूत्रपात होता है। देश की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना यहीं उद्बुद्ध होती है और कवि पृथ्वीराज, राणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी को तिलक-बिन्दु लगाता है[1] और अन्त में देश की दयनीय दशा का चित्र अंकित कर सजग होने की प्रेरणा देता है—

> हे भाइयो ! सोये बहुत, अब तो उठो, जागो अहो !
> देखो जरा अपनी दशा, आलस्य को त्यागो अहो !
> कुछ पार है क्या क्या समय के उलट-फेर न हो चुके !
> अब भी सजग होगे न क्या ? सर्वस्व तो हो खो चुके ![2]

अपने अनुज सियाराम शरण गुप्त द्वारा प्रणीत मौर्य-विजय की भूमिका में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि यदि सौभाग्य से किसी जाति का अतीत गौरवपूर्ण हो और वह उस पर अभिमान करे तो उसका भविष्य भी गौरवपूर्ण हो सकता है। जो जिस बात पर अभिमान करता है—अथवा अभिमान करना सीखता है—वह एक-न-एक दिन उसके अनुकूल कार्य करने की चेष्टा भी कर सकता है, पतित जातियों को उनके उत्थान में, उनके अतीत गौरव का स्मरण बहुत बड़ा सहायक होता है। प्रस्तुत पुस्तक लिखने का कारण लेखक का अपने देश के प्रति प्रेम और आदर-भाव प्रदर्शित करना ही है, इसी में उसकी कृतकृत्यता भी है।[3] मौर्य-विजय के सैनिकों के माध्यम से कवि आधुनिक देश-प्रेमियों का आह्वान करता है—

> आओ वीरो ! आज देश की कीर्ति बढ़ा दें,
> सबके सम्मुख मातृ भूमि को शीश चढ़ा दें।
> शत्रुजनों को मार यहाँ से अभी हटा दें;
> उनका घोर घमण्ड सदा के लिए घटा दें,
> संसार देख ले फिर हमें तुच्छ नहीं हैं हम कभी;
> निज भारतीय बल-वीर्य्य का आओ परिचय दें अभी ॥[4]

---

१. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगांतर, पृष्ठ १८५।
२. भारत-भारती, भविष्यत् खण्ड, पृष्ठ १५५।
३. मैथिलीशरण गुप्त : मौर्य-विजय की भूमिका।
४. मौर्य-विजय, पृष्ठ, १७।

'महाराणा का महत्व' में कवि जयशंकर प्रसाद ने आख्यान के माध्यम से हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के वैषम्य द्वारा हिन्दुत्व और 'हिन्दुआसूय' प्रताप को श्रद्धांजलि चढ़ाई। मुगल-सम्राट् द्वारा पराजित और विपन्न होकर भी महाराणा की महानता इसमें है कि वे शत्रु पक्ष की, विधर्मिणी नारी को अपने कुमार और सामन्तों द्वारा अपमानित होने से बचाते हैं।[१]

भारतेन्दु-युग के कवि भी देश के दैन्य से क्षुब्ध थे, व देश की दशा में सुधार लाना चाहते थे, परन्तु उनके सामने कोई निश्चित कार्य-क्रम न था, इसलिए उन्होंने ईश्वर से देशोद्धार की प्रार्थना की, उनकी ईशभक्ति विधेयात्मक भावना से प्रभावित होती रही। द्विवेदी-युग में कवियों ने जो देश की दुरवस्था के चित्र खींचे, उससे देश को अपनी दशा सुधारने की प्रेरणा मिली, समस्त राष्ट्र को भारत के सुदिन लाने की उत्तेजना प्राप्त हुई। प्रयोजन-पूर्ति के लिए देशवासियों का आह्वान भी तो सशक्त लेखनी द्वारा ही हुआ है—

अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं ?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं ?
क्या हम सभी मानव नहीं किंवा हमारे कर नहीं ?
रो भी उठें हम तो बने क्या अम्ब रत्नाकर नहीं ?[२]

द्विवेदी-युग के कवि देश रक्षा के लिये समस्त देशवासियों को आमन्त्रित करते हैं। कवियों के हृदय में आशा और आत्मविश्वास की भावना भी भारतेन्दु-युगीन कवियों की अपेक्षा अधिक है। कवि रूपनारायण पाण्डेय को 'मनुष्यत्व' का बहुत बड़ा भरोसा है—

कहते हैं सब लोग हमें हम दीन-हीन हैं भिक्षुक हैं।
कुछ भी हो हम लोग अभी अच्छे बनने को इच्छुक हैं॥
सच है वैभव रहा नहीं पर बुद्धि हमारी दीन नहीं।
पौरुष कम है मगर हुए हैं मनुष्यत्व से हीन नहीं॥[३]

कर्मशील देश से कवि रामचरित उपाध्याय कहते हैं—

तू कर्म का है मानने वाला पड़ा किस फेर में।[४]

कवि देश को आश्वासन देता है—

हो जायगा फिर भी समुन्नत सोच कुछ करना नहीं।
पर वीर भारत स्वप्न में भी विघ्न से डरना नहीं॥

---

१ डॉ० सुधीन्द्र : हिंदी कविता में युगांतर, पृष्ठ १८६।
२. भारत भारती, भविष्यत खण्ड, पृष्ठ १५५।
३ 'मातृभूमि', सरस्वती भाग १४ संख्या ६, सन १९१३।
४ सरस्वती भाग १७, संख्या ५, सन् १९१६, पृष्ठ २६०।

कवियों ने देश-वासियों के स्वाभिमान को जगाने के लिए हर सभव प्रयास किया। कवि 'सनेही' ने देशाभिमान-रहित मनुष्य को पशुतुल्य करार दिया है—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नही नरपशु निरा है और मृतक-समान है।[१]

द्विवेदी-युगीन कवियों का एकता के लिए विशेष आग्रह है। रामनरेश त्रिपाठी अपनी 'जन्म-भूमि भारत' नामक कविता में कहते हैं—

उठो, त्याग दें द्वेष, एक ही सबके मत हों।[२]

बूँद-बूँद मिलकर समुद्र बनता है, व्यक्ति, कुटुंब और समाज यदि एक ही धार में मिल जायें तो राष्ट्र की उन्नति होकर रहेगी, कवि 'त्रिशूल' का यह विश्वास है—

बुन्द-बुन्द मिल जलधि बने लेते तरंग हैं,
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब मिले एक ही धार में,
मिला शान्ति सुख राष्ट्र के पावन पारावार में।[३]

एकता के साधन हैं साम्यभाव और बन्धुत्व—

साम्यभाव-बन्धुत्व एकता के साधन हैं,
प्रेम-सलिल से स्वच्छ निरन्तर निर्मल मन हैं।
डाल न सकते धर्म आदि कोई अड़चन है,
उदाहरण के लिए स्वीस है अमेरिकन हैं।[४]

देश को जनता ही सच्चा राष्ट्र बनाती है और जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं किसान, मजदूर और विद्यार्थी। विश्वनाथ सिंह विद्यार्थी देश की जनता को उसके सच्चे रूप से परिचित कराना चाहते हैं—

विद्यार्थी, मजदूर, कृषक ही सच्चा राष्ट्र बनाते हैं।
उनके बिना राव राजागण कही नहीं कुछ कर पाते हैं॥
कृषको उठो, छात्रगण जागो, मजदूरो रोना छोड़ो।
अपना सच्चा रूप देख लो गली-गली रोना छोड़ो॥[५]

सन् १९१४ में लोकमान्य तिलक जब माडले जेल से छूटकर निकले तो उन्होंने राष्ट्र को क्रान्ति का सन्देश दिया और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए होम-रूल-आन्दोलन शुरू किया। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के नारे ने देश में जड़ता को

---

१ देखिए 'प्रताप' का मुखपृष्ठ।
२ सरस्वती, भाग १५, सख्या-१, सन् १९१४, पृष्ठ २७।
३. जातीयता . राष्ट्रगीत, त्रिशूल डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ १६३।
४ वही, पृष्ठ, १६३।
५ सरस्वती—भाग १८, संख्या ५, सन् १९१७, पृष्ठ २।

दूर कर नवचेतना और नवजीवन का मार्ग खोल दिया। 'भारत-भारती' के स्वर में स्वर मिलाकर अनेक स्वरों में भारत की प्रगाढ़ निद्रा को दूर करने का कार्य किया। कवि 'सनेही' के क्रान्ति-घोष से आकाश तक गूँज उठा—

वह दो 'हर हर' यार या
'अल्ला अल्ला' बोल दो![1]

किन्तु महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देशवासियों ने सुनियोजित स्वराज्य-आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसकी प्रेरणा ने प्रत्येक कवि के कण्ठ को आनन्दोल्लास से मुखरित कर दिया। गणेशशंकर जी के राष्ट्रीय पत्र 'प्रताप' के अंकों में उन दिनों ऐसे गान प्रकट हुए, जो राष्ट्र के ओज और उत्साह के साथ-साथ सत्याग्रह के दर्शनतत्त्व की पूरी मुद्रा लिए हुए थे। इस आन्दोलन की रूप-रेखा पूर्णरूप से शान्तिमय थी, फिर भी वह केवल विरोध ही नहीं था। वह अन्याय के विरोध का एक निश्चित किन्तु अहिंसात्मक रूप भी था। यह आत्मबल था और एक निःशस्त्र राष्ट्र का अहंकार ही न होकर उसकी अजर-अमर आत्मा का जाग्रत स्वाभिमान था।[2] इस सत्याग्रह-आन्दोलन को प्रेरणा गान्धी जी को गीता के प्रवृत्तिपरक कर्मयोग की भावना से मिली। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को बताया था कि तुम युद्ध करो, 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'[3], न्यायोचित मार्ग का अवलम्बन ही धर्म है। आधुनिक युग में भी, भले ही गान्धी जी का प्रारम्भ किया हुआ युद्ध अहिंसक था, प्राणों की बाजी लगाने की आवश्यकता सर्वप्रथम थी। प्रवृत्तिमार्ग संघर्षों से पलायन की अपेक्षा नहीं दे सकता था, संघर्षों से जूझते हुए देश के लिए बलिदान हो जाना ही वीर-कर्म माना गया और इसी वीर-कर्म में गीता के वीर-कर्म की अनुकृति देखी गई।

क्षात्र-धर्म में बलिदान की भावना को प्राचीन काल से ही महत्त्व प्राप्त है। अतीत का इतिहास ऐसे क्षत्रियों के गौरवपूर्ण चरित्र से भरा पड़ा है जो त्याग और बलिदान के प्रतीक हैं, देश के इतिहास में ऐसी क्षत्राणियों के भी चरित्र कम नहीं हैं, जिन्होंने क्षात्र-धर्म के नाते हँसते-हँसते अपने वीर पतियों को रण-क्षेत्र में भेजा है और देश की आन के लिये हँसते हँसते जौहर-व्रत स्वीकार किया है। द्विवेदी-युग के कवि आधुनिक युवक-युवतियों के सामने ऐसे ही त्याग और बलिदान के भव्य चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग' में हाड़ा कुंभा के देश के नाम पर अभूतपूर्व त्याग का चित्र प्रस्तुत किया है। चित्तौड़ में बूंदी के नकली किले की रक्षा के लिए वह मेवाड़ के राणा की विशाल सेना का मुकाबला

१ सनेही (डा० सुधीन्द्र: हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ १९७)।
२ डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता मे युगान्तर, पृष्ठ २०१।
३ गीता, २।३७।

करता है। हाडा कुम्भा के ये शब्द देश-प्रेमियों के लिये गीतामन्त्र से कम प्रेरणादायक नहीं हैं—

हैं न कुछ चित्तौर यह बूँदी इसे अब मानिए,
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।
कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे ?
मृत्यु माता की जगत् में सहन हो सकती किसे ?[1]

प्रियप्रवास में कृष्ण का लोकनायक स्वरूप प्रस्तुत करने का और उनके जीवन से मथुरा-प्रयाण का प्रसंग चुनने का 'हरिऔध' जी का उद्देश्य इसी त्याग और बलिदान का आदर्श उपस्थित करना था, नहीं तो कवि 'हरिऔध' अपने महाकाव्य के लिए ऐसा प्रसंग नहीं चुनते, जिसमें कृष्ण अपनी प्रेमिका राधा से मिलने के लिए मथुरा से ब्रज न आ सकते थे। इस बुद्धिवादी युग में भी कवि को ऐसा प्रसंग इसलिए चुनना पड़ा कि वे युग को यह सन्देश देना चाहते थे कि जब देश पर संकट के बादल छाए हों तो वीर-कर्म के नाते केवल संग्राम-भूमि की ओर पदार्पण ही अपेक्षित नहीं होता, वरन् संघर्ष में कूदने के पहले हृदय की प्रणय की भावना को भी कमजोरी समझ जला कर क्षार कर देना पड़ता है। ऐसी दशा में नारी का कर्त्तव्य यह हो जाता है कि वह भी लोक-सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दे। कृष्ण ने ही तो गीता में कर्मयोग का सन्देश दिया था, 'प्रियप्रवास' के कृष्ण भी मुक्ति की कामना से वैराग्य लेने वाले निवृत्ति-मार्गी को आत्मार्थी कहते हैं, उनकी दृष्टि में जगत्-हित और लोक-सेवा का आकांक्षी ही सच्चा आत्मत्यागी है। वे उद्धव के द्वारा राधा के पास सन्देश भेजते हैं—

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्म-त्यागी।
जी से प्यारा जगत्-हित और लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी, सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।[2]

भोग के विषय में उनका मत है कि उसमें सुख प्रदान करने की शक्ति है, परन्तु जगत्-हित के सामने वह भी फीका ही है—

भोगो में भी विविध कितनी रंजिनी-शक्तियाँ हैं।
वे भी तो हैं जगत्-हित से मुग्धकारी न होते।[3]

जो आत्मोत्सर्ग करते हैं, उन्हीं का जीवन सफल है—

हैं आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।

१. रंग में भंग, पृष्ठ ३२।
२. 'प्रियप्रवास', पृष्ठ २४४।
३. वही, पृष्ठ २४४।

सारे प्राणी स रुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश उसके आत्म उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कान्ते सफल अवनी-मध्य आना उसी का॥[1]

बड़ी ही विनम्रता से राधा अपना सन्देश उद्धव को सुनाती हैं।

जा के मेरी विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुँवर-वर को आप सौजन्य द्वारा।
मैं ऐसी हूँ न निज दुःख से कष्टिता शोक-मग्ना।
हा! जैसे हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुःखों से।

× × ×

आशा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे।[2]

त्याग और बलिदान की भावना से ओत प्रोत एक अन्य उच्चकोटि का प्रबन्ध-काव्य है रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक', जिसमें समाज से कर्तव्य-पालन, कर्मयोग, आत्मबल और बलिदान नामक व्यक्तिगत गुणों और असहयोग नामक नव-आविष्कृत जनशक्ति का सफल संकेत है। लोक-सेवक, लोक नेता पथिक देश की रक्षा के लिए निःस्वार्थ आत्माहुति देता है, जिससे अनुप्राणित होकर जनता असहयोग के साधन द्वारा राजा को अपदस्थ और देश से निर्वासित करती है और इस निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा स्वराज्य के सर्वश्रेष्ठ रूप जन-राज की प्रतिष्ठा करती है। जनता के विचारशील वर्ग की राजनीतिक आकांक्षा का यह एक सुन्दर स्वप्न चित्र है।[3]

इस युग में राष्ट्र की बलिवेदी को अपने रक्त से सँवार देने की प्रेरणा देने के लिए एक भारतीय आत्मा की लेखनी मचल उठी—

द्वार बलि का खोल
चल, भूडोल कर दें
एक हिम गिरि एक सिर
का मोल कर दें,
मसलकर, अपने
इरादों-सी, उठाकर
दो हथेली है कि
पृथ्वी गोल कर दें।

---

१ प्रियप्रवास, पृष्ठ २४४।
२ वही पृष्ठ २३६।
३. डॉ० सुधीन्द्र हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ २०७।

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी ?
जाँच कर, तू सीस दे-देकर, जवानी ।[1]

कवि की लेखनी का उद्देश्य है विद्रोह की ज्वाला जगाना-ज्वाला ऐसी है, जिसमें प्राणों के पतिंगे अपनी आहुति देने के लिए बेकरार हैं—

ज्वाला जगी कि अपनी बलि
हम पहले दें प्यारे,
हमसे ही बनते देखे हैं
दुनिया में अगारे ।[2]

कवियों ने जिस त्याग और बलिदान की गुहार मचाई है, वह वैराग्यजन्य और निवृत्तिमार्ग की ओर ले जानेवाला नहीं, वरन् अनुरागजन्य और प्रवृत्तिपरक कर्मयोग के पथ की ओर ले जानेवाला है। मृत्युपर्यन्त कर्ममार्ग पर डटे रहना ही कर्मयोग है। यजुर्वेद के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'[3] अति भोग के वर्जन की छाया में गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्'[4]—अनासक्त भाव से फल की आशा छोड़कर कर्मपथ के अनुसरण का सन्देश देने वाले प्रवृत्तिपरक सिद्धान्त में है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में इसी कर्मयोग का प्रतिपादन किया और स्वयं राजनीति के क्षेत्र में इसी कर्म-पथ पर दृढ़ता से डटे रहे। उनके जीवन-काल में स्वतन्त्रता की प्राप्ति संभव न हो सकी परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण पृष्ठभूमि तिलक जी ने कर्म-मार्ग पर डटे रहकर निःस्वार्थ भाव से तैयार की। व्यष्टिरूप में मनुष्य नश्वर हो सकता है, किन्तु समष्टि रूप में वह अविनश्वर है। तिलक जी को स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक जीवित नहीं रहना था, परन्तु उनकी दी हुई दृष्टि, उनकी जगाई हुई शक्ति, अनन्त और अविनश्वर बन गई। कहते हैं, परशुराम की शक्ति मर्यादा पुरुषोत्तम राम में स्थानान्तरित हो गई थी, तिलक की शक्ति भी गान्धी की शक्ति में जाकर मिल गई, तभी तो तिलक के महाप्रयाण के दिन (१ अगस्त १९२०) ही गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इन दोनों घटनाओं का एक साथ घटित होना मात्र संयोग की बात नहीं है, इसे तिलक जी द्वारा महाप्रयाण के साथ-साथ शक्ति की अनन्तता के सिद्धान्त पर अपने जीवन-दान द्वारा सही करने की घटना माना जा सकता है।

तिलक ने जिस कर्मयोग की शक्ति का परिचय दिया, उसी कर्मयोग को द्विवेदी-युगीन साहित्य के सामान्य अथवा असामान्य पात्रों का जीवन-सिद्धान्त बनाया गया।

---

१. 'जवानी' हरिकृष्ण प्रेमी . माखनलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ ६३।
२. 'विद्रोह'—हरिकृष्ण प्रेमी माखनलाल चतुर्वेदी, पृष्ठ ८५।
३. यजुर्वेद ॥४०॥१॥
४. गीता २।४७॥

इस युग के अधिकांश आख्यानक काव्यों के पात्र कर्ममार्ग को ही जीवन का मार्ग मानकर चलते हैं, और जीने तथा जूझने को ही जीवन का प्रतीक मानते हैं। समस्त देवताओं का धरती से बहिष्कार कर सुजला धरती को सुफला बनाने के लिए दिवोदास प्रजाजनों से कहते हैं—

सुजला अब भी भूमि हमारी, चलो करें उद्योग,
सुफला इसे बना लें मिलकर सम्भोगी हम लोग।[1]

हतोत्साह होकर निश्चेष्ट बैठ रहना श्रेयस्कर नहीं है इस सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले महाराज नहुष कहते हैं—

फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।[2]

विकट भट' के जोधपुर नरेश विजयसिंह अपने दरबारियों को टुकड़खोर नहीं बनाना चाहते, चोट खाये हुए पुरुषत्व की हुँकार उन्हें अधिक प्रिय है। भरी सभा में वे प्रश्न करते हैं—

देवीसिंह जी!
कोई यदि रूठ जाये मुझसे तो क्या करे?[3]

सरदार देवीसिंह टालना चाहते हैं, पर राजा एकदम अप्रत्याशित प्रश्न कर बैठते हैं—

और तुम रूठ जाओ तो बताओ क्या करो।[4]

देवीसिंह विनय नहीं छोड़ना चाहते, पर धैर्य की भी एक सीमा होती है—

'पृथ्वीनाथ! जो मैं रूठ जाऊँ', कहा वीर ने,
'जोधपुर की तो फिर बात क्या, वह तो,
रहता है मेरी कटारी की पेतली में ही—
मैं यों नव कोटि मारवाड़ को उलट दूँ।'[5]

देवीसिंह का यह वचन अक्षरश: तब सिद्ध हुआ जब अकेले ही उन्हें विजयसिंह की सेना का मुकाबला करना पड़ता है। साहित्य में ऐसे कर्मवीर का अवतरण प्रवृत्तिमूलक कर्ममार्गी सिद्धान्त की ही देन है।

'सिद्धराज' के कर्मवीर जगद्देव भी इसी कर्ममार्ग पर विश्वास करते हैं। उन्हें

१ मैथिलीशरण गुप्त 'दिवोदास' पृथ्वीपुत्र, पृष्ठ २६।
२ मैथिलीशरण गुप्त नहुष, पृष्ठ ३९।
३ मैथिलीशरण गुप्त विकट भट, पृष्ठ ३।
४ वही, पृष्ठ ३।
५ वही, पृष्ठ ४।

अपनी शक्ति पर विश्वास है, प्राणों के रहते उनकी जन्मभूमि किंकरी कैसे हो सकती है—

अब भी स्वतन्त्र है अवन्ती निज शक्ति से,
मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।[१]

अपनी कविता 'कर्मवीर बनो' में गुप्त जी कर्म को ही कर्मवीर का धर्म मानते हैं—

धर्म है अपना जीवन प्राण,
कर्म पर हो जाओ बलिदान।[२]

कवि सनेही कर्म-कृपाण लेकर उन्नति-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं—

लेकर कर्म-कृपाण ज्ञान की सान चढ़ाओ।
बल-विद्या-विज्ञान झिलम उर पर झलकाओ॥
स्वाभिमान के साथ समर में सम्मुख आओ।
चलो बला की चाल, कला-कौशल दिखलाओ।
दिन पर दिन उन्नति करो विघ्नों का संहार हो,
शब्द गगनभेदी उठे ऐसा जय-जयकार हो।[३]

कर्मवीर की शक्ति का परिचय देते हुए श्री 'हरिऔध' कहते हैं—

काम कितना ही कठिन हो पर जो उकताते नहीं।
भीड़ पड़ने पर भी चंचलता जो दिखलाते नहीं।
होते हैं यक आन में उनके बुरे दिन भी भले,
सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले-फले।[४]

कर्ममार्ग विस्तीर्ण है, अतः चलना ही श्रेय है—

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े मत रहो, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है।
चलने वाला पीछे को ही छोड़ता।
सारी बाधा और आपदा-वृन्द को।[५]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धराज, पृष्ठ ४३।
२. मैथिलीशरण गुप्त : कर्मवीर बनो (डा० सुधीन्द्र-हिन्दी कविता में युगान्तर पृष्ठ २०२ से उद्धृत)।
३. सनेही : जीवन संग्राम।
४. कर्मवीर, सरस्वती-अप्रैल-१९०७।
५. जयशंकर प्रसाद : करुणालय पृष्ठ १०।

फल की आशा छोड़ निष्काम कर्ममार्ग में चित्तवृत्ति के निरोध की भावना के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर सामजस्य है, द्विवेदी-युग के कवियों ने प्रवृत्ति-धर्म को जीवन के लिए आवश्यक बताया है, परन्तु कहीं भी घोर प्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया है, उनकी दृष्टि में घोर प्रवृत्ति-मार्गी की वही दशा होती है, जो दुर्योधन की हुई थी। भोग और योग, संग्रह और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामजस्य ही जीवन-सुख के लिए अपेक्षित है—

तन से सब योगों का भोग
मन से महा अलौकिक योग
पहले संग्रह का सयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।[१]

मैथिलीशरण जी ने बतलाया है कि सच्ची मनुष्यता का स्वरूप स्वार्थत्याग, समता, लोक-सेवा तथा निष्कामकर्म में है, और उसका पालन करने वाला स्वतः मुक्त है—

जहाँ स्वार्थ का सर्वथा त्याग है,
सभी के लिए एक-सा भाग है।
जहाँ लोक-सेवा महाधर्म है,
जहाँ कामना छोड़ के कर्म है;
वहाँ आप ही आप उद्धार है;
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है।[२]

आत्म-सग्रह और त्याग का उपदेश देते हुए दिवोदास प्रजाजनों से कहते हैं—

...किन्तु आत्म-सग्रह पहले है, पीछे कोई त्याग।
करके निज कर्तव्य स्वयं हम मानेंगे सतोष,
फल अपने हैं, किन्तु अफल में नहीं हमारा दोष।[३]

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों सिद्धियों की प्राप्ति के लिए मनुष्य इच्छा करे, तभी प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामजस्य हो सकता है। प्रथम तीन सिद्धियों के करतलगत होने पर ही, प्रवृत्ति-मूलक जीवन के पूरे उपभोग के पश्चात् ही मोक्ष पाने का प्रयास अथवा निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन अभीष्ट हो सकता है, किन्तु ऐसा भी क्यों हो, अमरत्व की प्राप्ति के लिए स्वर्ग जाने की क्या आवश्यकता? सुरपुर के सारे वैभव इसी पृथ्वी पर उपलब्ध किये जा सकते हैं, इस ससार को ही स्वर्ग बनाया जा सकता है—

१. मैथिलीशरण गुप्त : स्वदेश-संगीत, पृष्ठ १५।
२. मैथिलीशरण गुप्त : सरस्वती, भाग १६ खंड २, पृष्ठ ३४१।
३. मैथिलीशरण गुप्त : दिवोदास, पृथिवी-पुत्र, पृष्ठ २७।

'अर्थ' मूल है-काम सिद्धि का, उसे धर्म से प्राप्त करो।
अर्थकरी विद्या की शिक्षा तुम घर-घर में व्याप्त करो।।
मोक्ष मिलेगा जब त्रिवर्ग यह करगत कर लोगे प्यारे।
होगे अमर, यही पाओगे वैभव सुरपुर के सारे।[1]

द्विवेदी-युग कवियों की आश्रम धर्म पर प्रगाढ़ आस्था है। विद्या-प्राप्ति पश्चात् गार्हस्थ्य का अत्यधिक महत्त्व है। दिवोदास में ब्रह्मा दिवोदास को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश देते हुए कहते हैं—

रहे अभी सन्यास, प्रथम हो सग्रह गृह के सग,
मर्यादा का भग करोगे करके उसका भग?
काम्य काम भी सृष्टि-धर्म है, करो उसे मत खर्व।[2]

गार्हस्थ्य-धर्म पालन कर लेने के बाद ही वानप्रस्थ का प्रश्न उठता है, यदि पत्नी जीवित नहीं है तो संन्यास आश्रम में प्रवेश लिया जा सकता है—

जब पूरी विद्या हो जावे उद्यम करना जो मन भावे।
फिर विधिवत् विवाह कर लेना प्यारी वनिता को सुख देना।
सुत म बीत जाय तरुणाई जब जानो अब देह बुढ़ाई।
तब सुत को प्रतिनिधि कर अपना सब तज नाम राम का जपना।।
कर सत्संग सीतारे पन में नाम सहित बसिये कानन में।
जो पै जीवित नारि रहे ना तो सन्यास धर्म गह लेना।।[3]

आश्रम-धर्म का व्यतिक्रम मैथिलीशरण गुप्त को ग्राह्य नहीं। 'साकेत' में दशरथ इस व्यतिक्रम के उपस्थित होने पर ग्लानि करते हैं—

गृह-योग्य बने हैं वनस्पृही,
वन योग्य हाय! हम बने गृही।[4]

चारों आश्रमों में से गृहस्थ धर्म की महत्ता समवेत स्वर से स्वीकार की ग है, यही आश्रम मनुष्य को प्रवृत्तिमार्ग के अवलम्बन में सहायता प्रदान करता है द्विवेदी-युग के कवियों ने, विशेषकर मैथिलीशरण गुप्त ने, गार्हस्थ्य के अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'साकेत' में कौशल्या-सीता की गृहस्थी एक पुण्यस्थान से कम नहीं—

माँ! क्या लाऊँ? कह-कहकर पूछ रही थी रह रहकर।
सास चाहती थी जब जो, देती थीं उनको सब सो।

१. त्रिशूल सरस्वती भाग १३, संख्या ५, सन् १९१२, पृष्ठ २७६।
२. मैथिलीशरण गुप्त : दिवोदास पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १०।
३. नाथूराम शर्मा शंकर : शंकर सर्वस्व, पृष्ठ २७४।
४. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत, पृष्ठ १२२।

प्राणप्रद था पवन वहाँ, ऐसा पुण्यस्थान कहाँ ?
अमृत-सीध का तट सा था, अन्तजगत् प्रकट सा था।[1]

बक संहार में एक विप्र परिवार का उल्लेख है, पाण्डवों को कुछ दिनो के लिए इस परिवार के साथ रहने का सयोग प्राप्त हुआ था। सपरिवार सन्ध्योपासना करते समय द्विज—

परितृप्त गृह सुख भोग से, मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानो भुवन की भावना था हर रहा।[2]

ग्राम निवासियों ने बक नामक राक्षस से यह तय किया था कि हर परिवार में से एक व्यक्ति बारी-बारी से उसके क्षुधा निवारणार्थ भेजा जाएगा। उस दिन इस विप्रपरिवार में से किसी एक व्यक्ति को जाना था। परिवार के समस्त सदस्यो में जाने की होड मच जाती है। ब्राह्मण सबको समझाते हुए कहता है—

सम्पूर्ण जीवन सौख्यमय मैं हूँ पा गया,
भागी हुआ भव-भाग का,
अब तृप्त हूँ गृहत्याग का
मेरे लिए उपयुक्त अवसर आ गया।[3]

ब्राह्मणी के लिए इससे अधिक परिताप की बात और क्या होती कि वह जीती रहे और उसका पति जाकर मरे। वह कहती है—

मैं सुत-सुता हूँ जन चुकी,
कुल-वर्द्धिनी हूँ बन चुकी,
मेरे बिना अब हानि क्या ससार की ?
इस हेतु जान दो मुझे, यह पुण्य पाने दो मुझे,
जिससे सुरक्षा हो सके परिवार की[4]

इधर द्विज-सुता कुल-कीर्ति धन्या होना चाहती है—

है दान की ही वस्तु कन्या लोक में।
तो त्याग तुम मेरा करो,
आपत्ति यों अपनी हरो,
मैं भी बनूँ कुल-कीर्ति-धन्या लोक में।

---

१ मैथिलीशरण गुप्त साकेत, पृष्ठ ७२ ७३।
२ मैथिलीशरण गुप्त जय भारत, 'बक संहार'-पृष्ठ ८६।
३ वही पृष्ठ ८६।
४ बक-संहार, पृष्ठ ९०।

मैं माँगती हूँ, पुण्य का यह भाग दो ।[१]

बहन के कंधे पर अपना माथ कर रखे हुए कुल-दीप-सा बालक अपनी तोतली वाणी में कहता है—

मालूँ अधुल को मैं अबो, वह है कहाँ ?[२]

ऐसा सुखद पारिवारिक वातावरण किसी भी परिवार के लिए स्पृहणीय हो सकता है । इसमें कोई सन्देह नहीं, ऐसी गृहस्थी ही जीवन का केन्द्र है और उसकी धुरी है नारी । द्रौपदी सत्यभामा को समझाते हुए कहती हैं—

बाहर चूर-चूर होकर नर बहुधा घर आता है,
नारी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है ।
यदि ऐसा न हुआ तो समझो दोनों बड़े अभागी
दोनों की ही सद्गृहस्थता तब भागी तब भागी ।[३]

गुप्त जी ने मनुष्यत्व-स्वस्थ मनुष्यत्व—को देवत्व से भी श्रेष्ठतर, देवत्व को इसका क्षुद्र मृतरूप कहलवाया है, 'सिद्धराज' में राजमाता कहती हैं—

गर्व नहीं करती हूँ मेरे जयसिंह की
समता करे जो आज, ऐसा कौन राजा है ?
पृथ्वी पृथुल-, और पार्थिव अनेक हैं,
कोई देव और कोई दैत्य होंगे उनमें;
किन्तु मनुष्यत्व मेरे पुत्र का ही भाग है;
क्षुद्र अमरत्व मृत रूप है नरत्व का
और प्रभुता तो असुरत्व में भी होती है ।[४]

निवृत्ति के साथ सन्यास और प्रवृत्ति के साथ गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ती है । और जब-जब गार्हस्थ्य के गौरव में वृद्धि होती है, नारियों की पद-मर्यादा आप-से-आप बढ़ जाती है । पुनरुत्थान ने प्रवृत्ति की जो महिमा जगाई, उससे गार्हस्थ्य गौरवपूर्ण हो उठा और उसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में नारियाँ आदरणीय हो उठीं ।[५] द्विवेदी-युगीन कवियों के हृदय में नारियों के प्रति पूर्ण सहानुभूति की भावना जागृत हुई । नारी-उत्थान सम्बन्धी वैचारिक आन्दोलन में मुख्यतया तीन सोपान दिखाई देते हैं । पहले तो नारियों के प्रति सहानुभूति जगी, तब नर-नारी-समानता के भाव जगने लगे और तीसरे सोपान पर पहुँचकर नारी विद्रोह-पूर्वक

---

१. बक-संहार, पृष्ठ ६२-६३ ।
२. वही, पृष्ठ ६५ ।
३. मैथिलीशरण गुप्त : जयभारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृष्ठ १६० ।
४. मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धराज, पृष्ठ १७ ।
५. दिनकर : पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ १[illegible] ।

अपने अधिकार माँगने लगी।[1] द्विवेदी-युग के कवियों की नारी-भावना सहानुभूतिपूर्ण है, कहीं तो वह दयनीय रूप में दिखाई देती है और कहीं उसका दर्प अधिक मुखरित हो उठता है। यों इस युग के कवियों ने नारी को हृदयगत भावना के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है।

रामचरित-चिन्तामणि में राम-वन-गमन के समय जब सीता से अयोध्या में ही रहने के लिए कहते हैं, तो सीता स्वाभिमान-पूर्वक बोल उठती है—

मैं मूर्ख की कन्या नहीं हूँ, जानती हूँ धर्म को;
सत्कर्म के परिणाम को, दुष्कर्म के भी मर्म को।
मुझको अकारण ही न अपने से अलग कर दीजिए,
धरवीर होकर भीरु नर के सम न अपयश लीजिए॥[2]

सिद्धि-मार्ग की बाधक नारी रावण की दृष्टि में शक्ति बन जाती है। उसका विश्वास है कि सीता-हरण होने पर राम शक्तिहीन होकर रण में विजयी न हो सकेंगे—

वह दिनमणि क्या तप सकता है जिसमें होती प्रभा नहीं;
वह जनपद क्या कर सकता है जिसमें होती सभा नहीं।
सीता से ही हीन राम भी शक्ति-हीन हो जावेगा;
आधे अंगों से कोई भी क्या रण-रंग दिखावेगा?[3]

लङ्का-विजय के बाद राम सीता को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं, तब सीता का दर्प हुंकार उठता है—

नर वीर अति प्राकृत मनुज की-सी न बातें कीजिए;
मुझको मृषा लांछन लगाकर प्राण को मत लीजिए।
जैसी समझते थे, न अब वैसी समझते हो मुझे,
क्या सत्य जग से चल बसा? कैसी समझते हो मुझे?[4]

वाल्मीकि के आश्रम पले हुए बालक राम के दरबार में पहुँच सीता की पैरवी करते हैं—

अन्यायियों का नाम नृप! जग में न लेना चाहिए;
क्या धर्मपत्नी को कभी बनवास देना चाहिए?

१. दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३०।
२. रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, पृष्ठ ४९।
३. वही पृष्ठ ११४।
४. रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, पृष्ठ २४६।

पापी पिता का नाम हमसे पूछते हैं क्यो कहें ?
उसको न चाहेंगे कभी चाहे सदा वन में रहें।
× × ×
क्या जानकी है दुश्चरित्रा ? क्यों तजा है आपने ?
क्या आपकी मति छीन ली है प्रभु। किसी के शाप ने ?[1]

अन्त में राम को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ती है—

जो लोक के अपवाद के भय से हो गई अति भूल है,
उसका भयकर आज भी मेरे हृदय में शूल है।[2]

'सिद्धराज' में नारी नर की बलदात्री बतलाई गई है। प्रणयी खगार के यह कहने पर कि—

'किन्तु मैं खड़ा हुआ हूँ आज याचक बना हुआ।
आज तुम्हारे मनोद्वार पर मामिनी !'

जब रानक कहती है—

'हाय ! वीर, एक अबला से बल-याचना ?'

तो खगार उत्तर देता है।

'भद्रे, नर-भाग्य यही, पूछो स्वयं शिव से,
शक्ति के बिना वे शव मात्र रह जायँगे।'[3]

मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' जैसे महाकाव्य का सृजन उर्मिला की व्यथा को वाणी प्रदान करने के लिए किया था। साकेत अभिनव रामचरित-मानस होते हुए भी उपेक्षिता नारी के प्रति ही समर्पित महाकाव्य है।[4] यदि लक्ष्मण ने उसे विरह का वरदान दिया है, तो वह उसे झेलेगी, अपने उपवन के हरिण को जो आज 'वनचारी' बना बैठा है, अपने बन्धन में बाँधने का प्रयास नहीं करेगी—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी, तजो भय भारी।[5]

राम-लक्ष्मण-सीता के वन-गमन के समय उर्मिला वेदना के आधिक्य के कारण मूर्छित होकर गिर पड़ी, सीता को उसके प्रति सहानुभूति होती है—

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा, तेरा।[6]

---

१. रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, पृष्ठ २८३-२८४।
२ वही पृष्ठ २८४।
३. मैथिलीशरण गुप्त सिद्धराज, पृष्ठ ६३–६४।
४. देखिये, पृष्ठ २८२।
५. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, पृष्ठ २६५।
६. वही, पृष्ठ १२१।

परन्तु वन से लौटने पर राम उर्मिला को अधिक भाग्यशालिनी मानते हैं—

तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर,
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर।[1]

जब समाज में आदर्श की रूढ़ियाँ बँध जाती हैं और वह एक निर्जीव और निष्क्रिय धर्माभास के घेरे में घिरकर अन्धवत् आचरण करता है, तब मस्तिष्क को सचेत करने के लिए कभी-कभी उसे धक्का देने या चोट पहुँचाने की आवश्यकता पड़ती है। माइकेल मधुसूदन ने 'मेघनाथ-वध' के द्वारा यही चोट पहुँचाई और यही चेतना उत्पन्न की। कवि का यह स्वाभाविक धर्म है, काव्य की यह भी एक अनिवार्य प्रक्रिया है। साकेत भी रामायण के दूसरे पक्ष को—वह पक्ष जो राम के वनवास और युद्ध का नहीं, भरत की तपस्या और उर्मिला की विरह-व्यथा का है—जो अलौकिक नहीं है, किन्तु कहीं अधिक मानवीय है, अंकित करता है।[2] इस महाकाव्य का नवम सर्ग उर्मिला की विरह-व्यथा को अर्पित है।

उर्मिला की करुणा अवाक् है, परन्तु यशोधरा की करुणा मुखर है। वह आई हुई विपत्ति पर गम्भीरता से विचार करती है। उसके व्यक्तित्व के गाम्भीर्य का कारण उसकी चिन्तनशीलता है। कवि ने यशोधरा के दार्शनिक चिंतन के भीतर से प्रवृत्तिमार्गी रूप से दर्शन कराये हैं। यशोधरा के चिन्तन का क्रम यह है कि हाथ में आए हुए जीवन की उपेक्षा करके मुक्ति खोजने का प्रयास व्यर्थ है। धर्म की वृद्धि से, अर्थ और काम का उपभोग करने से, मोक्ष तो आप-से-आप प्राप्त हो जाता है। फिर जीवन को त्यागने की आवश्यकता क्या है? माना कि जीवन नश्वर है और दुःखपूर्ण भी, किन्तु जीवन का सर्वथा नाश नहीं होता, न जीवन के उपवन में केवल शूल ही शूल है। यदि हम शम, दम, नियम और संयम का पालन कर सकें तो फिर जीवन का उपभोग करने में कोई दोष नहीं है।[3] यशोधरा स्वयं मुक्ति की कामना नहीं करती, संसार के लिए सौ बार भी मरना पड़े तो हर्ज क्या है—

आओ प्रिय! भव में भाव विभाव भरें हम,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार-हेतु शत बार सहर्ष मरें हम।
तुम सुनो क्षेम से, प्रेम-गीत मैं गाऊँ।
वह मुक्ति, भला, किसलिये तुम्हें मैं पाऊँ?[4]

१ मैथिलीशरण गुप्त साकेत, पृष्ठ ४९५।
२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य २०वीं शताब्दी, पृष्ठ ४६।
३ श्री रामधारीसिंह दिनकर 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २७।
४ मैथिलीशरण गुप्त यशोधरा, पृष्ठ १५५।

यशोधरा के इस दार्शनिक चिन्तन से दो-एक अनुमान निकलते हैं। एक तो यह कि चूँकि सिद्धार्थ का गृह-त्याग यशोधरा को अच्छा नहीं लगा, इसलिए सोचते-सोचते वह यह भी सोच गई कि बुद्ध ने जो धर्म चलाया है, वह प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धर्म से श्रेष्ठ नहीं है। दूसरे, सम्भव है, यशोधरा के आस्थावान् हिन्दू कवि ने यशोधरा काव्य के भीतर वैदिक-धर्म की ध्वजा फहराने के विचार से यह प्रसंग जानबूझ कर रखा हो। जो हो, दोनों ही अवस्थाओं में यह प्रसंग प्रवृत्तिमार्गी हिन्दुत्व के पुनरुत्थान का प्रभाव है।

निवृत्ति के प्राधान्य के युग में, जब वैराग्य पुण्य-कार्य समझा जाता था, नारी की उपेक्षा की परम्परा-सी चल पड़ी थी, नारी को ठुकराकर ही वैराग्य के मार्ग में सफलता की आशा की जा सकती थी, परन्तु प्रवृत्ति प्राधान्य के युग में महात्मा गान्धी जैसे महापुरुष ने इस मत का प्रतिपादन किया कि कार्य-सिद्धि में नारी बाधक नहीं हो सकती, त्याग और बलिदान के क्षेत्र में भी पत्नी पति का साथ दे सकती है। बीसवीं शताब्दी की यशोधरा के मन में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि क्या पति-पत्नी साथ रहकर साधना नहीं कर सकते—

> मैं अबला, पर वे तो विश्रुत वीर बली थे मेरे।
> मैं इन्द्रियासक्त, पर वे कब थे विषयों के चेरे?[1]

विरह-वर्णन की भारतीय साहित्य में न्यूनता नहीं है। किन्तु, करुणा की वह चोट जो सीधे पतियों के वैराग्य भावना पर पड़ती है, अब तक नहीं लिखी गई थी। और वह लिखी जाती भी तो कैसे? प्रवृत्तिमार्गी पुनरुत्थान-युग से पूर्व यह कोई कल्पना ही नहीं कर सकता था कि वैराग्य केवल पुण्य ही नहीं, उसका एक पाप-पक्ष भी है जो पत्नियों को जीवित वैधव्य झेलने को विवश करता है।[2] किसी पत्नी ने भी यह दावा नहीं किया था कि उसके पति की कीर्ति के पीछे उसी की करुण कहानी काम करती है—

> प्रिय, तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी।
> कहाँ तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण कहानी?[3]

यशोधरा के बाद की कृति 'विष्णुप्रिया' की नायिका का जीवन और भी करुण है, इसलिए पुरुष के वैराग्य के प्रति उसके उद्‌गार और भी हृदयग्राही हैं—

> अबला के भय से भाग गये, वे उससे भी निर्बल निकले,
> नारी निकले तो असती है, नर यती कहाकर चल निकले।[4]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त यशोधरा पृष्ठ ४३।
२ श्री दिनकर ' पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २४।
३. यशोधरा पृष्ठ ४३।
४ मैथिलीशरण गुप्त विष्णुप्रिया पृष्ठ ५७।

विष्णुप्रिया की दृष्टि में उसके पति श्री चैतन्य महाप्रभु ने गृह नहीं गृहणी को त्यागा है—

हाय मेरे कारण ही छोड़ गये घर वे,
गृहिणी ही त्यागते हैं नर गृह कब हैं।[1]

'विष्णुप्रिया' का समाज सन्यासी के प्रति सहानुभूति नहीं, वरन् कोप प्रदर्शित करता है, वह नारी के ऊपर नर के अत्याचार का प्रतिकार करता है—

व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री संसार है,
मुझ पर कृपा, कोप स्वामी पर करता बारबार है।
कहता है, नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है, विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है।[2]

'द्वापर की विधृता पुरुष के अत्याचार का प्रतिकार आत्म-बलिदान द्वारा करती है—

नर के बाँटे क्या नारी की नग्नमूर्ति ही आई?
माँ बेटी या बहिन हाय, क्या संग नहीं वह लाई?
अविश्वास, हा, अविश्वास ही नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का।
उपजा किन्तु अविश्वासी नर हाय तुझी से नारी।
जाया होकर भी जननी है तू ही पाप-पिटारी।
जाती हूँ, जाती हूँ अब मैं और नहीं रुक सकती,
इस अन्याय समक्ष मरूँ मैं, कभी नहीं झुक सकती।[3]

महात्मा गाँधी ने त्याग का पथ अपनाने वाले के लिये भी नारी को ठुकराने की स्वीकृति नहीं दी थी। 'यशोधरा' में मैथिलीशरण गुप्त ने यह प्रश्न उठाया कि क्या पत्नी साधना पथ में पति का साथ नहीं दे सकती? रामनरेश त्रिपाठी ने इस प्रश्न को अधिक ज्वलन्त रूप देने के लिये आधुनिक युग की प्रेमिकाओं—'मिलन' में विजया और 'पथिक' में पथिक-प्रिया—की सृष्टि कर उनसे पति की साधना में योगदान करवाया। 'मिलन' में पति-पत्नी एक दूसरे से अज्ञात, समाज-सेवा का काम हाथ में लेते हैं। नायक जनता को संगठित कर विदेशी आततायी से युद्ध करता है। जब वह घायल हो संकट में पड़ जाता है, तब नायिका से शत्रु पराजित होता है। 'पथिक' में देश-सेवी के सेवा पथ में योगदान देने के लिए पथिक प्रिया अपना बलिदान कर देती है और पति के सम्मुख बलि का प्रशस्त मार्ग

१ मैथिलीशरण गुप्त विष्णुप्रिया, पृष्ठ ८५।
२ विष्णुप्रिया— पृष्ठ ९८।
३ द्वापर, पृष्ठ ३५-३६।

प्रस्तुत करती है, जिसका अवलम्बन कर पथिक जनता की सच्ची सेवा में समर्थ हो पाता है।

प्रवृत्ति के उत्थान की महत्त्वपूर्ण देन एक यह भी हुई कि शास्त्र-प्रमाण और परम्परा के बन्धन ढीले होने लगे एवं स्वर्ग और नरक की कल्पनाएँ निस्सार मानी जाने लगी। स्वर्ग कही है तो इसी धरती पर, अथवा इस धरती को सुख-सम्पन्न बना स्वर्ग-तुल्य बना देने के उद्गार प्रकट किए जाने लगे। कर्मवीरो को देवों की कृपा भी इष्ट नही होती। वे दैव-दैव की पुकार को आलसियों की पुकार मान कर्मशील होने में विश्वास करते हैं। गुप्तजी का दिवोदास कर्म करने में विश्वास करता है, इसी कर्म के बल पर देवताओं की कृपा को ठुकराना चाहता है—

हम दयनीय नही, भागी हैं देवो के ही साथ,
हृदय नही, या बुद्धि नही, या नही हमारे हाथ?
कल तक नाम जपा है हमने, आज करेंगे काम।[1]

'सनेही' जी कहते हैं—

प्यारे भारत, प्यारे भारत, तुझ पर वारे जाएंगे—
स्वर्ग-लालसा छोड़ तुझे हम अपना स्वर्ग बनायेंगे।[2]

जब भारत देश का भाग्योदय होगा और समस्त सिद्धियाँ सुलभ हो जाएँगी तब—

स्वर्ग-लालसा फिर तुम जी में अपने कभी न लाओगे—
जो चाहोगे इसी लोक में प्रियवर तुम पा जाओगे।[3]

'केशों की कथा' में युधिष्ठिर को भी असमय मृत्यु का वरण कर स्वर्ग की कामना नही है—

असमय मरण का वरण करके स्वर्ग भी क्यों चाहिए,
यदि सर्व-हित-साधन रहे, अपवर्ग भी क्यो चाहिए।
तनु है यहीं तक, क्यो न उससे लोग पूरा काम लें,
जब काल आवे सहज गति से शान्ति से विश्राम लें।[4]

युग को स्वर्ग-लोक का आकर्षण भी नही रह गया था। इस पुण्य-भूमि धरती का ही आकर्षण ऐसा तीव्र था कि 'साकेत' के राम को यहाँ अवतरित होना पड़ा, वह भी स्वर्ग के सन्देश के लिए नही, इस भूतल को ही स्वर्ग बना देने के लिए—

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

१. गुप्त : पृथ्वीपुत्र, पृष्ठ २३।
२. सनेही : 'भारत देश'।
३. सनेही : 'भारत देश'।
४. गुप्त : केशों की कथा—जयभारत, पृष्ठ ३०१।

अथवा आकर्षण पुण्य-भूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल जैसा ।[1]

पुनरुत्थान की कोख से जिस प्रवृत्ति ने आधुनिक युग में पुनरवतार लिया, जिसकी वाणी सर्वप्रथम भारतेन्दु-युगीन कवियों ने सुनी, वही प्रवृत्ति द्विवेदी-युगीन कवियों के लिए युग-पथ की ओर अग्रसर कराने में मार्ग निर्देशक बनी। जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाने के प्रयत्न में कवियों ने यह अनुभव किया कि वास्तविक सुख तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही मिल सकता है, उसके पहले तो सुखाभास हो सकता है। देश की तन्द्रा को भंग करना सरल काम नहीं था, परन्तु 'कर्मयोग' ने फल प्राप्ति के लोभ को छोड़ कर कर्ममार्ग की ओर अग्रसर होना सिखाया। देशोद्धार के लिए बलिदान की होड़-सी लग गई। अपनी नसों के रक्त को पानी नहीं रक्त सिद्ध करने के लिए असंख्य युवक-युवतियों ने देश की बलिवेदी पर अपने-अपने मस्तक उतार कर सजा दिए, उनका बहाया हुआ रक्त व्यर्थ नहीं गया, मसि बनकर कवियों की लेखनी में चमक पड़ा और देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता की राशि-राशि कविताओं के ढेर लगने लगे। सन्यास के मुकाबले में गार्हस्थ्य का सम्मान-भाव व्यक्त होते ही द्विवेदी युगीन कवियों ने गृहस्थी के बड़े ही खूबसूरत चित्र खींचे और नारी के प्रति उपेक्षाभाव दूर होते ही नारी-स्वाभिमान की गाथाएँ गाने जाने लगी। स्वर्ग की लालसा भी महत्त्वपूर्ण न रह गई, धरती पर ही रक्त की बूँदों से हजारों स्वर्ग-रेखाएँ अंकित कर दी गई—

स्वर्ग की तलाश में न भूमि-लोक भूल देख,
खींच रक्त-बिन्दुओं भरी हजार स्वर्ग-रेख ।[2]

प्रवृत्तिमुखी दार्शनिकता के विभिन्न क्षेत्र

द्विवेदी-युग हमारे देश में गहरी सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। इस काल-खण्ड में भारत देश राजनीतिक चेतना की प्रतीक-प्रतिनिधि कांग्रेस के नेतृत्व में बड़ी तेजी से स्वाधीनता की यात्रा में अग्रसर होता जा रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग की राजनीतिक चेतना को बल मिला, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के प्रवृत्ति-दर्शन से। स्वयं प्रवृत्ति के पथ पर अग्रसर होने वाले राजनीतिक कर्मयोगी तिलक ने निष्काम भाव से त्याग और बलिदान की प्रेरणा दी और महात्मा गान्धी ने प्रवृत्ति-पथ पर आरूढ़ हो देश को असहयोग आन्दोलन का मार्ग दिखाया, देश को अद्भुत बल मिला और राजनीति का उज्ज्वल पक्ष चमक उठा।

समस्त राष्ट्र का संकल्प हुआ लोकमान्य प्रदत्त 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध

---

१ मैथिलीशरण गुप्त साकेत, पृष्ठ २३१।
२ हरिकृष्ण प्रेमी माखनलाल चतुर्वेदी, तान की मरोर, पृष्ठ ७८।

अधिकार है' की चेतना—

मिलेंगे स्वत्व सब, है किसका ये साहस जो रोकेगा ?
चरण अंगद का बनकर कौम जब इस पर डटी होगी।[१]

स्वराज्य-अधिकार की चेतना ने साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना को कमज़ोर बना डाला—

जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो, हम सब हैं भाई-भाई॥[२]

यह मानी हुई बात थी कि स्वराज्य-अधिकार की माँग अँगरेज़ों की इच्छा के अनुकूल न थी। अनगिनत संख्या में देश-प्रेमी जेलों में ठूँसे जा रहे थे, परन्तु कर्ममार्ग के अवलम्बन की प्रेरणा से वे विचलित न होते थे, कारागार को उन्होंने कृष्ण मंदिर मान लिया—

रहें कहीं हम ऊँचा सिर होगा।
कारागार कृष्ण-मन्दिर होगा।[३]

जब देशभक्ति के अपराध में तिलक को भी जेल में ठूँस दिया गया तब 'शंकर' कवि ने दुःखित हो लिखा—

तिलक-वियोग-विष बरस रहा है अब,
सुकवि न चरचा करेंगे नव-रस की।[४]

परन्तु देश भी तो स्वातन्त्र्य का दीवाना हो चुका था, उसे नवरस की चर्चा स्वीकार्य ही कहाँ थी। अपने प्रिय नेता के पद-चिह्नों पर चलने की आकांक्षा में हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ अधिक परितोष देने लगी—

आत्म-देव ! प्यारी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ दें परितोष।
उतनी ही आदरणीया हैं, जितना वह जय जय का घोष।[५]

समस्त देश ही मानो एक विशाल कारागार बन गया। उन दिनों की भारतीय जनता की यह कहानी कारा की कहानी है। यह मुँहबन्दी कानून की कहानी है। कलमबन्दी की कहानी है। भारत-रक्षा के काले कानूनों की कहानी है और अमृतसर के जलियाँवाला बाग में डायर-लिखित रक्त-रंजित घृण्य इतिहास की कहानी—[६]

'मैं 'मुँहबन्दी' का हार लिये, 'मत लिखो' कठिन कंकड़ धारे।
"भारत रक्षा" के शूलों की, पाँवों में बेड़ी झनकारे॥

---

१. सनेही : जातीय संगीत।
२. रूपनारायण पाण्डेय : सरस्वती, भाग १४ संख्या ६।
३. मैथिलीशरण गुप्त : नवयुग का स्वागत।
४. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ १३।
५. भारतीय आत्मा : बन्धन-सुख।
६. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ २०६।

'हथियार न लो'' की हथकड़ियाँ, रौलट का हिय में घाव लिये।
डायर से अपनी नाक कटा, कहती थी आँचल लाल किये।[१]

इसी समय चट्टान की सी दृढ़ता वाले महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में देशवासियों को असहयोग का पाठ पढ़ाया। राष्ट्रीय पथिक की असहयोग-आन्दोलन की समर-भेरी गूंज उठी—

असहयोगान्दोलन की समर भेरी बजा दीजे।
निडर हो दुष्पियों को शक्ति अब अपनी दिखा दीजे।
स्वशासन कौन देता है खुशी से, पैर पड़ने से?
अगर हो हिम्मते मर्दां, हो तो खुद कब्जा जमा लीजे।[२]

'सत्याग्रही के बयान' में 'एक भारतीय आत्मा' की दृष्टि में मातृभूमि की आजादी के लिए अहिंसक असहयोग का उपाय ही बचा था—

बाकी एक उपाय बचा था जिसकी की गांधी ने याद।
शीघ्र अहिंसक असहयोग से मातृभूमि होवे आजाद।
× × ×
अपने पैरों चल पड़ना है असहयोग व्रत ठान चलो
हो जाओ आजाद, मर मिटो, दो दिन के मेहमान चलो।[३]

गांधी जी के राजनीतिक नेतृत्व ने देश को अभूतपूर्व बल प्रदान किया और साथ ही-साथ यह अटूट विश्वास भी दिया कि देश की राजनीति को उच्च आदर्श से युक्त नैतिक स्तर वाली विचार भूमि पर कर्म रत रहकर ही सफलता मिल सकती है। वही सफलता स्थायी सफलता होगी। संघर्षों में पल कर भी वही राजनीति उमड़े हुए कलज को ऊँचा आसन दिलायेगी—

जिसको अपनी बुरी दशा से असंतोष हो जाएगा,
उसका उमड़ा हुआ कलेजा ऊँचा आसन पायेगा।[४]

द्विवेदी युग के कवियों में सामाजिक उन्नति का प्रश्न पिछले युग की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। वास्तव में बौद्धिक चेतना के इस युग में गतानुगतिकता पर प्रहार सहज हो गया और समाज जीवन के प्रति प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण के फल स्वरूप अधिक उन्नत और जागरूक बनने के लिए कटिबद्ध हुआ। द्विवेदी युगीन काव्य अपनी कलात्मक पूर्णता के लिए दावा भले ही न कर सके परन्तु शील और सद्वृत्ति के कारण वह अवश्य चिरकाल तक चिरस्मरणीय रहेगा। इस युग के कवियों की

१ रामानुज राष्ट्रीय वीणा।
२ राष्ट्रीय पथिक समर भेरी।
३ हरिकृष्ण प्रेमी माखनलाल चतुर्वेदी सत्याग्रही का बयान, पृष्ठ ६४ ६६।
४ वही पृष्ठ ६७।

दृष्टि में कविता को सजाने की दृष्टि गौण रही है, समाज को सजाने की दृष्टि मुख्य रही है, आर्य-समाज की सामाजिक चेतना से भी कवियों को पर्याप्त बल मिला, वे आदर्शवादी पथ का अनुसरण कर सामाजिक समीक्षक और सामाजिक सुधारक की-सी सूक्ष्म दृष्टि वाले कवि बन गये और सम्पूर्ण समाज को शीलवान् और आदर्श समाज बनाने की क्रिया में अपनी लेखनी का सदुपयोग करने लगे।

कविवर श्रीधर पाठक ने स्त्रियों की उपेक्षा को सामाजिक अधोगति का मूल कारण समझा और कहा कि स्त्रियाँ ही अपनी जीवन-ज्योति जगाकर समाज की दशा सुधार सकती हैं—

अहो पूज्य भारत-महिला-गण, अहो आर्यकुल प्यारी।
अहो आर्यगृह लक्ष्मि सरस्वती, आर्यलोक उजियारी॥
आर्य-जगत में पुन: जननि निज जीवन-ज्योति जगाओ।
आर्य हृदय में पुन: आर्यता का शुचि स्रोत बहाओ॥[1]

कवि नाथूराम 'शंकर' शर्मा बिगाड़ों को बिगाड़ने और सुधारों को सुधारने की दिशा में जागरूक होकर सुशीला बालिकाओं को सुशिक्षित करने के लिए कटिबद्ध होते हैं—

सुशीला बालिकाओं को लिखावेंगे-पढ़ावेंगे,
न कोरी कर्कशाओं को वृथा सोना गढ़ावेंगे।
प्रवीणा को प्रतिष्ठा के महाचल पै चढ़ावेंगे,
सती के सत्य की शोभा प्रशंसा पै बढ़ावेंगे।
सुभद्रा देवियों को यों दयादानी दुलारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे सुधारों को सुधारेंगे।[2]

मैथिलीशरण गुप्त भी समाज को पक्षाघात से बचाने के लिए स्त्री शिक्षा का समर्थन करते हैं—

विद्या हमारी भी न तब एक काम में कुछ आयेगी,
अर्द्धांगियों को भी सुशिक्षा दी न जब तब जाएगी,
सर्वाङ्ग के बदले हुई यदि व्याधि पक्षाघात की
तो भी न क्या दुर्बल तथा व्याकुल रहेगा पातकी?[3]

जाति-पाँति के बन्धन को तोड़ना भी समाज-सुधारकों का मुख्य उद्देश्य था। श्री 'हरिऔध' जाति-पाँति के जाल में फँसे मूर्ख हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते हैं—

---

१. मनोविनोद, पृष्ठ ३२।
२. शंकर-सर्वस्व, 'प्रचंड प्रतिज्ञा', पृष्ठ ८७।
३. भारत भारती, भविष्यत् खण्ड, पृष्ठ १७५।

जाति-पाँति के धर्मजाल में उलझे पड़े गँवार।
मैं इन सबको सुलझा दूँगा करके एकाकार॥[1]

छूत-पात के आडम्बर को नष्ट करने का अभियान मैथिलीशरण गुप्त प्रारम्भ करते हैं—

देश-दशा उन्नत करने की पूर्ण करूँगा टेक।
द्विज होकर भी सबका खाना खाऊँ बिना विवेक।
एकता यों सचाऊँगा।
किसी से कभी न हारूँगा।[2]

वर्ण-जाति-गत विषमताओं से पीड़ित समाज के अन्तर्मन पर तीखा करुण व्यंग्य करते हुए सियारामशरण गुप्त अप्रत्यक्ष रूप से मुस्लिम और ईसाई समाज की उदारता अपनाने की ओर संकेत करते हैं—

कैदी कहते, 'अरे मूर्ख'; क्यों ममता थी मंदिर पर ही?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी॥[3]

आर्थिक विपण्णता को दूर किए बिना सामाजिक उन्नति असम्भव थी। भारतेन्दु की 'विदेश को धन भेजे जाने की ख्वारी' को द्विवेदी-युगीन कवियों ने अच्छी तरह समझा। महादेव रानाडे ने देश के नेताओं का ध्यान औद्योगीकरण की ओर आकृष्ट किया था, इधर बंग-भंग आन्दोलन के ठीक बाद ही स्वदेशी आन्दोलन छिड़ा, इस युग के कवियों ने इन समस्त स्वरों को काव्य-प्राणी प्रदान की। देश के औद्योगीकरण पर बल देते हुए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कहते हैं—

दियासलाई, ऐनकें, बाजे, मोटरकार,
बाइसिकिलें, कपड़े, दवा, रेल, तार, हथियार।
रेल, तार, हथियार, विविध बिजली के आले,
घूमपोत, हल, पप अमित औज़ार मसाले,
बनें यहीं और खपें, नहीं तो सुन लो भाई,
देशीपन को अभी लगा दो दियासलाई॥[4]

मैथिलीशरण गुप्त वैज्ञानिक विस्तार के युग में भव्य यन्त्रों को अपनाने पर ज़ोर देते हैं, क्योंकि इनके बिना समस्त व्यवसाय व्यर्थ हैं—

व्यवसाय अपने व्यर्थ हैं अब भव्य यन्त्रों के बिना,
परतन्त्र हैं हम सब कहीं अब भव्य यन्त्रों के बिना।

---

१. आधुनिक-काव्य धारा, पृष्ठ १४५।
२. सरस्वती : जून १९०८।
३. सियारामशरण गुप्त एक फूल की चाह।
४. पूर्ण-पराग, स्वदेशी-कुंडल, पृष्ठ १९२।

कल के हलों के सामने अब पूर्व का हल व्यर्थ है,
उस वाष्प-विद्युद्वेग-सम्मुख देह का बल व्यर्थ है ॥[1]

स्वदेश के बने कपड़े पहनने पर जोर देते हुए 'पूर्ण' जी कहते हैं—

बिना विदेशी वस्त्र नहीं क्या गुजर तुम्हारा ?
काफी है जो मिले होय गाढ़ा या सारा ।[2]

क्योंकि यहाँ की ही नकल तो परदेशी कपड़े हैं

हैं यहाँ की ही नकल सकल परदेशी कपड़े ।[3]

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी सांस्कृतिक जागरण के प्रतिनिधि थे। उन्होंने देशवासियों को पाश्चात्य संस्कृति के चाकचिक्य के मोहजाल से मुक्त कर भारतीय संस्कृति के प्रति पूज्य-भाव अपनाना सिखाया। भौतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इस युग का सांस्कृतिक जागरण अत्यन्त बलशाली सिद्ध हुआ, क्योंकि इसकी टकराहट से ही वैदिक युग की प्रवृत्तिमार्गी धारा का प्रत्यावर्तन हुआ। जीवन के प्रति उत्कट राग उत्पन्न होते ही भारतीय संस्कृति समस्त पुरानी बुराइयाँ दूर हो गई और पाश्चात्य संस्कृति का भी भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को अपनाने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। कर्ममार्ग में अनवरत संघर्ष की भावना, त्याग की भावना से समन्वित भोगवाद विश्वबन्धुत्व, जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि आदि भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषताएँ हैं, जिन्हें अपनाने के लिए विश्व के अन्य राष्ट्र आज उत्सुक हैं।

भारत देश अपनी संस्कृति के कारण सारे संसार का सिरमौर है—

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं।
विद्या-कला-कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य हैं।[4]

भारतीय संस्कृति के प्राचीन रीति-रिवाजों को असभ्यतापूर्ण कहने वालों को मैथिलीशरण गुप्त का उत्तर है—

सचमुच ही क्या फाग खेलना है असभ्यता का लक्षण।
सभ्यों की यह नई समझ है अद्भुत और विलक्षण।
किन्तु हमारी ग्राम्य-बुद्धि में यही बात दृढ़ हो ली।
पारस्परिक प्रेम-बन्धन को दृढ़ करती है होली।[5]

---

१. भारत-भारती, भविष्यत् खंड, पृष्ठ १६०।
२. पूर्ण पराग, स्वदेशी कुंडल, पृष्ठ १८८।
३. वही पृष्ठ १८८।
४. मैथिलीशरण गुप्त : भारत-भारती, पृष्ठ ५।
५. सरस्वती, खण्ड ११, सख्या ४, सन् १९१०।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को व्यवहार्य बनाने का आदेश रामचन्द्र शुक्ल इन पंक्तियों में देते हैं—

सबके होकर रहो सहो सबकी व्यथा,
दुखिया होकर सुनो सभी की दुखकथा।
परहित में रत रहो प्यार सबको करो,
जिसको देखो दुखी उसी का दुःख हरो।
वसुधा बने कुटुम्ब प्रेम-धारा बहे,
मेरा तेरा भेद नहीं जग में रहे।[१]

भौतिकवाद में आध्यात्मिक चेतना लाने का प्रयास कवि की लेखनी ही कर सकती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये पारस्परिक घृणा और ईर्ष्या-द्वेष को दूर करना होगा। प्रतियोगिता के स्थान में सहयोगिता को अभिषिक्त करना होगा, विश्व-हित के साथ देश प्रेम का सामञ्जस्य स्थापित करना होगा।[२] कवि गोपालशरण सिंह जी की इस भावना से ओत-प्रोत पंक्ति है—

लय हो मेरा लघु जीवन,
जग के विशाल जीवन में।[१]

उपसंहार

द्विवेदी-युग की कविता जीवन की आधार शिला पर टिकी रहकर जीवन के विभिन्न पार्श्वों—आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक (सामाजिक)—के अवलोकन, अध्ययन और अभिव्यक्ति की कविता है। जीवन के निष्ठापूर्ण अध्ययन और उसकी न्यायपूर्ण अभिव्यक्ति को इस युग के कवियों ने इतना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझा कि सब बात को सीधे-सादे ढंग से कह देना ही काव्य की चरम उपलब्धि मान ली गई। ऐसी दशा में इस युग के कवि काव्य के कलागत सौन्दर्य की ओर ध्यान दे भी न पाये। इस युग के और आगे आने वाले युग के कवियों पर रवीन्द्र-साहित्य का प्रभाव प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से पड़ रहा था, पर बंगला साहित्य के व्यक्तित्व और हिन्दी-साहित्य के व्यक्तित्व में वही अन्तर मिलता है जो एक ओर अरविन्द और रवीन्द्र के व्यक्तित्व में तथा दूसरी ओर तिलक और गान्धी के व्यक्तित्व में मिलता है।

सामान्यतया जनसाधारण की दृष्टि में कवि या साहित्यकार को उच्च भाव-भूमि पर ले जाकर मनोरंजनकर्ता के रूप में माना जाता है, देश में छाये हुए संकट में उसका कुछ विशेष उत्तरदायित्व नहीं माना जाता, परन्तु द्विवेदी-युग के कवि इसके अपवाद हैं। वे देश के विराट जनसमूह के पथप्रदर्शक और हमराही

१ रामचन्द्र शुक्ल हृदय।
२ गोपालशरण सिंह आधुनिक कवि, पृष्ठ १६।

के रूप में हमारे सामने आते हैं। युग-चेतना से प्रभावित वह विराट जनसमूह कवियों से सौन्दर्य-लोक में सैर कराने के लिए याचना नहीं करता। प्रेम की संकीर्ण वीथियों को छोड़कर ये कवि भी उस मार्ग पर चलते हैं जहाँ सारा जन-समूह थका-माँदा आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है, भीड़ में मिलकर लोगों से उनका दुःख-दर्द पूछते हुए उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए, उनके साथ हँसते-खेलते उनके दुःख पर आँसू बहाते, उनकी कमजोरियों और लापरवाही का परिहास करते हुए, रास्ते की खराबियों और मौसम की कठोरताओं के बारे में सावधान करते हुए ये कवि आगे बढ़ते हुए दिखाई देते हैं।[1]

द्विवेदी-युग के कवियों ने साहित्य, जाति और देश की सेवा साथ-साथ की। प्रवृत्ति के उत्थान में योगदान देने के लिए परम आवश्यक था। इस लोक को, इस धरती को, इस जीवन को सुन्दर बनाना ही प्रवृत्तिमूलक दृष्टि का सही प्रयोग कहा जा सकता है। इस युग के कवियों ने अतीत का चित्रण करते हुए वर्तमान को भूलना अनुचित समझा, देश की सांस्कृतिक रक्षा के साथ-साथ सुधार का भी ध्यान रखा और जाति का अभ्युत्थान चाहते हुए देशहित का गीत गया। इस युग का काव्य जहाँ एक ओर सांस्कृतिक सम्पर्क, संघर्ष और संस्कार की कथा कह रहा है, वहाँ इन कवियों की सहानुभूति, सच्चाई और स्वतन्त्र तथा उदार व्यक्तित्व का संकेत दे रहा है। इसी में इन कवियों की सफलता और इसी में इनकी महत्ता है।

द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग और छायावाद-युग के बीच की कड़ी है। यह युग भारतेन्दु-युग से प्रभावित हुआ और इसने छायावाद-युग की कविता को प्रभावित किया। नई भाषा इसकी देन है। इसने भारतेन्दु-युग के नवीन विचारों को आगे बढ़ाया और छायावाद की प्रवृत्तियों का मूल इसी द्विवेदी-युग में है।

१. डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता, पृष्ठ १६०।

अध्याय ६

छायावाद-युग

तत्कालीन पृष्ठभूमि

छायावाद-युग के काव्य में द्विवेदी-युगीन जीवन की जय की वृत्ति को और अधिक उन्मेष और विस्तार मिला। मानव-जीवन की समृद्धि की दिशा में छायावाद के उद्भव को एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता की संज्ञा दी जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के कवियों को नूतन दृष्टि मिली थी, वह दृष्टि आत्ममुक्ति की धारणा को तुच्छ मानकर भावमुक्ति, मानवमुक्ति, विश्वमुक्ति की सम्भावनाओं की ओर दौड़नेवाली थी। निश्चय ही यह दृष्टि तत्कालीन जीवन के संशय और हलचल के कारण उत्पन्न हुई थी। नई रोशनी को पाने की विह्वलता में यह युग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नये प्रयोग के लिये आतुर दिखाई देता है। प्राचीन आदर्शों के—चाहे वे जिस क्षेत्र के हों—दीपक बुझाकर युग ने नई रोशनी के लालच में अंधकार को ही अंगीकार किया। परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, क्या सांस्कृतिक—एक ओर अविश्वास और संशय की भावना दिखाई देती है और दूसरी ओर उत्साह और उमंग की भावना के दर्शन होते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद का काल छायावाद का शैशव-काल है। छायावाद के शैशव-काल में अँगरेजी राज्य के दमन का जो चक्र चला, वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दिनों तक निरन्तर चलता रहा, परन्तु इससे भी अधिक तीव्र थी जनता के हृदय की बगावत की भावना। सौभाग्य से देश को राष्ट्रीय आन्दोलन के पथ-प्रदर्शक के रूप में महात्मा गान्धी जैसे नेता मिले। उन्होंने अपने तथाकथित भारतीय भाइयों को नई जीवन-दृष्टि प्रदान की। भारतीय जनता ने भी पूर्ण विश्वास के साथ देश की बागडोर गाँधीजी के हाथों में सौंप दी।

सत्याग्रह के स्रष्टा और द्रष्टा गाँधीजी ने असहयोग के प्रस्ताव पर विचार करने के लिये सन् १९२० के सितम्बर माह में कलकत्ता में कांग्रेस का अखिल भारतीय अधिवेशन बुलाया। असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव गाँधीजी ने स्वयं प्रस्तुत किया। गाँधी जी के प्रस्ताव उस भवन की तरह होते थे, जिसकी नींव, दीवार

और छत सभी चीजें दृढ़ता से परस्पर जुड़ी होती थी। महात्मा जी यह नहीं चाहते थे कि उसमें से एक भी ईंट निकाली जाय, क्योंकि ईंट निकालने का अभिप्राय था मकान को निर्बल करके निकम्मा बना देना।[1] देशबन्धु दास और श्री विपिनचन्द्र पाल तक के संशोधनों को गांधीजी ने अस्वीकार कर दिया और उनका प्रस्ताव अपने असली रूप में ही स्वीकार हो गया। इस प्रस्ताव में मुख्य रूप से सरकार की दी हुई पदवियाँ छोड़ देने की, सरकारी स्कूलों और कॉलेजों के बहिष्कार की, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की एवं ब्रिटिश अदालतों से नाता तोड़ लेने की अपील की गई। इसके साथ ही विदेशी वस्त्रों को त्याग स्वदेशी वस्त्रों को अपनाने की नीति पर भी जोर दिया गया।

लार्ड रीडिंग का शासन-काल जनता के असहयोग का कार्य-काल था। देश भर में अनेक लोगों ने सरकार की दी हुई उपाधियों को पुरानी केंचुल की तरह छोड़ दिया, इस दिशा में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बहुसंख्यक विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों से अपने नाम कटा लिये और राष्ट्रीय शिक्षणालयों में भर्ती हो गये, बहुतों ने पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना जीवन लगा दिया। कांग्रेस के आह्वान पर प० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरंजनदास जैसे मूर्धन्य वकीलों ने अपनी-अपनी वकालत छोड़ देश-सेवा का व्रत ले लिया। विदेशी वस्त्रों की आहुति का जो अभियान चला, वह भी कम अभूतपूर्व न था, स्वयं प० मोतीलाल नेहरू ने सहस्रों विदेशी वस्त्र अग्नि को समर्पित कर दिये।

दिसम्बर सन् १९२१ में अहमदाबाद में जो अधिवेशन हुआ, उसमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर विशेष जोर दिया गया। गाँधीजी की अनुमति से बारदोली के इलाके में सत्याग्रह-आन्दोलन की पूरी तैयारी की गई। आन्दोलन पूरी सफलता से प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे देशव्यापी आन्दोलन का रूप धारण करने लगा, परन्तु ५ फरवरी १९२२ को गोरखपुर के समीप चौरीचौरा नामक स्थान पर कांग्रेस के जुलूस में जनता और पुलिस की भिड़न्त में उत्तेजित जनता के एक समूह ने एक थानेदार और इक्कीस सिपाहियों को थाने में बन्द करके जला दिया। गाँधीजी इस दंगे से बड़े क्षुब्ध हुए, उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित करते हुए देश के सामने रचनात्मक कार्यक्रम की योजना रखी। तेजी से बढ़ती हुई राजनीतिक हलचल में एक प्रकार से किंकर्तव्यविमूढ़ता-सी आ गई।

गाँधी जी के कारागार-वास के दिनों में राष्ट्रीय आन्दोलन की आँधी रुक सी गई। ऐसे समय में देश की सोई हुई साम्प्रदायिकता ने उग्र रूप धारण कर लिया। गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद, जबलपुर और दिल्ली जैसे बड़े शहरों में कांग्रेस एवं अन्य नेताओं के निरन्तर प्रयत्न के बावजूद साम्प्रदायिकता

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृष्ठ २२७।

की अग्नि शान्त न हो सकी। सन् १९२४ में गांधीजी के जेल से रिहा होते ही ईद के अवसर पर दिल्ली में बड़ा भयंकर दंगा हुआ। सारा राष्ट्र विक्षुब्ध हो उठा, परन्तु सबसे अधिक पीड़ा गांधीजी को हुई। उन्होंने दंगे में उत्पन्न क्रोधोन्माद और हत्या-प्रवृत्ति का जिम्मेदार अपने-आप को ठहराया और उपवास के द्वारा अपने पाप का प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया।[1] ८ अक्टूबर १९२४ को महात्मा गांधी ने २१ दिन का अनशन भंग किया, उस दिन देश भर में लोगों ने उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिये ईश्वर से प्रार्थना की।

देशबन्धु चित्तरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू कांग्रेस की नीति से असंतुष्ट होकर कांग्रेस से अलग स्वराज्य पार्टी के संगठन की घोषणा कर दी और देखते-ही-देखते सैकड़ों प्रभावशाली कांग्रेसियों को उसका सदस्य बना लिया। प० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य पार्टी ने जो कार्य किया, उससे देशवासियों को बड़ा उत्साह मिला। सरकार को स्वराज्य पार्टी ने राजनीतिक कैदियों को छोड़ने, रेगुलेशन एक्ट १८१८ की धारा ३ को रद्द करने सम्बन्धी प्रस्तावों पर करारी हार दी एवं कौंसिलों में लोकमत प्रकाशित कर देश में राजनीतिक चेतना को जगाए रखा।[2]

देश के कुछ क्रान्तिकारी नवयुवकों ने शस्त्र द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने की लालसा में 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' की स्थापना की। सन् १९२५ में उनकी ओर से अंग्रेजी में रिवोल्यूशनरी (क्रान्तिवादी) नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। प० रामप्रसाद बिस्मिल और चन्द्रशेखर आजाद इस दल के प्रमुख निर्भीक नेता थे।

सन् १९२७ के अंतिम भाग में भारत के वायसराय लार्ड इर्विन ने महात्मा गांधी एवं देश के अन्य नेताओं को सूचना दी कि भारत के वैधानिक सुधारों के प्रश्न पर रिपोर्ट करने के लिए एक कमीशन बनाया गया है, जिसके प्रमुख सर जॉन साइमन होंगे। इन्हीं दिनों पंडित जवाहरलाल नेहरू डेढ़ वर्ष का योरप-भ्रमण करके लौटे थे। उन्होंने योरप के समाजवादी क्षेत्रों से सम्पर्क स्थापित किया था और समाजवादी विचारों से वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनके नेतृत्व में कांग्रेस के अन्दर एक वामपक्षी दल बन गया था, जिसने नवयुवकों को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट कर लिया था। वामपक्षी प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण महात्मा गान्धी की अनुपस्थिति में मद्रास-अधिवेशन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता घोषित किया गया। अधिवेशन में

१. पट्टाभि सीतारामैया : कांग्रेस का इतिहास, खंड १, पृष्ठ २२२।
२. इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृष्ठ २२७।

साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय हुआ और यह भी फैसला किया गया कि नये विधान की सरकारी योजना के मुकाबले में भारतीय योजना बनाने के लिये एक सर्वदलीय सम्मेलन हो ।[1]

३ फरवरी १९२८ को जब साइमन कमीशन बम्बई पहुँचा तो देश भर के लोगों ने हड़ताल मनाई और 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाये । लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में कमीशन का विरोध करती हुई एक बड़ी भीड़ पर पुलिस ने लाठी चलाई, जिसमें लाला जी को सख्त चोट आई और ऐसा विश्वास किया जाता है उनकी मौत इन चोटों के कारण और जल्दी हो गई ।[2] समस्त विरोधों के बावजूद कमीशन कागजी कार्यवाही में लगा रहा और रिपोर्ट का एक बड़ा पोथा तैयार किया गया । लाला लाजपतराय के पेश करने पर केन्द्रीय विधान-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया कि कमीशन और उसकी योजना विधान-सभा को बिल्कुल अमान्य है ।

सन् १९२८ में ही एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ, जिसमें एक वैधानिक योजना बनाई गई जो नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि योजना बनाने वाली समिति के अध्यक्ष प० मोतीलाल नेहरू थे । इस योजना में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहते हुए जिम्मेदार सरकार की माँग की गई, जिसे 'डोमिनियन स्टेटस' नाम दिया गया । दिसम्बर माह के कलकत्ता अधिवेशन में बड़ी कठिनाई के बाद नेहरू-रिपोर्ट स्वीकृत हुई । गाँधी जी ने इस अधिवेशन में घोषणा की कि यदि सरकार ३१ दिसम्बर १९२९ तक यह रिपोर्ट मंजूर नहीं कर लेती तो कांग्रेस फिर अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ कर देगी । कांग्रेस के नेताओं ने अंगरेजी साम्राज्यवाद से समझौता करने का हर सम्भव प्रयास किया, परन्तु वे विफल रहे । परिणाम-स्वरूप सन् १९२९ के अन्त में लाहौर-अधिवेशन बुलाया गया । प० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में यह ऐलान किया गया कि 'नेहरू रिपोर्ट' का समय बीत गया है, आगे से कांग्रेस का ध्येय 'पूर्ण स्वराज्य' रहेगा । कांग्रेस कमेटी को 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलन' छेड़ने का अधिकार दिया गया । ३१ दिसम्बर १९२९ को आधी रात को भारतीय स्वाधीनता का तिरंगा-झण्डा फहराया गया । २६ जनवरी १९३० को सारे देश में स्वाधीनता-दिवस मनाया गया और स्वाधीनता संघर्ष के लिये प्रतिज्ञाएँ की गईं ।

६ अप्रैल १९३० को महात्मा गांधी ने देशव्यापी नमक-सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया । बारिश के दिन नजदीक आ जाने से नमक-सत्याग्रह के बन्द होने की नौबत आनेवाली थी कि जंगल-सत्याग्रह शुरू होने लगा । सत्याग्रह की आग बुझाने के लिये गाँधी जी आदि नेताओं को बन्दी बना लिया गया, जिससे आग और भड़क

१. रजनी पाम दत्त—भारत वर्तमान और भावी, पृष्ठ १६५-१६६ ।
२ पट्टाभि सीतारामैया कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ २५७ ।

उठी। दमन का प्रत्येक नया हुक्म सत्याग्रह के लिये एक नवीन अवसर देता था और इसी उमंग में देश के हजारों युवक जेलों में जाने लगे। ऐसा दृश्य दिखाई देने लगा मानो कांग्रेस ब्रिटिश राज्य की प्रतिस्पर्द्धी राज्य-संस्था हो और भारतीय जनता पर ब्रिटिश हुकूमत नहीं, बल्कि कांग्रेस की अबाध सत्ता चालू हो।[1]

नवम्बर १९३० में इंगलैंड में प्रथम गोलमेज सम्मेलन हुआ, जिसमें महात्मा गांधी और कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। सात दिन के बाद ही अधिवेशन स्थगित कर दिया। उसके बाद महात्मा गांधी एवं अन्य कांग्रेसी नेताओं को रिहा करके लार्ड इर्विन ने महात्मा गांधी के साथ समझौते की वार्ता प्रारम्भ की। मार्च १९३१ में गांधी-इर्विन समझौता हुआ, जिसके अनुसार सरकार ने कांग्रेस-समिति पर लगाये गये सभी प्रतिबन्ध हटा लिये और कांग्रेस ने भी सविनय आज्ञा-भंग को स्थगित करने और गोलमेज अधिवेशन में भाग लेने के लिए विचार करने का आश्वासन दिया।

इस समझौते पर जब अमल करने का समय आया तो लार्ड इर्विन के स्थान पर लार्ड विलिंगडन भारत के नये वायसराय नियुक्त हुए। उन्होंने समझौते की समस्त शर्तों की खुलेआम अवहेलना शुरू की परन्तु शान्ति के पुजारी महात्मा गांधी ने वायसराय की अपील, पर सन् १९३१ में द्वितीय गोलमेज परिषद के दूसरे अधिवेशन में भाग लेना स्वीकार कर लिया। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने यह घोषणा की कि वे पूरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन से कम किसी वस्तु को स्वीकार न करेंगे। सम्प्रदायों के अलग राजनीतिक अधिकारों की चर्चा का (विशेष कर अछूतों के) उन्होंने खुलकर विरोध किया। इस बार भी परिषद् का अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। महात्मा गांधी जब भारत पहुँचे, उस समय ब्रिटिश सरकार का दमन-चक्र तेजी से चल रहा था। पं० जवाहरलाल नेहरू आदि कांग्रेस के नेता पहले ही बन्दी बना लिए गए थे। ४ जनवरी, १९३२ को गांधी जी भी गिरफ्तार कर लिए गए और उसी दिन बहुत सारे आर्डिनेन्स एक साथ जारी किये गये। देश भर के नेताओं को पकड़ लिया गया और कांग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया गया। जेल में महात्मा गांधी को मालूम हुआ कि भारत के नये प्रस्तावित ब्रिटिश संविधान में हिन्दुओं और मुसलमानों के अतिरिक्त दलित और अछूत जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को लागू किया जायेगा। महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया और जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री मैकडानल्ड ने १७ अगस्त को अछूतों के पृथक् निर्वाचन के पक्ष में अपनी व्यवस्था प्रकाशित कराई तो गांधी जी ने २० सितम्बर से आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। अंत में अछूत समझी जानेवाली जातियों के नेता डा० आम्बेडकर और महात्मा गांधी में चार दिनों के विचार-विमर्श के बाद समझौता हुआ, जो 'पूना पैक्ट' के नाम से

१. आचार्य जावडेकर : आधुनिक भारत, पृष्ठ २०४-२०५।

प्रसिद्ध हुआ। इस समझौते के अनुसार संयुक्त निर्वाचन का सिद्धान्त कायम हुआ और दलित जातियों को पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार मिला। अंत में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की ओर से समझौते की स्वीकृति आते ही २६ सितम्बर १९३२ को गांधी जी ने अनशन-भंग किया।

सन् १९३२ के अंत में जब तीसरा गोलमेज अधिवेशन हुआ तो उसमें भारत की ओर से ऐसे प्रतिनिधि भाग लेने के लिए गये थे, जिन्हें अपने पूरे राष्ट्र का समर्थन प्राप्त नहीं था, उन दिनों राष्ट्र के मनोनुकूल प्रतिनिधि महात्मा गांधी जेल में थे। इस परिषद् के परिणाम-स्वरूप पार्लियामेन्ट की 'सिलेक्ट कमिटी' बनी और उसका बनाया विधान सन् १९३५ में 'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट' के नाम से कानून बन गया। इस बीच कांग्रेस ने सत्याग्रह की दिशा से अपना पग हटाकर कौंसिल के मोर्चे की ओर आगे बढाया। वस्तुतः कांग्रेस १९३५ के सुधारों को ठुकराकर हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण स्वाधीनता के अधिकार प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर थी।

स्वातन्त्र्य-संघर्ष के लिए कटिबद्ध भारत देश में सामाजिक संगठन की दिशा में भी जागृति के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। पराधीन भारत के किसानों और मजदूरों में भी धीरे-धीरे जागृति की भावना का समावेश होने लगा। ब्रिटिश राज्य में जमीन का लगान बढाने, कर्जदारों को गुलाम बनाने, और किसानों की जमीन छीनने की जो क्रिया शुरू हुई थी, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में भारत के सभी भागों में किसान-आन्दोलन का प्रारम्भ होने लगा। किसान अपने-आप गाँव-कमेटी बनाने लगे। आगे चलकर जिला-कमेटी और प्रान्तीय-कमेटी की भी स्थापना हुई। अन्त में सन् १९३६ में अखिल-भारतीय किसान-सभा का संगठन हुआ, जिसका पहला अधिवेशन दिसम्बर सन् १९३६ में फैजपुर में हुआ जब अखिल-भारतीय कांग्रेस-अधिवेशन भी हुआ था। संगठित होकर किसानों ने राजनीतिक संघर्ष में बड़ा सक्रिय भाग लिया। प्रथम महायुद्ध के बाद मजदूरों में भी नवजागृति की भावना आई और उन्होंने भी अपने अधिकारों के लिए संगठित आन्दोलन शुरू किये। सन् १९२० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन की स्थापना हुई। ट्रेड यूनियन के अधिवेशनों में जो भाषण होते थे, उनमें प्रायः वर्ग-शान्ति का उपदेश और मजदूरों के सामाजिक एवं नैतिक सुधारों की बातें रहती थी और सरकार से मजदूरों के सम्बन्ध में कानून बनाने और उनके रहन-सहन सुधारने की माँग की जाती थी।[1] सन् १९२७ तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस में ५७ यूनियनें शामिल हुई थी, जिनके बाकायदा दर्ज मेम्बरों की संख्या १५०,५५५ थी।[2] सन् १९३८ तक यूनियनों की संख्या २९६ और उनके

१. रजनी पामदत्त भारत वर्तमान और भावी, पृष्ठ २०७।
२ वही, पृष्ठ २०८।

सदस्यों की संख्या २६१,००० हो गई।[1] मजदूरों में राजनीतिक जागरण का आश्चर्यजनक स्वरूप दिखाई देने लगा था, इन की ट्रेड यूनियनों में समाजवादी तथा कम्युनिस्ट विचारों का प्रसार होने लगा था। समाज का मध्यम वर्ग भी संगठन की दिशा में आगे बढ़ रहा था। वह देश का सबसे अधिक शिक्षित और सचेत वर्ग था। इस वर्ग की मनोवृत्ति में पिछले युग की अपेक्षा आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के संघर्ष में तपकर मध्य वर्ग का व्यक्ति अपनी 'स्व'-चेतना के प्रति जागरूक हो उठा था, न केवल अंगरेजी सरकार से लड़ने के लिए वह कटिबद्ध था; देश की प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं तथा आदर्शों से भी लड़ रहा था। मध्यम वर्ग का यह अहं ही छायावादी कविता के व्यक्तिवादी स्वर में साकार हो उठा है। सामाजिक जागरण की दिशा में सबसे अनूठा नारी-जागरण था। स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार तेजी से हुआ, वह घर की चारदीवारी की घुटन से मुक्त हुई। स्त्रियों के प्रति एक प्रकार से समाज का रुख इस दिशा में बदलने लगा कि अब वह पुरुष की मात्र सम्पत्ति न थी, वह इस युग में अपने नवीन व्यक्तित्व के साँचे में ढली हुई पुरुष के प्रति मैत्री और साहचर्य की भावना से ओत-प्रोत थी। नारी-जागरण की दिशा में महात्मा गाँधी का विशेष हाथ रहा है, उन्होंने अस्पृश्यता-उन्मूलन और शराबबन्दी के लिए भी प्रशंसनीय प्रयास किये। नवीन शिक्षा-प्रणाली ने सामाजिक ढाँचे को बदलने में योगदान किया, देश के नवयुवक धीरे-धीरे पाश्चात्य सामाजिक और राजनीतिक विचार-धारा से परिचित होने लगे एवं बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और जाति-प्रथा आदि दोषों को समाज के लिये घातक समझने लगे।

सांस्कृतिक जागरण की दिशा में भी यह युग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आर्य-समाज की पुनरावर्तनवादी प्रवृत्ति का युग बीत गया था, नवीन युग के सांस्कृतिक क्षितिज पर महात्मा गाँधी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व छाया हुआ था। गाँधी जी ने मानवतावादी आदर्श की स्थापना की, और रवीन्द्रनाथ ने विश्व-मानवतावाद की। गाँधी जी की मानवतावादी दृष्टि ने राष्ट्रीयता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अहिंसा, सत्याग्रह आदि की दिशा में मानव-समाज का कल्याण किया तो रवीन्द्रनाथ की विश्व-मानवतावादी दृष्टि ने अंतर्राष्ट्रीय, विश्व-संस्कृति और आध्यात्मिकता आदि के क्षेत्र में नवीन व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान की। जब गाँधी जी ने शरीर के अखाड़े में आत्मा का शस्त्र निकाला, तब सारी दुनिया एक बार अनुपम चमत्कार से भर गई और स्वयं गुरुदेव ने भी अपने चिरपोषित आदर्श को अपनी ही जन्मभूमि में आकार ग्रहण करते देख कर लन्दन से लिखा कि हम तो गाँधी जी के इसलिए कृतज्ञ हैं कि वे भारतवर्ष को यह प्रमाणित करने का अवसर दे रहे हैं कि मानवात्मा की दिव्यता में उसका अब भी अटूट विश्वास है।[2]

१. रजनी पामदत्त : भारत : वर्तमान और भावी, पृष्ठ २१६।

२. दिनकर : रेती के फूल, पृष्ठ ८५।

छायावाद युग का सामान्य परिचय

भारतेन्दु युग की कविता में ही द्विवेदी-युग की भूमिका की नीव पड चुकी थी और द्विवेदी-युगीन कविता में छायावाद की भूमिका की नींव पड चुकी थी। *जिस प्रवृत्ति-मुखी नवचेतना का उद्बोधन भारतेन्दु-युगीन कविता में सुनाई पड़ता* है, उसी का विकसित रूप द्विवेदी-युग में दिखाई देता है। द्विवेदी-युग के कवि प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर जीवन के नये मूल्यों की स्थापना में सचेष्ट दिखाई देते है, उन्ही प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना छायावादी कवियों की मुख्य भावना है, यह बात दूसरी है कि द्विवेदी-युग के कवि नवीन-जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिये गौरणपूर्ण अतीत की ओर मुड गये हैं और छायावादी कवि अतीत के आंचल का मोह छोड वर्तमान एवं भविष्य के प्रति उन्मुख हैं।

द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग का विकसित रूप प्रतीत होता है, परन्तु छायावाद का उद्भव द्विवेदी-युग के विकसित रूप में नहीं, वरन् उस युग की प्रतिक्रिया के रूप में दृष्टिगत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग में परिवर्तन की गति धीमी थी, जबकि द्विवेदी-युग तक की प्रगति तेज थी और जब परिवर्तन की प्रक्रिया तेज होती है, तब वह क्रान्ति का स्वरूप धारण कर लेती है और वह प्रगति न होकर प्रतिक्रिया बन जाती है।

छायावादी काव्य सामयिक जीवन-परिस्थितियों से मुख्यत. अनुप्राणित है, यह व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में पनपा और फूला-फला है, इसकी मुख्य प्रेरणा ही राष्ट्रीय और सास्कृतिक रही है। छायावाद-युग में राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में आदोलित कर रखा था और हमारे कवि और लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नही सकते थे। विशेषकर इस युग के प्रमुख कवि और लेखक तो उससे प्रभावित हुए ही। जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवन-मरण सग्राम चल रहा था, हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे विमुख रह ही कैसे सकते थे।[1]

छायावादी आन्दोलन भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था, जिससे प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का पोषण मिला था, जिसका प्रवर्तन राजा राममोहन राय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनी बेसेंट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी हुए हैं। छायावाद की कविता का यह प्रयास उस नई मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास था, जिसका जन्म भारत-योरोप सघर्ष या सपर्क से हुआ था। द्विवेदी-युग तक की हिन्दी कविता उस भारतीय मानवता की कविता है, जो यूरोप से परिचित नहीं थी अथवा यदि थी भी तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में वह यूरोप से बचने

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २१।

का प्रयास कर रही थी। किन्तु छायावाद की कविता उस भारतीय मनुष्य की कविता है, जिसकी आत्म-रक्षा की चिन्ता दूर हो गई है और जो स्वेच्छया योरोप के गुणों का प्रसन्नता से वरण कर रहा है।[1]

नवीन भारतीय मनुष्यता की ओर उन्मुख होते ही छायावादी कवि का मन नवजीवन और नवचेतना के प्रति जिज्ञासु हो उठा, सौन्दर्य-वैभव से परिपूर्ण जीवन की गरिमा की थाह लेने के लिये वह परिचित-अपरिचित सभी मार्गों की ओर अग्रसर हुआ और समस्त प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना लेकर अपने युग की उस काव्य-भूमि पर खड़ा हुआ, जहाँ भाव-मुक्ति, मानव-मुक्ति, विश्व-मुक्ति तथा लोक-मुक्ति की सम्भावना अनेक मूल्यों, विचारों तथा भावनाओं में रूप धरकर उसकी वाणी द्वारा स्वप्न-मूर्त्त होने का प्रयत्न कर रही थी।[2]

बदलते हुये प्रतिमान

भारत में नवचेतना के अभ्युदय के साथ एक प्रकार का भूकम्प-सा आ गया और भारतीय मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ एक साथ जग पड़ी, अनेक प्रकार की सुन्दरताओं को देखने की कामना स्फुरित हो उठी, परिचित से निकल कर अपरिचित भूमि में विचरण करने का उत्साह उमड़ पड़ा और रूढ़ियों एवं शास्त्राज्ञाओं को तोड़कर भारतीय मानव पहले-पहल उन लोगों की ओर पाँव बढ़ाने लगा, जिनकी ओर जाने की उसे पहले इजाजत नहीं थी। ये सारी जिज्ञासाएँ, ये सारी उमगें और ये सारे उत्साह, जिनकी जड़ें उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पहुँचती हैं, छायावाद को सम्भव बनाने के लिए शनैः शनैः काम करती जा रही थी और जब छायावाद का आविर्भाव हुआ, उसने अपने ढंग पर इन सारी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी।[3]

स्वच्छन्दतावाद—पाश्चात्य साहित्य ने छायावाद के कवियों को अपने ढंग पर प्रभावित किया, यही कारण है कि छायावाद के काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। प्राचीन शिष्ट तथा क्लासिक परिपाटी के विरोध में उठ खड़ी होने वाली विचारधारा को स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) कहा जाता है।[4] अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव के पूर्व कविता परम्पराभुक्तता, यांत्रिकता, आलंकारिता, कृत्रिमता तथा शब्दमोह से बुरी तरह पीड़ित थी और प्राचीन परिपाटियों के अत्यधिक अंधानुकरण से वह निष्प्राण हो चली थी। व्यवस्था, स्पष्टता तथा शुद्धता पर ही अत्यधिक बल होने के कारण भावना की सहज मिठास, स्वाभा-

१. दिनकर : काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३८।
२. पन्त : छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ११।
३. दिनकर : काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३६।
४. हिन्दी साहित्य कोष—पृष्ठ ६७६।

विकता, कल्पना की नवीनता तथा रमणीयता, प्राणोष्मा तथा भावोच्छ्वास नही के बराबर रह गया था। इस जड स्थिति के विरुद्ध काव्य-क्षेत्र में एक बडी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और थॉमसन, काउपर, क्रेब, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली, कीट्स आदि प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य और मानव-जीवन के कवियो के द्वारा स्वच्छन्दतावाद (रोमासवाद) का प्रवर्तन तथा पोषण हुआ।[१]

छायावाद की कविता में हमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के दर्शन द्विवेदी-युग के शास्त्रानुयायी (क्लासिकल), संयमित और सामंजस्य-पूर्ण चित्रण की प्रतिक्रिया में उत्पन्न मुक्त कल्पना और स्वतन्त्र अनुभूति की भावना में होते हैं।[२] मोटे तौर पर कल्पना और अनुभूति का काव्य में कार्य-कारण सम्बन्ध माना जाता है। अनुभूति या भावना काव्य का प्रेरक तत्त्व है, उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील रूप है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। इस प्रक्रिया में गतिमान तत्त्व अनुभूति है और कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है।[३] व्यक्ति के नवीन स्वातन्त्र्य और मानव के नवीन महत्त्व की अनुभूतियाँ छायावाद के काव्य-साहित्य को नवीन उल्लास और आत्मबल प्रदान करती हैं[४] एवं ये अनुभूतियाँ बिना व्यवधान के अपने अनुरूप कल्पना का वरण करती हैं और निर्व्याज आत्माभिव्यक्ति में परिणत होती हैं।[५]

स्वच्छन्दतावादी कविता की विविधता के बीच एक सामान्य विशेषता स्वातंत्र्य-प्रेम के दर्शन होते हैं। रूढ़िगत काव्य-विषय और उपमान छोड दिये गये हैं। कवियो ने काव्य के वृत्तों और छन्दो में नूतन प्रयोग किये हैं। इनके उपयोग में कवियों को स्वतन्त्रता है। स्वच्छन्दतावाद के दो प्रधान लक्षण-जिज्ञासा और सौन्दर्य-प्रेम-छायावाद के काव्य में वर्तमान हैं।[६]

छायावादी काव्य की तुलना योरोप के रोमान्टिक काव्य (स्वच्छन्दतावादी काव्य) से अक्सर की जाती है। इसमें कोई सन्देह नही कि दोनो में पर्याप्त समानता है, परन्तु छायावाद छायावाद है और यूरोप का रोमासवाद रोमासवाद। रोमाटिक युग की प्रारंभिक कविता के व्यक्तिगत प्रेम तथा मनस्परक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उल्लास तथा आवेश रहता है। पर आगे चलकर कवि की व्यक्तिवादी दृष्टि उसे असन्तुलित बना देती है। पतनोन्मुखी रोमान्टिक कवि में असन्तुलित अहंवाद के साथ मानसिक कुण्ठाओ की अभिव्यक्ति अधिक होती है। उसमें मुक्ति, उल्लास तथा

१. डा० खण्डेलवाल : आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और सौन्दर्य, पृष्ठ ३१८
२. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ १३८।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ १४६।
४. वही—पृष्ठ १४८।
५. वही—पृष्ठ १४६।
६. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य धारा, पृष्ठ १३८।

आवेग के स्थान पर कुंठा, अवसाद तथा विरक्ति ही प्रधान हो जाती हैं। छायावाद-युग में साम्राज्यवादी बन्धनों के कारण न तो रोमांटिक युग की आशा, उल्लास तथा विश्वास का वह रूप मिलता है और न ही पतनकालीन निराशावादिता तथा आस्थाहीनता को ही उस सीमा तक स्थान मिलता है।[१] इसका मुख्य कारण युग की आध्यात्मिक चेतना को माना जा सकता है। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से छायावाद-युग संघर्षों के आरोह-अवरोह का युग रहा है, परन्तु स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि द्वारा प्रज्वलित की गई आध्यात्मिक लौ ने छायावाद-युगीन कवियों के हाथ से आस्था का आश्रय नहीं छूटने दिया।

व्यक्तिवाद—व्यक्तिवाद अंग्रेजी के 'इंडिविजुअलिज्म' का पर्याय है। यह उस मानसिक दृष्टिकोण का सूचक है, जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टि से पार्थक्य तो कर लेता है, किन्तु वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियों के आवेश में अपने अहं के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखता। कुछ अंशों में व्यक्तिवाद का भावनात्मक आधार जनतांत्रिक सिद्धान्त है।[२]

समाज सावयविक अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्र व्यक्तियों का योग है। अतः समष्टि-शक्ति को व्यक्ति पर, उसके अधिकारों और स्वतन्त्रताओं पर बल-प्रयोग का नैतिक अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों और स्वार्थों को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है, उतना समाज कदापि नहीं। अतः तर्क की दृष्टि से सामाजिक बन्धन और परम्पराएँ, रीति और रिवाज, सामूहिक संस्थाएँ और मान्यताएँ निरंकुशता के साथ व्यक्ति पर शासन नहीं कर सकतीं।

छायावाद-युग के पूर्व भारतीय कवि पर व्यक्तिगत संवेदनाओं को व्यक्त करने के क्षेत्र में प्रतिबन्ध था, वह प्राचीन रूढ़ियों के प्रति अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों में घुट रहा था। छायावाद-युग के कवियों के सामने देश का जन-जन अंग्रेजी सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना से परिपूर्ण था। स्वातंत्र्य-संघर्ष के इस युग में छायावादी कवियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मुक्त उद्घोष किया। उसकी दृष्टि देशव्यापी विभिन्न समस्याओं की ओर न रही हो, ऐसा नहीं है; पर अपने को केन्द्र में रखकर वह सबके प्रति क्रियाशील हुआ है।[३]

छायावादी कवि ने आत्मलीन होकर काव्य-सृजन किया है। उसका व्यक्तिभाव प्रसाद में आनन्दवाद और निराला में अद्वैतवाद के रूप में प्रकट हुआ। पन्त में उसने आत्मरति का रूप धारण किया और महादेवी में परोक्षरति का।[४]

---

१. डा० रघुवंश : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ११।
२. हिन्दी-साहित्य कोष, पृष्ठ ७४४।
३. डा० रघुवंश : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ७-८।
४. डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १०।

मानववाद—मध्यकाल में धार्मिक घटाटोप के कारण समस्त मूल्यों और प्रतिमानों का स्रोत किसी-न-किसी दिव्य सत्ता को माना जाता था और मनुष्य को आरम्भ से ही उस दिव्य प्रतिमान से नीचे गिरा हुआ प्राणी माना जाता था। मानववादियों ने इस मान्यता का तिरस्कार किया। उन्होंने यह घोषित किया कि सम्पूर्णतम मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है। इसके लिए मानववादियों ने एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ता का निषेध किया और दूसरी ओर अमानवीय यान्त्रिकता का। मानववादी यह मानते हैं कि मनुष्य में जो कुछ पाशविक है और दिव्य है, उन दोनों के मध्य में कुछ ऐसा है, जो पूर्णतः मानवीय है और उसी को नैतिकता, कला, सौन्दर्यबोध तथा अन्य आचार-विचार का प्रतिमान मानना चाहिए।[१]

छायावादी काव्य मानववादी भावनाओं से ओतप्रोत है। वस्तुतः गाँधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित युग की राजनीति पर ही गाँधी जी की मानवतादृष्टि का पूरा प्रभाव था, साम्राज्यवादियों को भी गाँधी जी मानव-प्रेम का पाठ पढ़ा रहे थे, विरोध करते समय भी शत्रु से प्रेम करना गाँधी जी की नीति थी, अतः छायावाद में जाति, राष्ट्र, वर्ण, वर्ग आदि की सीमाओं को तोड़ता हुआ मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम व्यक्त किया गया है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साहित्य में जिस विश्व-मानवता का स्वर प्रबल है, उसकी भी स्पष्ट छाप छायावादी काव्य पर दिखाई देती है, पाश्चात्य भौतिकवादी विचारधारा ने भी छायावादी कवियों की प्रवृत्ति मानव की महत्ता और मानव-जीवन के मूल्यों को स्वीकार करने की ओर बढ़ाई।[२] परिणामस्वरूप छायावाद के काव्य में मानववाद को प्रखर वाणी प्राप्त हुई है। इसी प्रवृत्ति ने मानव को देवताओं से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया और देवों की विलासिनी सभ्यता के ध्वंस की नींव पर मानवी सृष्टि की स्थापना को लेकर 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की रचना हुई।

रहस्यवाद—नयी छायावादी काव्य-धारा का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है।[४]

आध्यात्मिक जीवन तथा परम्पराओं का ज्ञान होते हुए भी छायावादी कवियों

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ३६६।

२. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता, पृष्ठ २६०-२६१।

३. सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव ! तुम सबमें सुन्दरतम। पंत : युगांत, पृष्ठ २७२।

४. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, ३११।

ने रहस्यवाद का वह रूप नहीं अपनाया, जिसे मध्ययुगीन कवियों ने अपनाया था। वस्तुतः रहस्यात्मक अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि इसमें आध्यात्मिकता में—जीवनयापन किया जाय, इसमें रहकर अनुभव प्राप्त किया जाय। इसी आध्यात्मिक जीवन के अनुभवों, उसकी मार्मिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति रहस्यवाद है। इस अलौकिक जीवन और उसके साक्षात्कार का अनुभव आधुनिक रहस्यवादी कहलाने वाले कवियों में खोजना व्यर्थ है।[1]

छायावाद में रहस्यानुभूति को यदि किसी हद तक वाणी मिली भी तो वह रहस्य-साधना मध्ययुगीन सन्तों की-सी निषेध-पोषित जीवन-रस-वंचित, आत्मा या ब्रह्म के अस्पष्ट स्पर्श की अतीन्द्रिय अनुभूति न होकर नये विश्व-जीवन तथा विश्व-चैतन्य की खोज तथा जिज्ञासा की भावानुभूति रही। मध्ययुगीन कबीर आदि के रहस्यवाद और छायावाद में सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि मध्य-युगीन रहस्यवाद लोक निष्क्रिय तथा निवृत्तिमूलक और छायावाद जीवन-सक्रिय तथा प्रवृत्तिमूलक रहा है।[2]

सौन्दर्य-बोध—द्विवेदी-युगीन और रीतिकालीन कवि वस्तुओं के सतही रूप तक ही गये थे। छायावादी कवियों की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक रचना में सतह के नीचे उतरने का प्रयास किया। और, चूँकि उन्होंने वस्तुओं के भीतर जाने की कोशिश की, इसलिए उन्हें ऐसी अनन्त सुन्दरताओं के दर्शन भी हुए जो हिन्दी के लिए अभी तक अछूती थीं।[3]

छायावादी कवियों की दृष्टि में सौन्दर्य का क्षेत्र असीम था। उनकी दृष्टि केवल मानव-मात्र के शरीरी सौन्दर्य में ही नहीं उलझी, वे मानव के आन्तरिक सौन्दर्य की ओर अधिक आकृष्ट हुए। उन्होंने प्रकृति और जीवन के नाना रूपों में सौन्दर्य की झलक देखी। उनकी सौन्दर्य-धारणा इतनी व्यापक थी कि उन्होंने एक ओर तो सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान समझा[4] और दूसरी ओर उसे जीवन की समस्त श्री और ऐश्वर्य का केन्द्र ठहराया।[5]

द्विवेदी-युग का 'स्थूल' छायावाद-युग में 'सूक्ष्म' बन गया। इसका मुख्य कारण छायावादी कवियों के हृदय की नवीन सौन्दर्य-प्रबुद्ध-अनुभूति की धड़कन है। समस्त छायावादी-काव्य पर नवीन प्रवृत्तिमुखी सौन्दर्य-वैभव की स्पष्ट छाप अंकित है।

१ डा० रघुवंश हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १५।
२ पन्त छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १८।
३ दिनकर : काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३७।
४ उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।—जयशंकर प्रसाद : कामायनी पृष्ठ १०२।
५ 'अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।—सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, पृष्ठ ५४।

राष्ट्रीयता—भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की अपेक्षा छायावाद-युग अधिक संघर्षमय था। इस युग में राष्ट्रीय आन्दोलन ने तीव्र रूप धारण कर लिया था, ब्रिटिश सरकार का दमन-चक्र भी उतनी ही तेजी से चल रहा था, परन्तु नवचेतना और नवजागृति की भावना के विकास के साथ-साथ छायावादी कवियों की भावना का क्षेत्र भी उत्तरोत्तर विकसित होता गया। द्विवेदी-युग का संकीर्ण देश-प्रेम छायावाद-युग में आकर अधिक व्यापक और भावात्मक बन गया एवं इस युग की विराट् विश्व-मानवता की भावना ने राष्ट्रीयता की सीमा-रेखा को पारकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज का स्पर्श किया।

मैथिलीशरण जी की 'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है' वाली सुन्दर कविता में देश की एक स्थूल चौहद्दी कायम करके उसी की विशेषताओं का अधिक आग्रह के साथ उल्लेख है। प्रसाद में कुछ स्थानों पर यह चौहद्दी भी है, पर अधिकतर ऐसे वर्णन है—'उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा, अरुण वह मधुमय देश हमारा', जिन्हें कोई भी देश-प्रेमी अपने देश के संबंध में गा सकता है। और निराला जी के 'भारति जय विजय करे' आदि गीतों में प्रादेशिकता का अभाव है।[१]

वस्तुतः छायावादी आन्दोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था। जिधर भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंकी, उधर का क्षितिज लाल हो उठा। हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ भी इसी काल में आकर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठी।[२]

नारी भावना—छायावादी कवि की नारी केवल शरीरिक काम को उद्दीपक काम-पुत्तलिका नहीं, वरन् वह मन-प्राणों में शत-शत सौन्दर्य-चित्रों की पुलक गूँथने वाली एक शक्ति है, जो जीवन के प्रति आकर्षित कर श्रेय को प्रेय बनाती है। प्रकृति के उदात्त रूप में उसका चित्रण भी छायावादी कवि के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। शृंगार का यह ग्रहण जीवन से पलायन नहीं, जीवन की स्वीकृति है।[३]

छायावादी कवियों ने नारी को पुरुष के समकक्ष बिठाकर, उसे स्वतंत्र सामाजिक व्यक्तित्व की शील-गरिमा प्रदान की। छायावादी नारी में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नहीं, उसमें विश्व-मानवी का व्यापक सहानुभूतिपूर्ण स्वस्थ स्नेह-संवेदन भी है। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकल कर मध्ययुगीन काम-लाज का गुण्ठन मुख से हटाकर, सामाजिक दायित्व के प्रति जाग्रत स्त्री-स्वातन्त्र्य के राजपथ पर नये शील के चरण धरकर आगे बढ़ती है।[४]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी सा०-बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १९।
२. दिनकर : काव्य के रूप, पृष्ठ ४२।
३. प्रो० क्षेम : छायावाद के गौरव-चिह्न, पृष्ठ २०।
४. पन्त : छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ३५।

वास्तव में नारी के प्रति यह दृष्टि-परिवर्तन प्रवृत्तिमार्गी चिन्तन की प्रबुद्ध देन है। प्रवृत्ति के उत्थान के परिणामस्वरूप भारतेन्दु-युग से ही नारी अपने खोये हुए पद-गौरव को पुन: प्राप्त करने की ओर सजग रही है, इस सजगता का ही पूर्ण प्रतिबिम्ब साहित्य में उतरा। छायावाद-युग तक आते-आते नारी (कामायनी की श्रद्धा) पुरुष (मनु) की गुरु, पत्नी और परा-शक्ति सब कुछ बन जाती है।

छायावाद में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति—छायावाद का उद्भव उस समय हुआ, जब भारतीय चिन्तन-धारा निवृत्ति का मोह छोड़ प्रवृत्ति मार्ग में अपना समाधान पाने लगी थी। प्रवृत्ति-चिन्तन ने ही जीवन के विराग नहीं, राग की भावना उद्बुद्ध कर जीवन के समस्त पक्षों को रागात्मक बना दिया। जीवन के प्रति सुरुचि और सौन्दर्य-बोध ने ही राजनीतिक-स्तर पर मनुष्य को स्वातन्त्र्य-यज्ञ को सफल बनाने के लिए विराट्-जन-आन्दोलन की ओर प्रेरित किया, सामाजिक स्तर पर भी मनुष्य ने स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित हो सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया।

किसी भी युग की भावनात्मक अभिव्यक्ति उस युग के साहित्य में होती है। स्वातन्त्र्य-संघर्ष के युग में छायावादी कवियों ने प्राचीन रूढ़ियों से अपने व्यक्तित्व की मुक्ति की कामना में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मुक्त उद्घोष कर अपने काव्य को व्यक्तिवादी भूमिका प्रदान की।

व्यक्तिगत संवेदनाओं की अभिव्यक्ति इस युग में कितनी व्याप्त रही है, इसका पता इसी से लगता है कि 'आत्मकथा' लिखने की परम्परा-सी चल पड़ी। गान्धी नेहरू, रवीन्द्रनाथ, वीर सावरकर, श्रद्धानन्द, श्यामसुन्दर दास, वियोगी हरि, राहुल-सांकृत्यायन आदि न जाने कितने राजनीतिज्ञों, धर्मसुधारकों और साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथा अथवा जीवन-स्मृति लिखी है। ये आत्मकथाएँ इस युग में प्रचलित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा की द्योतक हैं। ये बतलाती हैं कि व्यक्ति अपने को अभिव्यक्ति करने के लिए कितना आकुल था। वह अपने भावों और विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता चाहता था। उसकी इस आकांक्षा में स्वाधीनता की कामना थी और अभिव्यंजना में साहस।[1]

इस युग के साहित्य में भी यही वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा दिखाई देती है। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अपने स्वस्थ स्वरूप में मनुष्य और मनुष्य के बीच स्वस्थ मांसल सम्बन्ध की कामना करता है। यह समझना भूल होगी कि छायावाद के भीतर व्यक्तिवादिता सर्वत्र समाज के विरोध में प्रकट हुई। यह वास्तव में समाज के उन नियमों के विरोध में प्रकट हुई, जो मनुष्य के पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों को जड़ता के आवरण में छिपाते आ रहे थे।[2]

---

१. नामवर सिंह : छायावाद, पृष्ठ १६।
२. डा० भोलानाथ तिवारी : कवि प्रसाद, पृष्ठ १३१।

अपने व्यक्तित्व को अक्षय बनाये रखने के लिए झरने का शीतल, मृदुल और तरल जल कठोर, निर्जीव शिलाओं के सघात को तोडकर और कभी-कभी अवसर के अनुकूल अपने-आपको मोडकर बहने का प्रयास करता है। वह व्यक्ति की मुक्त चेतना का वास्तविक प्रतीक है। 'आँसू' में जड यान्त्रिकता के बीच घुटन अनुभव करने वाले विवश हृदय की आर्त्त पुकार है। कवि जयशंकर प्रसाद का करुणा-कलित हृदय वेदना के हाहाकार से विह्वल है—

इस करुणा कलित हृदय में जब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?[१]

पीडा की घुटन असह्य है, वह अभिव्यक्ति का कोई रास्ता पा ले तभी ठीक हो—

जो घनीभूत पीडा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।[२]

परन्तु प्रिय के वियोग में कवि ससार-विमुख होना पसन्द नही करता। वह वियोग-जन्य आँसू को प्रभात के हिमकण-सा बरसना देखना चाहता है—

सबका निचोड लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।[३]

कवि प्रसाद निस्सकोच अपने मधुमय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हैं, परन्तु उनका सयत हृदय सोई हुई मौन-व्यथा को छेडना नही चाहता—

सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा ?
अभी समय भी नही—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।[४]

छायावाद-युग में समाज के नियमो-उपनियमों के प्रति विद्रोह की भावना लिये 'कामायनी' में 'मनु' प्रकट होते हैं। वे अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सीमा का अतिक्रमण करते हुए-से दिखाई देते हैं—

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नही कि कभी अविनीत रहूँ मैं ?[५]

---

१. आँसू, पृष्ठ ७।
२ आसू पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ ७६।
४. लहर, पृष्ठ ११।
५. कामायनी, पृष्ठ १६०।

मैं चिर बन्धनहीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।[1]

मनु का यह अहं बुद्धिवादी युग का अहं है, जिसके अतिवाद से कवि युग को चेत करना चाहते थे।

कवि निराला ने व्यक्तिवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी पुत्री सरोज की मृति में शोकगीत लिखा और अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्त अनुभूतियों को स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दिया। स्पष्टोक्ति निरालाजी की अपनी विशेषता थी—

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित कर न सका।[2]

सम्पादकगण जब कवि की कृतियाँ अस्वीकृत कर देते थे तो कवि के ऊपर क्या बीतती थी, इसका वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—

लौटी लेकर रचना उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।[3]

कवि के व्यक्तित्व ने नियति को भी चुनौती देने की ठानी—

खंडित करने को भाग्य-अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक।[4]

परन्तु पुत्री की मृत्यु से पुत्री की जीवन गाथा स्वयं कवि की दुःख-गाथा बन जाती है। कविता में निराला का व्यक्तित्व उद्धत, पराजित फिर भी संघर्षरत दिखाई पड़ता है। अन्त में कवि ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा कि कन्या की परिचर्या के लिए अर्थाभाव रहा। कविता में जो कहा और अनकहा रह गया, दोनों से इसमें ऐसा तिक्त और यथार्थ सत्य अंकित किया गया है कि व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी रचनाओं में वह रचना सहज ही ऊँचे-से-ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है।[5]

---

१. कामायनी, पृष्ठ १९१।
२. 'सरोज स्मृति', अपरा, पृष्ठ १३७।
३. वही, पृष्ठ १४०।
४ वही, पृष्ठ १४०।
५ डा० रामविलास शर्मा निराला, पृष्ठ ११८।

'सरोज-स्मृति, में जो शेष रहा, उसे कवि ने 'वन-बेला' में पूरा करने का प्रयास किया। कवि जब विरक्त और धूप से पीड़ित हो उठता है तो वह नदी के किनारे विचार करता चला जाता है। वन के गीत की तरह खिली हुई बेला उसका तिरस्कार करती है—

.... छुओ मत अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श
हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श।[1]

बेला अपने व्यक्तित्व का रहस्य व्यक्त करती है—

'केवल आपा खोया, खेला
इस जीवन में'।[2]

सामाजिक विषमता के कारण इस जीवन-मेले में आत्मा की निधि पवित्र होते हुए भी कौड़ी के मोल बिकती है, परन्तु कवि अपने हृदय की ग्लानि धोने का प्रयास करता है, स्वयं ही बेला के जीवन की सार्थकता के माध्यम से अपने जीवन की सार्थकता को व्यक्त करता हुआ—

नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता जब उपल प्रहार प्रखर।[3]

सुमित्रानन्द पन्त ने अपनी व्यक्तिवादी रचनाओं में अपने एकान्त प्रेम की अभिव्यक्ति की है। उनकी अभिव्यक्ति पारम्परिक अभिव्यक्ति से भिन्न है—

तुम्हारे छूने में था प्राण,
सग में पावन गंगा-स्नान,
तुम्हारी वाणी में, कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान।[4]

कवि अपनी प्रणय-भावना को व्यक्त कर प्रेम की नैतिकता, पवित्रता और स्वाभाविकता को प्रमाणित करता है—

निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि । दीप-सी।[5]

---

१. 'वन बेला', अनामिका, पृष्ठ ८८।
२. वही, पृष्ठ ८९।
३. अपरा-वनबेला, पृष्ठ २६।
४. रश्मिबंध, आँसू की बालिका, पृष्ठ ४०।
५. पल्लविनी, ग्रंथि, पृष्ठ १०८।

कवि पन्त ने आत्म-इतर तत्त्वों में भी व्यक्तिगत भावना का आरोपण किया है। इस प्रकार की कविताओं में बाह्य चित्र से मन पर क्या सीधा प्रभाव पड़ता है और उसे वह किस प्रकार सहन और स्वीकार करता है, आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है।[1] विश्व-तत्त्व पर वैयक्तिक भावना आरोप कर कवि समस्त विश्व-मंदिर को एक अखण्ड चिरन्तन के रूप में स्वीकार करता है—

आज समस्त विश्व मंदिर-सा
लगता एक अखंड चिरन्तन,
सुख-दुःख जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन।[2]

छायावाद की व्यक्तिवादी चेतना को कवि पन्त युग के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नये मूल्य का प्रतीक, नये मूल्य का अंश था। वह परिस्थितियों के बहिरन्तर बोध से आक्रान्त 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल' गानेवाला मध्य-युगीन भक्त कवि नहीं था। छायावाद की व्यक्तिनिष्ठ शैली में जो आत्मीयता अथवा निजता का स्पर्श था, उसने परिस्थितियों की कारा में बन्द उस युग के मन पर अनायास ही नयी भाव-वस्तु का जीवन-चेतन-सौन्दर्य उतार दिया।[3]

नारी होने के नाते महादेवी वर्मा की कविताओं में अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति मिलती है। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में उनका व्यक्तित्व मुखर है। छायावादी व्यक्ति-प्रधान जीवन में उनका कवि अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहता है, अपने स्पन्दन को अंकित करने के लिए उत्सुक है और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल है। सम्भव है, यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कहकर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर कोलाहल करना था।[4]

महादेवी जी का आत्म-परिचय प्रसाद की आत्मकथा की अपेक्षा व्यक्ति-परक एवं स्पष्ट है। वे स्वीकार करती हैं कि—

मैं नीरभरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,

१. विनयकुमार शर्मा : पन्त की काव्य-साधना, ११७।
२. रश्मिबंध, मार्मंच्य, ६८।
३. पंत : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ३०।
४. महादेवी : साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२०।

परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली ![1]

कवयित्री के प्रिय का अस्तित्व अजेय है, वह सनातन है, प्रिय के अस्तित्व से अलग उनकी सत्ता का भी अपना अस्तित्व है, अपनी चेतना है—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से, छाँह वह चल हूँ,
दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ।[2]

कवयित्री की चेतना इतनी विराट् है कि उनके प्रिय उनमें ही बनते-मिटते रहते हैं—

मुझमें नित बनते मिटते प्रिय।
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या।[3]

कुशल कवि के हाथों में पड़कर व्यक्तिगत विषाद की अभिव्यक्ति व्यापक करुण भाव में एकाकार हो जाती है। महादेवी की व्यक्तिगत पीड़ा समष्टिगत व्यथा से अलग नहीं है—

मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो !
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुरझाई कलियाँ देखो।[4]

छायावाद में रहस्यवादी प्रवृत्ति

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, नई काव्य-धारा का जो आध्यात्मिक पक्ष है, उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। भक्ति-युग में जिस साहित्य का सृजन हुआ था, धर्म उसकी मुख्य प्रेरणा थी और उसके पीछे आध्यात्मिक जीवन का आधार था। उस युग के आध्यात्मिक जीवन के अनुभव और उसकी मार्मिक संवेदना को रहस्यवादी काव्य में अभिव्यक्ति मिली। उस युग के सन्तों की तरह छायावादी कवि आत्मब्रह्म और आत्म-परिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्व-जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए। अतः उनकी

१. यामा, सान्ध्यगीत, पृष्ठ २२७।
२. यामा, नीरजा, पृष्ठ १३९।
३. यामा, नीरजा, पृष्ठ १४३।
४. वही, पृष्ठ १५१।

प्रेरणा का स्रोत मध्य-युगीन भारतीय अन्तश्चेतना न रहकर विश्वचेतना रही।

छायावादी कवियों के ऊपर श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चिन्तन-धारा का व्यापक प्रभाव था। इन आधुनिक चिन्तकों से प्रभावित होने के कारण ही छायावादी कवि भारतीय संस्कृति के मूलभूत स्रोतों—वेद, उपनिषद्, गीता, बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन, शैव-दर्शन आदि—की ओर भी आकृष्ट हुए थे। छायावाद कवियों ने पाश्चात्य रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का भी अध्ययन किया, जो साधनात्मक न होकर मुख्य रूप से भावनात्मक है। रहस्यवादी कवि को समस्त विश्व अपार्थिव सत्ता की गरिमा से युक्त दिखाई देता है[1] एवं बालू के एक-एक कण में सम्पूर्ण विश्व और एक सामान्य पुष्प में स्वर्ग का आभास मिलता है।[2] बँगला के रहस्यवादी साहित्य का भी (विशेषकर रवीन्द्र-साहित्य का) छायावाद काव्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। 'ब्रह्म-समाज' की उपासना का ढंग रहस्यात्मक है। इसके उपासना के गीतों में उस प्रियतम की झलक का वर्णन होता है, जिसका उपासक को कभी-कभी आंशिक आभासमात्र मिल जाता है। उपासक प्रतीकों का प्रयोग करता है, जिनका सांसारिक वस्तुओं से साम्य हुआ करता है, इन्हीं प्रतीकों के सहारे उसे प्रियतम का आभास मिलता है। उस प्रियतम की अपूर्ण प्रतिकृति होने [illegible] कारण इन प्रतीकों को बँगला में 'छाया-दृश्य' कहा गया। अतः रहस्यात्मक प्रतीकों से युक्त कविता का नाम छायावादी कविता या रहस्यवादी कविता पड़ा।[3]

जिस प्रकार बिजली की खोज निकालना एक बात है और सामाजिक सुविधा के लिए उसका उपयोग दूसरी बात, उसी प्रकार भगवद्-बोध प्राप्त करना एक बात है और उस बोध को जीवन-मंगल के उपयोग के योग्य बनाना दूसरी बात। विगत युगों में यह आंशिक रूप में धर्मों के माध्यम से संभव हुआ है, किन्तु मध्य युगों में आत्म-मुक्ति या आत्म-निर्वाण के लिए उसका वैसा ही आत्म-ध्वंसक प्रयोग किया गया है, जैसा हम वर्तमान युग में अणु-शक्ति का रचनात्मक उपयोग न कर उससे आणविक अस्त्र बनाकर उसका विश्व-ध्वंस के लिए उपयोग करना चाहते हैं।[4] छायावादी काव्य में भगवद्-बोध या उच्च-स्तरीय बोध को मुख्य रूप से जीवन-

---

१. "All the world comes to partake of the fair one's splendour."

—Will Durant : The Mansions of Philosophy, P. 290.

२. To see a world in a grain of sand and a heaven in a wild flower". —Spurgaon : Mysticism in English Lit. P. 11.

३. डा० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य-धारा, पृष्ठ १५५।

४. पन्त छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ५८।

मगल के उपयोग के योग्य बनाने का प्रयास किया गया है, युग की धरती पर खड़े होकर इसी विश्व के क्षितिज को व्यापक करने की चेष्टा की गई है।[१] इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह नूतन दृष्टि पाश्चात्य एव बँगला-साहित्य के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई।

छायावादी रहस्यवाद की मुख्य प्रवृत्तियो को दो भागो में बाँटा जा सकता है। प्रथम है विश्व-सुन्दरी प्रकृति मे चेतना का आरोप, इसके अन्तर्गत सुख और दुःख का सामजस्य (या समरसता) आ जाता है, यह अपरोक्ष अनुभूति है। दूसरा है अपरोक्ष अनुभूति से भिन्न परोक्ष अनुभूति। परोक्ष अनुभूति की भूमि पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना दूसरी प्रवृत्ति के अन्दर गिना जा सकता है।[२]

प्रकृति में चेतना के आरोप को प्रकृति-रहस्यवाद नाम दिया गया है। अनुभूति की तीव्रता में कवियों ने प्रकृति को मात्र जड-प्रकृति के रूप में नहीं देखा, उसके चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार किया। छायावाद के प्रवर्तक प्रसाद जी प्रकृति की रमणीयता देखकर कह उठते है—

विश्व स्वय ही ईश्वर है।[३]

वे विश्व के समस्त सौन्दर्य में उस सुन्दरतम ब्रह्म का सौन्दर्य देखते है—

उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व-मात्र में छाई है।[४]

कवि सुमन-समूहो में 'किसी' की हँसी देखता है—

सुमन-समूहों मे सुहास करता है कौन ?
मुकुलो मे कौन मकरन्द का अनूप है ?[५]

रग-बिरगी किरण दूती बनकर किसी अज्ञात लोक से आई है, उसका रग 'किसी' के अनुराग से लाल है—

किरण ! तुम क्यो बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उडाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन ?[६]

---

१. पन्त छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १९।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६३-१६४।
३. प्रेम पथिक, पृष्ठ ३०।
४. वही, पृष्ठ ३०।
५. झरना-तुम, पृष्ठ ५०।
६. वही, 'किरण', पृष्ठ १-४।

सरिता ने जिस प्रियतम का सपना देखा था, उसी, की गोद में विश्राम चाहती हुई वह बहती चली आ रही है—

देवलोक की अमृत-कथा की माया, छोड़ हरित कानन की आलस-छाया।
विश्राम माँगती अपना, जिसका देखा था सपना।[1]

'कामायनी' में प्रकृति के स्वरूप में कवि को विराट् विश्वदेव का आभास मिलता है, जिसकी पुष्टि सागर अपने धीर-गम्भीर स्वर में करता हुआ-सा प्रतीत होता है—

हे विराट्! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।[2]

नीले आकाश में किसी की मृदु मुसकान की झलक है—

उस असीम नीले अंचल में देख किसी की मृदु मुसकान,
मानों हँसी हिमालय की है; फूट चली करती कल गान।[3]

द्युतिमान शक्ति कवि पन्त को अबोध और अज्ञान जानकर सुख-दुःख का सहचर बन मार्ग दिखाती है—

न जाने कौन, अये द्युतिमान! जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन। नहीं कह सकती तुम हो कौन।[4]

कभी उड़ते पत्तों के माध्यम से और कभी लहरों के माध्यम से कवि को सन्देश मिलता है—

कभी उड़ते पत्तों के साथ मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ फिर बुलाते मुझको उस पार।[5]

कवि निराला जी की दृष्टि में यमुना नागर-कृष्ण की याद ही नहीं दिलाती, वरन् उनका अनन्य रूप भी है—

किस अतीत के स्नेह सुहृद को अर्पण करती तू निज ध्यान।
ताल-ताल के कम्पन से द्रुत बहते हैं ये किसके गान?[6]

---

१. लहर, पृष्ठ १३।
२. कामायनी, पृष्ठ २६।
३. वही, पृष्ठ २६।
४. पल्लव, पृष्ठ ३३।
५. आधुनिक कवि, मुसकान, पृष्ठ २१।
६. परिमल पृष्ठ ४६।

और महादेवी भी अन्य छायावादी कवियों की ही भाँति उस अज्ञात सत्ता का आभास पाती हैं—

> चुरा कर अरुणा का सिन्दूर मुस्कराया जब मेरा प्रात,
> छिपाकर लाली में चुपचाप सुनहला प्याला लाया कौन ?[१]

और उस अनजान सत्ता के प्रति अपने हृदय की जिज्ञासा कवयित्री इन पंक्तियों में व्यक्त करती है—

> सजनि कौन तम में परिचित-सा, सुधि-सा, छाया-सा, आता ?
> सूने से सस्मित चितवन से जीवन दीप जला जाता।[२]

प्रकृति के नाना व्यापारों में छायावादी कवियों ने जीवनोपयोगी तत्त्व भी एकत्र किये हैं। छायावाद के प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति से सांसारिक सुख-दुःख, राग-विराग आदि द्वन्द्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रेरणा पाई है। जयशंकर प्रसाद मानव-जीवन-वेदी पर विरह मिलन के परिणय की कामना करते हैं—

> मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का
> दुख-सुख दोनों नाचेंगे हैं खेल आँख का मन का।[३]

कवि के आंतरिक दुःख और सुख की झलक प्रकृति के पर्दे पर दिखाई देती है—

> क्यों छलक रहा दुख मेरा उषा की मृदु पलकों में
> हाँ उलझ रहा सुख मेरा। सन्ध्या की घन अलकों में।[४]

प्रकृति के चित्रपट पर कवि पन्त को जीवन के चिर हास-अश्रुमय होने का आभास मिलता है—

> यह साँझ उषा का आँगन,
> आलिंगन विरह मिलन का,
> चिर हास अश्रुमय आनन
> रे इस मानव जीवन का।[५]

अपने एकाकी सूने जीवन में कली मुस्कराना सीख लेती है, उससे कवि को जीवनदुःख-सुखपूर्वक अपनाने की प्रेरणा मिलती है—

> वन की सूखी डाली पर
> सीखा कलि ने मुसकाना,

---

१. यामा, नीहार, पृष्ठ ८।
२. यामा, रश्मि, पृष्ठ ९८।
३. आँसू, पृष्ठ ४६।
४. वही, पृष्ठ ४७।
५. पल्लविनी, पृष्ठ २१७।

मैं सीख न पाया अब तक,
सुख से दुख को अपनाना।[1]

कवि निराला वन-बेला को उपल प्रहार सहन करते हुए भी वृन्त पर नृत्य करते देख कह उठते हैं—

"यही सत्य, सुन्दर ।
नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर
होता जब उपल-प्रहार प्रखर ।[2]

मानो कवि अपने दुर्दम संघर्ष में भी युग-मानव का पथ प्रशस्त बनाने के लिये कटिबद्ध हो रहा हो।

सुख-दुःख, राग-विराग, विरह-मिलन के सामंजस्य को प्रसाद जी ने समरसता कहा है। कामायनी की श्रद्धा मनु को समरसता का सन्देश देते हुए कहती है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्,
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुखमणि गण द्युतिमान।[3]

मनुष्य स्वभाव से ही कामनाओं का पुंज है। वह हर प्रकार अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति चाहता है। किन्तु संघर्षमय जीवन में मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं का पूरा होना नितान्त असम्भव है। अतः इच्छाओं को क्लेशमय प्रमाणित कर उनसे छुटकारा पाने के लिए निवृत्ति मार्ग का प्रचार हुआ, किन्तु सामरस्य की दृष्टि से निवृत्तिमार्ग नितान्त एकांगी है। प्रसाद जी उसका समर्थन नहीं करते, वे प्रवृत्ति-निवृत्ति के सामंजस्य में विश्वास करते हैं। मनु की अवसाद-भावना पर चोट करती हुई श्रद्धा मनु से कहती है—

१. पल्लविनी, पृष्ठ २२०।
२. अपरा, वन-बेला, पृष्ठ २६।
३. कामायनी, पृष्ठ ५३०-५४।

तप नहीं केवल जीवन-सत्य, करुण यह क्षणिक, दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।[१]

मनु को प्रसाद जी ने काम द्वारा यह सन्देश दिलवाया है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म-रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है।[२]

यह रही अपरोक्ष अनुभूति पर आधारित छायावाद-युगीन रहस्यवादी भावना की चर्चा। परोक्ष अनुभूति भी छायावाद के कवियों में थोड़ी-बहुत सब में है, परन्तु परोक्ष अनुभूति का आधिक्य महादेवी जी की कविता में मिलता है। नारी होने के नाते एक मधुरतम व्यक्ति का आरोपण कर उसके निकट बड़ी ही सहज भावना से उन्होंने आत्म-निवेदन किया है। जयशंकर प्रसाद का 'प्रियतम' हाल (मस्ती-जनित आत्म-विस्मृति) की अवस्था में आता है और होश आने पर चला जाता है—

मादकता से आये तुम, सज्ञा से चले गये थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते, उतरे हुए नशे से।[३]

प्रियतम की ज्योति नेत्रों के सामने प्रकट तो होती है, पर आवरण में—

शशि-मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥[४]

निराला जी की आत्मा अभिसारिका की भाँति सजकर प्रियतम से मिलने चली जा रही है—

मौन रही हार।
प्रिय-पथ पर चलती सब करके शृङ्गार।
कण-कण कर-कंकण, किण-किण रव किंकिणी।
रणन-रणन नूपुर उर लाज लौट रंकिणी॥
शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ।
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ॥[५]

प्रियतम से मिलन और विरह का साकार चित्र प्रस्तुत किया है महादेवी जी ने। प्रियतम की चितवन ने उन्हें पीड़ा का साम्राज्य दे डाला है—

इन ललचाई पलकों पर पहरा था जब व्रीड़ा का।

---

१ कामायनी, पृष्ठ ५१।
२ वही, पृष्ठ ७२।
३. आँसू, पृष्ठ ३३।
४. वही, पृष्ठ १६।
५ गीतिका, पृष्ठ ६।

साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का ॥[1]

मूक मिलन की बात कवयित्री के लिये स्वप्न नहीं, सत्य है—

कैसे कहती हो सपना है
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास ।[2]

कवयित्री को संकेत-भरा मुस्काता नभ देखकर प्रियतम के आगमन की सूचना मिल जाती है—

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय, आज हो रही कैसी उलझन !
रोम-रोम में होता री सखि, एक नया उर का-सा स्पंदन !
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं।
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?[3]

कवयित्री ने विरह की वेदना को अंगीकार किया है, उन्हें वेदना में उस परम सत्ता का अस्तित्व मिलता है—

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा ।
तुमको पीड़ा में ढूँढा तुममें ढूँढूँगी पीड़ा ॥[4]

वे बेसुध पीड़ा को छेड़ना नहीं चाहती—

ठहरो बेसुध पीड़ा को मेरी न कहीं न छू लेना ।
जब तक वे आ न जगावें बस सोती रहने देना ॥[5]

परन्तु महादेवी अपने पीड़ा के साम्राज्य से निराश नहीं है, वे वेदना को खोना भी नहीं चाहती—

क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार ।
रहने दो हे देव अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार ॥[6]

अपने दुःखवाद का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी कहती है कि 'संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है।

१. यामा, नीहार, पृष्ठ १० ।
२ यामा, नीहार, पृष्ठ ३ ।
३. यामा नीरज, पृष्ठ १७६ ।
४. यामा, नीहार, पृष्ठ ३२ ।
५ वही, पृष्ठ २७ ।
६ वही, पृष्ठ ७ ।

जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है। इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।' इसके आगे वे कहती हैं 'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।'[1]

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने बड़े ही तर्कसंगत ढंग से महादेवी जी के दुःखवाद संबंधी उपर्युक्त मत की परीक्षा की है। वे कहते हैं 'महादेवी ने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किन्तु इसके विपरीत सुख का एक आध्यात्मिक और दुःख का भौतिक स्वरूप भी है, जिसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। दुःख की तामसिक, राजसिक और सात्त्विक तीनों अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब कुछ उस संवेदन पर अवलम्बित है, जिससे सुख और दुःख का निःसरण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःखवाद को आध्यात्मिक अर्थ में लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों ने 'आनन्द' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इसलिए भौतिक आधार पर सुख और दुःख का व्यतिरेक महादेवी जी ने ऊपर दिखाया है, उसे मैं उनकी व्यक्तिगत सात्त्विकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य कसौटी मानने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ।[2]

छायावाद में सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति

द्विवेदी-युग के साहित्यिकों को शृङ्गारी कविता के प्रति स्वभावसिद्ध शंका रहती थी। उस युग में रीतिकालीन परम्परा की जो शृङ्गारिक रचनाएँ हो रही थीं, उनके विरुद्ध खड़ी बोली में एक आन्दोलन ही चल पड़ा था। इस आन्दोलन का मूल रूप रवि वर्मा के चित्रों और स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेशों में ढूँढा जा सकता है। एक ओर प्राचीनतावादी लोगों ने शृङ्गार के अतिरिक्त सब कुछ अस्पृश्य समझ लिया था और उसे कोरे शारीरिक वर्णनों तक ही सीमित रखा। दूसरी ओर नवीनतावादी लोगों ने शृङ्गार को ही अस्पृश्य समझ लिया और उसका

---

१ यामा, अपनी बात, पृष्ठ १२।

२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १७४।

या तो त्याग कर दिया या उसे उपदेशात्मक काव्य का विषय बना डाला। उन लोगों को यह शऊर नहीं था कि शृङ्गार का सस्कार करते, इन लोगों को शृङ्गार के नाम से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि उसके सस्कार की कल्पना भी न कर सके। एक प्रकार का विवेकशून्य द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था, तथापि सामयिकता की ओर रुचि होने के कारण द्विवेदी-युग सम्मानित हुआ। नवीन युग का उत्साह नवीन कविता में अवश्य देखा गया, पर जीवन के अतरग को स्पर्श करने वाली वास्तविक काव्य-सृष्टि कम ही हो सकी।[1]

अन्तरग को स्पर्श करने वाली कविता का सृजन हुआ छायावाद युग में। स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों में थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृ खला से ऊबे हुए व्यक्तियों को, फिर उन्ही रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका कल्पित आदर्श भाया ही। उन्हें नवीन रूप रेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।[2]

स्थूल के बधन को तोडकर छायावादी आन्दोलन ऊँची-से-ऊँची और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सौन्दर्य की अनुभूति का बड़ा सफल प्रयास सिद्ध हुआ। वस्तुओं के भीतर घुसकर सौन्दर्य की असाधारण अनुभूति ने छायावादी कवियों को वस्तुओं की अनन्त सुन्दरता का भान कराया एव उनके नेत्रों के सम्मुख सूक्ष्म रहस्यों का उद्‌घाटन किया। वस्तुत जीवन के प्रति राग की भावना एव प्रवृत्ति मूलक दृष्टि ने ही छायावाद को इतना उच्च सौंदर्य-भाव-बोध प्रदान किया।

लगभग सभी छायावादी कवियों की सौन्दर्य-संबधी धारणा उच्च एव उदात्त है। सौन्दर्य के सबध में प्रसाद जी की उक्ति है—

> उज्ज्वल वरदान की चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
> जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[3]

केवल स्थूल और बाह्य सौन्दर्य ही सौन्दर्य नहीं है, सौन्दर्य तो इस समस्त सृष्टि में समाया हुआ है, आवश्यकता है उस सौन्दर्य-बोध के लिये स्वय के हृदय को प्रशान्त बनाने की—

> सृष्टि में सब कुछ है अभिराम, सभी में है उन्नति या ह्रास।
> बना लो अपना हृदय प्रशांत, तनिक तब देखो वह सौन्दर्य ॥[4]

सौन्दर्य की अनुभूति सरलता से नहीं होती। जीवन में झेलते झेलते जब मनु

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ११४-११५।
२. महादेवी - साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ६८।
३. कामायनी, पृष्ठ १०२।
४. झरना, पृष्ठ ५४।

थक से जाते हैं और अपने-आपको भयावने अंधकार से घिरा हुआ पाते हैं तब कहीं उन्हें सौन्दर्य की अनुभूति होती है, तब कहीं वे महसूस करते हैं—

अरुणाचल मन मंदिर की वह मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा
लगी सिखाने स्नेहमयी-सी सुन्दरता की मृदु महिमा।
उस दिन तो हम जान सके थे सुन्दर किसको है कहते।
तब पहचान सके, किसके हित प्राणी यह दुख-सुख सहते।[1]

पतनशील सामन्ती शृङ्गार के ऊपर नवोदित प्रबुद्ध शृङ्गार की विजय की घोषणा प्रसाद का यह सौन्दर्य-बोध करता है—

नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस-कन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य! बता दो मौन बने रहते हो क्यों?[2]

कवि पन्त की भी सौन्दर्य-धारणा कम उदात्त नहीं है। उनकी दृष्टि में सुन्दरता ही सकल ऐश्वर्यों की सन्धान है—

अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।[3]

कवि की सौन्दर्य-अनुभूति अत्यन्त व्यापक है। सृष्टि की सुन्दर-असुन्दर अजीबो-गरीब सभी वस्तुएँ उसकी दृष्टि के साँचे में ढलकर सार्थक और सुन्दर बन जाती हैं, इस धरती का रोम-रोम सहज सौन्दर्य से परिपूर्ण है—

इस धरती के रोम में भरी सहज सुन्दरता।
इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर।[4]

कवि पंत के किशोर प्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय उनकी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है, जिसकी गोद में पलकर वे बड़े हुए। पर्वत-प्रदेश के उज्ज्वल धवल सौन्दर्य ने उनके जीवन के चारों ओर अपने नीरव सम्मोहन का जाल बुन रखा था, जिसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?[5]

---

१. कामायनी, पृष्ठ २२२।
२. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ ५४।
३. पल्लव, पृष्ठ ५४ :
४. युगवाणी, पृष्ठ २६।
५. पल्लविनी, पृष्ठ ५६।

प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही कवि पन्त काव्य के भाव-विशद सौंदर्य में प्रवेश पा सके, जहाँ पहुँचकर वे युगीन वास्तविकता से ऊपर उठकर स्थायी वास्तविकता के गीत गा सके—

सुन्दरता का आलोक-स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव-जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।[1]

निराला की कविताओं में उनकी 'जुही की कली' शृङ्गार और सौन्दर्य की अन्यतम रचना है। सुहागिनी जुही की कली दृग बन्द किये पत्रांक में सोई थी। उसका प्रियतम पवन जब उससे मिलन हेतु आया तब भी वह बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही, मानो यौवन की मदिरा पिये मतवाली हो रही थी। और तब—

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती,
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँस खिली
खेल रंग प्यारे संग[2]

महादेवी जी ने सौन्दर्य को काव्य का साधन माना है और सत्य को काव्य का का साध्य[3], इस प्रकार वे सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अनुभूति पाना चाहती हैं। इसी कारण उनका सौन्दर्य पार्थिव और मांसल स्वरूप से हटकर बारीक और अंतर्जगत् की ओर दृष्टि ले जाता है—

जब कपोल गुलाब पर शिशुप्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से
रश्मियों की कनक धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे।
स्वप्न शाला में यवनिका डाल जो।
तब दृगों को खोलता वह कौन है ?[4]

१ युगान्त, पृष्ठ २७।
२ अपरा, पृष्ठ ५।
३ दीपशिखा, चिंतन के कुछ क्षण, पृष्ठ १।
४ यामा, रश्मि, पृष्ठ ७९।

कवयित्री का लघुतम जीवन उस असीम का सुन्दर मन्दिर है—

उस असीम का सुन्दर मंदिर, मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहती नित प्रिय का अभिनन्दन रे।[1]

विरह का युग और मिलन के पल दोनों समान हैं, सुख-दुःख दोनों बराबर हैं, क्योंकि दोनों ही मधुर प्रिय भावना को धारण करने वाले हैं—

विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा,
दुःख सुख में कौन तीखा,
मैं न जानी औ न सीखा।
मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना से।[2]

प्रियतम स्वयं आभा के प्रतीक हैं—

वे आभा बन खो जाते,
शशि किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण-कण में,
ढूंढूं पहिचान न पाऊँ।[3]

महादेवी जी की सारी आराधना, सारी पुकार उसके प्रति है, जो स्वयं सौन्दर्य है, जो सारे संसार के सौन्दर्य का जन्मदाता है। यही कारण है कि इनकी रचना में सुन्दरता का प्रकाश जगमगाता है।[4]

छायावादी कवियों पर दार्शनिक प्रभाव

जयशंकर प्रसाद—हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब योरोप से आनेवाले विचारों के प्रभाव से भारतीय दार्शनिक विचारधारा निवृत्तिमूलक चिन्तन पथ को छोड़कर पूर्णरूप से प्रवृत्तिमूलक चिन्तन की भूमि पर उतर आई थी।

नवयुग के चिन्तकों एवं मनीषियों ने यह मत प्रतिपादित किया कि युग को न तो प्राचीन पारंपरिक स्वस्थ तत्त्वों का विसर्जन ही करना है और न नवीन जीवन-पोषी तत्त्वों के कल्याणकारी स्वरूप की अवहेलना। छायावादी साहित्य-परम्परा के सर्वप्रथम कवि जयशंकर प्रसाद न केवल नवयुग की चिन्तन-धारा से प्रभावित हुए,

---

१ यामा, नीरजा, पृष्ठ १६२।
२. यामा, सांध्य-गीत, पृष्ठ २२१।
३ यामा रश्मि, पृष्ठ १०६।
४ कृष्णदेव प्रसाद गौड़ महादेवी की सौन्दर्य साधना (महादेवी-अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ १०८-१०६)

वरन् उन्होंने स्वयं प्राचीन भारतीय दर्शनों की विचारधारा में डुबकी लगाकर जीवन-पोषी तत्त्व ढूंढ निकाला। नीरक्षीर-विवेक-शक्ति के बल पर उन्होंने निषेध-मूलक प्रवृत्तियों का बहिष्कार कर केवल उन्हीं तत्त्वों को चुना, जो जीवन के लिए सर्वथा उपयोगी थे। जहाँ कहीं उनकी काव्य-साधना ने निवृत्ति से बल ग्रहण किया भी है, वह केवल प्रवृत्तिचिन्तन को जीवन-रस प्रदान करने के लिए आया है, उसे सुखाने के लिए नहीं।

हमारे देश की सबसे प्राचीन वैदिक चिन्तन-परम्परा प्रकृति के तत्त्वों को सजीव मानने की रही है। वैदिक ऋषि इन प्रकृति-तत्त्वों को सजीव मानकर उन्हें देवता की कोटि का मानते थे और उनकी पूजा यज्ञों के रूप में किया करते थे। वैदिक ऋषि उनकी पूजा इस धारणा से करते थे कि ये सभी देवता मूलतः एक ही हैं, विभिन्न रूपों में प्रकट होने पर भी उन देवताओं में एक ही परमात्मा व्याप्त है।[1] जयशंकर प्रसाद के साहित्य में इस परमात्मवादी चिन्तन-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। परमात्मवादी चिन्तन-पद्धति की दिशा में प्रसाद जी का आनन्दवाद विकसित हुआ है। इस आनन्दवाद का भी मूल स्रोत वैदिक-चिन्तन में ही मिलता है। "प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे, और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीयता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, 'यह सेमेटिक है' कहकर संतोष कर लिया जाता है। आरम्भिक वैदिक-काल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही, जब एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवाद (आनन्दवाद) की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई।"[2]

'कामायनी' में प्रकृति के शक्ति-चिह्न उसी एक के भ्रू-भंग में विकल होकर स्वयं को असहाय-सा महसूस करते हैं एवं सब सिर नीचा कर किसी एक की सत्ता स्वीकार करते हैं—

विश्वदेव, सविता या पूषा सोम, मरुत, चंचल पवमान
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान?
\+ +
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?[3]

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥१।१६४।४६॥

२. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ३५।

३. कामायनी, पृष्ठ २५-२६।

उपर्युक्त पंक्तियों में वैदिक परमात्मवादी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। प्रकृति के विभिन्न रूपों में कवि को उसी विराट् का साक्षात्कार होता है—

> वह विराट् था हेम घोलता नया रंग भरने को आज,
> कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।[१]

प्रसाद जी ने आनन्दवाद की पुष्टि समरसता के सिद्धान्त पर की है। मनुष्य समरसता की अवस्था में पहुँचकर आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, कर्म और ज्ञान में सामंजस्य स्थापित करके मनुष्य जीवन्मुक्ति तक प्राप्त कर सकता है, श्रद्धा की सहायता से मनु इस अवस्था तक पहुँच सके—

> स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
> दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।[२]

प्रसाद जी के जीवन्मुक्ति चिन्तन ने सामान्य मानव के लिए व्यष्टिगत और समष्टिगत धरातल पर भी समरसता का सिद्धान्त प्रतिपादित कर आनन्द-प्राप्ति का सहज मार्ग प्रस्तुत किया। जीवन के विरोधों का उल्लेख करने में प्रसाद जी ने सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है। उन विरोधों के परिहार के निमित्त उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन का उपयोग किया है और विशेषकर उसके समन्वय-प्रधान स्वरूप का आधार लिया है।[३] सुख-दुःख की द्विधा का निराकरण मनुष्य दोनों को समभाव से अपनाकर कर सकता है—

> जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल,
> ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल,
> × × ×
> नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान,
> व्यथा से नीली लहरों बीच, बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।[४]

आकांक्षा और तृप्ति का वैषम्य भी मनुष्य को दुःख और निराशा के गर्त में ले आने वाला होता है। मनुष्य के जीवन में आकांक्षा जिस गति से बढ़ती है, उससे दूनी गति से तृप्ति उसके दूर भागती है—इस विषमता की उलझन से बचने के लिए ही कालान्तर में मनुष्य निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। किन्तु प्रसाद जी की समरसता-दृष्टि निवृत्ति-प्रवृत्ति के समन्वय में विश्वास करती है, किसी भी दिशा की एकांगी दृष्टि आनन्द की उपलब्धि नहीं करा सकती। कामना और तृप्ति का समन्वय ही व्यवहार्य है—

---

१. कामायनी, पृष्ठ २४।
२. वही, पृष्ठ २७३।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ११२।
४. कामायनी, पृष्ठ ५३-५४।

मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द समन्वय होता था, हम ले चलते पथ पर उनको।[1]

समष्टिगत धरातल पर भी मानव-समूह को इसी समरसता के सिद्धान्त पर आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अधिकारी और अधिकृत के बीच के द्वैत के निर्मूलन के लिए भी समरसता का उपयोग किया जा सकता है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी, अधिकार और अधिकारी की।[2]

और भी व्यापक धरातल पर कवि का अमूल्य सन्देश है युग की वर्तमान संस्कृति को। मानव का भाग्य उदय तभी होगा, जब बुद्धि और हृदय में सामंजस्य स्थापित हो—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामयी तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संतापनिचय हर ले, हो मानव-भाग्य उदय

सबकी की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन मा की पुकार।[3]

प्रसाद का आनन्दवाद सर्ववाद (सर्वेश्वरवाद) के सिद्धान्त पर स्थित है, जो वैदिक अद्वैत सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। यह सर्ववाद (सर्वेश्वरवाद) शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धान्त से, जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकार की गई है, भिन्न है। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है, जबकि शंकर का मायावाद केवल निवृत्ति पर आश्रित है। भारतीय दर्शन की वह धारा, जो वेदों में समस्त दृश्यजगत् को ब्रह्म से अभिन्न मानकर चली है, क्रमश: शैवागम ग्रन्थों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसाद जी ने शैवागम से ही इस सर्वमूलकवाद आनन्दवाद को ग्रहण किया, पर उनका सर्ववाद पौराणिक धारणा से भिन्न जा पड़ता है। पौराणिक धारणा के अनुसार काम का तत्त्व त्याज्य और वर्जित माना जाता है, परन्तु प्रसाद जी के सर्ववाद में काम का तत्त्व जीवन को प्रगति देने वाला है। काम की पुत्री कामायनी ही श्रद्धा है। वस्तुत: पुराणों में जो निवृत्तिमूलक दार्शनिकता जोर पकड़ रही थी, वे उसके समर्थक नहीं थे।[4]

जयशंकर प्रसाद ने बौद्ध-दर्शन का सूक्ष्म अध्ययन किया था, परन्तु इस

१ कामायनी, पृष्ठ ७४।
२ वही, पृष्ठ १६२।
३ वही, पृष्ठ २४४।
४ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ११५-११६।

दर्शन के दु:खवाद, निराशावाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद आदि ने उन्हें आकृष्ट नहीं किया, इस दर्शन के जिस पक्ष की ओर प्रसाद जी आकृष्ट हुए, वह था उसका मानवीय पक्ष, करुणा और बन्धुत्व की भावना। वे इस दर्शन की निवृत्ति मूलक साधना का, जिसमें संसार को छोड़ने का सन्देश दिया गया है, तिरस्कार करते हैं, परन्तु उसके उस पक्ष का, जिसकी ओर विश्ववन्द्य महात्मा गांधी आकृष्ट हुए, समर्थन करते हैं।

विश्व मानवता का अमर सन्देश देने वाले तपस्वी गौतम बुद्ध की स्मृति में लिखी गई प्रसाद जी की ये पंक्तियाँ विशाल जीवन-दृष्टि की परिचायक हैं—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्यपथ से लो सुगति सुधार।
दु:ख का समुदय, उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार॥
विश्व-मानवता का जयघोष
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मन्द्र।
मिला था वह आदेश महान्,
आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र॥
अरी, वरुणा की शान्त कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार॥[१]

महादेवी वर्मा—भारतीय दार्शनिक-परम्परा में औपनिषद् विचार धारा का अपना निजी महत्त्व है। उपनिषदों में ब्रह्म की सूक्ष्म मीमांसा मिलती है, वह ब्रह्म ही सत्य है, वही सबका कारण है, वह मन और वाणी के लिए अगोचर है, वह मनुष्य के हृदय में ही अन्तर्यामी रूप में स्थित है।[२]

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'अहं ब्रह्मास्मि'[३] कहकर आत्मा और परमात्मा के भेद को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म को अन्तिम सत्य मान और शेष की उसमें अन्तर्भाव की कल्पना कर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[४] तक जाकर विश्व को ही ब्रह्म का रूप माना गया है।

छायावादी कवियों की रहस्य भावना को उपर्युक्त औपनिषद् विचारधारा से प्रेरणा मिलती है। एक अखण्ड, अव्यय चेतन तत्त्व, जिसमें त्रिकाल में भी कोई

१ लहर, पृष्ठ १३।
२ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२।
३. बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०।
४ छान्दोग्य उपनिषद ३।१४।१६।

भेद किसी प्रकार सम्भव नहीं, जिस चिर स्थिर आत्मतत्त्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका-सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मित-तरंगों के लिए कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है। इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और कहीं नहीं मिलते।[1] महादेवी जी का रहस्यवाद इसी ओजस्वी स्वरूप को काव्य की वाणी पहनाता है।

महादेवी जी की दृष्टि में आत्मा उसी परमात्मा की अभिव्यक्ति है—

मैं कम्पन हूँ तू करुण राग मैं आँसू हूँ तू है विषाद,
मैं मदिरा तू उसका खुमार मैं छाया तू उसका अधार।[2]
\+ \+ \+
स्वर-लहरी मैं मधुर स्वप्न की तुम निद्रा के तार,
जिसमें होता इस जीवन का उपक्रम उपसंहार।[3]
\+ \+ \+
मुझे बाँधने आते हो लघु सीमा में चुपचाप,
कर पाओगे भिन्न कभी क्या ज्वाला से उत्ताप?[4]
\+ \+ \+
नाश भी हूँ मैं, अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।[5]

जब दोनों एक ही हैं तब प्रयसि प्रियतम का अभिनय क्या—

चित्रित तू मैं हूँ रखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय।
प्रयसि प्रियतम का अभिनय क्या।[6]

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १६७-१६८।
२ यामा, नीहार ३३।
३ यामा, रश्मि १०२।
४ वही १०४।
५ यामा नीरजा १३६।
६ यामा नीरजा, १४३

जयशंकर प्रसाद की भाँति महादेवी जी भी बौद्ध-दर्शन की ओर आकृष्ट हुई थीं, परन्तु जयशंकर प्रसाद की कविताओं में जहाँ गौतम बुद्ध की पर-दुःख-कातरता और लोक-मंगल-भाव को श्रद्धांजलि अर्पित की गई है, वहाँ महादेवी जी ने भगवान् बुद्ध के उस दर्शन से परिचय प्राप्त किया, जो संसार को दुःखात्मक समझने वाला है। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया।[1]

कवयित्री ने जीवन के दुःख और पीड़ा का बोध प्रियतम के विरह की अनुभूति के साथ दिखाई देता है। जीवन के जलने का प्रतीक 'दीपक' है—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।[2]

उनकी वेदना की अनुभूति उच्च स्तर की अनुभूति है। उनके आराध्य का लोक वेदना और अवसाद से विहीन है, इसलिए वे अमरों के लोक में जाकर क्या करेंगी—

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद।
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।[3]

अपनी ज्वलन, पीड़ा, व्यथा और दुःखवादिनी दृष्टि से बुद्ध की दार्शनिक निराशा का रुक्ष आवरण उतारकर महादेवी ने उसे निगूढ़ प्रेम और आनन्द-विरह की सजलता से मधुर बना दिया है। इस प्रकार दर्शन का कंकाल प्रेम की सजल शारीरिकता से शोभन हो उठा है। महादेवीजी ने बौद्ध-दर्शन की निराशा और दुःखवादिता को अपने विरह के मधुर जल से धो दिया है। 'प्रिय से कम मादक पीर नहीं' की उद्गायिका 'देवी जी के व्यक्तित्व की सजलता बुद्ध की करुणा-गंगा में परिस्नात होकर काव्य की द्वार आई है। बुद्ध ने जहाँ क्षणभंगुरता को विषाद की छाया उढ़ाई

१. यामा, अपनी बात, पृष्ठ १२।
२. यामा, नीरजा, १४५।
३. यामा, नीहार, ७।

है, वहाँ महादेवी जी ने पल-पल की नश्वरता को भी एक मानवीय अभिमान प्रदान किया है।[1]

भले ही महादेवी जी का दुःख के भौतिक स्वरूप से परिचय न रहा हो, परन्तु नारी होने के नाते उन्होंने प्रेम को जो अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति दी है, वह भारतीय नारी हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति प्रतीत होती है। जिस प्रियतम के लिए उनके हृदय की पीड़ा मचली है, उस अज्ञात प्रियतम के सम्बन्ध में पन्त जी का विचार है कि—

"उन्होंने अज्ञात प्रियतम की बात कही है, उसके लिए उनके प्राणों में व्यथा भी मचली है, उसका स्वप्न-दर्शन या स्पर्श भी उन्हें कभी मिला है और बीच में वह स्पर्श खो भी गया है, पर यह अज्ञात प्रियतम तो वह प्रेम-मूल्य या राग-मूल्य है, जिसे उन्होंने निवृत्ति के आनन्द से मंडित न कर, प्रवृत्ति की पीड़ा के माध्यम से व्यक्त किया है, जो उनके युग का आग्रह था।"[2]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—भारतीय वेदान्त अपने व्यापक रूप में उपनिषदों पर आश्रित है। उपनिषद् एक ऐसी व्यापक सत्ता की प्रतिष्ठा करते हैं, जिसमें सृष्टि के सारे विरोध और नानात्व दूर हो जाते हैं, 'मैं' और 'तुम' का भेद मिट जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि'-उपनिषदों की ही स्थापनाएँ हैं। केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं और जीव भी ब्रह्म ही है, ये वेदान्त के तीन प्रमुख पक्ष हैं। निश्चय ही यह औपनिषद वेदान्त भारतीय मनीषा और चिन्तना की महान् उपलब्धि है। ऐतिहासिक क्रम में इसी वेदान्त की प्रसिद्धि अद्वैतवाद के रूप में हुई।[3]

इसी अद्वैतवाद की उच्च भावभूमि पर निराला जी का काव्य आधारित है, परन्तु निराला जी जिस अद्वैतवाद से प्रभावित हुए थे, वह श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की चिन्तन-धारा से छनकर निकला हुआ अद्वैतवाद था। इन दोनों चिंतकों ने अद्वैतवाद के आधार पर भारतीय सनातन-धर्म का उद्धार-परिष्कार किया, जातिभेद एवं अछूत समस्या के लिए एक द्वैत रहित मानव-साम्य का समाधान प्रस्तुत किया एवं मूर्ति-पूजा के प्रतीकात्मक एवं साधनात्मक मूल्य का उद्घाटन करते हुए, लोगों की डिगती आस्था को बल दिया। परमहंस श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने साधना एवं जीव ब्रह्म की एकता पर अधिक बल दिया और संसार की असारता की सिद्धि पर कम। वस्तुतः ये महात्मा एवं इनके अनुगामी इस संसार से पलायन एवं जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध कर लोगों को लोक-

१ प्रो॰ क्षेम छायावाद के गौरव चिह्न, पृष्ठ ६१।
२ पन्त छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ६१।
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कवि निराला, पृष्ठ १४२।

विमुख एवं अकर्मण्य बनाने वाले प्रवृत्तियों के विरोध में उठे थे, अतः लोक-नैराश्यमूलक भावों पर बल न देकर, मानव-मानव एवं व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के भेद को दूर कर, अभेदता की स्थापना करने वाले पक्ष पर ही उनका अवधारण रहा।[1]

निराला जी को अद्वैत-आश्रम रामकृष्ण मिशन अल्मोड़ा से प्रकाशित होनेवाली 'समन्वय' नामक पत्रिका के सम्पादन के लिए सन् १९२२ ई० में बुलाया गया। वहाँ पर उन्होंने परमहंस रामकृष्ण के दर्शन का अध्ययन किया। परमहंस जी एवं स्वामी विवेकानन्द के अद्वैत विचारों से वे इतने प्रभावित हुए कि जीवन-पर्यन्त उनके मन-मस्तिष्क पर अद्वैत-दर्शन की छाप बनी रही और उनका जीवन तथा उनका साहित्य प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उन विचारों से प्रभावित होता रहा।

कवि की शृंगारिक रचनाओं में अद्वैतवादी दर्शन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। 'जुही की कली' में आत्मा के जगने और परमात्मा से मिलकर आनन्द-अनुभूति का संकेत मिलता है—

> चौंक पड़ी युवती,
> चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
> हेर प्यारे को सेज पास
> नम्रमुखी हँसी, खिली
> खेल रंग प्यारे संग।[2]

निराला जी की प्रतिनिधि रचना 'जागो फिर एक बार' में जीव के महान्, मुक्त एवं स्वयं ब्रह्म होने के भाव में अद्वैत-दर्शन की ओर संकेत है—

> मुक्त हो सदा ही तुम,
> बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
> डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
> महामन्त्र ऋषियों का
> अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ,
> 'तुम हो महान्
> है नश्वर यह दीन-भाव,
> कायरता, कामपरता,
> ब्रह्म हो तुम,
> पदरज भर भी है नहीं

१. प्रो० क्षेम : छायावाद के गौरव-चिह्न, पृष्ठ ४२।
२. अपरा, जुही की कली, पृष्ठ ५।

पूरा यह विश्वभार
जागो फिर एक बार।[1]

मनुष्य को जगाने के इस भाव में कवि का अद्वैत-बोध व्यापक आधुनिक भूमिका में दिखाई देता है। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का पुनर्मूल्यांकन कर यह सिद्ध किया था कि अद्वैत बोध की वास्तविक सार्थकता उसे आत्मोन्नयन एव मानव-मानव के बीच अद्वैतता एव अभेदता के सूत्र से जोड़ने में है। निराला ने स्वामी जी की इसी विचारधारा से प्रभावित हो 'गाता हूँ गीत तुम्हें सुनाने को' और 'नाचे उस पर श्यामा' नामक कविताएँ लिखी हैं।

कर्म-मार्ग की ओर प्रेरित होकर निराला जी ने पंचवटी-प्रसंग लिखा। लक्ष्मण की भक्ति-भावना संबंधी अभिव्यक्ति में उन्होंने जीवन क उद्देश्य की व्यंजना की है—

"मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है"[2]

कवि की यह दार्शनिकता प्रवृत्तिमुखी है। मुक्ति कर्मसन्यास की ओर ले जाती है, निवृत्ति का सन्देश देती है, किन्तु भक्ति सांसारिक क्षेत्र में कर्म की ओर प्रवृत्त करती है।[3]

मानव मानव के बीच अभेदता और अद्वैतता की भावना से प्रेरित होकर, कवि ने 'दान' शीर्षक कविता में मानववादी भावना से प्रेरित हो लिखा है—

और भी उच्चतर जो विलास
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सबमें है श्रेष्ठ, धन्य मानव।[4]

मानव की उपेक्षा कवि सहन नहीं कर पाता। उसकी उपेक्षा देखकर कवि के हृदय का क्षोभ और तिरस्कार व्यंग्य के रूप में व्यक्त होता है—

देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया कि दूर दानव,
बाला मैं—'धन्य, श्रेष्ठ मानव।[5]

अरविन्द-दर्शन और गान्धी-दर्शन से प्रेरणा पाकर छायावादी कवियों ने इस धरती से अलग कहीं और स्वर्ग की कल्पना का उत्साह नहीं बढ़ाया, उनके प्रवृत्ति-

१ अपरा, जागो फिर एक बार, पृष्ठ १०।
२ परिमल, पंचवटी प्रसंग, पृष्ठ २४३।
३ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कवि निराला, पृष्ठ १४६।
४. अपरा, दान, पृष्ठ १२१।
५. अपरा, दान, पृष्ठ १२१।

दर्शन की भावना ने इस धरती को ही स्वर्ग-तुल्य सिद्ध करने का प्रयास किया। धरती को ही स्वर्ग मान लेने अथवा बना लेने की भावना पन्त जी के काव्य में अधिक प्रबल है। निराला भी इस भावना से अछूते न रह सके—

स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धारा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर ?
बही हवा नर्गिस की, मन्द छा गई सुगन्ध,
धन्य, स्वर्ग यहीं, कह किये मैंन मृग बन्द ?[१]

निराला का परवर्ती काव्य दार्शनिकता के अधिक दृढ़ मूल-सस्कारों से आबद्ध है, परन्तु उसमें व्यग्य और विडबना का प्राधान्य हो गया है। फलत उनकी परवर्ती रचनाओं में एक ओर 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी उदात्त सृष्टियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर 'कुछ कर न सका तो क्या, जैसे कर्म सकेत है। परिस्थितियो के इस खिचाव ने निराला के काव्य को दो खण्डो में विभक्त कर दिया है। कुछ लोग इनकी इन दोहरी प्रवृत्तियो मे क्रमश आदर्शवाद और यथार्थवाद के दार्शनिक तथ्यों का आकलन करते हैं। पर वस्तुत यह निराला के एक ही व्यक्तित्व [redacted] दो पृथक् प्रतीत होने वाले पहलू हैं।[२]

सुमित्रानन्दन पन्त—यदि पन्त जी के समस्त काव्य को रूप-काव्य और विचार- में विभाजित किया जाय तो 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' को रूप-काव्य की श्रेणी में एव ज्योत्स्ना, गुंजन, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्या आदि रचनाओ को विचार-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, यद्यपि प्रत्येक रूप काव्य के भीतर विचार और प्रत्येक विचार-काव्य के भीतर रूप का अश वर्तमान है। पन्त का मुख्य रूप से 'विचारक स्वरूप ज्योत्स्ना में दिखाई दिया किन्तु इसमें और इसके बाद की रचना में गुजन में केवल इतना पता लगता है कि कवि कल्पना से उतर कर पृथ्वी पर आ रहा है और अब उसकी रुचि कर्मठ जीवन-दर्शन की ओर है। युगान्त तक आते-आते कवि की दृष्टिसरय की भूमि पर आ गई और वह जीवन की समस्याओं पर अधिक ठोस चितन करने में समर्थ हुआ।[३]

अपने ऊपर दार्शनिक प्रभाव की चर्चा करते हुए पन्त जी ने लिखा है कि "मैं सर्वप्रथम स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द और रामतीर्थ के दर्शन से प्रभावित था, पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णत स्वीकार नहीं किया। मैं गांधी जी तथा मार्क्स के जीवन-दर्शनों से प्रभावित हुआ, पर पूर्णत उन्हें भी स्वीकार नहीं कर सकता। मैं श्री अरविन्द-दर्शन के सम्पर्क में आया, पर सम्पूर्णत उसे भी नहीं अपना सका—इसका

१. अनामिका, नर्गिस, पृष्ठ १८८।
२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कवि निराला, पृष्ठ १५६।
३ दिनकर पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ९९-१००।

कारण यही था कि मुझे स्वयं ही 'पल्लव' के बाद एक स्वतन्त्र व्यापक अन्तर्दृष्टि जीवन, मन तथा आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को निरखने-परखने के लिए मिल गई थी, जिसे विश्व-जीवन एवं भू-जीवन की वास्तविकता की पीठ पर प्रतिष्ठित करने के लिए मुझे अकथनीय अश्रान्त संघर्ष करना पड़ा।[1]

परमहंस श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने लोक में नैराश्यमूलक भावों पर बल न देकर मानव-मानव के बीच के भेद को दूर कर अभेदता के पक्ष पर जोर देकर भारतीय परम्परागत अद्वैतवाद को नवीन स्वरूप प्रदान किया। पन्त जी को जग-जीवन और जीवन-क्रम के सौन्दर्य पर पूर्ण आस्था और विश्वास है—

सुन्दर से नित सुन्दरतर सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर सुन्दर जग जीवन।[2]

तथा वे सब कण्ठों मानव-मानव की समानता का गान भरना चाहते हैं—

सब श्रम, उद्यम, गौरव-प्रधान,
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कंठों में हो एक गान—
मानव मानव सब हैं समान।[3]

गांधी जी के आविर्भाव को कवि पन्त ने जर्जरित जड़वादी युग में मानव-जीवन के परित्राण का द्योतक माना—

जड़वाद जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान्
यंत्राभिभूत युग में करने मानव-जीवन का परित्राण।[4]

कवि को गांधी-दर्शन में राग से नहीं, कर्म से सँवारने की क्षमता दीखी—

हों कर्म निरत जन, राग विरत
रति विरति व्यतिक्रम भ्रम ममता
प्रतिक्रिया क्रिया साधन अवयव,
हैं सत्य सिद्ध, गति यति क्षमता।[5]

परन्तु कवि को गांधी-दर्शन एकांगी प्रतीत हुआ, उसके अधूरे पक्ष की पूर्ति उन्हें साम्य-दर्शन में दिखी, लोक हित की दृष्टि से उन्हें साम्य दृष्टि की भौतिकवादी व्याख्या के अनुकूल प्रतीत हुई—

---

१ पन्त छायावाद-पुनर्मूल्यांकन पृष्ठ ८१।
२. पल्लविनी, जीवन क्रम पृष्ठ २४४।
३. पल्लविनी, मानव-शक्ति, पृष्ठ २७६।
४. पल्लविनी, बापू के प्रति, पृष्ठ ३२८।
५. वही पृष्ठ ३३०।

साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन ।[1]

चिन्तन की प्रक्रिया में अक्सर ऐसा होता है कि प्रश्न ही बदलकर उत्तर बन जाते हैं, जैसे कली की परिणति फूल में और फूल की परिणति फल में हो जाती है। पन्त जी के संबंध में भी यही हुआ है। उनके भीतर शंका यह चल रही थी कि भूत और आत्मा में से वरेण्य कौन है। द्रव्य आधार और आत्मा आधेय होती है। तब द्रव्य की उपेक्षा करने से यह कैसे संभव है कि आत्मा उपेक्षा से बचाई जा सके? यही प्रश्न मार्क्स और गाँधी के बीच का प्रश्न बन गया। गाँधी जी आत्मा को उत्थान देना चाहते थे, किन्तु जिसे खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र तथा शीत-घाम से बचने को घर नहीं है, उसकी आत्मा क्या उत्थान पा सकती है? निदान, पन्त जी कल्पना करने लगे कि गांधी जी को स्वीकार करते समय किसी-न-किसी दूरी तक मार्क्स को भी स्वीकार करना होगा एवं आत्मा का वरण करते समय भूत या द्रव्य का भी सर्वथा त्याग नहीं चल सकता।[2] वे भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के एकांगी समर्थकों की भर्त्सना करते हैं—

तुम भाव उन्हें कहते हँसकर, वे तुमको मिट्टी का ढेला
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते, जीवन तुम दोनों का मेला।
फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय, उनको चेतनता दुख निशांत
है सत्य एक-जो जड़ चेतन, क्षर अक्षर, परम, अनन्त शांत।[3]

वे मानव-जीवन के विकास के लिए दोनों मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता पर बल देते हैं—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।[4]

श्री अरविन्द ने अपनी योग-दृष्टि से वैदिक-मन्त्रों, ऋचाओं, उन्मेषों तथा चिन्तनाओं के उन अनेक निगूढ़, दुरूह, प्रच्छन्न तथा सम्यक् रूप से समझ में न आनेवाले पक्षों पर प्रकाश डाला है, जिनके प्रति मध्य युगों के दार्शनिक न्याय नहीं कर सके थे। यहाँ तक कि उन्होंने शांकर-दर्शन के मायावाद आदि पक्षों का भी एक प्रकार से खंडन कर उसे भावनात्मक दृष्टि प्रदान की है।[5] पन्त जी का श्री अरविन्द के दर्शन की ओर आकर्षण मुख्यतः इसलिए हुआ कि वह प्रवृत्तिमूलक

१. चिदम्बरा, भूत-दर्शन, पृष्ठ ४६।
२. दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ १०६।
३. उत्तरा, सत्य, पृष्ठ ८७-८८।
४. चिदम्बरा, समाजवाद-गाँधीवाद, पृष्ठ ५०।
५. पन्त . छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ७६।

था। उनकी दृष्टि में जीवन ही अपनी अन्तःक्षमता में सर्वशक्तिमय सर्वपूर्ण ईश्वर है, जो दिक्काल के बाह्य पट में सृजन विकास की स्थिति में है और प्रबुद्ध मानव ही, जो जीवन का पूर्णतर प्रतिनिधि है, उस विकास-क्रम को पृथ्वी पर चरितार्थ करने में सहायक हो सकता है।[1] इस जीवन-दर्शन को पन्त जी अरविन्द का दर्शन न मानकर स्वयं का दर्शन मानते हैं, परन्तु इसकी अन्तःप्रेरणा निश्चित रूप से श्री अरविन्द के अध्ययन से मिली है, इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता।

भावी मानव के सम्बंध में कवि की प्रबुद्ध धारणा यही है कि वह प्राण और आत्मा को एकाकार कर इसी धरती पर ईश्वर के साथ विचरण करे—

भू पर संस्कृत इंद्रिय जीवन
मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी,
संन्यासी, जीवन से उपरत।
आत्मा को प्राणों की विस्मृति
अधिदर्शन में की जग की क्षति,
ईश्वर के संग विचरे मानव—
भू पर, अन्य न जीवन परिणति।[2]

पन्त जी का विश्वास है कि मनुष्य को ईश्वर का स्पर्श पाने के लिए अपना आत्म-संस्कार नहीं करना है, ईश्वर जो जीवन की पूर्ण क्षमता है, मनुष्य का मनुष्य के साथ जो सम्बन्ध है, उसे उसका संस्कार करना है।[3] वे कहते हैं कि 'आज की जीवन-विकास की स्थिति में मुझे नये मानव-मूल्य को ऊर्ध्व चैतन्य या विकसित चैतन्य कहना पड़ता है, पर उसका मूर्तीकरण एवं यथार्थीकरण इसी विश्व-ऐक्य में संग्रथित लोक-समाज में सम्भव है। विश्व-जीवन के संबंध में ऐसा विकसित व्यक्ति या मनुष्य ही मेरे लिए मानवता या मनुष्यता का प्रतीक है। विश्व-मंगल के लिए अद्वैत-दृष्टि का उपयोग इसी प्रकार मैं संभव मानता हूँ।[4]

छायावादी काव्य की प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता पर विचार

छायावाद के आविर्भाव-काल में भारतीय दार्शनिक विचारधारा श्री राम कृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्द, तिलक, गांधी आदि के दर्शनों के माध्यम से मानव जीवन को पूर्णरूप से अपनी आधार-भूमि बना चुकी थी। छायावाद साहित्य की

---

१. पन्त : छायावाद पुनर्मूल्यांकन—पृष्ठ ७७।
२. रश्मिबन्ध, नवनिर्माण, १४१-१४२।
३. पन्त : छायावाद—पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ८२।
४. वही—पृष्ठ ८२।

विभिन्न दिशाओं में नयी संस्कृति नवीन जीवन-दृष्टि के निर्माण के लिए कवियों के सामने जीवन के ही विभिन्न आयाम, विभिन्न गतियाँ, विभिन्न पक्ष एवं विभिन्न स्वरूप प्रस्तुत थे—हर जगह दृष्टि मोटे तथ्यो को भेदकर उनके प्रेरक सूक्ष्म उपकरणों को पाने लिए विह्वल थी। ऐसी दशा में छायावादी कवियो को जीवन से विमुख होने का अवकाश था। राजनीतिक दृष्टि से उस युग को हलचल का युग कहा जाता है, राष्ट्रीय मुक्ति के लिए जीवन-मरण-सग्राम का युग कहा जा सकता है, ऐसे युग में छायावादी कवियो के साहित्य पर प्रवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन की स्पष्ट छाप अंकित है।

यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में औपनिषद दृष्टि को मध्ययुगीन सन्तों के रहस्य-वादी पारलौकिक निवृत्ति-पोषक कुहासों से मुक्ति उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिल गई थी, एव नवीन जीवन-मूल्यों को परिपक्वता भी मिल चुकी थी, तथापि उस समय राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में 'प्राचीन रूढियो के प्रति प्रतिक्रिया इतनी प्रबल न थी। द्विवेदी-युग में सास्कृतिक पुनरुत्थान के महान् मनीषी स्वामी दयानंद एव महात्मा गांधी के विचारो का प्रभाव तो दिखाई देता है, जिसके फल-स्वरूप श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों ने प्रवृत्ति की दिशा में साहित्य को नया मोड़ दिया था, परन्तु श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द एवं श्री अरविन्द के दर्शन का व्यापक सार्वभौमिक प्रसार छायावादी युग के साहित्य के ही माध्यम से सम्भव हो सका।

छायावाद-युग में जिस प्रवृत्तिमूलक साहित्य का सृजन हुआ, उसकी विशेषता यह है कि उसमें नवजीवन की नवचेतना के स्वागत के साथ-साथ जीवन के आध्या-त्मिक पक्ष की अवहेलना नहीं हुई है। साहित्य का झुकाव प्रवृत्ति की ओर है, परन्तु उसमें जो तत्त्व हैं, वे निवृत्ति-दर्शन से छनकर आये है। इस साहित्य में मुक्ति की अभिव्यंजना है, पर आत्म-मुक्ति के साथ-साथ जग-मुक्ति की चिन्ता है, वास्तविक जगत् से पलायन है, पर एक नवीन मानव-मूल्य की खोज के लिए पलायन है। सात्त्विक, नैतिक, सौम्य, सास्कृतिक जागरण की देन छायावाद युग को यह रही कि उसे रहस्यवादी मध्ययुगीन सन्तो के दृष्टिकोण की निष्क्रिय, निवृत्ति-मूलक तथा जगन्मिथ्या की कुंठा से मुक्ति मिली। छायावादी दृष्टि में एक प्रकार से प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय था।[१]

छायावादी प्रवृत्ति-दृष्टि में अन्तर्मुखता है, उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) की भावना है। प्रसाद जी ने जिनका जीवन दर्शन वस्तुत. आगमिक काश्मीर शैव मत के सामरस्य-सिद्धान्त वाले 'आनन्दवाद' पर आधारित है, छायावाद की प्रतिनिधि रचना 'कामायनी' में बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रवृत्ति की निवृत्ति पर विजय

---

१. पंत छायावाद—पुनर्मूल्यांकन, पृ० ३३।

दिखायी है और अन्त में प्रवृत्ति की अंतिम परिणति भी निवृत्ति में ही दिखाई है। प्रलय के पश्चात् मनु अपने को निष्क्रिय, विवश और निरुपाय पाते हैं—

कहा मनु ने 'नभ धरणी बीच बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का-सा जलता भ्रांत, शून्य में फिरता हूँ असहाय।[1]

श्रद्धा मनु को हताश देख 'समरसता' के माध्यम से कर्म का सन्देश देना चाहती है—

हृदय में क्या है नहीं अधीर लालसा जीवन की निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश।
दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज भविष्यत् से बनकर अनजान।[2]

\+ \+ \+

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत उसको जाओ भूल।[3]

श्रद्धा की वाणी मनु के हृदय को उत्साह प्रदान करती है, परन्तु उनकी निवृत्ति-मूलक दृष्टि पुनः उनका ध्यान जीवन की विवशता की ओर खींचती है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह।[4]

श्रद्धा पुनः उनको तप की ओर से प्रवृत्ति की ओर खींचती है—

तप नहीं केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।[5]

वह मनु को कर्म पथ पर चलते हुए जीवन उपभोग की ओर प्रेरित करना चाहती है—

कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनन्द।[6]

प्रसाद जी ने श्रद्धा के माध्यम से कर्म-मार्ग का ठोस सन्देश दिया है—

और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान—

---

१ कामायनी, पृष्ठ ४८।
२ वही, पृष्ठ ५२।
३ वही, पृष्ठ ५३।
४ वही, पृष्ठ ५४।
५ वही, पृष्ठ ५५।
६ वही, पृष्ठ ५६।

'शक्तिशाली हो, विजयी बनो' विश्व में गूंज रहा जयगान।[१]
+ + +
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।[२]

कवि ने काम द्वारा भी मनु को प्रवृत्ति की उपलब्धि, कर्म का सन्देश दिलवाया है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म-रंगस्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है।[३]
+ + +
अन्तर है दिन औ रजनी का यह साधक कर्म बिखरता है;
माया के नीले अंचल में आलोक बिन्दु-सा झरता है।[४]

अपने को सुखी बनाने की एकान्त भावना निवृत्ति मूलक है, कवि को इष्ट नहीं वह तो लोक-संग्रह का सन्देश देना चाहता है, जो गीता की वाणी है। श्रद्धा मनु से कहती है—

औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।[५]

सारस्वत प्रदेश पहुँचने पर जब मनु का इड़ा से साक्षात्कार होता है। वह भी मनु को कर्म-लीन हो अपनी क्षमता बढ़ाने की प्रेरणा देती है—

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक, विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते, बस, बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, कहो विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय।[६]

'कामायनी' के मनु बुद्धिवादी युग के प्रतिनिधि मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, इस महाकाव्य के माध्यम से कवि ने आज के बौद्धिक युग को अमूल्य सन्देश दिया है, उस युग को जिसे ऐहिक सम्पन्नता पर पूर्ण आस्था है और जो इसी

१. कामायनी, पृष्ठ ५७।
२. वही, पृष्ठ ५८।
३. वही, पृष्ठ ७५।
४. वही, पृष्ठ ७५।
५. वही, पृष्ठ १३२।
६. वही, पृष्ठ १७१।

ऐहिक सफलता में जीवन की पूर्णता पाना चाहता है। श्रद्धा हृदय की प्रतीक है, श्रद्धा को छोड़कर मनु का सारस्वत-प्रदेश पहुँचना आज के मनुष्य का हृदय के ऊपर से आस्था छोड़ बुद्धि के पीछे दौड़ लगाना है। परन्तु बुद्धि अपनी शरण में आने-वाले को समस्त समृद्धि तो दे सकती है, किन्तु मानसिक शान्ति नहीं दे सकती, बुद्धि की प्रतीक इड़ा के सम्पर्क में मनु का यही अनुभव रहा, उन्हें केवल युद्ध, संघर्ष और अशान्ति ही हाथ लगी। इस कथा रूपक के माध्यम से कवि ने छाया-वादी और बुद्धिवादी-आध्यात्मिक और बौद्धिक, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों को एकांगी बताकर दोनों के समन्वय का समर्थन किया है।

वस्तुत भोग-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वर्तमान भविष्यत् ये दोनों विकट समस्याएँ हैं, आर्य-संस्कृति ने इन दोनों का समन्वय कर दिया था। भोग ठीक है, पर भोग का अन्त त्याग में है, प्रवृत्ति ठीक है, पर प्रवृत्ति का अन्त निवृत्ति में है, वर्तमान ठीक है, पर वर्तमान का प्रारम्भ भूत और अन्त भविष्यत् में है, भोग और प्रवृत्ति इसलिये करें ताकि त्याग और निवृत्ति की भावना पक्की हो जाये। त्याग की अविचल चट्टान पर खड़ा होकर मनुष्य भोग के लुभावने रूप की तरफ आँख उठाकर भी न देखे, यह तभी हो सकता है जब वह भोग में से गुजर आये-उसकी नश्वरता को व्याख्याओं द्वारा नहीं, अनुभव द्वारा परख आये। जितने भोग हैं, वे त्याग की तरफ ले जाते हैं, जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, वे निवृत्ति की तरफ ले जाती हैं, जितना वर्तमान है, वह भविष्यत् की तरफ ले जाता है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्तमान और भविष्यत् के इस समन्वय को लेकर भारत के ऋषियों ने एक वैज्ञानिक ढंग पर जीवन का कार्यक्रम बनाया था।[1]

जीवन का यही औपनिषद जीवन-क्रम कवि प्रसाद को भा गया था। सारस्वत-प्रदेश में वैभव के समस्त उपकरणों का उपभोग कर लेने के बाद मनु को वहाँ के निवासियों से संघर्ष मोल लेना पड़ा। वे जब घायल अवस्था में पड़े कराह रहे थे, तब श्रद्धा अपने पुत्र मानव को साथ लिये उन्हें ढूँढ़ते ढूँढ़ते वहाँ आ पहुँची। मनु जब जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए, उन्होंने श्रद्धा से कहा—

> ले चल इस छाया के बाहर मुझको दे न यहाँ रहने।
> मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुहा में रह लेंगे।[2]

श्रद्धा मानव को इड़ा के पास छोड़कर मनु को हिमालय की ऊँचाई पर ले गई और उन्हें मन के सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर को भी पारकर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक में पहुँचाया, जहाँ पहुँचकर वे जीवन की सभी समस्याओं का समाधान पा गये

१. श्री अरविन्द - भारतीय संस्कृति के आधार, पृष्ठ १४२।
२. [illegible]

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस, तन्मय थे।[1]

सन्यासी (वानप्रस्थ) को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिए, यह शिक्षा 'कामायनी' में प्रतिपादित प्रवृत्तिवाद से आसानी से निकाली जा सकती है—

वे युगल वहीं अब बैठे संसृति की सेवा करते,
संतोष और सुख देकर सबकी दुःख ज्वाला हरते।[2]

कामायनी के मनु जीवन के अंतिम प्रहर में हिमालय पर जाकर सन्यास की ओर प्रेरित होते है और आत्म बोध की समरस स्थिति को प्राप्त करते हैं, यद्यपि उनका सन्यास भी कर्मनिष्ठ है, परन्तु सुमित्रानन्दन पन्त की दृष्टि में आज के युग को मेरु-नग-रोहण अभीष्ट नहीं-अभीष्ट है, समरस की स्थिति में इसी जनाकीर्ण धरती पर सक्रिय विचरण करना—

कैसे कह दूँ इड़ा नुब्ध युग मनु से
श्रद्धा संग वह करे मेरु-नग रोहण,
आत्म-बोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन भू-पथ पर करना सक्रिय विचरण।[3]

समरस अथवा सामञ्जस्य की भावना पन्त जी की भी भावना है। उनके हृदय-नीड़ में राग और विराग (प्रवृत्ति और निवृत्ति) के दोनों पक्षी सदा से बैठ रहे हैं। इन्हीं दोनों के गुणों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न उनके जीवन और उनके काव्य का इतिहास है।[4] पन्त जी के काव्य के माध्यम से जिस आदर्श मनुष्य का स्वरूप उभरा है, उसमें रागी और विरागी, भोगी और त्यागी दोनों के गुणों का *युगपत् संतुलन होना चाहिए*—

कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन-फल,
विश्व वृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल !
परम ब्रह्म जो द्रष्टा-भोक्ता जिसमें संग संग,
पंखों में बहिरंतर के सब रजत-स्वर्ण रंग !
ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरुजीवन ![5]

प्रवृत्ति और निवृत्ति-दर्शन का समन्वय कवि पन्त ने आध्यात्मिक और भौतिक-

१. कामायनी, पृष्ठ २७३।
२. कामायनी, पृष्ठ २८२।
३. लोकायतन, पृष्ठ ७।
४. बच्चन पल्लविनी की भूमिका, पृष्ठ २५।
५. चिदंबरा, सुपर्णा, पृष्ठ १२४।

गांधी और मार्क्स दर्शन के समन्वय के माध्यम से किया है। कोई भी वस्तु सुन्दर है, और आकर्षक है, केवल इसलिये उस वस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता, जैसा कि मध्ययुगीन संतों ने किया था, इसके साथ-ही-साथ सुन्दर और प्रिय वस्तुएँ ही सब कुछ नहीं हैं, इनके उपभोग के साथ आत्मा का उत्थान भी अभिप्रेत होना चाहिए—धूप के माध्यम से कवि को मनुष्य के जीवन के महत्तर ध्येय का पता लगता है—

लो, मैं असीम का लाई हूँ संदेश तुम्हें!
आओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,
× × ×
मन को विराट की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुन्दरता से रहना सीखो,
जो अपने में ही पूर्ण स्वयं हैं, लक्ष्य स्वयं।
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का।[1]

कवि ने मध्य-युगीन निषेध-मूलक परलोकवादी निवृत्तिमूलक दृष्टि की तीव्र आलोचना की है। शांकर वेदान्त को 'ब्रह्म सत्यं और जगन्मिथ्या' वाली धारणा का युगान्तर में इतना अभिशापपूर्ण विकास रहा कि सामान्य जन की जीवन के प्रति रुचि भी विलीन हो गई, आत्म-परिष्कार को दृष्टि में रखकर दृष्टि इतनी सकुचित हो गई कि लोक-संग्रह की ओर से लोगों का ध्यान हटने लगा, सामन्ती परिस्थितियों में आत्म-परिष्कार की यह दृष्टि इतने गहरे घुस गई थी कि उसका तीव्र प्रतिवाद अत्यन्त आवश्यक हो गया था—

परम्पराप्रिय मध्य युगों की
फेनिल पंकिल धारा प्रति पग
शून्य कगारों में वह कहती
मृग-तृष्णा, मिथ्या, माया जग।[2]
× ×
जग को माया कह, हम जग में
रहे उपेक्षित, पीड़ित, शोषित।[3]
× ×
क्यों जीवन-विमुख मनुज ने
सन्यास लिया आँगन से,

---

१. विंदबरा, सन्देह, पृष्ठ ३०८।
२. लोकायतन, जीवन-द्वार, पृष्ठ ४१।
३. लोकायतन, जीवन-द्वार, पृष्ठ ७१।

छल स्वर्ग नरक के भय ने
वनवास दिया जीवन से ?[१]

\+ +

ह्रास तक का भारत में रूप
पलायन, पाप-पुण्य की भीति,
पारलौकिकता, कर्म विरक्ति,
अंध विश्वास रूढ़ि, जड़ रीति।[२]

निवृत्तिमूलक वैराग्य की भावना ने उस मनुष्य का जो ईश्वर का ही स्वरूप है, बड़ा अपकार किया है—

विरस वैराग्यवाद ने घेर
किया नर ईश्वर का अपकार,
पारलौकिक जीवन का खड्ग
सृष्टि मुख पर आसुरी प्रहार।[३]

कवि ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की धारणा का परिष्कार कर यह मत प्रतिपादित किया कि यदि यह जगत् ब्रह्म का स्वरूप है और ब्रह्म सत्य है तो जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है। सत्य का साक्षात्कार इस जगत् में रहकर ही संभव है और मिथ्या (जगत्) के बल पर सत्य का परिचय नहीं हो सकता है, इसलिए जगत् के मिथ्या होने की दलील थोथी है।

यदि ब्रह्म सत्य तो जग भी सत्य असशय,
मिथ्या से मिल सकता न सत्य का परिचय।
भव प्रगतिशील चित-सत्य-अंश ही का स्तर
प्रभु का मुख निश्चित देखेगा जग कर नर।[४]

\+ +

यह जगत् सत्य रे, नित्य-ब्रह्म अवलंबित,
अपने में मिथ्या, बाह्य द्वन्द्व से मथित।[५]

जगत् के प्रति मिथ्या का भाव
जगत् कर्ता का धिक् अपमान,

---

१. लोकायतन, संस्कृति द्वार, पृष्ठ १२१।
२. लोकायतन, कला-द्वार, पृष्ठ ४०८।
३. लोकायतन, कला-द्वार, पृष्ठ ३१६।
४. लोकायतन, मध्य बिन्दु, पृष्ठ २३१।
५. लोकायतन, मध्य-बिन्दु, पृष्ठ २३४।

लोक जीवन ही में प्रभु मूर्त
लोक कर्मों ही से कल्याण।[१]

कवि ने जगत् के सत्य एवं ईश्वर-स्वरूप होने की घोषणा कर इस संसार को भोगने का प्रवृत्तिमूलक संदेश दिया है, परन्तु मन भोग में लिप्त न हो, स्वयं को प्रभु को अर्पित करके ही मन भोग की ओर अग्रसर हो—

जग में जो कुछ, सबमें व्यापक ईश्वर स्थित,
भोगो जग को, निज को कर प्रभु को अर्पित।[२]

जग के प्रति अनुरक्त होकर ही मन मानवता-प्रेमी हो सकता है—

जग-जीवन के प्रति हो अनन्य आकर्षण,
मानवता-प्रेमी, मंगल कामी हो मन।[३]

जगत् का सबसे आकर्षक पक्ष 'कर्म' है। जो दर्शन कर्म की प्रेरणा नहीं देता, वह मात्र प्रहसन है—

प्रहसन भर होगा वह दर्शन
कर्म प्रेरणा फल से वंचित।[४]

कर्म-प्रेरणा के बल पर ही जीवन की रिक्तता दूर की जा सकती है, क्योंकि कर्म प्रेरणा शक्ति का स्रोत है—

कर्म-प्रेरणा करे जन प्राप्त
रिक्त जीवन वर्जन से मुक्त,
कर्म-प्रेरणा शक्ति का स्रोत,
जनों को करे लौह संयुक्त।[५]

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष यदि आत्ममुक्ति नहीं, बल्कि सर्वमुक्ति से अनुप्राणित हो, निवृत्ति-चिन्तन यदि जन मंगल के लिए हो, आध्यात्मिक मनोमंथन यदि इसी धारा को स्वर्ग बनाने के उपक्रम में हो, तो कवि को उस अध्यात्म या निवृत्ति से कोई एतराज नहीं है—

सामूहिक जीवन की विमुक्ति कर निर्मित
आत्मा के नभ में विचर व्यक्ति ध्यानस्थित,

---

१ लोकायतन, कलाद्वार, पृष्ठ ३१६।
२. लोकायतन, मध्यबिन्दु, पृष्ठ २३६।
३ लोकायतन, मध्यबिन्दु पृष्ठ २४४।
४ लोकायतन, जीवनद्वार पृष्ठ ९८।
५ लोकायतन, कलाद्वार, पृष्ठ २५७।

अन्त प्रकाश में हो सकता रस-मज्जित,
आनन्द-स्पर्श मे शाश्वत के रोमांचित ।[१]

कवि पन्त को 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' का सिद्धान्त मान्य है, उनकी दृष्टि में त्याग (निवृत्ति) से ही भोग संभव है और त्याग से वंचित धरती नरक-समान है—

मनुज नू हो प्रति पीढी स्वर्ग
मर्त्य में छिपा अमर्त्य अजान,
त्याग ही से संभव भव-भोग,
त्याग वंचित भू नरक-समान ।[२]

पन्त जी भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों को नये जीवन-मूल्यों एवं मानव-मूल्यों में एकाकार कर मानव जीवन को व्यापक धरातल प्रदान करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हमारा युग विश्व-संक्रान्ति का युग है, आज के युग में भारतीय आध्यात्मिक जागरण-चैतन्य को विश्व-व्यापी नये जीवन-मूल्य एवं मानव-मूल्य में संगठित होकर जीवन की नई वास्तविकता में मूर्त एवं परिणत होना है, जिसके लिए विश्व के पाश्चात्य देशों की देन विज्ञान आज नई पीठिका का निर्माण कर रहा है। जब तक हम इस युग की धरती के गर्भ से निकले इस लोकव्यापी संघर्ष के उपकरणों को उस समग्र चैतन्य में संयोजित नहीं कर सकेंगे, जो नये युग का विश्वात्मा है, तब तक न इस युग की बहिर्मुखी विश्व-परिस्थितियों के संघर्ष में संगति तथा संतुलन स्थापित हो सकेगा, न उस निराकार चैतन्य या बोध को ही हम नया मूल्य या अर्थ या सारभूत गुण प्रदान कर सकेंगे, जो गत युग की मानसिक मर्यादाओं एवं सीमाओं को अतिक्रम कर, नये विश्व-सांस्कृतिक-संचरण को अपनी चिच्छक्ति से नई लोक मान्यता, नवीन वैचारिक वैभव, बुद्धि का प्रकाश तथा नयी प्राणवत्ता एवं नवीन जीवन-गति प्रदान कर सकेगा।[३]

विवेकानन्द के दर्शन से प्रभावित होने के कारण निराला जी की दृष्टि लोकमुखी थी, इसी कारण उनकी कविता भी मुख्यरूप से प्रवृत्ति-दर्शन से अनुप्राणित है। निराला जी का व्यक्तिगत जीवन अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक संघर्षपूर्ण था, इसलिए उनका जीवन-दर्शन अधिक आवेग के साथ अभिव्यक्त हुआ। प्राण-संघात के सिंधु के तीर पर खड़े तरंगों को गिनते न रह कर कवि कर्म और जीवन के समुद्र में कूद पड़ने का दृढ़ संकल्प लिए हुए है—

---

१. लोकायतन, मध्य बिन्दु, पृष्ठ २३१।
२ लोकायतन, पृष्ठ २७३।
३. पन्त . छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ७२।

प्राण संघात के सिन्धु के तीर मैं
गिनता रहूँगा न कितने तरंग हैं,
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा सतरण ।[1]

मध्ययुगीन-जीवन-निषेध वाली दृष्टि कवि की दृष्टि नहीं है, वे कर्म-निषेध-मूलक निवृत्ति-मार्ग का अतिक्रमण कर प्रवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं—

उनको अश्रुभरी आँखों पर मेरे करुणाचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनन्त
किन्तु तो भी हूँ नहीं विमर्श ।[2]

निवृत्ति-मार्गियों की भाँति कवि के लिए मृत्यु वरेण्य नहीं, वह अपने सम्मुख यौवन—सारा यौवन—देखकर उल्लसित है—

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन ।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन,
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन,
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त
अभी न होगा मेरा अन्त ।[3]

कवि निराला की दृष्टि में जीवन ही काम्य है, यौवन की शक्ति ही विकास-मार्ग की ओर ले जायगी, परन्तु रीतिकालीन घोर विलासिता के अनुकूल कवि की प्रवृत्ति नहीं । 'तुलसीदास' में रत्नावली के प्रति तुलसीदास की आसक्ति व्यक्तिगत कामुकता न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक है । रत्नावली के शब्दों में कवि ने तुलसीदास को नहीं, वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को धिक्कारा है । उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है । तुलसीदास सन्त और भक्त होते हुए भी बहुत बड़े समाज-सुधारक थे, इसमें आज किसी को सन्देह नहीं रह गया ।[4] उनकी काव्य-कला से निश्चित रूप से भव-पादप लहरा उठेगा—

हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न

---

१. निराला : अपरा, दे दे कोई वरण, पृष्ठ २० ।

२. निराला : परिमल, अधिवास, पृष्ठ १२५ ।

३. अपरा, ध्वनि, पृष्ठ १०० ।

४. डॉ० रामविलास शर्मा : निराला, पृष्ठ १०६ ।

यह अकल-कला, यह सकल-छिन्न, जोड़ेगी,
रवि-कर ज्यों विन्दु-विन्दु जीवन
संचित कर करता है वर्षण
लहरा भव-पादप, मर्षण-मन मोहेगी।[1]

'राम की शक्ति-पूजा' में निराला जी के जीवन की प्रबल प्रतिकूल परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न उनकी निराला की वाणी मिली है—

धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिये सदा ही किया शोध।[2]

परन्तु कवि को 'शक्ति' पर अटूट विश्वास भी है। जाम्बवान् ने राम को सलाह दी कि शक्ति की आराधना करने से रावण को पराजित करना सम्भव होगा, कवि मानो अपने मन को बोध देना चाहता है कि मनुष्य की अजेय शक्ति यदि जगा दी जाय तो वह जीवन-समर में अवश्य ही विजयी हो सकता है। अपने युग के लिए और भविष्य के लिए निराला ही यह अमर सन्देश दे सके कि विरोध के क्षणों पर विजय पाने के लिए एवं साधनों के अभाव को दूर करने के लिए मनुष्य न तो अपने जीवन को धिक्कारे और न ही अपने पथ से डिगे। उसे बस करना यह होगा कि वह अपनी शक्ति का आह्वान करे, शक्ति जग जाये तो जीवन में विजय-प्राप्ति असम्भव नहीं। जीवन-निषेध का समस्त आयोजन होते हुए भी जीने ही नहीं, जीवन में जय पाने का ऐसा अमर सन्देश निराला जैसे महान् कवि की लेखनी से ही प्रसूत हो सकता है।

महादेवी वर्मा में मध्य-युगीन रहस्यवादी अभिव्यक्ति का प्रभाव यत्र-तत्र मिलता है। उनका कवि-हृदय इस तथ्य को नहीं भुला पाता कि जीवन क्षणभंगुर है—

विकसते मुरझाने को फूल उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ दीप जलता होने को मन्द,
यहाँ किसका अनन्त यौवन ? अरे अस्थिर छोटे जीवन।[3]

कवयित्री की लेखनी से दुःख और वेदना के असंख्य स्वर निकलते हैं, कहीं-कहीं उन्होंने उस पार जाने की भी इच्छा प्रकट की है, कहीं-कहीं निवृत्ति की ओर भी प्रेरित हुई हैं, परन्तु उनको जो सौन्दर्य-दृष्टि मिली थी, वह निश्चय ही प्राचीन और मध्य युगीन काव्य-वस्तु की सीमाओं को अतिक्रम कर अधिक सद्य स्फुट और व्यापक क्षितिज मन में खोलने की क्षमता रखती है। उन्होंने नये युग के परिप्रेक्ष्य में राग-तत्त्व के गूढ़ संवेदन तथा राग-मूल्य को अधिक मर्मस्पर्शी, गंभीर, अन्तर्मुखी

---

१. निराला : कवि श्री तुलसीदास, पृष्ठ ३५।
२. अपरा, राम की शक्ति-पूजा, पृष्ठ ४४
३. यामा, नीहार, पृष्ठ ४२।

तीव्र संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है।[1] जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, पन्त जी की दृष्टि में महादेवी जी का अज्ञात प्रियतम अन्य कोई नहीं, वरन् यही प्रेम-मूल्य या राग-मूल्य है, जिसे उन्होंने प्रवृत्ति की पीडा के माध्यम से व्यक्त किया है।[2]

महादेवी जी के काव्य का उद्देश्य निवृत्तिमूलक आत्मा-परमात्मा का मिलन-वर्णन नहीं है, उनके काव्य में भी युग-जीवन की छाप व्याप्त है। उनकी कविता भी लोक-कल्याण की भावना से मंडित है एवं उन्होंने भी लोक-जीवन में व्याप्त पीडा से दर्द की अनुभूति पाई है। जग की आँसू-लड़ियों में कवयित्री का हृदय द्रवित नहीं होता, ऐसी बात नहीं—

मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू-लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत मुर्झाई कलियाँ देखो।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद-युगीन दार्शनिक अभिव्यक्ति आध्यात्मिक चिन्तन का परिणाम तो है, परन्तु यह अध्यात्म-चिन्तन निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है। अध्यात्म-चिन्तन का पथ आत्म चिन्तन एवं आत्म-परिष्कार की सीमा पारकर व्यापक जीवन-गरिमा के क्षितिज तक पहुँचकर लोक-चिन्तन, लोक-कल्याण एवं लोक-मुक्ति को अपने में समेटता हुआ दृष्टिगोचर होता है। निश्चय ही यह दृष्टि-परिवर्तन छायावाद युग की देन है, इस युग में मध्ययुगीन समस्त सीमाएँ अपने में छोटी सिद्ध होकर व्यापक सीमा-निर्माण में तत्पर हैं, आत्म-चेतना विश्व-चैतन्य में, सामान्य जीवन विश्व-जीवन में, आत्म-मुक्ति लोक-मुक्ति में, राष्ट्रीय (या जातीय) जागृति, अन्तर्राष्ट्रीय जागृति में लय होकर कवियों की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति पा रही थी। निवृत्ति-चिन्तन का क्षितिज अत्यन्त छोटा, सीमित एवं संकुचित होता है। इस चिन्तन में जीवन के समस्त सौन्दर्य-बोध, राग एवं आकर्षण की अवहेलना तथा स्वयं के विकास एवं परिष्कार को अधिक स्थान प्राप्त होता है। देश की ऐसी दशा में जब कि विकास के अनेकानेक तत्वों की खोज हो रही थी, कवि या चिन्तक निवृत्ति की एकांगी दृष्टि से कैसे अपने आपको बहला सकते थे। उनकी दृष्टि जीवन के व्यापक क्षितिज पर पहुँच गहराई में घुस प्रवृत्ति के विभिन्न आयामों पर विचरण करने लगी।

प्रवृत्ति के उत्थान के युग में नारी का मान बढ़ जाता है। आधुनिक साहित्य के प्रथम उत्थान के युग में ही कवियों की नारी-भावना में स्पष्ट परिवर्तन देखे जाने लगे थे, न तो वे मात्र 'अघ की खान' रह गई थी और न मात्र शारीरिक

---

१ पन्त छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ २३।
२. देखिए, पृष्ठ ३७६।
३ यामा, नीरजा, पृष्ठ १५०।

सौन्दर्य के कारण महत्वपूर्ण थी। द्विवेदी-युग में स्त्रियों की दयनीय दशा की ओर लगभग सभी प्रमुख कवियों की दृष्टि गई, विशेषकर गुप्त जी ने खोज-खोज कर पौराणिक और ऐतिहासिक नारी पात्रों के प्रति न्याय करने की चेष्टा की, इस दिशा में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अकथनीय प्रयास किए, परन्तु नारी-जाति के प्रति यथोचित सम्मान का भाव छायावादी कविता में ही मिलता है। द्विवेदी-युग में स्त्रियों के प्रति दया का भाव अधिक है, सम्मान का भाव कम। छायावाद युग में कवि निराला ने तरुण वैधव्य का जो चित्र खींचा है, वह अपनी दिव्य अलौकिकता में अकेला होने पर भी सम्मान कम, सहानुभूति अधिक लिये है—

रोती है अस्फुट स्वर में,
दुःख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वेलहरें भी ठहर-ठहर कर।
कौन उसको धीरज दे सके,
दुःख का भार कौन ले सके?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव, अत्याचार कैसा घोर और कठोर है।[१]

निश्चय ही यह दया और सहानुभूति का भाव स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव के कारण है, परन्तु सदैव ही निराला की नारी के प्रति यही दृष्टि नही रही है। नारी के प्रति असीम श्रद्धा का भाव जितना निराला जी के हृदय में रहा है, उतना कम कवियों के हृदय मे मिलेगा—

तन की, मन की, धन की हो तुम।
नव जागरण, शयन की हो तुम।
काम कामिनी कभी नही तुम,
स्वर्ग दामिनी नदी बही तुम,
अनयन नयन-नयन की हो तुम।
मोह - पटल - मोचन आरोचन,
जीवन कभी नही जन - शोचन,
हास तुम्हारा पाश-विमोचन,
मुनि की मान, मनन की हो तुम।[२]

निराला जी की दृष्टि में नारी 'वासना की मुक्ति' और त्याग में तागी हुई मुक्ता स्वरूप है—

१. अपरा, विधवा, पृष्ठ ४८।
२. निराला (आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : निराला, पृष्ठ १५८ से उद्धृत)

वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी ।[1]

'कामायनी' में प्रसाद जी ने नारी के निष्कलुष सौन्दर्य का चित्रण किया है। वस्तुत छायावादी कवियो ने नारी के जिस सौन्दर्य का पान किया है, वह नारी का मात्र शारीरिक सौन्दर्य नही, वरन् उसकी आत्मा का सौन्दर्य है, जो वासना अर्चना का विषय है, जिससे पुरुष भोग और तृप्ति नही, प्रेरणा और स्फुरण की प्राप्ति करता है।[2] नारी का वास्तविक स्वरूप वह है, जो श्रद्धा-स्वरूप है, जिसमें वह पुरुष के सपनों को साकार बनाने के लिए, उसको वास्तविक प्रेरणा देने के लिए मन की बातो को, मन के दुःख और पीडा को मन में ही पचा कर, मुख पर मुस्कान का आवरण ओढ़ लेती है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास-रजत-नग-पग तल में
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।
आँसू से भीगे अचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मिति-रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।[3]

दिनकर जी की दृष्टि में प्रसाद जी अथवा अन्य छायावादी कवि नारी के साथ पूर्ण न्याय नही कर पाए है। उनका तर्क यह है कि छायावादियो ने नारी को रूपवती होने के कारण दिव्य तो माना है और उसे कल्पना-मन्दिर में स्थापित करके उसकी अर्चना भी की है, परन्तु उन्होने नारी-स्वातन्त्र्य के सभी पक्षो की ओर दृष्टिपात नही किया। दिनकर जी की दृष्टि में असली स्वतन्त्रता आर्थिक होती है और आर्थिक स्वतन्त्रता श्रम करने से प्राप्त हो सकती है।[4]

दिनकर जी के उक्त मत से आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सहमत नही है। वे कहते हैं कि यद्यपि आधुनिक दृष्टि से नारी पुरुष की समता की अधिकारिणी है और उसे केवल श्रद्धा-रूप अंकित करना उसकी स्पर्द्धायुक्त उन्नति में बाधक बनना भी कहा जा सकता है, किन्तु कामायनी के कवि का यह आशय स्वप्न में भी नही है। उसे नारी को विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में सब प्रकार पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध करना है। साथ ही परस्पर प्रतियोगिता का भाव भी बनाये रखना है। इस दोहरी मनोवृत्ति के कारण प्रसाद जी ने कामायनी (श्रद्धा) को एकदम आधुनिक नायिका नही बना दिया। इस सम्बन्ध में आधुनिको को यदि एतराज हो, तो प्रसाद जी के पास

१. निराला : कवि श्री, यामिनी जागी, पृष्ठ १८।
२. दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ४७।
३. कामायनी, पृष्ठ १०६।
४. दिनकर : पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ५२-५३।

उसकी कोई दवा नही[1] कहना न होगा कि अति आधुनिकता के चक्कर में फँसकर विदेशों की ही नही, भारत की नारियाँ भी आज अपनी मानसिक शान्ति से हाथ धो बैठी हैं। यदि आज की अर्थ-लोलुप नारी प्रवृत्ति के मार्ग की ओर बढ़ते-बढ़ते हृदय में करुणा, त्याग एवं बलिदान की भावना को भी अपनाये रखे, तभी वह पुरुष के ही जीवन में नही, समस्त जग-जीवन में आनन्द की वृष्टि कर सकती है।

सुमित्रानन्दन पन्त छायावाद-युगीन नारी के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि छायावादी नारियों में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नही, उसमें विश्व-मानवों का व्यापक सहानुभूतिपूर्ण स्वस्थ स्नेह-संवेदन भी है। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकल कर, मध्ययुगीन काम-काज का गुठन मूल से हटाकर, सामाजिक दायित्व के प्रति जाग्रत, स्त्री-स्वातन्त्र्य के राजपथ पर नये शील के चरण धरकर आगे बढ़ती है।[2]

जहाँ कहीं पन्त जी की दृष्टि नारी के सौन्दर्य की ओर सन्मुख हुई है वहाँ नारी के अनिंद्य सौन्दर्य-आगार ने कवि को भावनात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया है—

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे,—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।[3]

कवि नारी को परम्परागत बन्धनों से मुक्त करना चाहता है—

मुक्त करो नारी को मानव !
चिर-बंदिनी नारी को
युग युग की बर्बर कारा से
जननि, सखि, प्यारी को।[4]

पन्त जी का तो नारी-संबंधी दृष्टिकोण इतना उदार है कि वे मानते हैं कि नारी को नर पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता नहीं, उसे पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए तथा उनका यह भी विश्वास है कि यदि धरती पर कहीं स्वर्ग है तो वह नारी-हृदय में है—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७८-७९।
२. पन्त : छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ३५।
३ पल्लविनी, ग्रन्थि, पृष्ठ ३८।
४. युग-वाणी, नारी, पृष्ठ ४६।

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर
तो वह नारी उर के भीतर।[1]

नारी की स्थिति पर विचार करती हुई महादेवी वर्मा कहती हैं कि वह आज इतनी शक्तिहीन और पंगु नहीं कि पुरुष अपने ही उसके भविष्य और गति के संबंध में निश्चय कर ले। हमारे राष्ट्रीय जागरण में उसका सहयोग महत्त्वपूर्ण और बलिदान अमूल्य है। समाज में वह अपनी स्थिति के प्रति विशेष सजग और सतर्क हो चुकी है। साहित्य को कुछ ही वर्षों में उसकी सजीवता का जैसा परिचय मिल चुका है, वह भी उपेक्षणीय नहीं। इसके अतिरिक्त इस संक्रान्ति-काल में सभी देशों की नारी अपने कठिन त्यागों से अर्जित गृह, सन्तान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुष की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नहीं।[2]

उपर्युक्त शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि महादेवी जी स्वयं नारी होने के नाते नारी जाति के बदले हुए भावों और विचारों से पूर्णतया अवगत हैं, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि उनके पद्य-साहित्य में कहीं भी अन्य छायावादी कवियों की भाँति नारी-उत्थान को ध्यान में रखकर लिखी गई पंक्तियाँ नहीं मिलती। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी समस्त व्यथा और पीड़ा की अभिव्यक्ति नारी-उत्थान की भावना को लेकर ही है। उनकी रागात्मक मूल्यों की समस्त अभिव्यक्ति यदि समाज से कुछ कहती हुई प्रतीत होती है तो यही कि युगों-युगों से सतायी हुई नारी के हृदय की जो पीड़ा भरी आवाज है, वह यही है। अब उस नारी को बन्धन-मुक्त करो ताकि वह अपनी तथाकथित पीड़ा से मुक्त हो सके।

प्रवृत्तिमूलक दर्शन को जिस अन्य चिन्तन में अभिव्यक्ति मिली, वह है देश-प्रेम। छायावाद युगीन साहित्य में देश प्रेम की उच्च कोटि की कविताएँ मिलती हैं। वस्तुतः यह युग ही राजनीतिक हलचल का युग था। स्वतन्त्रता के महायज्ञ में प्राणों की आहुति और असन्तोष की आग का भड़कना निरन्तर जारी था। द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित जो रचनाएँ हुईं, उनमें राष्ट्रीय भावनाओं की सीधी अभिव्यक्ति मिलती है। किन्तु इतनी सीधी और तत्कालीन प्रेरणा से की गई रचनाओं में कदाचित् उतनी काव्यात्मक व्यापकता नहीं आती, जितनी श्रेष्ठ काव्य के लिए अपेक्षित होती है। किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय पहलुओं को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देना, अथवा उस आन्दोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया में कोई रचना प्रस्तुत कर देना कवि की भावना और कल्पना का अधूरा ही आयास कहा जाएगा। इतनी प्रत्यक्षता काव्य साहित्य के लिए लाभकर नहीं होती। इस प्रक्रिया

---

१. ग्राम्या, नारी, पृष्ठ ८५।
२ दीप शिखा, चिन्तन के कुछ क्षण, पृष्ठ १८।

में न तो कवि-कल्पना का पूरा पाचन हो पाता है न रचयिता के भावों के साथ उसके सास्कृतिक और साहित्यिक सामर्थ्य का पूरा योग हो पाता है। साहित्य कोरी राजनीति नही है न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास मात्र है। साहित्य वास्तव में कवि की भाव सत्ता के साथ उसके सपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।[1] छायावाद युग का राष्ट्रीय साहित्य इसी कोटि का है। जयशकर प्रसाद की रचनो म जो देश का गुणगान हुआ है वह इतन व्यापक धरातल पर है कि किसी भी दश का वासी उस गीत को गाकर आनन्द विभोर हो सकता है —

> अरुण यह मधुमय देश हमारा !
> जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा !
> सरस तामरस-गभ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर
> छिटका जीवन-हरियाली पर मगल कुकुम तारा।[2]

हमारा भारतवर्ष नामक गीत म आत्म गौरव का परम ओजस्वी उद्बोधन मिलता है—

> वही है रक्त वही है देह वही साहस है वैसा ज्ञान।
> वही है शाति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आय सतान।
> जियें तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
> निछावर कर दें हम सवस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।[3]

कवि निराला ने भारत माता को मूत स्वरूप प्रदान कर उसकी विजय-कामना की है। इस विजय-गीत का स्वर युगो तक गूजता रहेगा—

> भारति जय विजय करे।
> कनक शस्य कमल ।
> लका पदतल शतदल
> गर्जितोर्मि सागर जल
> धोता शचि चरण, युगल,
> स्तव कर बहु—अर्थ भरे।[4]

निराला जी सास्कृतिक परम्परा तथा गीता की शिक्षा की दुहाई देते हुए बल प्राप्त करने तथा शौय दिखलाने के लिए देश वासियो को जगाते हैं—

> सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन ?
> मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण ?

---

१ आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २३।
२ प्रसाद चन्द्रगुप्त पृष्ठ १००।
३ प्रसाद स्कन्दगुप्त पृष्ठ १४१।
४ अपरा भारती-वन्दना पृष्ठ १।

धर्मचक्र-रंजित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता।
जय हे जय हे जय हे, अभय, अजय, त्राता।[१]

जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, छायावाद युग में लिखी गई हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ अनुभूतियों के सच्चे आलोक से आलोकित दृष्टिगत होती हैं। ये कविताएँ उपदेशात्मक स्तर से ऊपर उठकर अनुभूति के बल पर जनता को प्रभावित करने वाली, सिद्ध हुईं। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें सन्देह नहीं है।

छायावाद युग में जिन कवियों ने 'वाद' के घेरे से बाहर रहकर राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, उनकी कविताएँ भी जनता के समस्त अनुभूतियों के जीवित कोष के रूप में उद्भूत हुईं। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि की कविताओं ने जनता के हृदय को झकझोर कर जनता और समकालीन काव्य के बीच सम्बन्ध का तार अनुस्यूत रखा।

पराधीनता के काल में माखनलाल चतुर्वेदी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खुलकर विरोध किया। अपनी विरोध-भावना को छिपाने के लिए न उन्होंने अतीत के परदे में अपने आपको छिपाया, न धर्म की शरण ली, न किसी प्रकार की समझौतावादी नीति को ही अंगीकार किया। बलिदानवाद के पुरस्कर्त्ता चतुर्वेदी जी शीशदान की महिमा गाते हुए कहते हैं—

रक्त है? या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर, तू सीस दे दे कर जवानी।[२]

देश के अमर सेनानी को चतुर्वेदी जी मस्तक देने का स्वर उच्चरित करने का आदेश देते हैं—

तू बल दे गिरतों को उदार,
तू बल दे, बलि-पथ को सँवार,
तू बल दे मस्तक वालों को—
मस्तक देने का स्वर उचार।[३]

गाँधीजी द्वारा गृहीत अहिंसा की नीति के कारण स्वतन्त्रता-संग्राम की वीरता में बलिदान की भावना की प्रमुखता हो गई। स्वतन्त्रता-संग्राम के निर्भीक वीर

---

१ पंत युगपथ भारतगीत (३) पृष्ठ ९०।
२ माखनलाल चतुर्वेदी हिम किरीटिनी, जवानी, पृष्ठ ११३।
३ माखनलाल चतुर्वेदी [illegible]

सैनिक बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' देश के बलिदानी का शिखर पर चढ़ने के लिए आह्वान करते हैं। बलि-पथ के सुन्दर जीव को यकने का नाम नहीं लेना है, उसे जीवन के कुंज के समस्त आकर्षण को छोड़कर नृत्य-गीत के साथ ताल मिलाना है और माँ की मुंडमाला में अपना शीश पिरोना है। बलिदानी को जीवन का मोहक बन्ध कट जाने देकर पूजा को सम्पन्न करने के लिए मरण का सुप्रबन्ध कर लेना है—

> है जीवन अस्थिर, कट जाने दे तू मोहक बन्ध,
> कर दे पूजा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।[1]

नवीन जी भरत-खण्ड के जन गण का आह्वान करते हैं, देश की इस धरती का शृंगार करने के लिए और जननी का भंडार भरने के लिए—

> आमन्त्रण यह तुम्हें है कि इस माटी का शृंगार करो तुम,
> आवाहन है तुम्हें कि अपनी जननी का भण्डार भरो तुम,
> युग कहता है कि इस भूमि का यह दरिद्रता-भार हरो तुम,
> स्नायु-तन्तु-सारंगी में हो सह-श्रम-वृन्द-वाद्य की झन-झन,
> भरत-खण्ड के तुम हे जन-गण।[2]

सुभद्राकुमारी चौहान देश की पुकार से विह्वल हो देश के इतिहास को पानी चढ़े दुधारों से बनने देने की कामना करती हैं। देशवासियों की लाली से माँ का मस्तक लाल होगा, तभी काली जंजीरें टूटेंगी—

> आज तुम्हारी लाली से माँ के मस्तक पर हो लाली।
> काली जंजीरें टूटें, काली जमना में हो लाली।[3]

कवि सोहनलाल द्विवेदी का अटूट विश्वास है कि बिना शीश-दान के माँ की कड़ियाँ नहीं टूटेंगी—

> आँसू बिखराते बीतेंगी, जलती जीवन घड़ियाँ।
> बिना चढ़ाये शीश, नहीं टूटेंगी माँ की कड़ियाँ।[4]

सियारामशरण गुप्त एक झंडे के नीचे देश की एकता का डंका पीटते हुए कहते हैं—

> कितने वीरों ने कर करके प्राणों का बलिदान,
> मरते मरते भी गाया है इस झंडे का गान।

---

१. नवीन हम विषपायी जनम के, शिखर पर, पृष्ठ ४२६।
२. वही, भरत-खण्ड [redacted] तुम हे जन-गण। पृष्ठ ४१०।
३. सुभद्राकुमारी चौहान, मुकुल, पुरस्कार कैसा, पृष्ठ ११०।
४. सोहनलाल द्विवेदी भैरवी।

एक हमारी सुख-सुविधा है, एक हमारा क्लेश,
एक हमारा ऊँचा झण्डा, एक हमारा देश।[१]

छायावादी काव्य में प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता के विभिन्न क्षेत्र

छायावादी काव्य का युग को जो सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, वह यह है कि युगों से निवृत्ति-चिन्तन में भटकते हुए जीवन-निषेध-कुंठित परलोक-लोलुप आत्म-परिष्कार का भी मानव-मन को साहित्य के धरातल पर प्रवृत्ति-चिन्तन का व्यापक क्षेत्र मिला। धरती से दूर नहीं, इसी धरती पर सौन्दर्य-बोध पाकर कवि जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिए अपनी वाणी को अधिकाधिक सँवारने लगा। जीवन को पूर्ण बनाने की कामना ने ही कवि को इस अनुभूति के प्रति सचेत कराया कि उसे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। स्वतन्त्रता के व्यापक धरातल पर न केवल अनुभूति की कामना बलवती हुई, वरन् कवि समस्त प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ फोड़कर अपने लिए नवीन मार्ग ढूँढ़ने की स्वतन्त्रता के लिए भी व्याकुल हुआ। राजनीतिक स्तर पर विदेशी शासन से मुक्ति की कामना मचल उठी और साथ-ही-साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में—क्या सामाजिक, क्या सांस्कृतिक—प्रवृत्ति दिशा की ओर कविगण नवीन भाव-भूमि में विचरण करने लगे।

कवि जयशंकर प्रसाद की व्यापक दृष्टि हिमालय-शृंगों से स्वतन्त्रता को पुकारते हुए देख पाती है। स्वयं स्वतन्त्रता आगे बढ़कर देश के वीर-पुत्रों को ललकारती है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
'अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।[२]

जब स्वतन्त्रता की नग्न तलवार उठती है तो परतन्त्रता-जनित दुःख को याद दिलाकर भुजाओं में असीम बल का संचार करती है—

उठती है नग्न तलवार जब स्वतन्त्रता की,
कितने ही भावों से
याद दिलाकर दुःख दारुण परतन्त्रता का

---

१ सियाराम शरण गुप्त : नोआखाली में, एक हमारा देश, पृष्ठ ५१
२ प्रसाद चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १६४।

फूँकती स्वतन्त्रता निज मन्त्र से जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु रेणु-रेणु जो न हो जाय।[1]

छायावाद युग की राजनीति मुख्यतः गाँधी जी की राजनीति थी, यह राजनीति परम्परागत छल छद्मों वाली राजनीति न होकर ध्रुव सत्य-प्राप्ति की साधन थी—

युग-राजनीति थी तुमको ध्रुव सत्य प्राप्ति की साधन,
निष्काम लोक-सेवा थी सक्रिय ईश्वर आराधन!
स्वातन्त्र्य व्यर्थ—जो निज सग लाए अधर्म, स्पर्द्धा, रण,
सन्मुक्ति वही—जिससे हो आत्मिक उन्नयन प्रतिक्षण।[2]

छायावादी कवियों की पारखी दृष्टि सामाजिक विषमता को भी भेद सकी। जिनके पास क्षमता है, सम्पत्ति है, वे चीटियों के बिलों पर चीनी भुरभुराकर अथवा बन्दरों को पुए खिलाकर धर्म अर्जित करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि पाई-पाई के मुहताज मानव की ओर नहीं जाती, दृष्टि उधर जाती भी है तो घृणा के कारण फेर ली जाती है।[3] एक ओर इतना अन्न और दूसरी ओर अन्न का एक दाना भी नहीं—इस सामाजिक विषमता की ओर खिंचकर छायावाद के कवियों ने गद्य साहित्य में बड़े करुण चित्र प्रस्तुत किए हैं। जयशंकर प्रसाद और महादेवी जी का गद्य-साहित्य इस दृष्टि से पठनीय है।

औपनिषद अद्वैतवादी दृष्टि को नवीन परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मनीषियों ने मानव मात्र की एकता और अभिन्नता में समाविष्ट किया। इसी मानवतावादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव छायावादी कवियों पर पड़ा। उन्होंने इसी विचार-स्तर पर ऊँच-नीच के भेद भाव को मिटाने का अमूल्य सन्देश दिया। मनुष्य को देश-काल के बन्धन में न बाँधकर उसका परिचय मानवपन में दिया जाय तभी ठीक, इस विचार से प्रेरित हो पन्त जी कहते हैं—

गा कोकिल सन्देश सनातन।
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश-काल है उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानव पन।[4]

---

१ निराला अपरा, छत्रपति शिवाजी का पत्र, पृष्ठ ७०।
२ पन्त लोकायतन पृष्ठ १४१।
३ निराला अपरा, दान, पृष्ठ १२०।
४. पन्त युगपथ पृष्ठ १३।

पन्त जी को पतितो की नग्न देह भी मुग्ध कर लेती है, वे मानव के पुतले मानवता के नाते हृदय में अपनेपन का भाव भरते हैं—

सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।[1]

कवि समाज-व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहता है। वह चाहता है जन-जन शोषण से मुक्त हो और समाज धन का अधिकारी हो सके।—

यह क्या सम्भव नहीं,
व्यवस्था में जग की कुछ हो परिवर्तन ?
कर्म और गुण के समान ही
सकल आय-व्यय का हो वितरण ?
× × ×
मिलकर जन निर्माण करें जग
मिलकर भोग करें जीवन का,
जन विमुक्त हो जन-शोषण से,
हो समाज अधिकारी धन का।[2]

कवि निराला समाज में दलितो, शोषितों, भूखो और नगो के प्रति सहानुभूति की वाणी मुखरित कर उनके प्रति समाज से न्याय की माँग करते हैं। कवि ने मानव के इन पुतलो को कही भी आसक्तियों के सामने झुकाने का प्रयत्न नही किया है, कवि तो दो टूक कलेजा कर देने वाले के मग्न उरसार को अपने रक्त से सींचकर उसे अभिमन्यु की सी कृत-कर्तव्यता प्रदान करना चाहता है।[3]

कवि की सामाजिक संघर्ष-प्रियता सामाजिक चेतना की ही प्रतीक है। कवि का विश्वास है कि मनुष्य संघर्षों से घिरा रहकर भी यदि शक्ति का बल न छोड़े, तो टूट नही सकता, विजय अवश्य उसका वरण करेगी।[4] मनुष्य तो महान् है, उसे केवल दीनता, कायरता और काम परता को तिलाञ्जलि देनी है—

तुम हो महान्
तुम सदा हो महान्
है नश्वर यह दीनभाव,
कायरता, कामपरता;
ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नही

१. पन्त : चिदबरा, दो लड़के, पृष्ठ ४३।
२. पन्त : चिदबरा, संध्या के बाद, पृष्ठ ८६।
३. प्रो० क्षेम : छायावाद के गौरव-चिह्न, पृष्ठ ४७।
४. निराला : अपरा, राम की शक्ति पूजा, पृष्ठ ३३।

पूरा यह विश्वभार—
जागो फिर एक बार।[1]

छायावाद ने राजनीतिक और सामाजिक जागरण की अपेक्षा सांस्कृतिक जागरण को अधिक चेतना प्रदान की है। हमारी परम्परागत संस्कृति के महा-वन में छायावाद प्रभात का वह मलय-पवन बनकर बहा है, जिससे हमारे आदर्शों के पुराने-पेड़ सूखी-पीली पत्तियाँ गिराकर नवीन कोपलों-किसलयों से झूम उठे, लताओं ने रात की ओस-भरी नींद छोड़कर अपनी कोमल बाँहें फैला दीं, चुपों ने ओस-पली फुनगियों पर नवीन-सूर्य की किरण-ऊष्मा के स्वागत में बयार की डोरों पर दोल डाल दिये। वस्तुतः समाज के बाह्य स्तर पर जैसा मनःपरिष्कार राजनीति के क्षेत्र से गाँधी जी कर रहे थे, साहित्य की भूमि से छायावादी युग भी अपने विश्वासी पाठकों में वैसी ही सांस्कृतिक परिष्कृति संभव कर रहा था।[2] छायावादी कवि के सम्मुख राजनीति के प्रश्न से अधिक विकट प्रश्न संस्कृति का था—

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड-मनुजता को युग युग की होना है नव-निर्मित,
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।[3]

कवि का विश्वास है कि सांस्कृतिक अभ्युदय ही युग के अंधकार को नष्ट कर सकेगा—

व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह, औ तोपों का गर्जन,
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन।
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत युगों की होंगी शनैः पराजित।[4]

कवि संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का अभाव महसूस करता है तो उसे समस्त मानव-जीवन अपूर्ण-सा प्रतीत होता है और कवि का मन भी उन्मन हो उठता है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
लगता अपूर्ण मानव जीवन,

१. निराला : अपरा, जागो फिर एक बार, पृष्ठ १०।
२. प्रो० क्षेम : छायावाद के गौरव-चिह्न, पृष्ठ ३१-३२।
३. पन्त : चिदंबरा, संस्कृति का प्रश्न, पृष्ठ ९७।
४. वही, पृष्ठ ९७।

मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन ।[१]

छायावादी कवियों ने संस्कृति के वृत्त को अधिकाधिक वृहत् बनाने का प्रयास किया, क्योंकि सांस्कृतिक जागरण से ही युग विशेष-दीक्षा-युग बन सकता है—

संस्कृति का जब वृत्त सचरण
होता क्रमश पूर्ण प्रस्फुटित,
तब भावो के सूक्ष्म रह स्तर
गुह्य अर्थ निज करते व्यजित ।
ऐसे युग होते दीक्षा युग
मत्र, तत्र शैली में विकसित,
युग जीवन-आदर्श, नीति, विधि,
दर्शन में हो उठता केन्द्रित ।[२]

छायावादी कवियो ने वस्तुत सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लगभग सभी चिन्तकों एव मनीषियो से विचार-तत्व ग्रहण किए थे । स्वामी दयानन्द सरस्वती के छिट-फुट प्रभावों के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द के सांस्कृतिक योगदान से पोषक-तत्त्व ग्रहण कर इन कवियों ने अपनी कविताओ को गौरवान्वित किया है । श्री तिलक के प्रवृत्तिमूलक निष्काम कर्मयोग की भी उनकी साहित्य चिन्तना पर छाप पडी । परिणामस्वरूप कवियो की चेतना 'मानव' के पूर्ण स्वरूप और उसके निष्कलुष मानवत्व की खोज में अग्रसर हुई । कवियो का मानव और मानवत्व-अभियान भारतीय सांस्कृतिक विकास के भीतर महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जाएगा । छायावादी कवियो ने युग-जीवन के विभिन्न क्षेत्रो से सबधित अनेक पूरे-अधूरे चित्रों की रूप-रेखा प्रस्तुत की है, आगे की पीढियो की सफलता इस बात में है कि उसे किस प्रकार सँवार-सुधार, काट छाँट और दबा-उभार कर साहित्य को अपनी वेदी पर प्रतिष्ठित करता है ।[३]

क्या छायावाद प्रवृत्तिमुखी है ?

छायावाद को प्रारभ से ही आलोचनाओं का सामना करना पडा । छायावादी कविता को जीवन-निषेध-मूलक और पलायनवादी सिद्ध करने में आलोचकों ने कोई कोर-कसर नही छोडी । महादेवी जी के शब्दो में छायावाद को तो शैशव मे कोई सहृदय आलोचक ही नही मिल सका । द्विवेदी-युग के संस्कार लेकर जो आलोचना चल रही थी, उसने नवीन कवियों को विक्षिप्त प्रमाणित करने में सारी शक्ति

१. 'उन्मन' पल्लविनी, पृष्ठ २०२ ।
२ चिदबरा, आत्मिक, पृष्ठ ३४१ ।
३. प्रो० क्षेम छायावाद के गौरव चिह्न, पृष्ठ ८२ ।

लगा दी और नये कवियों ने अपने कठिन-हृदय आलोचकों को प्राचीनता का भग्नावशेष कहकर संतोष कर लिया।[1]

छायावादी कविता को जब मान्यता प्राप्त हो गई, तब हिन्दी के समर्थ आलोचकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि छायावादी साहित्य मूलतः प्रवृत्तिमुखी है, उसे जीवन के ही व्यापक स्तर पर फलने-फूलने का अवसर मिला है। छायावादी चिन्तन का घेरा अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रहा है, उसमें केवल मानव-जीवन के व्यापक क्षितिज पर ही विचरण करने की व्यग्रता नहीं है, वरन् नवीन चेतना-शक्ति द्वारा नये सिरे से नवजीवन-निर्माण का अद्भुत प्रयास भी है।

छायावादी काव्य का प्रवृत्तिमुखी न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यह सोचना असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवन-मरण-संग्राम चल रहा हो, उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे कुछ भी प्रेरणा न ग्रहण करें, बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें।[2]

छायावादी कवियों ने युग की अनेकानेक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना का प्रदर्शन किया था एवं बड़ी ही ईमानदारी और सच्चाई से अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को वाणी प्रदान की थी। उधर बँगला साहित्य एवं पाश्चात्य साहित्य से कवियों को व्यक्तिवादी साहित्य-सृजन की प्रेरणा मिल रही थी। छायावादी कवियों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति परिलक्षित होते ही उसमें समाज से दूर भागने की प्रवृत्ति देखी जाने लगी। परन्तु व्यक्तिवाद अपने आप में बुरी चीज नहीं है, न वह असामाजिक भावना ही है। हमारे देश में जिस समय व्यक्ति-भावना का जन्म हुआ, उस समय राष्ट्रीय चेतना का भी उदय हुआ। इसलिए व्यक्ति-भावना का प्रारंभ से ही राष्ट्रीय आजादी की भावना से गठबंधन हो गया और नयी छायावादी कविता का व्यक्तिवाद असामाजिक पथों पर न भटक कर राष्ट्रीय नवजीवन की उदात्त आकांक्षा का गंभीर मर्म-वेदन लेकर मुखरित हुआ।[3]

छायावादी कवि की वाणी में व्यक्ति-स्वर की झंकार मिली रहने पर भी एक सार्वजनिकता और सार्वभौमता है, जो उसके मर्म को पकड़ने की शक्ति रखने वाले संवेदनशील हृदय के तारों पर उसी का स्वर बन कर बजने लगती है। उसके व्यक्तिगत स्वर में समाज का स्वर है और उसके सामाजिक स्वर में व्यक्ति की संवेदन-तरंग। छायावादी कवि का अहं ही इतना विस्तृत और उदात्त है कि उसमें समाज भी आ जाता है। भक्तिकाल के कवियों की वाणी जिस प्रकार व्यक्तिगत

---

१. महादेवी वर्मा : दीपशिखा, चिन्तन के कुछ क्षण, पृष्ठ १६।
२. आचार्य वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २२।
३. श्री शिवदान सिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृष्ठ ६२।

अनुभूति होते हुए भी जन जन के कंठ की शृङ्गार हैं, उसी प्रकार छायावादी कवि की व्यक्तिगत चेतनाएँ भी अपनी मर्मपूर्णता और तलस्पर्शी गंभीरता के कारण प्रत्येक भावुक हृदय की निज की अनुभूति है।[1]

व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूति ने ही कवि को किस प्रकार समाज के किसी बन्धु के सुख दुःख की छाया को अपने हृदय पर झेलने के लिए बाध्य किया, इसका जीवन्त रूप इन पंक्तियों में झलकता है—

'मैंने' 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुःख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।[2]

छायावादी कविता में रहस्यवादी प्रवृत्ति होने के कारण भी इस काव्य को पलायनवादी एवं जीवन के क्षितिज से दूर अध्यात्म-लोक में विचरण करने वाला काव्य कहा जाता है। परन्तु इस दिशा में छायावादी पलायन वर्तमान की संकीर्ण विघटित होती हुई ह्रासोन्मुखी वास्तविकता से एक नवीन उच्च वास्तविकता की खोज के लिए पलायन था—यदि उसे पलायन कहना आवश्यक है तो। वस्तुतः छायावाद में जिस रहस्यानुभूति को वाणी मिली है, वह रहस्य-भावना मध्य युगीन सन्तों की सी निषेध-पोषित, जीवन रस वंचित, आत्मा या ब्रह्म से अस्पष्ट स्पर्श की अतीन्द्रिय अनुभूति न होकर नये विश्व जीवन तथा विश्व-चैतन्य की खोज तथा जिज्ञासा की भावानुभूति रही है। मध्य-युगीन कबीर आदि के रहस्यवाद और छायावाद में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मध्य-युगीन रहस्यवाद लोक निष्क्रिय तथा निवृत्तिमूलक था और छायावाद जीवन सक्रिय तथा प्रवृत्तिमूलक रहा है। आत्म-बोध के निर्गुण निरंजन सोपान पर चढ़ने के लिए जिस जीवन-मन प्राण तथा राग-भावना के स्तर की मध्य युगीन सन्तों ने उपेक्षा की, विश्वात्मा की वैचित्र्य भरी एकता के बोध की साधना में तत्पर छायावादी कवि ने मानव जीवन मन-प्राण तथा राग भावना के स्तरों को अपने नवीन प्रवृत्तिमुखी सौन्दर्य-वैभव के बोध से पुनः मंडित कर मध्य युगीन जीवन विमुख दृष्टि को व्यापक विश्व-जीवन की गरिमा की ओर उन्मुख किया।[3]

छायावाद की वेदना और पीड़ाजनित अनुभूतियों में जो आलोचकों को निवृत्ति की छाया का आभास मिला है। परन्तु छायावाद में जिस वेदना की अनुभूति

१. प्रो० क्षेम छायावाद के गौरव चिह्न, पृष्ठ १८।
२ निराला परिमल, अधिवास, पृष्ठ १२४।
३ पन्त : छायावाद—पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १८-१९।

कवियों को हुई है, उसमें आनन्द की अनुभूति है, दुःख की नहीं, लगन है, अकर्मण्यता नहीं, साधना है, भोग की निराशा नहीं। निराशाजनित पीड़ा की स्वीकृति जीवन में अस्वस्थ वृत्तियों को उकसाती है, किन्तु साधनाजनित वेदना स्वीकृति जीवन को नवीन आलोक से मंडित करती हुई और उसे उदात्त बनाती है। महादेवी जी ने अपने काव्य में अभिव्यक्त होने वाली पीड़ा को उस समष्टि-पीड़ा का अवशिष्ट किन्तु साहित्य-कलात्मक रूप बतलाया है, जिसे वे अपने समस्त व्यस्त सामाजिक सेवा के जीवन-व्यापारों में खपा नहीं पाती। इस प्रकार इस पीड़ा की मूल प्रेरणा निषेध नहीं, स्वीकृति है, अविराम नहीं, लक्ष्य के प्रति अडिग आस्था है।[1]

जीवन के प्रति अत्यधिक रुचि और राग भोग की ओर ले जाता है। प्रश्न उठता है, छायावादी कवियों ने प्रवृत्ति-पथ को किस अंश तक अपनाया था। अति भोग से बचने के लिए ही गीता में निष्काम कर्म की व्यवस्था है। कालान्तर में उसका कर्म मूलक स्वर धुंधला पड़ गया था और उसकी सन्यासमूलक व्याख्या की गई थी। लोकमान्य तिलक ने नवयुग में गीता की पुनः कर्ममूलक व्याख्या कर इस बात पर जोर दिया कि कर्म तो किया जाय, पर फल-प्राप्ति की कामना न की जाय, कर्म तो हो, पर वह निष्काम कर्म हो। निष्काम कर्म में प्रवृत्ति का भाव तो है, परन्तु घोर प्रवृत्ति से बचने के लिए निवृत्ति का भाव भी है। संक्षेप में गीता में त्याग युक्त प्रवृत्ति की शिक्षा है।

छायावादी कवियों की प्रेरणा जब प्रवृत्ति की ओर हुई तो उनके सामने गीता का स्वर ध्वनित था। कामायनीकार ने यत्र-तत्र प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का निदेश किया है, परन्तु उनका यह भी निर्देश है कि कर्म जीवन के लिए वहीं तक स्वीकार्य है, जहाँ तक उसका स्वरूप नियंत्रित है। कर्म का अतिवादी रूपसत्ता को अधिकृत करने की चेष्टा, आत्मविस्तार या अपने को अधिकारी बनाने का उद्योग—मनुष्य को घोर बुद्धिवादी बना देता है। यह घोर बुद्धिवाद मनुष्य के स्वस्थ और स्वाभाविक विकास में बाधक बन जाता है, इसीलिए छायावाद के कवि को इस अतिवादी कर्म अथवा घोर बौद्धिकता से परहेज है। इस घोर बौद्धिकता से बचने के लिए जीवन की साध्य-वेला में 'सन्यास-मार्ग' का समर्थन किया गया है। जीवन में भोग और कर्म-मार्ग पर चलकर अन्त समय सन्यास-मार्ग का ग्रहण-यही तो औपनिषद परम्परा रही है, यही प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है। आलोचकों को मनु और श्रद्धा का हिमालय शृंग पर जा पहुँचना भला नहीं लगा है, परन्तु यहाँ पर कवि का आशय मनु के मन में निवृत्ति की भावना की ओर इंगित करना भर है, संसार-त्याग अर्थात् कर्म का त्याग नहीं। मनु के हृदय में घोर कर्म से वितृष्णा भर

१ प्रो० क्षेम : छायावाद के गौरव चिह्न पृष्ठ २०-२१।

बताई है, कर्म मात्र से विरक्ति नही, क्योंकि एक तो मनु हिमालय-शृंग पर सपत्नीक पहुँचे थे, दूसरे वहाँ जाने पर भी—

> वे युगल वहीं अब बैठे संसृति की सेवा करते,
> सतोष और सुख देकर सबकी दु ख-ज्वाला हरते।[1]

भोग और वैराग्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति के संबध में अरविन्द-दर्शन से भी छायावादी साहित्य प्रभावित रहा है। श्री अरविन्द यतियों के कृच्छ्र मार्ग के उतने ही विरोधी है, जितने भौतिकवादियो को भोग-वृत्ति के। साथ ही, वे दोनों की उपयोगिताओं को भी स्वीकार करते है। भोग-वृत्ति भौतिकतावादी विश्वासो का स्वाभाविक परिणाम है, किन्तु भौतिकतावाद सर्वथा हेय नही है। उसकी दृष्टि हेतुवादी होती है। वह सम्यक् कारणों की खोज किये बिना किसी भी बात को नही मानता। शका, जिज्ञासा और बुद्धिवाद की इसी प्रवृत्ति के चलते जीवन के निचले स्तरो के बारे में मनुष्य का ज्ञान इतना समृद्ध हो सका है। इसी प्रकार यतियों ने आनन्द से मुख मोडकर अपने जीवन के प्रति चाहे जैसा भी कठोर व्यवहार किया हो, किन्तु वे भी बराबर यह सूचना देते रहे है कि भूत (मैटर) ही एकमात्र सार नही है, न सारी वास्तविकता वही तक समाप्त हो जाती है, जहाँ तक हमारे चर्म-चक्षु देख सकते है। दृश्य वास्तविकता के आगे एक और वास्तविकता है जो अदृश्य है, इस अनुमान को जीवित रखने का श्रेय अरविन्द इन्ही यतियो, संसार-त्यागियों और भौतिकवाद के विरोधी वैरागियों को देते है।[2] इस विचार-धारा का सबसे अधिक ठोस प्रभाव पन्त जी पर पड़ा है, यद्यपि पन्त जी का दर्शन अरविन्द-दर्शन नही है। पन्त जी ने अध्यात्म-चिन्तन को धरती से विलग नही होने दिया है, धरती की दृश्य-वास्तविकता से परे जो अध्यात्म-चिन्तन है, उसकी भी वास्तविकता धरती के ही भविष्य के सबध में है, इस प्रकार उस निवृत्ति-चिन्तन का प्रवृत्ति से सम्बध-विच्छेद नही होने पाया है। उनकी आध्यात्मिकता के पैर सदैव धरती पर टिके रहे है। भौतिकता को भी उन्होने अति-भौतिकता या घोर भौतिकता के रूप में अंगीकार नही किया है, उनकी भौतिकता के कर्दम में से विश्व-मानवता का कमल प्रस्फुटित हुआ है। उनकी दृष्टि में मानव ऐसा पक्षी बन सके जो जीवन-फल चखता हुआ प्रवृत्ति-दर्शन की ओर उन्मुख हो, और निश्चल होकर जीवन-द्रष्टा बन निवृत्ति-दर्शन से प्रेरित हो, जिसमें दोनो मार्गों एव दर्शनो का सम्पूर्ण संतुलन स्थापित हो, तभी ठीक हो—

---

१. प्रसाद : कामायनी, पृष्ठ २८२।

२. दिनकर : पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ १०८।

ऐसा पक्षी जिसमें हो सम्पूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है निर्मित कर तरु-जीवन ।[1]

पन्त जी की दृष्टि में जिस सात्विक, नैतिक, सौम्य सांस्कृतिक जागरण ने गांधी-युग में जन्म लिया, छायावादी काव्य में उसका बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसमें वर्तमान जीवन की गति तथा ध्येय धारणाओं की सक्रियता था, वह रहस्यवादी मध्ययुगीन सन्तों के दृष्टिकोण की तरह निष्क्रिय, निवृत्तिमूलक तथा जगन्मिथ्या के बोध से जीवन-कुंठित नहीं था। वह एक प्रकार से प्रवृत्ति निवृत्ति का समन्वय था।[2]

प्रवृत्ति-दर्शन को छायावादी काव्य की देन

द्विवेदी-युगीन साहित्य में प्रवृत्ति-दर्शन की अभिव्यक्ति जाति देश की सेवा, नारी-जागरण में सहयोग एवं इस लोक और धरती को, इसी जीवन को सुन्दर बनाने के प्रयास में दिखाई देती है। द्विवेदी-युग की सफलता सांस्कृतिक पुनरुत्थान से प्रेरित प्रवृत्तिमुखी जीवन की चेतना और जागृति की भावना को यथातथ्य सीधे-सादे शब्द में उतार दिये जाने में है।

छायावाद का कवि अधिक कल्पना और अनुभूति की भावना लेकर अवतरित हुआ। नेत्रों के सामने जो जीवन-सौन्दर्य का प्रसार था, छायावादी कवि की दृष्टि उसके आगे तक गयी एवं उसका सौन्दर्य-बोध द्विवेदी युगीन कवि के सौन्दर्य-बोध से अधिक विस्तृत और व्यापक निकला। इस युग तक आते-आते न केवल इसके मन्त्र-गृह में, एक समय कर्कश समझी जानेवाली खड़ी बोली गलकर मोम हो गई,[3] वरन् विश्व की अशेष वास्तविकताएँ कवियों की सौन्दर्योन्मुखी वृत्ति में पड़कर सौन्दर्य की भाषा में अनूदित हो उठीं।[4]

वस्तुतः आधुनिक युग के साहित्य में प्रवृत्ति-चिन्तन की छाप उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की देन है। पुनरुत्थान-युग के प्रथम मनीषी एवं चिन्तक राजा राममोहन राय माने जाते हैं। जिन्होंने वेदान्त की प्रवृत्तिमूलक व्याख्या प्रस्तुत की। उनकी विचार धारा का प्रभाव बँगला साहित्य में रवीन्द्र नाथ ठाकुर और उनके सहयोगियों पर पड़ने लगा। हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रभाव स्वामी दयानन्द सरस्वती के समय से देखा जा सकता है। उनकी चिन्तन धारा ने द्विवेदी-युगीन साहित्य में से जीवन निष्क्रियता निकालकर जीवन की जय के गीतों की प्रेरणा प्रदान की। द्विवेदी युग के कवि स्वामी जी के प्रवृत्तिमूलक उपदेशों से

---

१ पन्त, चिदंबरा, द्वा सुवर्णा, पृष्ठ १२४।
२. पन्त छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ३३।
३. दिनकर काव्य की भूमिका, पृष्ठ ४१।
४. डा० देवराज छायावाद का पतन, पृष्ठ १८।

प्रभावित होकर न केवल प्रवृत्तिमूलक साहित्य सृजन में, वरन् देश और जाति के निर्माण में भी सक्रिय योगदान करने लगे। परन्तु द्विवेदी-युग के साहित्य में न तो व्यस्त जीवन की गहराई में उतरने की चाह दिखाई देती है, और न ही कवियों के जीवन में विशेष दार्शनिक अभिरुचि दिखाई देती है।

कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ द्विवेदी-युग में दार्शनिक चिन्तन-पद्धति के दर्शन मूलरूप से उस युग की दार्शनिक और धार्मिक खोज-बीन में होते हैं, वहाँ छायावाद युग के साहित्य में दार्शनिक स्तर पर चिन्तन और मनन भी दृष्टिगोचर होता है। परिणाम-स्वरूप साहित्य के धरातल पर प्रवृत्ति-दर्शन की ओर झुकाव की भावना दिखाई देती है। छायावाद-युग में घटनाओं का यथातथ्य निरूपण एवं राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रेखांकन नहीं, ठोस चिन्तन की भूमिका स्पष्टरूप में देखी जा सकती है।

प्रवृत्ति दर्शन का ठोस धरातल जीवन होता है,जीवन वृत्त पर केन्द्रित कविता में ही प्रवृत्ति की छाप दिखाई देती है। छायावादी कविता ने जिस जीवन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया उसका धरातल न केवल ठोस था, वरन् उसका वृत्त इतना वृहत् निकला कि उसमें विश्व-मानव की कल्पना भी साकार हो उठी। विश्व जीवन को सजाने-सँवारने की अभिलाषा के अतिरिक्त उसे पूर्णता प्रदान करने और उसे नव-संस्कृत स्वरूप प्रदान करने की लालसा बलवती हो उठी। छायावादी कवि ने जिस विश्व मानव का स्वप्न देखा, जिसके सामने स्वर्ग के देवता भी क्षुब्ध निकले, उसी मानव का स्वप्न अंकित करने के लिए कवियों की लेखनी से राशि-राशि पंक्तियाँ प्रसूत हो चली।

द्विवेदी युगीन जातीयता और राष्ट्रीयता की भावना को भी प्रसार मिला। छायावाद युग का कवि अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर सोचने विचारने की ओर प्रेरित हुआ। विश्व मानवता की विराट् भावना ने देश-प्रेम की प्राचीन संकीर्णता को दूर कर उसके क्षितिज का विस्तार किया। किसी भी देश का वासी किसी भी काल में 'अरुण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा'[1] गाकर देश-प्रेम के गौरव से अभिभूत हो सकता है।

छायावादी कवियों ने प्रवृत्ति-चिन्तन के व्यापक धरातल पर ही अध्यात्म-चिंतन को भी स्वीकार किया। उन्होंने अध्यात्म में भी प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित किया, उनका अध्यात्म चिन्तन आत्ममुक्ति के संकीर्ण निवृत्ति पोषित दायरे से बाहर निकल कर मानव-मुक्ति और विश्व मुक्ति के व्यापक क्षितिज तक जा पहुँचा। छायावादी कवियों ने अध्यात्म चिन्तन को भी मुख्यरूप से धरती तक ही इसी धरती कि भविष्य तक सीमित प्रवृत्ति-चिन्तन को एक स्वस्थ दृष्टि प्रदान की है।

---

१ प्रसाद चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १००।

अन्तत यह नि संकोच कहा जा सकता है कि छायावाद की मुख्यतया मध्य-वर्तिनी धारा ने राष्ट्रीय अन्तर्जागरण की चेतना तथा वैश्व विकास के नये मूल्य के रूप-स्पर्श को वाणी देने की ओर प्रवृत्त होकर एव मानवीय सबोधि को अपनी अभिव्यक्ति के पावन दोने में भर-भर कर उन्मुक्त भाव से वितरित कर निश्चित रूप से प्रवृत्ति-दर्शन को अधिक ठोस व्यापक दृढ़ भूमि प्रदान करने का कार्य किया है।[1]

---

१. पन्त : छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ३४।

अध्याय ७

छायावादोत्तर और प्रगतिवाद-युग

तत्कालीन पृष्ठभूमि—छायावाद युग मुख्यरूप से गान्धी जी के राजनीतिक नेतृत्व का युग था। सन् १९२० ई० में लोकमान्य तिलक के निधन के पश्चात् देश ने अपनी राजनीतिक जागृति का परिचय असहयोग-आन्दोलन आदि के माध्यम से देना प्रारम्भ कर दिया था, सन् १९३० तक महात्मा गान्धी के ही निर्देशन में कांग्रेस की बागडोर प० मोतीलाल नेहरू आदि नेताओ के हाथ में रही। सन् १९३० ई० के बाद की दो-तीन वर्ष की घटनाओं पर महात्मा गान्धी का प्रबल प्रभाव रहा। सन् १९३० ई० का गोलमेज अधिवेशन और उसके बाद के सत्याग्रह आन्दोलन मुख्यरूप से गान्धी जी के प्रत्यक्ष नेतृत्व में हुए।

देश की राजनीति में प्रबल मोड उस समय दिखाई दिया है, जब प० जवाहर लाल नेहरू यूरोप भ्रमण के उपरान्त अपने मस्तिष्क में समाजवादी विचारो को लेकर स्वदेश लौटे थे और उनके सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन पहली बार दिसम्बर १९३६ में गाँव में (फैज़पुर में) हुआ। फैजपुर-अधिवेशन के सबसे महत्वपूर्ण विषय चुनाव और विधान-परिषद् से सम्बन्धित थे। पहली अप्रैल, १९३७ को अवांछित विधान के लादे जाने के खिलाफ प्रदर्शन के लिए एक आम हडताल करने का निश्चय किया गया। चुनाव का घोषणा पत्र तैयार किया गया और पार्लियामेन्टरी बोर्ड का निर्माण हुआ। घोषणा-पत्र को महात्मा गान्धी के आदर्शवाद और प० जवाहरलाल नेहरू के समाजवाद का मिश्रण कहा जा सकता है।[1] इस अधिवेशन में सभावित महायुद्ध के प्रसग में यह निश्चय किया गया कि यदि वह युद्ध भारतवासियों की सम्मति के बिना प्रारम्भ किया गया तो वे उसमें सहयोग नही देंगे।

सन् १९३७ के प्रारम्भ में देश भर में धारासभाओं के चुनाव हुए, जिसमें

---

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृष्ठ ३११।

कांग्रेस को अच्छी सफलता मिली। चुनाव की सफलता को अधिक दृढ़ता प्रदान करने के लिए अप्रैल माह में दिल्ली में राष्ट्रीय सम्मेलन किया गया, जिसमें कांग्रेसियों के धारासभा सम्बन्धी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गयी। कौंसिलों में प्रवेश करके कांग्रेसी सदस्यों ने जनता की भलाई करने के प्रयत्न किये, परन्तु शक्ति का अंतिम सूत्र गवर्नरों के हाथ में होने के कारण वे कुछ कर नहीं पाते थे।

सन् १९३८ में कांग्रेस का अधिवेशन हरिपुरा में हुआ। इस समय तक राष्ट्रीय विचार-धारा में होने वाली हलचलें व तबदीलियाँ देश में स्थान पानेवाली समाजवादी व वर्गवादी विचारधाराओं के परिणाम-स्वरूप थीं।[1] अधिवेशन की अध्यक्षता इस वर्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस को मिली, जो प्रारम्भ से ही अग्रगामी विचारों के प्रतिनिधि माने जाते थे। श्री बोस के अध्यक्ष चुने जाने से यह स्पष्ट जाहिर हो गया कि कांग्रेस की अहिंसा और असहयोग नीति पर अविश्वास करने वाला किसान-मजदूर वर्ग संगठित होकर गांधीवाद के विरोध में उठ खड़ा हुआ था। किसानों और मजदूरों की इस जन-व्यापी नवचेतना की पूरी अभिव्यक्ति प्रगतिवादी साहित्य में है।

हरिपुरा के कांग्रेस-अधिवेशन में भी पिछले अधिवेशन की भाँति यह घोषणा दोहराई गई कि ब्रिटिश साम्राज्य ने यदि सम्भावित युद्ध में भारत को सम्मिलित करने का प्रयास किया तो भारतवासी सरकार का साथ नहीं देंगे। इस अधिवेशन में यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि राष्ट्र की इच्छा के बिना सरकार जो ऋण लेगी, उसका पूरा उत्तरदायित्व ब्रिटेन का होगा और उसे चुकाने के लिए स्वराज्य की सरकार जिम्मेदार नहीं होगी।

स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा के साथ महात्मा गांधी और देश के अन्य प्रमुख नेताओं ने इस बात की निरन्तर चेष्टा की कि हिन्दू-मुस्लिम एकता की नींव को दृढ़ कर दिया जाय, परन्तु मुस्लिम-लीग के नेता अंग्रेजी सरकार के प्रोत्साहन से देश के विभाजन की दिशा में अपना हर सम्भव प्रयास कर रहे थे। सुलह की बात जब कांग्रेस की ओर से चलाई जाती तो मि० जिन्ना सदैव यही शर्त पेश करते थे कि मुस्लिम-लीग को सब मुसलमानों का और कांग्रेस को सब हिन्दुओं का प्रतिनिधि मान लिया जाय, परन्तु कांग्रेस हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की प्रतिनिधि संस्था थी, वह अपने राष्ट्रीय रूप को विकृत करने के पक्ष में नहीं थी।

१ सितम्बर १९३९ को द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसकी आशंका भारतवासियों को वर्षों से हो रही थी। उस समय भारत के ११ प्रान्तों में स्वायत्त शासन था, किसी भी प्रान्त से युद्ध के सम्बन्ध में राय नहीं ली गई और भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ युद्ध की अग्नि में झोंक दिया गया। पं० जवाहरलाल नेहरू

१. पट्टाभि सीतारामैया : कांग्रेस का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ७२।

के नेतृत्व में एक युद्ध-समिति बनाई गई, जिसे परिस्थितियो के अनुसार कार्य-नीति के निर्णय का अधिकार सौंपा गया। इस युद्ध-समिति के आदेश से प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रिमडलों ने त्याग-पत्र दे दिए। इस समय भारत के वायसराय थे लार्ड लिनलिथगो। कांग्रेसी मन्त्रि-मडल के त्याग से ब्रिटिश सरकार को कुछ सतोष मिला, क्योंकि अब वे सदस्य दमन के चक्र में सरलता से पीसे जा सकते थे, परन्तु इस युद्ध में सरकार भारतवासियों से सक्रिय सहयोग न पा सकी। सरकार की ओर से एक अध्यादेश भी जारी किया गया, परन्तु उससे लोगो की मनोवृत्ति में तनिक भी परिवर्तन नही हुआ।

कांग्रेस चाहती थी कि ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्वीकार कर ले, तब भारत ब्रिटेन को युद्ध में सहायता देने के प्रश्न पर विचार करे। वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि इस समय भारत को स्वतन्त्र घोषित करना अप्रासंगिक है, इधर मि० जिन्ना इस अवसर पर साम्प्रदायिक सौदे की कोशिश करते रहे। इन्हीं दिनो इगलैंड के मजदूर नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने समझौते की कोई सूरत निकालने के लिए भारत की यात्रा की, परन्तु परिस्थिति ऐसी विकट थी कि सर क्रिप्स को सफलता न मिली।

सन् १६३६ के अन्त में रामगढ़ में कांग्रेस का बृहद् अधिवेशन हुआ, जिसमें कांग्रेस के प्रस्तावो में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव सत्याग्रह-युद्ध की घोषणा का था। इस अधिवेशन के बाद कांग्रेस ने स्वराज्य-प्राप्ति की दिशा में पुन प्रयत्नों को अपनाया, उधर इगलैंड के राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन यह हुआ कि वहाँ के प्रधानमन्त्री मि० नैविल चैम्बरलेन के स्थान पर मि० विन्सेन्ट चर्चिल नियुक्त हुए और भारत मन्त्री के पद पर लार्ड जैटलैंड के स्थान पर मि० एमरी नियुक्त हुए। इन दोना की भारत के प्रति अनुदार नीति थी, इसलिए भारत की समस्या और भी अधिक उलझनपूर्ण हो गई।

तो भी समस्या सुलझाने के प्रयत्न होते रहे। इसके पूर्व कि सरकार और कांग्रेस किसी निष्कर्ष पर पहुँचती, मार्च १६४० में लाहौर में एक प्रस्ताव स्वीकृत कर मुस्लिमलीग ने पाकिस्तान की माँग की। मार्च १६४२ में समझौते का एक प्रस्ताव लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स फिर भारत आये, परन्तु अपने काम में असफल होकर १३ अप्रैल १६४२ को इगलैंड लौट गये।

इधर विश्व युद्ध का हाल यह था कि इसमें जापान भी आ कूदा और अनेक ब्रिटिश अड्डो पर अधिकार करता हुआ सिंगापुर में दाखिल हो गया। गाधी जी ने यह तय किया कि अब देशव्यापी आन्दोलन के लिए उपयुक्त समय आ गया, क्योंकि वर्तमान युद्ध में यदि जापान जीत जायेगा तो भारत को जापान की पराधीनता स्वीकार करनी पडेगी और यदि भारतवासियो से सहायता लिए बिना

ब्रिटेन जीत गया तो फिर चिरकाल तक देश की स्वतन्त्रता असंभव ही रहेगी। ७ अगस्त, १६४२ को बम्बई में लगभग बीस हजार व्यक्तियों की उपस्थिति में कांग्रेस के अधिवेशन में यह घोषणा की गई कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता हटा लेने की माँग को दुहराती है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति होते ही, एक अस्थायी सरकार स्थापित कर दी जायगी और स्वतन्त्र भारत मित्र-राष्ट्रों का मित्र बनकर स्वातन्त्र्य संग्राम के सम्मिलित प्रयत्न की परीक्षाओं और सुख-दुःख में हाथ बँटाएगा।[1] इस अधिवेशन में गांधी जी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने अपने अन्दर की धधकती हुई आग उगली। उस दिन वे राजनीति के निम्न धरातल से ऊपर उठकर उत्कृष्ट मानवता, विश्वव्यापी भ्रातृत्व, शांति और मानव-मात्र के प्रति सद्भाव से परिपूरित होकर दिव्य लोक की चर्चा कर रहे थे।[2] उन्होंने कहा कि अगर संसार के सभी राष्ट्र मेरा विरोध करें, यदि समस्त भारत भी मुझे समझाने की कोशिश करे तो भी मैं अपने मार्ग से विचलित नहीं हूँगा। मैं आगे ही कदम बढ़ाता जाऊँगा—सिर्फ भारत के लिए नहीं, बल्कि सारे संसार की खातिर।[3] उन्होंने अपने भाषण के अन्त में कहा था कि मैंने कांग्रेस को बाजी पर लगा दिया है, वह करेगी या मरेगी।[4] ८ अगस्त को अधिवेशन समाप्त हुआ और ६ अगस्त को देशव्यापी व्यापक संघर्ष प्रारम्भ हुआ, मुख्य-मुख्य नेता ६ अगस्त को प्रातःकाल ही गिरफ्तार कर लिये गये, परन्तु इससे क्रान्ति का भूकम्प और भी भयंकर हो गया। स्वाधीनता-प्राप्ति की यह लड़ाई देशभर में व्यापक राज्य-क्रान्ति के रूप में लगभग तीन वर्षों तक निरन्तर जारी रही, जिसकी अभिव्यक्ति देश की वर्तमान परिस्थितियों के प्रति पूर्ण जागरूक कवियों की कविताओं में निरन्तर होती रही।

देश की सामाजिक जागृति के फलस्वरूप जनता का ध्यान आर्थिक परवशता के नारकीय जीवन की ओर आकृष्ट हुआ। इतिहास में शायद पहली बार दरिद्रता अनावश्यक प्रतीत हुई, अपनी जरूरतों को यथाशक्ति कम करने के गांधीवादी सिद्धांत के प्रति भी लोगों की प्रतिक्रिया हुई। दरिद्रता के साथ समझौता करने की नीति पर से लोगों का विश्वास उठ गया, देश की बढ़ती हुई नवचेतना ने स्वयं को दरिद्रता के स्तर तक लाने की अपेक्षा वर्तमान सभ्यता की आर्थिक पूँजीवादी शक्तियों के प्रति विद्रोह उत्पन्न कर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन में अधिक विश्वास किया। देश की जन-जागृति से ही कांग्रेस को भी समाजवादी नीतियों को अपनाना

---

१. पट्टाभि सीतारामैया : कांग्रेस का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ४००।
२. वही, पृष्ठ ४०५।
३. वही, पृष्ठ ४०६।
४. वही—पृष्ठ ४०७।

पड़ा। कांग्रेस की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—क्या अंग्रेजों के बाद मौजूदा पूँजीपतियों के ही हाथों में मुल्क का भावी शासन-सूत्र जायगा? स्पष्टतः यह कांग्रेस की नीति नहीं हो सकती, क्योंकि हमने अक्सर यह ऐलान किया है कि हम जनता के शोषण के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें बाध्य होकर, जनता को शक्तिशाली बनाने का उद्योग करना चाहिए, ताकि भारत में साम्राज्यशाही का अन्त होते ही यह सफलतापूर्वक अपने हाथों में हुकूमत रख सके।[1]

वर्ग-विषमता को मिटाने के प्रयासों के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था की रूढ़िवादिता भी कमज़ोर पड़ी। नवजागृति से उत्पन्न मज़दूर-किसान संगठनों और आधुनिक शिक्षा के प्रभाव ने जातिगत भेद-भाव को मिथ्या आडम्बर सिद्ध कर दिया और नवयुवक-समाज बड़ी सरलता से जातिगत रूढ़ियों को कमज़ोर तन्तु की भाँति तोड़ने लगा। जाति-भेद के मिटने के साथ अस्पृश्यता-निवारण की दिशा में भी प्रशंसनीय प्रयास किये गये। महात्मा गांधी के साथ डा० अम्बेडकर तथा अखिल-भारतीय परिगणित जाति-संघ ने अछूतों के लिये महत्त्वपूर्ण संघर्ष किया एवं उन्हें समाज द्वारा अनेक सुविधाएँ दिलवाईं।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप स्त्रियों में भी आशातीत जागरण के चिह्न दिखाई देने लगे। समाजवादी विचारधारा ने उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना सिखाया, परिणामस्वरूप अब वे केवल घर तक ही सीमित न रहीं, पुरुषों के हर सम्भव व्यावसायिक क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया और पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य किया। स्त्रियों की जागृति की ओर संकेत करते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि सार्वजनिक कार्य करने की आदत न होने पर भी घर-बार का सहारा छोड़कर हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ी हुई उन बहनों को देखकर कौन नहीं काँप उठा? बहुत-से आदमियों को, जो अपने को आदमी कहते थे, उन्होंने लज्जा से भर दिया कि हिन्दुस्तान की औरतें भी अपनी लम्बी नींद से उठ बैठी हैं और अब उनके अधिकारों से इन्कार नहीं किया जा सकता।[2]

देश की जन-जागृति के सांस्कृतिक पक्ष ने भी एक नया मोड़ लिया। गांधीवादी विचार-धारा के रंग में रँगकर देश की संस्कृति आध्यात्मिकता की ओर झुक रही थी, जिसमें सूक्ष्म मानवता का स्वर प्रबल था। सूक्ष्मता के अधूरे पक्ष को पूरा बनाने के लिए जब मार्क्सवादी भौतिक विचार-धारा का देश में आगमन हुआ तो समन्वयवादी सांस्कृतिक परम्परा ने आगे बढ़कर देश को नया सांस्कृतिक मार्ग दिखाया और स्थूल भौतिकता का भी उतना ही महत्त्व आँका गया, जितना वर्षों से सूक्ष्म गांधीवादी आध्यात्मिकता का आँका जाता रहा था।

---

१ पं० जवाहरलाल नेहरू हिन्दुस्तान की समस्याएँ, पृष्ठ, १००-१०१।
२ जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की समस्यायें,—पृष्ठ २२३।

छायावादोत्तर-काल

सामान्य परिचय

छायावाद-युग और प्रगतिवाद-युग के बीच की सक्रांतिकालीन काव्य-धारा को छायावादोत्तर-कालीन कविता की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। यद्यपि इस काल का मूल स्रोत छायावाद में ही मिलता है, परन्तु इस काल की प्रवृत्तियो और छायावाद-युग की प्रवृत्तियों में भिन्नता होने के कारण दोनों के बीच बडी ही सरलता से विभाजन-रेखा खीची जा सकती है। छायावाद जीवन की वास्तविकता से एक नई वास्तविकता की खोज में पलायन था, अत वह बहुत कुछ आदर्शवाद के निकट जा पहुँचता है, परन्तु छायावादोत्तर काल की कविता जीवन की वास्तविकता में ही—चाहे वह कितनी भी विरूप और कठोर क्यों न हो—रम जाने के कारण मूलत यथार्थ की भित्ति पर ही अवलबित है।

छायावादोत्तर-काल के तत्कालीन जीवन में व्यक्तिवाद की मुख्यरूप से प्रतिष्ठा थी। उस समय अनेक स्वदेशी-विदेशी प्रभावो के कारण मानव-चेतना मध्य-युगीन सामन्तवादी रूढ़ियों से प्राय मुक्त हो चुकी थी और अपनी सत्ता के प्रति जागरूक हो गई थी। दर्शन के क्षेत्र में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की पुन प्रतिष्ठा, राजनीति में व्यक्ति का बढता हुआ प्रभाव, अर्थ-व्यवस्था में पैतृक-सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित पूंजी का विकास और समाज के क्षेत्र में व्यक्ति के प्रयत्नों की वर्धमान सफलता आदि ऐसे सार्वभौम कारण उपस्थित हो गये थे, जिनसे व्यक्तिवाद को अत्यन्त प्रोत्साहन मिला। साहित्य में भी इसी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति मिली।[1]

छायावाद-युग तक समाज का मध्यवर्ग अभी तक अपनी हीनता के भाव को पूर्णतया दूर नही कर सका था, यद्यपि आधुनिक युग के प्रथम उत्थान की तुलना में उसका स्वाभिमान अधिक सजग और सचेत था। रही-सही हीनता को दूर करने के लिए ही छायावादी कवि युग-जीवन और युग मानस में नवनिर्माण की घोषणा करते हुए नवीन स्फूर्ति के सचार में सलग्न थे, विश्व-मानव के आदर्श रूप को वाणी प्रदान में सचेष्ट थे, एक मूलभूत आदर्श की स्थापना में वे अपनी समस्त कला की बाजी लगाये जा रहे थे। हीनता का भाव दूर होते ही जब युग-मानव जीवन की कठोर परिस्थितियो से जूझ सकने में समर्थ हो गया तो छायावाद का मानो काम पूरा हो गया। अब मानव-जीवन की समृद्धि के लिए ऐसा साहित्य उपादेय था, जो जीवन की वस्तुस्थिति के ठोस धरातल पर अपना रूप-निर्माण कर पाता।

---

१. डा० नगेन्द्र आ० हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६४।

उपर्युक्त आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए छायावादोत्तर-काल के कवियों ने जीवन की वस्तुस्थिति को वैयक्तिक अभिव्यक्ति की भाषा प्रदान की। व्यक्तिवादी चेतना से प्रेरित हो 'मैं' शैली अपनाकर छायावादी कवि भी वैयक्तिक अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित हुए थे, परन्तु उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण यह था कि उन कवियों को व्यक्तिगत राग द्वेषों को कविता में व्यक्त करना अशोभन सा लगा, उनकी अभिव्यक्ति में सकोच की भावना सदैव विद्यमान रही, इसके विपरीत आलोच्य-काल के कवियों ने संकोच को साहसपूर्वक त्यागकर काव्य में स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया और उसका स्वागत हुआ।

जीवत साहित्य का निर्माण उसके युग विशेष की विचारधारा के अनुकूल होता है। जीवन क्षणभगुर है, दुख का आगार है, इस प्रकार की अनुभूतियों के ही कारण मध्ययुगीन मानव परलोकवादी और निवृत्तिवादी हो गया था, परन्तु आधुनिक युग निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का युग है, यही कारण है कि जब आलोच्य-काल का कवि वैयक्तिक अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित हुआ तो फिर वही चिर-परिचित अनुभूति-पाप और पुण्य पर आश्रित जीवन बन्धनपूर्ण है, दुखों का आगार है, क्षणभगुर है आदि-पाकर भी वह निवृत्तिवादी न बन सका, वह पलायन की शरण नहीं गया। वह क्षणभगुर जीवन के इने गिने क्षणों को सार्थक करने के लिए, उनके तात्कालिक मूल्यों को पहचानते हुए भोग और आनन्द की ओर उन्मुख हुआ और साहित्य में भी उसी की अभिव्यक्ति करने लगा। इसी व्यक्तिवाद से प्रेरित भोगवाद को धीरे धीरे आगे चलकर मानववाद में अभिव्यक्ति मिली।

छायावादोत्तर-काल में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ के प्रति विशेष आग्रह होने के कारण कवि मिट्टी की सोंधी सुगन्ध की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ। मिट्टी पर पैर जमाकर ही कवि ने समझा कि धरती के मानव की आवश्यकता क्या है। मानव का कवि बनने के कारण ही इस युग का कवि अधिक लोकप्रिय हो सका।

प्रवृत्तियाँ

छायावादोत्तर-काल के कवियो ने इस धरती पर उतरकर उसकी वास्तविकता और उसके जीवन्त रूप को काव्यबद्ध करने की दिशा में अनूठा प्रयास किया। 'इस काल का यथार्थ-कामी कवि नक्षत्र की तरह किसी नवीन कल्पना-क्षितिज पर उदित न होकर, धरती के ही जीवन-सरोवर के वृहत् रक्तपावक-कमल की तरह अपलक-अम्लान भाव-सौन्दर्य में प्रस्फुटित हुआ।'[1]

यथार्थ के धरातल पर इस काल के कवियो की प्रथम मूलभूत प्रवृत्ति प्रेम और

१ पन्त बच्चन का व्यक्तित्व और काव्य (बच्चन व्यक्ति और कवि, सपादक बांकेविहारी भटनागर, पृ० २९)

सौन्दर्यमूलक मानी जा सकती है। प्रेम और सौन्दर्य को इस काल के कवियों ने जिस रूप में देखा और जिस रूप में वैयक्तिक अभिव्यक्ति का स्वरूप दिया, वह छायावाद युग के प्रयास से भिन्न स्तर पर था। वैयक्तिक प्रणय और सुख-दुःख का वर्णन इस काल के कवियों ने अनावृत रूप में किया, जो सर्वत्र स्पष्ट और अकृत्रिम दिखाई देता है, अभिव्यक्ति बिल्कुल सीधे-सरल रूप में है। भौतिक-स्तर पर जिस राग-भावना को वाणी प्रदान की गई है, उसकी प्रवृत्ति स्थूलता और मांसलता की ओर अधिक दिखाई देती है।

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल की मांसल कृतियाँ छायावादी अशरीरी सौन्दर्य कल्पना के विरुद्ध क्रान्ति की भावना लेकर अवतीर्ण होती हैं। क्रान्तिदूत 'अंचल' का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है।[1] 'जलती निशानी' में कवि निःसंकोच कह देता है—

फिर विकल हैं प्राण धू-धू उठ चली जलती निशानी।
फिर पिपासा की परिधि में माधुरी का धुन जलता,
आज मधु रजनी न पूछो ! कौन-सा उन्माद चलता ?
आज सब तृष्णा खुली जाती किसी की याद आई,
आज जीवन में कहाँ की लालसा उत्तप्त छाई ?[2]

प्रेम जो विनाशी है अथवा जो विनष्ट हो चुका है, मानी हुई बात है, उसकी स्मृति सुखद नहीं हो सकती, परन्तु कवि अपने तथाकथित समाज में किसी प्रकार का मुखौटा लगाकर अपने को पेश नहीं करना चाहता, वह जैसा है, जैसी उसकी अनुभूति है, उसी को कह देने की स्वाभाविक तृष्णा वह नहीं छोड़ना चाहता—

छिपाने को छिपा लेता
विकल चीत्कार मैं सारा
मगर अभिव्यक्ति की मानव-
सुलभ तृष्णा नहीं जाती।[3]

कवि बच्चन ने अपनी रागात्मक अनुभूति के बल पर जो वैयक्तिक अभिव्यक्ति की है, उसमें जन-साधारण के हृदय की अभिव्यक्ति की छाया मिलती है, उनकी मुखर पंक्तियाँ जन-जन के हृदय के सुख में अधिक पुलक का संचार करती हैं और दुःख की व्यथा को हर लेती हैं। कवि बच्चन देवदूत या जननायक न बनकर

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १९३।
२. अंचल, जलती निशानी (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' आज के लोकप्रिय कवि : रामेश्वर शुक्ल अंचल, पृष्ठ २७)
३. अंचल, लाल चूनर, पृष्ठ ११।

मानव प्राणों के रंग-सखा के रूप में अवतरित होते प्रतीत होते हैं और भारी-भरकम मानव-वीणा की जटिल-सूक्ष्म झंकारों के बदले राग की हरी भरी बाँसुरी से प्रणय-मत स्वरों के फनों को गरल-मधुर फूत्कार छोड़कर लोगों के कामना दग्ध मर्म को आनन्द दशन से रसतृप्त कर आत्मविस्मृत करते रहे हैं।[1] कवि की यह सीधी सरल अभिव्यक्ति जग को नहीं भाई और उसके निश्छल उद्‌गारों को वासनामय कहा जाने लगा, परन्तु कवि अपनी सफाई में यही कहता है कि मेरा छल-रहित व्यवहार ही आज मेरा शत्रु बन रहा है, यदि वह चाहता तो औरों की भाँति 'साधु' बन सकता था—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना चाहता तो जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है छल-रहित व्यवहार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।[2]

बच्चन जी की दृष्टि में प्रेम का अर्थ है त्याग, प्रदान, उत्सर्ग। जिससे भी मनुष्य प्रेम करता है अपने व्यक्तित्व का थोड़ा अंश उसे दे देता है।[3] यह प्रेम ऐसा है कि इसकी कमी हर किसी को खलती है। कौन-सा ऐसा मनुष्य होगा, जिसे प्रेम की कमी नहीं खलती—

कहाँ मनुष्य है जिसे कभी खली न प्यार की,
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो।[4]

कवि दिनकर मुख्यरूप से राष्ट्रीय धारा के कवि माने जाते हैं, परन्तु उन्होंने भी प्रेम और शृङ्गार सम्बन्धी कविताएँ लिखी हैं, जो 'रसवन्ती' में संगृहीत हैं और जिनका उच्च धरातल 'उर्वशी' में देखा जा सकता है। आलोच्य-काल के अन्य कवियों और दिनकर में अन्तर यही है कि जहाँ अन्य कवियों में सामाजिक नीति-पाश को तोड़कर स्वच्छन्दता की ओर बढ़ने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस मिलता है, वहाँ दिनकर में इस साहस की कमी है। 'रसवन्ती' का शृंगार पर्वत के हृदय में बहती हुई उस स्निग्ध जल-धारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रखकर उसको सरस बनाये रखती है।[5]

---

१ पंत बच्चन का व्यक्तित्व और काव्य (बच्चन व्यक्ति और कवि, सं० बांकेबिहारी भटनागर, पृष्ठ ३१-३२।
२ बच्चन मधुकलश, पृष्ठ २०।
३. बालस्वरूप राही डा० बच्चन से एक अनौपचारिक बातचीत (बच्चन व्यक्ति और कवि, सं० बांकेबिहारी भटनागर पृष्ठ ६७)।
४ बच्चन : सतरंगिनी, मुझे पुकार लो, पृष्ठ १२६।
५ डा० सावित्री सिन्हा युग चारण दिनकर, पृष्ठ १७८।

कवि की दृष्टि में प्रेम सीमा, बन्धन और मृत्यु से परे है। उसकी तुलना पूर्ण चन्द्र से नहीं की जा सकती, क्योंकि पूर्ण चन्द्र का दिन-प्रति-दिन क्षय होता चलता है। हाँ, इसकी उपमा द्वितीय के चन्द्र से अवश्य दी जा सकती है जो पग-पग पर शीतल, स्निग्ध रश्मि बिखेरता है—

दूज-कला यह लघु नभ नग सखि।
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग पग सखि।[1]

कवि की दृष्टि में प्रेम केवल शरीर के ही धरातल पर नहीं होता, उसकी आध्यात्मिक महिमा भी है। वह है इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श। देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग तो है ही, पर उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलती है। तन्त्र-साधना के मूल में ऐसा कोई-न-कोई विश्वास रहा होगा, सहजमार्गियों के मन में भी ऐसी कोई-न-कोई भावना काम करती होगी, अभिनव मनोविज्ञान के भीतर भी ऐसी कोई-न कार्य प्रेरणा क्रियाशील है।[2] प्रेम की जन्म-भूमि देह अवश्य है, पर उसके विचरण की समस्त भूमि रुधिर-त्वचा तक ही सीमित नहीं है—

देह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,

× × ×

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।

× × ×

ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से।[3]

छायावादोत्तर काल के प्रमुख कवियों, विशेषकर बच्चन जी पर भोगवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह भोगवादी दर्शन चार्वाक की अपेक्षा उमर ख़ैयाम के अधिक निकट है, परन्तु बच्चन की मदिरा में चार्वाक की भाँति शुष्क बुद्धिवादी दर्शन का निष्क्रिय, क्षण-औदास्य और सूनापन तथा जगत् के प्रति

१ दिनकर : रसवन्ती, पृष्ठ २०।
२. दिनकर : उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ ख ग।
३. वही, पृष्ठ ६३।

विरक्ति एव पलायन की भावना नहीं है।[1] बच्चन की कविताओं में उनके हृदय का शाश्वत यौवन प्रतिबिम्बित है और एक स्वच्छ प्रवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन की स्पष्ट छाप है।

छायावादोत्तर-काल की दूसरी प्रवृत्तिमानवतावादी प्रवृत्ति है। छायावाद में भी मानवतावादी प्रवृत्ति को स्थापना मिलती है, परन्तु उस युग में जिस विश्व-मानव की कल्पना कवियो ने की थी, वह कवियों के लिये तो ठीक थी, पर अकविजनों पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता दिखाई नही देता। साधारण पाठको के हृदय में मानवतावादी भावना की सहज तरंग उत्पन्न करने का कार्य छायावादोत्तर कालीन कवियों ने किया। इस दिशा में सबसे सफल प्रयास दिनकर जी कविताओं में दिखाई देता है।

दिनकर जी की काव्य-अनुभूतियाँ मुख्यरूप से विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ हैं। वे अनुभूतियाँ उस काल की अनुभूतियाँ है, जिसके अक में बैठकर कवि ने रचनाएँ की, वे भारत के पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ है जो तत्कालीन समय में आकर पुन जीना चाहती थी। दिनकर जी का यह विश्वास है कि कवि होने की क्षमता उनमें भारतवर्ष का ध्यान करने में जाग्रत हुई और यह शक्ति उनमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात् करने से स्फुरित हुई। वे स्वयं को वायु और वह्नि से बना हुआ यंत्र मान मानते हैं, जिसमें फूंक काल ने मारी झकारें भी उसमें से काल ने ही उठायी है।[2]

छायावादोत्तर काल के कवि जब अपनी रचनाओ में सलग्न थे, कुछ समर्थ कवि समाजवाद की चिन्तन प्रणाली को आधार बनाकर प्रगतिवादी साहित्य का सृजन कर रहे थे। यह स्वाभाविक था कि आलोच्य-काल के कवि भी उस दिशा में सृजन-प्रक्रिया की ओर आकृष्ट होते, उधर पन्त और निराला भी प्रगतिवादी धारा से आकृष्ट हो जन-साधारण को अपने साहित्य के केन्द्र में रखकर नयी कोटि की कविताएँ लिखने लगे थे। इन कवियो की दृष्टि में प्रगतिवाद का सबसे आकर्षक तत्त्व मानववाद था, अन्यथा प्रगतिवाद इन्हें अपने तथाकथित सकीर्ण घेरे में आबद्ध न कर सका।

दिनकर जी कवि की वाणी को जगाना चाहते हैं, जो युगवाणी बन युग-मानव का चित्र अंकित कर सके—

---

१. पत . बच्चन का व्यक्तित्व तथा काव्य (बच्चन : व्यक्ति और कवि, सं० बांके बिहारी भटनागर)
२. दिनकर : चक्रवाल, भूमिका, पृ० ३४।

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग, आदि कवि की कल्याणी,
फूट-फूट तू कवि-कंठों से बन व्यापक निज युग की वाणी।[१]

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने भीष्म के मुख से आज के मानव के प्रति यह उक्ति कहलवाई है—

दलित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो,
दर्प की दुरग्नि करो दूर बलवान से।[२]

कवि का मानववाद मनुष्य में ही देवता का अधिवास महसूस करता है। वह देवता ही है जो सड़कों पर मिट्टी तोड़ता है और खेतों-खलिहानों में काम करता है—

आरती लिए तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में ?
देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।[३]

मनुष्य की गति को समय नहीं रोक सकता—

जनता की रोके राह, समय में ताव कहाँ ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।[४]

कवि की दृष्टि में चिन्तन वही है, जो जन-जीवन के लिए हो—मानव मात्र के लिये हो—

चिन्ता सच्ची वही जो कि जनजीवन में बल भरती है,
नर की बिखरी हुई शक्ति को भू पर केन्द्रित करती है।[५]

आज पाप-पुण्य की कड़ी और स्वर्ग-नरक की कल्पना बेबुनियाद है—नये मानव का स्वरूप कुछ अन्य ही है—

पाप-पुण्य की कड़ी कल्पना नरक-स्वर्ग की टूट चुकी,
देख, मनुज के नये भाग्य की किरण गगन पर फूट चुकी।
इस मनुष्य का धर्म स्वेद है, ईश्वर अविश्रान्त श्रम है,
समझ नहीं पाता इसको तो चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।[६]

---

१. दिनकर : रेणुका, पृष्ठ ३२।
२. दिनकर : कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०६।
३. दिनकर : नील कुसुम, पृष्ठ ५६।
४. दिनकर : नील कुसुम, पृष्ठ ५६।
५. वही—पृष्ठ ११०।
६. नील कुसुम, पृष्ठ ११०।

और कवि-चिन्तक की दृष्टि भारत-देश को मानवता के ललाट-चन्दन के रूप में देखती है—

मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?[1]

कवि अचल ने मानवता का कवि बनकर विप्लव और क्रान्ति का सन्देश दिया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य की सबसे बड़ी भूल यह रही कि उसने महान् आत्माओं के महाप्रयाण के पश्चात् उन्हें मानव मात्र न रहने देकर देवता बना मंदिरों में ठहरा दिया। गांधी जी के निधन के पश्चात् भी यही हुआ—

मद नहीं होते वदन के स्वर तुम तो भगवान बने,
हम पर-पीड़न में, शोषण में और बड़े प्रणवान बने।
पूजा का पाषाण बनाकर हमने तुमको रख छोड़ा,
मंदिर में अगणित पत्थर थे एक अधिक उनमें जोड़ा।
मंदिर में ठहराया तुमको हम पाथों में भूल गये,
गीत तुम्हारे गाते-गाते हम तुमको ही भूल गये।[2]

कवि बच्चन के हृदय से भी 'मनुष्य-मनुष्य समान है' का स्वर प्रस्फुटित हुआ है—

सब मनुष्य हैं एक समान, इन्कलाब जिन्दाबाद।
एक विधाता की सन्तान इन्कलाब जिन्दाबाद।[3]

वस्तुतः दिनकर के अतिरिक्त अन्य कवियों को मानवता के स्वर और पुकार ने पीड़ित तो किया, परन्तु उनके हृदय के व्यक्तिमूलक क्षितिज के एक कोने में दबी समष्टि की आवाज़ अव्यक्त ही रह गई—इस काल में मानवता के अमर एकाकी गायक दिनकर की ही हृतन्त्री को झंकृत कर देने वाली मानवता की वाणी दिग्-दिगन्त को गुंजाती रही। इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रस्फुटन प्रगतिवादी कविताओं में दिखाई देता है।

दार्शनिक प्रभाव

छायावादोत्तर काल के लगभग सभी कवियों ने प्रेम और शृंगार को लेकर काव्य में प्रवेश किया और काव्य-जगत में एक प्रकार से हलचल-सी मचा दी, परन्तु ज्यों-ज्यों उनके जीवन में प्रौढ़ता आती गई, उनकी रचनाओं में दर्शन या जीवन की गहरी अनुभूति की छाप उतरती गई, दिनकर जी का यह मत कि सरस्वती की

१ नीलकुसुम, पृष्ठ ६५।
२ अचल विराम चिह्न, गांधी जी, पृष्ठ ४६।
३. बच्चन . बंगाल का काल, पृष्ठ ६७

जवानी कविता और बुढापा दर्शन है[1] उनके और उनके सहयोगी कवियों के काव्य-जीवन में अक्षरश सत्य प्रतीत होता है।

बच्चन—बच्चन जी की कविताओ पर सबसे अधिक ठोस प्रभाव उमर खैयाम के हालावादी अथवा भोगवादी दर्शन का दिखाई देता है। खैयाम की रुबाइयाँ खिन्न मन की निराशाजनक अभिव्यक्तियाँ है, जिनमें एक प्रकार का पलायनवाद का स्पष्ट स्वर है। खैयाम के अनुसार 'तरुशाखा के तले रोटी का एक टुकडा, एक सुराही मदिरा, कविता की पुस्तक और पार्श्व में गाती हुई 'तुम' हो तो यह जगल ही मेरे लिये स्वर्ग हो जाय।' यह पलायन और निराशा इसलिये है कि पैरो के नीचे बालू की जमीन खिसकती जाती है, न मालूम कितने बडे बडे नरेश, सत्ताधारी एव विद्वान् आये और चले गये, अत जीवन शराब सूख जाय, इसके पहले ही उठो और मदिरा पी-पीकर भूख बुझा लो।' 'अनागत कल अभी उत्पन्न नही हुआ और विगत कल मर चुका है, अत उनका चिन्तन छोड 'आज' को आनन्दमय बनाओ।' हिन्दी में यह दर्शन मुख्य रूप से फिट्जजेराल्ड के उमर खैयाम की रुबाइयो के अनुवाद के माध्यम से आया।[2]

खैयाम से बच्चन ने हाला, प्याला और मधुबाला के प्रतीक लिए और बडे ही उल्लास से अपनी काव्याभिव्यक्ति प्रारम्भ की। उनकी प्रारभिक कविताओ में से अधिकाश का विषय मदिरा और मदिरापान ही है, परन्तु उनकी मदिरा और खैयाम की मदिरा में अन्तर है। उमर जीवन की क्षणभगुरता से निराश एव मृत्यु से पराजित मन को अपने क्षणवादी सुखवादी दर्शन की मादक उत्तेजना में भुलाये रखना चाहते हैं। मृत्यु-भय से पीली उनके जीवन सौन्दर्य की भावना देश-काल की सीमा का अतिक्रम नही करती। बच्चन की मदिरा चैतन्य की ज्वाला है, जिसे पीकर मृत्यु भी जीवित हो उठती है। उनका सौन्दर्य-बोध देश-काल की क्षणभगुरता को अतिक्रम कर शाश्वत के स्पर्श से आम्लान एव अनन्त यौवन है। यह निस्सदेह बच्चन के अन्तर्तम का भारतीय सस्कार है, जो उनके मधुकाव्य में अज्ञात रूप से अभिव्यक्त हुआ। बच्चन की मदिरा गम गलत करने या दुःख को भुलाने के लिये नही है, वह शाश्वत जीवन सौंदर्य एव शाश्वत प्राण-चेतना शक्ति का सजीव प्रतीक है। उमर की मदिरा जीवन स्मृतियों की मदिरा है और बच्चन की जीवन-स्वप्नों की—एक में अतीत का मधुतिक्त मोह है, दूसरे में भविष्य की सुनहली आशा-सम्भावना।[3]

---

१ रामधारीसिह दिनकर पत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ६८।
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ८८३-८४।
३ पत बच्चन का व्यक्तित्व तथा काव्य, (बच्चन व्यक्ति और कवि, स० बाँकेबिहारी भटनागर, पृ० २५)

इसमें सन्देह नहीं कि कवि का भावुक हृदय कहीं-कहीं खैयाम के प्रभाव से जीवन की बाह्य क्षणभंगुरता के विषाद में पड़ जाता है, परन्तु वह उसका अस्थायी विषाद है, शीघ्र ही उसके भीतर का अदम्य प्रेरणा-स्रोत मन से नैराश्य को दूर कर देता है—

" किन्तु ऐ निर्माण के
प्रतिनिधि, तुझे होगा बताना,
जो बसे हैं वे उजड़ते
हैं प्रकृति के जड़ नियम से,
पर किसी उजड़े हुए को
फिर बसाना कब मना है ?
है अंधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है ?[१]

वस्तुतः कवि को हृदय की गहराई में अटूट अविश्वास है, जो उसकी जीवन-यात्रा की समस्त थकान नष्ट कर देता है—

जान पड़ता है कि मंजिल पास,
इसलिए कहता नहीं हूँ
पाँव मेरे थक गये हैं,
बल्कि इस कारण कि अब
मेरे पगों की
सब थकान मिट गई है,
कहीं सुस्ताने, ठहरने का नहीं ये नाम लेते,
रोक जैसे बस इन्हें मंजिल सकेगी ।[२]

बच्चन के हाथों में पड़कर उमर खैयाम का मिट्टी का प्याला, हाला तथा मधुबाला सबका रूपान्तर हो गया है और वे सब नवीन आनन्द, जीवन-चेतना तथा नवयुग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीकों में परिणत हो गये हैं ।[३] अपने जीवन-दर्शन के प्रति स्वयं बच्चन जी कहते हैं कि मैं जीवन के प्रति कभी निराश नहीं हुआ । उसकी उष्णता मैं हमेशा अनुभव करता रहा हूँ । जीवन के प्रति उत्साह का जो स्रोत मनुष्य में होता है, उसे जिजीविषा कहते हैं । लगता नहीं कि वह मुझमें सूख गया है । यदि लाख जीवन मुझे और जीने पड़े तो मैं उन्हें इतने ही उत्साह के साथ जी सकता

---

१ बच्चन, सतरंगिनी, पृष्ठ ६८ ।

२ बच्चन व्यक्ति और कवि, पृष्ठ ११५ से उद्धृत (नवीनतम अप्रकाशित रचना 'आभास' से)

३. पन्त : बच्चन का व्यक्तित्व तथा काव्य, (बच्चन · व्यक्ति और कवि पृ० २७)

हूँ। जीवन कितना भी दे दे, तो कुछ-न-कुछ उससे पाने को रह ही जाता है। मैं जीवन की हर उष्णता के प्रति 'री-एक्ट' करना चाहता हूँ।'[1]

इस प्रकार बच्चन का जीवन-दर्शन प्रवृत्तिमूलक जीवन-दर्शन है; जिसमें निष्क्रियता, जीवन-औदास्य, निवृत्ति और पलायन का भाव नहीं है, यदि कहीं इस प्रकार का भाव आया है तो कवि ने उसे एक प्रकार की कमजोरी समझकर झटक दिया है। आचार्य वाजपेयी ने साहित्य में जीवन-संबंधी आधारभूत चेतना पर जोर देते हुए कहा है कि हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जायें, निराशा और आत्मपीड़न को अर्घ्य न देने लगें। जीवन का लक्ष्य है जीना। जीना जितना व्यापक और समुन्नत स्वरूप धारण कर सके, उतनी ही साहित्यकार की कृतकार्यता है। यदि सारा समाज ही निराशा के गर्त में गिरा हो तो ऐसे सामाजिक वातावरण में आचार्य वाजपेयी आशा के गीतों के लिये आग्रह नहीं करते, उनका आग्रह केवल इतना है कि हम आत्मविस्मृत न हों, यह जानें रहें कि हम संप्रति निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं, किन्तु यह स्थायी गिरना नहीं।[2]

इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त कथन का अक्षरशः पालन बच्चन जी के काव्य-जीवन में दिखाई देता है। वे नैराश्य से उबर कर ऊपर आते हैं तो एक दृढ़ विश्वास, दृढ़ आस्था और न टूटने वाली शपथ लेते हुए, अग्निपथ पर चलते दिखाई देते हैं—

तू न थकेगा कभी !
तू न थमेगा कभी !
तू न मुड़ेगा कभी !—कर शपथ, कर शपथ, कर शपथ
अग्नि-पथ ! अग्नि पथ ! अग्नि पथ ![3]

अंचल

अंचल पर खैयाम के हालावाद का प्रभाव दिखाई देता है, परन्तु उन्होंने एक ओर तो बच्चन की भाँति खैयाम के प्रतीकों को अंगीकार नहीं किया और दूसरी ओर खैयाम की भाँति जीवन के प्रति क्षणभंगुरता और नैराश्य की स्थायी भावना नहीं है। वस्तुतः अंचल की कविताएँ खैयाम से कम प्रभावित हैं, बच्चन की कविताओं से अधिक सादृश्य रखती हैं। बच्चन के अन्तर का कवि उन्हें जीवन और यौवन की उद्दाम आकांक्षा प्रदान करता है और रूप-रस-गंध भरे विश्व के सौन्दर्य

१. बालस्वरूप राही : डा० बच्चन से एक औपचारिक बातचीत, (बच्चन : व्यक्तित्व और काव्य) पृष्ठ ६५-६६।
२. देखिए—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३५९।
३. बच्चन : एकांत संगीत, पृष्ठ ८५।

की मादकता उन्हें अपनी ओर खींचती है। अंचल की कविताओं में भी यौवन की उद्दाम आकांक्षा और सौन्दर्य की अमिट प्यास दिखाई देती है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से सौन्दर्य तृष्णा, रूप-लालसा तथा प्रेम की प्यास का क्रान्तिकारी संदेश देते हैं।[1] छायावादोत्तर कालीन कवियों में अंचल की कविताओं का सा आवेश, उन्माद और वेग इस काल के अन्य कवियों में नहीं मिलता।

बच्चन की भांति अंचल भी यत्र-तत्र संग्राम के प्रभाव से क्षणभंगुरता और नैराश्य के विषाद के गीत गाते हैं, परन्तु विषाद की यह भावना उनकी अस्थायी भावना है। नारी-सौन्दर्य का उज्ज्वल प्रकाश कवि के हृदय की तमिस्रा दूर कर देता है। कवि कर्म के अमर पथ का पथिक है, इस पथ पर उसे नारी की प्रीति का वरदान प्राप्त है—

कर्म के पथ की अमरता का बड़ा अभिमान मुझको
है न उससे कम तुम्हारी प्रीति का वरदान मुझको।[2]

अंचल पर मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन की भी स्पष्ट छाप अंकित है। कार्ल मार्क्स के दर्शन के अनुसार मनुष्य ही सर्वोपरि है और यह विश्व ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। विज्ञान के महत्व में नूतन समाज की कल्पना में ईश्वर और शैतान, पाप-पुण्य, स्वर्ग नरक कुछ भी शेष नहीं रहे, दुनियाँ खुशहाल हो गई, सबको समान अवसर मिलने लगा। कोई वर्ग नहीं, कोई धर्म नहीं। सब समान और बराबर हो गये।[3] अंचल मार्क्स के सिद्धान्तों विशेषकर जनवादी प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट हुए। उनकी कुछ कविताओं में जनवादी प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है—

तुम्हें ज्ञात मेरे जीवन का एक लक्ष्य है, एक तराना
पथ के अवरोधों को मैंने अब तक अपराजेय न माना।
फिर अदेय यह अनुमति कैसी, जागो! और विदा दो उसको,
'सबके सुख' सबकी समता में जिसने नवयुग को पहचाना।[4]

कवि के सामने जो नया कठिन पथ है, उसमें वह अकेला नहीं है—

मैं निस्संग नहीं मुझमें हैं जीवन के असंख्य कोलाहल,
साथ चल रही मेरे कोटि कोटि भूखे नंगों की हलचल।
पीछे घूम नहीं देखूंगा कुटी जिन्दगी का, बीता सुख,
पीछे ललकार, तुम्हारा—होगा नया कठिन पथ सम्मुख।[5]

---

१ देखिये, पृष्ठ ४३१।
२. पर्यान्त के बादल में निरन्तर लड़ रहा हूँ मैं तुम्हारी याद करता, पृष्ठ ३६।
३ हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ४६७।
४ विदा के क्षण (आज के लो० कवि रा० शु० अंचल, पृष्ठ ११२)।
५. सहसा किसने यों ललकारा (वही, पृष्ठ १२७)।

अंचल मार्क्सवादी दर्शन के संकीर्ण घेरे में अपने को बाँधना नहीं चाहते, उनके आकर्षण का मुख्य केन्द्र मानव है। वे मानव-समानता के लिए क्रान्ति का स्वर फूँकना चाहते हैं। परन्तु मार्क्स में उन्हें समन्वयात्मक दृष्टि न मिली, अतः अन्त में अरविन्द दर्शन पर उनकी दृष्टि मिली। जिस समन्वयात्मक व्यापक दृष्टि की उन्हें खोज थी, वह उन्हें अरविन्द के दर्शन में मिली।[1]

वस्तुतः कवि पन्त की तरह अंचल जी भी किसी वाद में बँधकर चलने वाले नहीं हैं। युग और समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल मानव हितकारी किसी भी दार्शनिक विचारधारा को आत्मसात् करना और अपनी सौन्दर्योपासना की सार्थकता के लिए उसे अनुभूति का अंग बनाकर व्यक्त कर देना ही उनका लक्ष्य है।[2]

दिनकर

छायावादोत्तर-काल के लगभग समस्त कवियों का जीवन-दर्शन प्रारम्भ में अभावात्मक रहा, परन्तु परिस्थितियों से ज्यों ज्यों उनका समझौता होता गया, जीवन-दर्शन भी अभावात्मक से भावात्मक होता गया। दिनकर जी के साथ भी यही हुआ। उनके काव्य-जीवन में प्रारम्भ से ही हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व चलता रहा, इस द्वन्द्व की प्रतिक्रिया प्रारम्भ में निराशामूलक रही, जिसने कवि को कुछ काल के लिए निवृत्ति के गह्वर में फँसा दिया था। नाश, प्रलय और क्षणभंगुरता के आतंक से कवि सहम-सा गया था—

> क्या है विश्व ? विनश्वरता का एक चिरन्तन राग,
> हँसो, हँसो, जीवन की क्षणभंगुरता के इतिहास।[3]

रेणुका में व्यक्त दिनकर की इस भावना का सूत्र 'द्वन्द्वगीत' में विकसित हुआ। रेणुका की राष्ट्रीय-चेतना में असहाय और विवश आक्रोश था और इस वैयक्तिक निवृत्ति-चेतना के मूल में असहाय और विवश अवसाद है। विवश आक्रोश समर्थ क्रान्ति और शौर्य का स्वर बनकर 'हुङ्कार' में व्यक्त हुआ, विवश अवसाद द्वन्द्वगीत में पल्लवित और संशोधित हुआ। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर के व्यक्तित्व के इन्हीं दोनों अंशों की टक्कर हुई, जिसमें अवसाद और नैराश्य की हार और कर्म तथा शौर्य की विजय हुई।[4]

दिनकर जी अपने तथाकथित द्वन्द्व का उत्तर तिलक के गीता-रहस्य में मिला। 'निष्काम कर्म' में उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया। गीता में जिस

---

१ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' रामेश्वर शुक्ल अंचल, पृष्ठ ६। (आज के लोकप्रिय कवि)।

२ वही, पृष्ठ ६।

३. रेणुका, पृष्ठ १००।

४ डा० सावित्री सिन्हा : युग-चारण दिनकर, पृष्ठ ८४।

निष्काम कर्म का सन्देश अर्जुन को श्रीकृष्ण ने दिया है, उसी सन्देश को भीष्म के मुख से युधिष्ठिर को दिलवाने के लिए 'कुरुक्षेत्र' की रचना हुई। भीष्म के मुख से कवि ने नवयुग के लिए यही सन्देश दिलवाया—

नरक उनके लिये जो पाप को स्वीकारते हैं
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।[१]

प्रवृत्ति की भित्ति कर्म पर आधारित होती है। परन्तु 'कर्म' का वह स्वरूप जो पाश्चात्य देशों ने अपना रखा है, प्रवृत्ति को कलंकित कर देता है। वासना के वशीभूत हो किया गया कर्म जिस प्रवृत्ति-प्रचलन की ओर ले जाता है, वह मनुष्य को लोभी और परपीडक बना देता है। प्रवृत्ति को उसी अर्थ में ग्रहण करने से जिस अर्थ में पश्चिमी जगत् के लोग ग्रहण किए हुए हैं, न तो संसार में शांति ही आ सकती है और न कभी मनुष्य को ही सन्तोष प्राप्त हो सकता है। शांति की आवश्यकता आज के युग को अधिक अनुभव हो रही है। शान्ति को मनुष्य आज जिस निश्छलता से पुकार रहा है, उस निश्छलता से उसने पहले उसे कभी नहीं पुकारा था। किन्तु शान्ति की पुकार ज्यों-ज्यों जोर पकड़ती जा रही है, त्यों-त्यों यह रहस्य भी खुलता जाता है कि प्रवृत्ति की गाढ़ी-कड़वी स्याही से शान्ति की कविता नहीं लिखी जा सकती। शांति की कविता लिखने के लिए उसमें निवृत्ति का पतला पानी मिलाया जाना चाहिए।[२]

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वयात्मक रूप कवि को गीता के प्रवृत्ति-दर्शन में मिला। 'कर्मयोगी' और 'कर्मठ सन्यासी' में ही कवि को उस आदर्श मनुष्य के दर्शन हुए, जिसकी उन्हें खोज थी। निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में किया। अति भोग के परिणाम से ही कवि अनभिज्ञ न था, इसलिए निष्काम भोग पर आधारित 'उर्वशी' नामक महाकाव्य की रचना की और युग को निवृत्ति-गर्भित प्रवृत्ति का अमर सन्देश दिया।

'कुरुक्षेत्र' में भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं—

बुला रहा निष्काम कर्म वह,
बुला रही है गीता।[३]
× ×
मिट्टी का यह भार सम्हालो
बन कर्मठ सन्यासी।[४]

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ४७।
२ दिनकर : वेणुवन, पृष्ठ १०-११।
३ कुरुक्षेत्र पृष्ठ १४६।
४. वही ,पृष्ठ १५०।

और 'उर्वशी' महाकाव्य में उर्वशी पुरूरवा से कहती है—

इसीलिए निष्काम काम-सुख वह स्वर्गीय पुलक है,
सपने में भी नहीं स्वत्व जिस पर अधिकार किसी का।[1]

दिनकर के ऊपर गांधी-दर्शन और साम्य-दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। गांधी दर्शन के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त से कवि मुग्ध होता है। गांधी-दर्शन को निर्बल की क्षमा और दया के सुघर बेल-बूटों से 'अजाधर्म' को सजाने वाला मानकर दिनकर उस प्रचण्ड मानव के अन्वेषी बने जिसकी साँसों पर प्रभंजन नृत्य करे और जिसके इशारों पर इतिहास बदल जाये। जिसके हाथों में अमृत-कलश और धर्म-ध्वज हो, परन्तु जो क्षमा-सा बलवान और काल-सा क्रोधी भी हो।[2]

साम्यवाद में हिंसा को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, क्रान्ति लाने के लिए हिंसा का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। गांधी-दर्शन के अनुसार हिंसात्मक प्रयोग दूषित माने जाते हैं, परन्तु दिनकर जी ने हिंसा का खुलकर समर्थन किया है। यहाँ पर कवि साम्य-दर्शन से प्रभावित दिखाई देता है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं पर स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी प्रभाव अंकित है। वन में सीता के यह पूछने पर कि क्या मतिभ्रष्ट मनुष्यों के शोध का एकमात्र उपाय हिंसा ही है?

'नहीं प्रिये, सुधर मनुष्य सकता है तप,
त्याग से भी, उत्तर दिया था घनश्याम ने,
'तप का परन्तु, वश चलता नहीं सदैव
पतित-समूह की कुवृत्तियों के सामने।'[3]

इस प्रकार कवि ने गांधी-दर्शन के अहिंसा-तत्त्व को अधूरा और एकांगी मान साम्य-दर्शन के हिंसा और क्रान्ति-तत्त्व पर अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की। कवि ने अर्थ-साम्य की नीति को मनुष्यता के पोषण के लिए अनिवार्य माना है—

आज कंपित मूल क्यों संसार का?
अर्थ का दानव भयाकुल मौन है,
झोंपड़ी हँस चौंकती, वह आ रहा
साम्य की वंशी बजाता कौन है?[4]

रोटी और वस्त्र—ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं, जब तक भूखे को रोटी न मिल जाय, उसका पेट न भर जाय, तब तक उससे दर्शन की या अन्य ऊँची बातें करना दम्भ है—

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ८६।
२. डा० सावित्री सिन्हा : युग-चारण दिनकर, पृष्ठ २९८।
३. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २८।
४. हुंकार, पृष्ठ ७८-७९।

रोटी दो, मत उसे गीत दो, जिसको भूख लगी है,
भूखों में दर्शन उभारना छल है, दगा, ठगी है।
रोटी और वसन, यह जीवन का सोपान प्रथम है,
नवयुग के चिन्तको ! तुम्हें इसमें भी कोई भ्रम है ?[1]

इस प्रकार कवि साम्यवाद की कल्याणकारी क्रान्ति और आर्थिक समता का तो समर्थन करता है, परन्तु साम्यवाद को पूर्णतया भारतीय रूप-रंग में रंग देना चाहता है, कवि ने कही भी अभारतीय तत्त्व नास्तिकता, धर्म-विरोध और ईश्वर विरोध का समर्थन नही किया है।

प्रवृत्ति-दर्शन की अभिव्यक्ति

प्रवृत्ति-दर्शन का सबसे प्रबल समर्थन दिनकर जी की कविताओं में मिलता है। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्याख्या करके इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि मानव समाज का कल्याण निवृत्ति नही, प्रवृत्ति के पथ पर ही चलकर किया जा सकता है। 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से कवि का आज के संवेदनशील मानव को यही सन्देश है कि मानवता का हित ससार त्याग कर निवृत्ति-मार्ग को अपनाकर नही किया जा सकता, ससार त्यागी तो स्वकेन्द्रित होकर आत्ममुक्ति की मृगमरीचिका में भटकता है। मानव-हित के लिए आत्म-मुक्ति का सकुचित मोह छोड प्रवृत्ति के पथ का पथिक होना पडेगा और 'जग-मुक्ति' का प्रयास करना पडेगा। जग-मुक्ति से कवि का तात्पर्य जगत् का दुखो से मुक्ति पाना है, मानव-समाज का समता और स्वतन्त्रता पाना है। इस प्रवृत्ति-पथ पर चलकर मनुष्य वास्तविक सुख पा सकता है और इस धरती से नाता जोडे रहकर इस धरती का कल्याण कर सकता है। कवि के द्वारा प्रवृत्ति का सन्देश 'मिट्टी के राग' के रूप में व्यक्त हुआ है। समाज की मूल प्रवृत्ति धरती से सम्बन्ध जोडने की होनी चाहिए, ऊपर गगन के छोर से नही।

यदि जीवन गुत्थियो से परिपूर्ण हो, तो उन गुत्थियो को सुलझाने का प्रयास न कर उनसे दूर भागना मन की कायरता है—

धर्मराज, सन्यास खोजना कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रंथियाँ सुलझाना जीवन की।[2]

कवि की दृष्टि में निवृत्ति या सन्यास-मार्ग वैयक्तिक सुख का मार्ग है और प्रवृत्ति-मार्ग कोटि कोटि मनुजों के सुख का प्रयास है। ससार को छोडकर अपने ही में रम जाना, अपनी मुक्ति खोजना और अपने को सुखी बनाने का उपाय निवृत्ति है तो अपना स्वार्थ छोडकर, अपने विवेक-बल से जन-साधारण के जीवन को

---

१ चक्रवाल हिमालय का सन्देश, पृष्ठ ३७६।

२ कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १२७।

गुत्थियाँ सुलझाना और सामान्य मानव के दुःख को बाँट लेना प्रवृत्ति है। वस्तुतः सन्यास लेकर मनुष्य गेह से वन को नहीं भागता, वह एकमात्र जीवन से भागता फिरता है। उसे जीवन के कड़वे घूंट मिलते हैं, तो वह सोचकर कि जीवन से दूर वन में जाकर वह मधुर रस का पान करेगा, सन्यास ले लेता है। वस्तुतः सफल वह है, जो जीवन से भागता नहीं, जूझता है—

जीवन उसका नहीं युधिष्ठिर, जो उससे डरते हैं,
वह उनका, जो चरण रोप, निर्भय होकर लड़ते हैं।[1]

प्रवृत्ति-मार्ग पर रहकर जीवन के संघर्षों का मुकाबला करना ही जीवन की विजय है, जीवन से व्याकुल हो वन में भागना मनुष्य की जीवन-रण में घोर पराजय है, ग्लानि-सूचक, पलायन का कुत्सित क्रम है, मुक्ति की बात थके-हारे लोगों की बुद्धि का भ्रम है—

जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो निकल भागना वन में,
धर्मराज, है घोर पराजय नर की जीवन-रण में।
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है,
निःश्रेयस् यह श्रमित, पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है।[2]

यह धरती कर्मभूमि है, इस धरती के वासी मनुष्य के जीवन का अणु-अणु कर्त्तव्य की ओर प्रेरित होता है, यह कर्त्तव्य भावना मनुष्य को आकाश से नहीं, धरती से जोड़ती है। जो मनुष्य कर्मठ है, कर्त्तव्यशील है उसका मार्ग सन्यास नहीं हो सकता—

धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का पथ सन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।[3]

दीपक के निर्वाण के समान ही निर्वाण जीवन का ध्येय नहीं है, जीवन का ध्येय है प्रज्वलित रहकर भुवन का तिमिर हरना वही जो दीपक करता है—

दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ श्रेय नहीं जीवन का,
है सद्धर्म दीप्त रह उसको हरना तिमिर भुवन का।[4]

विरक्ति वस्तुतः अकर्मण्यता की छाया है। यह जीवन को अनित्य कहकर स्वादहीन बना देती है, जो गोतीत है उसे सत्य कहती है और उस गोचर को, जिसमें कर्म सुलभ है, मिथ्या कहती है—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३१।
२. वहीं, पृष्ठ १३२।
३. वहीं, पृष्ठ १३५।
४. वहीं, पृष्ठ १३६।

यह अनित्य कह-कह कर देती स्वादहीन जीवन को,
निद्रा को जागर्ति बताती, जीवन अचल मरण को।[१]
× × ×
कहती सत्य उसे केवल जो कुछ गोतीत अलभ है,
मिथ्या कहती उस गोचर को जिसमें कर्म सुलभ है।[२]

यह विरक्ति मनुष्य को हर प्रकार से दीन, उत्साह-प्रताप-हीन बना देती है—

श्री, सौन्दर्य, तेज सुख सबसे हीन बना देती है,
यह विरक्ति मानव को दुर्बल दीन बना देती है।
नहीं मात्र उत्साह-हरण करती नर के प्राणों से,
लेती छीन प्रताप भुजा से और, दीप्ति बाणों से।[३]

कवि को इस बात से इनकार नहीं कि जगत् अनित्य है, जो जन्म लेता है, उसे मरना होता है, कवि का तर्क यह है कि खिलते हुए सुमन को मृत्यु-भय दिखला कर रस-भंग करना कहाँ तक न्यायोचित है—

सुविकच स्वस्थ, सुरम्य सुमन को मरन-भीति दिखला कर,
करती है रस-भंग, काल का भोजन उसे बताकर।[४]

कर्मठ मनुष्य भी संसार से विदा लेता है, परन्तु जब तक जीवित रहता है, संसार से विरक्त होकर नहीं जीता, संसार को रमणीय बनाने के प्रयास में लगा रहता है, संसार को कुछ दे जाता है—

होता विदा जगत् से, जग को कुछ रमणीय बनाकर,
साथ हुआ था जहाँ, वहाँ से कुछ आगे पहुँचाकर।[५]

सन्यासी मन की दुविधा मिटाने के लिए ही वन के एकान्त में जाकर चिन्तन करता है, पर संसार छोड़ देने से मन की दुविधा नहीं मिटती—

केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से द्विधा न मिट सकती है,
जगत् छोड़ देने से मन की तृषा न घट सकती है।[६]

जिस सुख की खोज में सन्यासी या वैरागी संसार-त्याग करता है, उस सुख की प्राप्ति इसी संसार में रहकर की जा सकती है। यह सुख इस धरती के असंख्य मनुष्यों को अपना बनाकर मिल सकता है, उनके सुख-दुःख में सम्मिलित होकर,

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३६।
२. वही, पृष्ठ १३७।
३. वही, पृष्ठ १३८।
४. वही पृष्ठ १३८।
५. वही, पृष्ठ १४१।
६. वही, पृष्ठ १४५।

उनके सुख में हँसकर और दुःख में रोकर मिल सकता है। यह धरती अत्यन्त विशाल है और इस विशाल धरती के पग-पग पर दीनता सहायता की याचना कर रही है, आगे बढ़कर उस दीनता की पुकार सुनकर उसकी सहायता मे जो सुख है, वह अन्यत्र नही है, क्षीन-दुर्बल-दरिद्र जनता को अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए और चाहिए आशा, इसे सुदृढ़ चरण और भुजा चाहिए। प्रदाह में जलते हुए समग्र भुवन का शोध उस प्रदाह मे कूद पड़ने से ही हो सकता है, जीवन को त्याग देने से नही हो सकता, चेतन की सेवा छोड़कर जड की सेवा के लिए दौड़ना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

अन्त में कवि ने जीवन के सार-तत्त्व के रूप में गीता का निष्काम कर्म प्रस्तुत किया है—

बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हें आर्त हो मही समर-संभीता।[1]

गीता का निष्काम कर्म जीवन-संघर्षों से जूझने की ओर सकेत करता है, इस मिट्टी में, इस जीवन में कर्मलीन होने का सन्देश देता है—

धर्मराज ! जो कुछ है, वह है मिट्टी में, जीवन में।
सम्यक-विधि से इसे प्राप्त कर नर सब कुछ पाता है,
मुक्ति-जयी के पास स्वयं ही अम्बर भी आता है।[2]

परन्तु गीता के निष्काम कर्म की विशेषता यह है कि इस मिट्टी का भोग तो किया जाय, पर अन्ततः मिट्टी में आत्मा नहीं, आत्मा में मिट्टी विलीन हो—

भोगो तुम इस भाँति मुक्ति को, दाग नही लग पाये,
मिट्टी में तुम नही, वही तुममें विलीन हो जाये।[3]

भोगवाद की यह रीति जन-जन तक पहुँचाई जाय कि शरीर पर मन का आधिपत्य बना रहे—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन में, नही देह में मन को।[4]

जिस दिन मन का आधिपत्य तन पर होगा, त्याग भोग-लिप्त जीवन पर अधिष्ठित होगा, जिन दिन निवृत्ति को मगलमय बनाने के लिए मनुष्य जीवन को छोड़कर नही, जीवन-पथ से होकर आयेगा, प्रवृत्ति पथ से निष्काम भोग का अवलंबन कर गुजरेगा, उस दिन मनुष्य के सौभाग्य का उदय होगा—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४९।
२. वही, पृष्ठ १५०।
३. वही, पृष्ठ १५०।
४. वही, पृष्ठ १५१।

उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का
उस दिन होगा शख ध्वनित मानव की महा विजय का।[1]

'कुरुक्षेत्र' वास्तव में विचार-प्रधान प्रबन्ध काव्य है। इस पुस्तक की भूमिका में कवि ने लिखा है कि दरअसल इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल-सी गई हो। यह तो अन्तत एक साधारण मनुष्य का शकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोल रहा है।[2] अधिकतर विचारक कवि का भाव-पक्ष गौण और दुर्बल पड जाता है, परन्तु दिनकर की कविता में जब शकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोलता है, तब उसमें अधिक दृढ़ता और शक्ति आ जाती है।

जिस प्रवृत्तिमूलक दर्शन का पूर्ण परिपाक 'कुरुक्षेत्र' में दिखाई देता है, उसकी प्रारम्भिक भावमूलक झलक 'द्वन्द्वगीत' में मिलती है—

कौन बडाई, चढे शृ ग पर अपना एक बोझ लेकर।
कौन बडाई, पार गये यदि अपनी एक तरी लेकर?
अबुध-विज्ञ की माँ यह धरती उसको तिलक लगाती है,
खुद भी चढे, साथ ले झुककर गिरतो को बाँहें देकर।[3]

आत्ममुक्ति के साथ जगमुक्ति की इसी भावना का प्रसार कुरुक्षेत्र में मिलता है, इसी भावना के कारण निवृत्ति का स्वरूप आत्ममुक्ति में और प्रवृत्ति का विस्तार जग-मुक्ति में अन्तर्हित होता है और 'कुरुक्षेत्र' में विचारप्रधान प्रवृत्तिमूलक दर्शन का अलग 'क्षेपक' सातवें सर्ग मे तैयार हो जाता है, जो स्वय कवि की दृष्टि में सम्पूर्ण 'प्रबन्ध' से टूटकर अलग जी सकने की क्षमता रखता है।

कुरुक्षेत्र में कवि ने जीवन के सार-तत्त्व के रूप में गीता का प्रवृत्तिमूलक सन्देश-निष्कामकर्म-प्रस्तुत किया है, उसी सार-तत्त्व से उसने 'रश्मिरथी' में कर्ण के चरित्र का निर्माण किया है। गीता का सिद्धान्त कर्ण के चरित्र में साकार हो उठा है—

सब आँख मूँदकर लड़ते है
जय इसी लोक में पाने को,
पर कर्ण जूझता है कोई
ऊँचा सद्धर्म निभाने को।[4]

वह धर्म क्या है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १५२।
२. वही, भूमिका, पृष्ठ ४।
३ द्वन्द्वगीत, चक्रवाल, पृष्ठ १४१।
४. रश्मिरथी, पृष्ठ १३४।

है धर्म पहुँचना नहीं, धर्म तो
जीवन भर चलने में है,
फैलाकर पथ पर स्निग्ध ज्योति
दीपक-समान जलने में है।[१]

रश्मिरथी में प्रतिपादित इस धर्म और गीता के निष्काम कर्म-फल की कामना किये बिना कर्म किये जाना—मे कुछ अन्तर नहीं है।

दिनकर जी का दर्शन उनके जीवन से अलग नहीं है, वह जीवन से ऊँचे स्तर पर जाकर अपनी भूमि नहीं बनाता, यही कारण है कि उनकी कविताओं में जितनी ही दार्शनिक गहराई है, वे उतनी ही दृढ़ता से जीवन के साथ सम्बद्ध हैं। वस्तुतः कवि अपने चिन्तन के एक-एक क्षण में अपने को प्रवृत्ति-पथ से जुदा नहीं कर सका है, यही कारण है कि उसके चिन्तन की दिशा यही धरती, इसी धरती का कर्म और यही जिन्दगी रही है। हिन्दी-कविता के नवीन क्षितिज के स्वागत में कवि ने जो 'नील-कुसुम' रचा, जो जवानी की पूजा का फूल स्वरूप है, उसमें भी कवि का चिन्तनशील हृदय धरती की ओर आकृष्ट होता है, धरती के ऊपर के वायुमण्डल की ओर नहीं—

इधर तुम खींचते अपनी लकीरें वायुमंडल में,
उधर आकर निरन्तर शून्य उनको एक कर जाता।
इसी से तो समझता हूँ कि वे अच्छे रहे हमसे,
नहीं जिनकी लकीरें वायुमंडल पर, मही पर है।
जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला
नदी संकेत पर जिनके सिमटकर गति बदलती है।
सुबह से शाम तक खटकर पुरुष जो लौटते घर को,
अभी भी वीरता-साहस लिये, गौरव भरे मन में,
प्रिया से भी नहीं कहते कि मेरी देह दुखती है।[२]

आदमी बड़ा वह है जो कर्म-पथ का पथिक है, जिन्दगी-भर काम करता है—

बड़ा वह आदमी जो जिन्दगीभर काम करता है।[३]

भावी पीढ़ी को कवि सन्देश देना चाहता है, परन्तु नई बात वह क्या कहे, नया उसने सीखा ही क्या है, वह पुरानी बात ही दुहरा देना चाहता है—

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुःख-भार, सोचना पागलपन है।[४]

---

१. रश्मिरथी, पृष्ठ १२६।
२. नीलकुसुम, स्वप्न और सत्य, पृष्ठ १७-१८।
३. वही, पृष्ठ १८।
४. नीलकुसुम, भावी पीढ़ी में, पृष्ठ २०।

जिन्दगी बेबस नहीं, वह हरियालियों की धार है, उसकी शक्ति असीम है—

क्षार में दो बूंद आँसू डाल कर,
और उसमें बीज कोई पालकर,
चूम कर मृत को जिलाती जिन्दगी।
फूल मरघट में खिलाती जिन्दगी।[१]

प्रवृत्ति-दर्शन का ठोस चिन्तन 'उर्वशी' में भी मिलता है। कवि ने अप्सरा उर्वशी के मुख से मनुष्यों के इस सिद्धान्त का खण्डन करवाया है कि जगत् मिथ्या है। पुरुष और प्रकृति जो परमात्मा और जगत् के ही स्वरूप हैं, परस्पर अभिन्न हैं,[२] अत परमात्मा यदि पावन है तो यह जगत् भी पावन है और रमणी से जो प्रकृति (जगत्) का सबसे रमणीय रूप है, बचने और दूर भागने वाला मनुष्य मूढ है। इस दृष्टि से मुक्ति खोजने वाला सन्यासी, ।जो स्त्री को मुक्ति का बाधक मानकर त्याग देने में विश्वास करता है, प्रकृति के सबसे रमणीय रूप स्त्री का त्याग कर प्रकृति के अभिन्न रूप परमेश्वर से भी दूर हो जाता है।

जो मनुष्य फलासक्ति को छोडकर निष्काम कर्म-धारा में बहता रहता है, संघर्षों में जूझता रहता है, पर उनके परिणामो से विरक्त रहता है और यह सोचता है कि—

हम निसर्ग के स्वय कर्म हैं, कर्म स्वभाव हमारा,
कर्म स्वय आनन्द, कर्म ही फल समस्त कर्मों का।

वही मनुष्य वास्तविक आनन्द का भागी होता है। जब तक कर्म में फल की आसक्ति का समावेश नहीं होता, तब तक वह निष्काम बना रहता है, वह दूषित नही हो पाता। उसी प्रकार काम-सुख भी यदि निष्काम भाव से भोगा जाय, स्वतः स्फूर्त हो तो वह दूषित नही हो सकता—

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को,
उसी भाँति, वह काम-कृत्य भी दूषित और मलिन है,
स्वत स्फूर्त जो नही।[३]

तन काम में लिप्त रहे तब तक तो ठीक है, पर यदि मन भी उसी में लिप्त हो जाता है और मनुष्य कामसक्त हो जाता है, तभी वह काम दूषित गरलवत् हो जाता है—

तन का काम अमृत, लेकिन. यह मन का काम गरल है।[४]

---

१. नीलकुसुम, जीवन, पृष्ठ ४४।
२. 'क्योंकि प्रकृति और पुरुष एक है, कोई भेद नहीं है'—उर्वशी, पृष्ठ ८३।
३. उर्वशी, पृष्ठ ८५।
४. वही पृष्ठ ८५।

'कोयला और कवित्व' में कवि ने कर्म की सरल व्याख्या प्रस्तुत की है और 'कर्मी' तथा 'विकर्मी' में अन्तर स्पष्ट किया है।

सिद्ध पुरुष वे हैं जो नानाविध कर्मों में लगे हुए हैं, और स्वेच्छा से सहर्ष कर्म करते रहते हैं—

सिद्ध पुरुष जो नानाविध कर्मों में लगा हुआ है,
बरबस नहीं, सहर्ष, स्वयं प्रेरित अपनी इच्छा से।
धन्य मनुज वह, जिसे कर्म निज में रत कर लेता है।

'कर्म' की व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—

क्योंकि कर्म श्रम नहीं, कर्म मुदिता, आनन्द, पुलक है।[1]

और जब मनुष्य फल की आशा से कर्म करता है, तभी वह नानाविध ग्रंथियाँ पैदा कर लेता है, और ऐसे कर्म के भार से उसके मन का शिखर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है—

यही कर्म है वह, जिसके निष्प्राण भार के नीचे
चूर्ण चूर्ण हो गिर जाता है शिखर मनुज के मन का।[2]

लेकिन जब कर्मी के पूरे मन में कर्म छा जाता है, वह कर्म में अपनी भुजाएं ही नहीं सारा अस्तित्व, प्राण, तन, मन सब कुछ लगा देता है, तब होता यह है कि कर्म के भीतर से आनन्द का स्रोत फूट पड़ता है। ऐसा ही कर्म कर्म-पद छोड़ कर्मी के लिए धर्म बन जाता है और कर्मी के जीवन में स्वधर्म (स्वकर्म) के अतिरिक्त कोई गति ही शेष नहीं रहती है। उसके मन की और प्राण की ऐसी हालत हो जाती है कि न तो वह स्वकर्म से पलायन करना चाहता है न कभी उसमें थकान का अनुभव करता है। कर्म की यही स्थिति विकर्म कहलाती है। दिनकर जी 'विकर्म' शब्द का प्रयोग एक नये विशेष अर्थ में करते हैं। कर्मी और विकर्मी में वे निम्नलिखित अन्तर बतलाते हैं—

कर्मी वह जो कर्म-निरत है किसी लोभ या भय से,
किन्तु, विकर्मी वह जिसमें शंका, भय लोभ नहीं है।[3]

विकर्मी ही 'कर्मसु कौशलम्' ग्रहण करके सारे दोष वाले कर्म का शोधन कर सहज कर्मयोगी बन जाता है। उसके सारे कर्म अकर्म भाव में स्वयं बदल जाते हैं। यह अकर्म न तो संन्यास है और न कर्मों का त्याग है, यह तो परमबिन्दु पर चढ़े हुये प्राण की एकायन स्थिति है—

---

१. कोयला और कवित्व, पृष्ठ ७८।
२. वही, पृष्ठ ७८-७६।
३. कोयला और कवित्व, पृष्ठ ८१।

यह अकर्म संन्यास नही है, न तो त्याग कर्मों का,
चरम-विन्दु पर चढे प्राण की यह एकायन स्थिति है,
जब कर्मातिरेक के कारण कर्म नही दिखते हैं।
चक्र दीखता स्थिर जब वह तेजी से घूम रहा हो।[१]

बच्चन जी भी गीता के ज्ञान से प्रभावित हैं, उनके जीवन के अवसाद और निराशा के अन्धकार को दूर करने में अवश्य ही गीता ने उनके अभावात्मक दर्शन को भावात्मक दर्शन में बदल दिया होगा—

इस महामोह की वेला में भी क्या हमको
वाजिब अपनी गीता का ज्ञान भुलाना है ?[२]

दिनकर जी की भाँति बच्चन भी निष्काम भोग की चर्चा करते है। तन काम में लिप्त होता है तो कोई बात नही, मन यदि काम में लिप्त नही है, अधिकार है तो वह काम पवित्र है उसे वासना की सज्ञा नहीं दी जा सकती—

मैं नही हूँ देह-धर्मों से बँधा, जग, जान ले तू,
तन विकृत हो जाय लेकिन मन सदा अविकार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।[३]

प्रारम्भ से ही कवि अपने हृदय में यह महत्त्वाकाक्षा पाले बैठा था कि उसे जगती का तम हरना है, चाहते हुए भी ससार के लिए कुछ न कर पाने पर उसे दुःख होता है—

मैंने जलकर दी आयु बिता, पर जगती का तम हर न सका।[४]

परन्तु कवि ने निराश होना नही सीखा। वह जब विश्व की पीडा को सम्मिलित हो रोते हुए देखता है और पृथ्वी को अपने आँसुओ से अपने पाँव भिगोते हुए देखता है तो उसका आर्द्र हृदय तटस्थ नही रह पाता है—

देखते क्यों नेत्र • कवि के
भूमि पर जड़ - तुल्य जीवन ?
तीर पर कैसे रुकूँ मै
आज लहरों में निमन्त्रण।[५]

कवि ने दुनिया में चलते रहने—कर्म करते रहने—को ही अपना धर्म माना

---

१ कोयला और कवित्व, पृष्ठ ८१।
२. जनगीता।
३. मधुकलश, पृष्ठ १६।
४. एकांत सगीत, पृष्ठ ३३।
५. मधुकलश, पृष्ठ ७५।

और इसीलिए प्रति पग पर उसे मंजिल पर पहुँचने—जीवन के प्रतिपल के आनन्द-प्रद, सार्थक होने—की अनुभूति होती है, और जीवन सुन्दर लगता है—

चलना ही जिसका काम रहा हो दुनिया में
हर एक कदम के ऊपर है उसकी मंजिल,
जो कल पर काम उठाता हो वह पछताये,
कल अगर नहीं फिर उसकी किस्मत में आता,
मैंने कल पर कब आज भला बलिदान किया।
मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।[1]

कवि का ध्यान चोटी की बरफ की ओर आकृष्ट होता है तो उस स्फटिक निर्मल, शीतल, समुज्ज्वल हिम-खण्ड को देख उसे लगता है कि उसका आदर्श यह नहीं है, उसका आदर्श यह मिट्टी है—

कि जो गाती,
कि जो रोती,
कि जो है जागती सोती,
कि जो है पाप में धँसती,
कि जो है पाप को धोती,
कि जो पल-पल बदलती है,
कि जिसमें जिन्दगी की गत मचलती है।[2]

इसलिए कवि उस हिम-खण्ड को नीचे उतर मिट्टी का आलिंगन करने के लिये कहता है—

उतर आओ
और मिट्टी में सनो,
जिन्दा बनो,
यह कोढ छोड़ो,
रंग लाओ,
खिलखिलाओ
महमहाओ।[3]

दुनिया का जो सत्य है, जिस सत्य के सहारे दुनिया टिकी हुई है, उसी सत्य को तटस्थ दृष्टि से पकड़कर कवि ने व्यक्त करने का प्रयास किया है। वस्तुतः वे अपने आपको जिस धरातल पर पाते हैं, वह एक भारतीय मस्तिष्क की परिपक्वता

---

१. आरती और अंगारे, पृष्ठ २२६।
२. बुद्ध और नाचघर, चोटी की बरफ, पृष्ठ १२५।
३. बुद्ध और नाचघर, वही, पृष्ठ १२६।

का धरातल है। उन्होंने सभी धरातलों से भारतीय संस्कृति के जीवन-तत्त्वों को पाठकों के सामने देखना चाहा है।[1]

अंचल जी की कविताओं में भी प्रवृत्ति-दर्शन की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। प्रवृत्तिमूलक कर्म-दर्शन से प्रभावित हो वे कर्म-पथ की अमरता का अनुभव करते हैं, यद्यपि प्रेयसी की प्रीति का वरदान ही उनका सम्बल है—

कर्म के पथ की अमरता का बड़ा अभिमान मुझको
है न उससे कम तुम्हारी प्रीति का वरदान मुझको।[2]

मनुष्य स्वकेन्द्रित रहकर जीवन का साफल्य नहीं पा सकता, उसने अपनी बाती जलाकर एकाकी मिट जाने का प्रयास किया तो क्या किया, यदि कोटि-कोटि मिट्टी के पुतलों को अपने प्राणों की चिनगारी से न प्रकाशित कर सका। नीरव जलना ही पलायन है, निवृत्ति है, जलकर जन-जागृति में बल फूंकना ही प्रवृत्ति है। जीवित रहकर मानव-मूल्य बढ़ाना ही जीवन का वास्तविक ध्येय है—

जीकर ही क्या हुआ न यदि मानव का मूल्य बढ़ाया
मरकर ही क्या मिला न यदि जन-जागृति ने बल पाया।[3]

प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति जिन राष्ट्रीय कविताओं में हुई है, उनमें भी सबसे प्रबल स्वर दिनकरजी का ही है। आधुनिक युग के प्रथम उत्थान के युग में भारतेन्दु ने भारतीयों का देश की दुर्दशा पर रोने का आह्वान कर जिस राष्ट्रीय वीणा का स्वर झंकृत किया था, वह दिनकर के युग तक आते-आते रुदन—मात्र रुदन—का तरीका छोड़ तीव्र स्वर में हुङ्कार कर देशवासियों के आह्वान में विश्वास करने लगा है। अंग्रेज सत्ताधारियों का अत्याचार दिन-प्रति-दिन अमानुषिक होता जा रहा था। देश के नवयुवकों के हृदय में उस अत्याचार को देख जो उबाल आया, वह क्रांति के बिना शान्त भी नहीं हो सकता था। कवि के कानों से जब क्रान्ति-देवी की पुकार टकराती है, वह झिझक उठता है—

यह कैसा आह्वान!
समय-असमय का तनिक न ध्यान।
तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय?
सुधा-मधु का अक्षत भाण्डार

---

१. बालस्वरूप राही : डा० बच्चन से एक अनौपचारिक बातचीत, पृष्ठ ६६।
२. अचल : वर्षान्त के बादल, मैं निरन्तर लड़ रहा हूँ मैं तुम्हारी याद करता, पृष्ठ ३९।
३. अंचल : आह्वान (आज के लोकप्रिय कवि, पृष्ठ १२४)

एक मेरे ही हेतु अदेय ?[1]

कवि को यह असमय की पुकार शीघ्र ही उत्तेजित कर देती है, वह हुङ्कार उठता है—

नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल;
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूंगा गरल कराल।[2]
+ +
अभय दो, कूद पड़ूं जय बोल,
पूर्ण कर लूं अपना बलिदान।[3]

बलिदान देने की भी सीमा होती है, आखिर दनुजों को कब तक रक्त पिलाया जा सकता है। क्या हम मानवों को—भारतवासियों को प्रतिशोध का अधिकार नहीं ?

पिलाने को कहाँ से रक्त लायें दानवों को ?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवों को ?[4]

कवि उन बलिदानियों के प्रति हृदयग्राही शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करता है। जिन बलि-वीरों के सहारे धरती टिकी हुई है—

वीर, तुम्हारा लिये सहारा
टिका हुआ है भूतल सारा,
होते तुम न कहीं तो कब को उलट गया होता संसार।
नमन तुम्हें शत बार।[5]

कवि हिमालय के माध्यम से देश के अनगिनत नवयुवकों को जागृति का सन्देश देता है। आज के युग को धर्मात्मा युधिष्ठिर की आवश्यकता नहीं है, आज तो गाण्डीवधारी अर्जुन और गदाधारी भीम की देश को आवश्यकता है—

रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गाण्डीव-गदा, लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।[6]

क्रान्ति का साकार स्वरूप है 'विपथगा'। इस कविता में विपथगामिनी क्रान्ति

---

१. हुंकार, पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ १०।
३. वही, पृष्ठ ११।
४. वही, पृष्ठ २६।
५. वही, पृष्ठ ३९-४०।
६. वही, पृष्ठ ५६।

अशेष बल और शक्ति के प्रतीक रूप में चित्रित है—

पायल पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है,
लहराती लपट दिशाओं में, खलभल खगोल अकुलाता है,
परकटे विहग-सा निरवलम्ब गिर स्वर्ग-नरक जल जाता है।

गुलाम देश में उस विपथगा का स्वरूप और ही दिखाई देता है—

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में,
सोने-सी निखर जवान हुई तप बड़े दमन के दाहों में,
ले जान हथेली पर निकली मैं मर मिटने की चाहों में।[1]

बच्चन जी देश के नौजवानों को नवजागृति का सन्देश देते हुए कहते हैं—

उठो चुनौतियाँ मिलीं, जवाब दो,
क़दीम क़ौम-नस्ल का हिसाब दो,
उठो स्वराज्य के लिए खिराज दो,
उठो स्वदेश
के लिये
कसो कमर।[2]

और अंचल क्रान्ति का सन्देश देते हुए कहते हैं—

आज हवाओं के तेवर में नाच रही है प्रलय-पिपासा,
अंगारों-सी ज्योति जगाती घर-घर में नवयुग की आशा।
उठो सुन्दरी! चले बवंडर-सा बिजली का चपल हिंडोला,
महाकाल घर-घर में नाचे बनकर प्रतिहिंसा का शोला।
बजते ही जयशंख तुम्हारा कब न मनुज ने जुल्म मिटाया,
जागो रंजित तना क्षितिज में देखो इन्किलाब घिर आया।[3]

छायावादोत्तर-काल के कवियों में नारी के प्रति जो भावना दिखाई देती है, उसमें छायावाद की भाँति आवरणप्रियता नहीं है, वह कहीं अधिक स्पष्ट, मुखर और साफ है। इस काल की कविता में स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव-संकेतों की पात्री न रहकर सामाजिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित है।[4]

---

१. हुंकार, पृष्ठ ७४।
२. बच्चन, धार के इधर-उधर, चेतावनी, पृष्ठ ५४।
३. अंचल, धरती की आग (आज के लोकप्रिय कवि, पृष्ठ ७२)
४. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य . बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ३०८।

यह ठीक है कि कवि अंचल के हृदय की यौवन-सुलभ सौन्दर्य-लालसा की परितृप्ति नारी-सौन्दर्य में मिलती है, परन्तु उनकी दृष्टि में नारी केवल भोग का साधनमात्र नहीं है, वह असफल जीवन को, दुनिया से ठुकराये हुए मन को नवीन मधुता और नूतन संकल्प भी प्रदान करती है—

जीवन की मजदूरी में मैं जब असफल होता-थक जाता
दुनिया से ठुकराया जाकर मन तेरे पास चला आता
मेरे मन के सन्ताप सभी तेरी मधुता में गत होते
मुझको लगता मैं अपने संकल्पों में नूतन बल पाता।[1]

छायावादी नारी का सौन्दर्य निष्कलुषता का वातावरण प्रस्तुत करने वाला है, वह स्पर्श से दूर, मन में अनिर्वचनीय स्फुरण उत्पन्न करने वाला है। छायावादोत्तर कवि बच्चन अपनी प्रेयसी से स्पर्श-सुख की याचना करते हैं, क्योंकि उसका स्पर्श प्राणों में असीम उल्लास का संचार करने वाला है—

दुःख से जीवन बीता फिर भी
शेष अभी कुछ रहता,
जीवन की अंतिम घड़ियों में
भी तुमसे यह कहना,
सुख की एक साँस पर होता
है अमरत्व निछावर,
तुम छू दो मेरा प्राण अमर हो जाए।
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए।[2]

कवि दिनकर ने सामाजिक इकाई नारी को समाज के विभिन्न परिपार्श्व में देखा है। साधारणतया उनकी कविताओं में नारी का पत्नी रूप और मातृत्व अधिक मुखरित हुआ है। कवि को 'आधुनिका' की आत्म-संकीर्ण दृष्टि और विकृत जीवन-दर्शन नहीं भाया है। नारीत्व के सहज गुणों से वंचित उस आधुनिक नारी के प्रति कवि की उक्ति है—

जगा नहीं सकती यह जल की रेखा प्राण-पुरुष को,
जिसे छेड़ तुम हँसती हो, वह चर्म-रूप है केवल।[3]

भारतीय नारी का वह अबला रूप भी कवि की आँखों से ओझल न हो सका है, जो गाँवों में दिखाई देता है—

---

१ अंचल, वर्षान्त के बादल, तुम कितना मीठा गाती हो, पृष्ठ ६९।
२. बच्चन, सतरंगिनी 'तुम गा दो' पृष्ठ १४०।
३. रसवन्ती, पृष्ठ ५८।

नही सामना कर सकती उनका निज प्रखर विभा से ।
वह समाज की विवश बन्दिनी सब कुछ छोड चुकी है,
बचा रखा है केवल उसने एक शील नारी का ।[१]

आधुनिका में कवि को उसका शील खडित होता दिखाई देता है, परन्तु ग्रामीणा इतनी निस्पृह होते हुए भी अपने शील की रक्षा कर सकने में समर्थ है । कवि उस पर अपना समस्त पौरुष और इज्जत डाल देने के लिए आतुर दिखाई देता है ताकि वह अपनी शक्ति जगा सके और समाज के घूरनेवाले भेडियो से अपनी रक्षा कर सके ।

कवि के नेत्रो के सामने नारी का रूप और स्वरूप उभरता है—वह है मातृत्व का—

मखल के सुकुमार फूल को वह यों देख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यो भरे नयन से[२]
\+ \+ \+
समझ रही वह आज, बोझ जीवन का है उस पर भी,
महाविश्व को जीवित रखने की वह भी दायी है ।
सीधा नही योग नारी का जग के सघर्षों से,
बेटों के मुख से अपना सन्देश कहा करती है ।[३]

'उर्वशी' में भी नारी के तीन रूपो की व्यजना हुई है । मोहिनी-रूप 'उर्वशी' में, सती-रूप सुकन्या में और गृहिणी-रूप औशीनरी में । उर्वशी स्वर्ग-लोक की अप्सरा है, जो केवल धरती का सुख भोगने के लिए इन्द्र-लोक छोडकर आई है—

प्रस्तुत है देवता जिसे सब कुछ देकर पाने को,
स्वर्ग-कुसुम वह स्वयं विकल है वसुधा पर आने को ।[४]

वह धरती का ही नर है, जिसमें उर्वशी को योग और भोग दोनो का समन्वय दीखता है, अमरपुरी के देवताओ में वह बात कहाँ—

यह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक-व्रती, पुण्य-वन में कदर्प ललित भी है ।[५]

कवि के शब्दो में 'उर्वशी' शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना, उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ५६ ।
२. वही, पृष्ठ ६१ ।
३. वही, पृष्ठ ६२ ।
४. उर्वशी, पृष्ठ १३ ।
५. वही, पृष्ठ ५७ ।

स्रोत की कामनाओं का प्रतीक है। उर्वशी को पाकर पुरुरवा नारी के भीतर की उस नारी को पा लेता है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सधान वह तब पाता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है।

उर्वशी का मोहिनी रूप जितना आकर्षक है, उतना ही महान् उसका मातृत्व। प्रसूतावस्था में उसे देखकर महर्षि च्यवन ने अपनी पत्नी सुकन्या से कहा—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज, नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ देव, दानव, मनुज से छिपकर
महाशून्य, चुपचाप, जहाँ आकर ग्रहण करता है।
सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
वह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।[1]

सुकन्या की सृष्टि कवि ने पौराणिक सती नारियों की भूमिका पर की है, वह पतिव्रता है, तेजस्विनी है एवं कर्तव्यपरायण है। उसके सम्पर्क से ऋषि च्यवन का ताप नहीं भंग हुआ, वरन् उनका उन्नयन हुआ। उसको पाकर ऋषि अपने पतन एवं पराजय की बात कल्पना में भी नहीं लाते, वे सिद्धि का फल मानकर सुकन्या को ग्रहण करते हैं।—

हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो ?[2]

सुकन्या में गृहिणी का वह रूप दिखाई देता है, जो पति के प्रेम की छाँह में भोग और योग दोनों की अनुभूति पाती है—

गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमें देता है।
क्या सुख मिला नहीं मुझको दयिता महर्षि की होकर।[3]

वस्तुत 'उर्वशी' की कथा कहने को प्राचीन कथा है, परन्तु इस काव्य में जो मर्म-व्यथा है, वह सबका-सब इसी समय का है, निज युग का दीपक जलाने के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की सृष्टि की।[4] उर्वशी और सुकन्या की अपेक्षा औशीनरी के चरित्र में अधिक उज्ज्वलता दिखाई देती है। इसका कारण यही है कि औशीनरी में ही कवि ने युग की नारी की व्यथा को वाणी दी है, उसका चरित्र जितना ही दयनीय है, उतना ही स्पृहणीय है। अन्त में जब उर्वशी शापवश अन्त-

१ उर्वशी, पृष्ठ ११७।
२. वही, पृष्ठ ११२।
३. वही, पृष्ठ १०८।
४. देखिए 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' शीर्षक कविता (मुक्तितिलक, पृष्ठ ४७)

घनि हो जाती है, तब विजयश्री औशीनरी के ही हाथ लगती है, मानो नीति काम को पराजित कर देती है।

परन्तु औशीनरी मानो सहन करने के लिए ही पैदा हुई है, उसकी दृष्टि में नारी सहनशक्ति की मूर्ति होती है। अनुचरी निपुणिका उसे यह सूचना देती है कि 'महाराज से मिलने को उर्वशी स्वर्ग से आई'[1] तो वह यही कहकर रह जाती है—

पगली ! कौन व्यथा है जिसको नारी नहीं सहेगी।[2]

औशीनरी की दृष्टि में नारी बड़ी असहाय है। वह कहती है—

दुःख-दर्द जतलाओ नहीं,
मन की व्यथा गाओ नहीं,
नारी ! उठे जो हूक मन में, जीभ पर लाओ नहीं।[3]

परन्तु तो भी वह पति की मंगलकामना करती है—

तब भी महत अनुकूल हो,
मुझको मिलें, जो शूल हों,
प्रियतम जहाँ भी हो, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हो।[4]

इन्द्र का शाप कि पुत्र और पति नहीं, पुत्र या केवल पति पाओगी।[5] फलतः ऋषि-पत्नी सुकन्या उर्वशी के सोलह वर्षीय पुत्र आयु को राज-दरबार में ले आई और उर्वशी अन्तर्धान हो गई, परन्तु वह शाप लगा औशीनरी को, क्योंकि उर्वशी तो नन्दन-कानन चली गई, औशीनरी का दुर्भाग्य कि राजा पुरुरवा ने सन्यास ले लिया। वे चले गये, उससे बिना कुछ कहे—

और त्यागना ही था तो जाते-जाते प्रियतम ने
ले लेने दी नहीं धूलि क्यों अंतिम बार पदों की ?
मुझे बुलाये बिना अचानक कैसे, चले गये वे ?
अकस्मात् ही मैं कैसे मर गई कान्त के मन में ?

कवि दिनकर ने औशीनरी के मर्म का उद्घाटन किया है—उस औशीनरी का जो आधुनिक युग की नारी का प्रतिनिधित्व करती है। नारी अपने आपको

---

१. उर्वशी, पृष्ठ २६।
२. वही, पृष्ठ २६।
३. वही, पृष्ठ ४०।
४. वही, पृष्ठ ४०।
५. वही, पृष्ठ १२१।
६. वही, पृष्ठ १५८।

केवल पत्नी और माता समझती है तो उसकी दृष्टि एकांगी है, उसे यह नही भूलना चाहिए कि,वह पति की सहचरी और सखी भी है। पति के संघर्षों और विभिन्न कर्मों में यदि नारी सहयोग नही देती तो उसका भाग्य वैसा ही होगा जैसा औशीनरी का था, जो राजा की राजेश्वरी तो बनी रही, पति की प्राणेश्वरी न बन सकी—

पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड व्रीडा का
ध्वजित होने दिया नही मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझमें छिपी हुई थी।[1]

सुकन्या को भी रानी की भूल दिखाई देती है—

बुरा किया यदि तुमने आपने देखा नही नृपति के
कहाँ घाव थे, कहाँ जलन थी, कहाँ मर्म पीडा थी ?[2]

परन्तु वह त्रिया, वह भीरु नारी वहाँ विजय पाती है, जहाँ उर्वशी विलीन हो जाती है और राजा पुरूरवा पराजित हो जाते हैं—

उससे बढ़कर और कौन कायर जग में होता है ?
कर लेता है आत्मघात, क्या कथा यतीत्व ग्रहण की ?[3]

पुत्र के प्रति राजा पुरूरवा अपने कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं, अपने पुत्र का वात्सल्य चुराकर वन को चल देते हैं, परन्तु औशीनरी उसके लिए वात्सल्य-सुधा लेकर आगे बढ़ती है—

हाय, पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।[4]

यहाँ पर कवि ने मातृत्व की अभिव्यंजना में मानो नारी की शक्ति का उद्घाटन किया है। उस अबला, आँसू और करुणा की प्रतिमूर्ति नारी की कथा इतिहास में न होने का कारण भी कवि बताता है—

इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित बस, एक क्रिया पर।
किन्तु नारियाँ क्रिया नही, प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं;
उद्गम-स्थली अदृश्य, जहाँ से भी कर्म उठते हैं।[5]
× × ×
नारी त्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शांति, करुणा है।

---

१. उर्वशी, पृष्ठ १६६।
२. वही, पृष्ठ १६६।
३. उर्वशी, पृष्ठ १६१।
४. वही, पृष्ठ १५४।
५. वही, पृष्ठ १६३।

इसीलिए इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।[1]

जिन दिव्य गुणो को मानवता कहते हैं, उसके अत्यधिक निकट नर नही, मात्र नारी है—

और देवि ! जिन दिव्य गुणो को मानवता कहते हैं,
उसके भी अत्यधिक निकट नर नही, मात्र नारी है।[2]

जब देवी सुकन्या यह सोचती है कि नर-नारी के बीच सतुलन कैसे लाया जाय तब उनके मुँह से यह बात निकल पडती है कि यह सृष्टि वास्तव में, पुरुष की रचना है। इसीलिए रचयिता ने पुरुषों के साथ पक्षपात किया, उन्हें स्वत्व-हरण की प्रवृत्तियों से पूर्ण कर दिया। किन्तु, पुरुषो की रचना यदि नारियाँ करने लगें, तो पुरुष की कठोरता जाती रहेगी और वह अधिक भावप्रवण एव मृदुलता से युक्त हो जाएगा। इस पर आयु यह दावा करता है कि मैं ही तो वह पुरुष हूँ जिसका निर्माण नारियो ने किया है। आयु का कहना ठीक था। वह प्रसिद्ध राजा हुआ जिसका उल्लेख ऋग्वेद में आया है, किन्तु उल्लेख इस बात का भी है कि युवक राजा सुयवा ने आयु को जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया था। फिर वही बात ! पुरुष की रचना पुरुष करे तो वह शासक होता है, और पुरुष की रचना नारी करे तो लडाई में वह हार जाता है।[3]

कवि की दृष्टि में केवल पुरुष की रचना भी एकागी सिद्ध हुई और केवल नारी की रचना भी एकागी सिद्ध हुई, इसका तात्पर्य यह है कि कवि की दृष्टि में आदर्श मानव वह होगा जिसकी रचना में पुरुष और नारी दोनों का सहयोग हो।

इस प्रकार कवि ने अपने युग के साहित्य मे नारी के उस स्वरूप की स्थापना की जो समाज की इकाई है, जो पति की सहचरी और सखी है, पुत्र की माता है और समाज की निर्मात्री है।

प्रगतिवाद

सामान्य परिचय

जिस प्रकार छायावादी और उत्तर-छायावादी काव्य-धारा का आविर्भाव युग-विशेष के मानव-जीवन की समृद्धि के लिए सहज आवश्यकता के रूप में हुआ था, उसी प्रकार प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य भी अपने युग की व्यापक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आविर्भूत हुआ। वस्तुत प्रगतिवादी काव्य-धारा का आविर्भाव छायावाद के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए हुआ था। छायावादी कवियों ने

१ उर्वशी, पृष्ठ १६४।
२. वही, पृष्ठ १६४।
३. उर्वशी, भूमिका।

मानव-जीवन की समृद्धि के लिए नवीन जीवन-मूल्यों, नवीन आदर्शों की स्थापना की थी, उन्ही जीवन-मूल्यों को खोज के लिए और उन्ही नवीन आदर्शों को यथार्थ का परिवेश प्रदान करने के लिए हिन्दी-साहित्य जगत् में प्रगतिवाद का आगमन हुआ। प्रगतिवाद को अपने अनुकूल भाव-भूमि तैयार करने में सरलता इसलिए हुई कि उसके आगमन के पूर्व छायावादोत्तर काव्य धारा ने उसके अनुकूल आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। छायावादी कवियों—पन्त और निराला-ने भी प्रगतिवाद की आवश्यकता का अनुभव कर छायावाद के आदर्शोन्मुखी परिवेश को यथार्थोन्मुखी बनाने का कार्य प्रारम्भ कर एक प्रकार से छायावाद के कर्तव्य की पूर्ति की घोषणा कर दी। वास्तव में 'आदर्शों' को आवश्यक साहित्यिक साँचे में ढाल देने के बाद 'छायावाद' का कार्य पूरा हो चुका था, अब आवश्यकता थी ऐसी सबल काव्य-धारा की, जो वास्तविक जीवन में उन आदर्शों को साकार स्वरूप प्रदान करने की प्रेरणा देने की शक्ति और क्षमता रखती हो, जीवन के कीटाणु-तत्त्वों को निकाल कर उसे अधिक स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने की क्षमता रखती हो। छायावादोत्तर-काल के बच्चन, दिनकर आदि कवियों ने इस दिशा में प्रारम्भिक सफल प्रयास किये, प्रगतिवादी कवि, विशिष्ट ढग से विशेष दिशा में उन्ही प्रयासों की ओर झुके। यदि हिन्दी साहित्य की काव्य-धारा को स्वस्थ दृष्टि से देखा जाय तो न तो प्रगतिवाद छायावाद का गला घोटकर उदित हुआ और न उसके भस्म पर ही प्रकट हुआ, वह तो उसका आवश्यक विकसित रूप ही प्रतीत होता है। श्री पन्त जी के शब्दों में 'आदर्श को सदैव यथार्थ की आवश्यकता होती है और यथार्थ को आदर्श की। यथार्थ से विच्छिन्न आदर्श यदि दिक्पगु है तो आदर्श से विच्छिन्न यथार्थ युगान्ध है। इस प्रकार जिस नये युग-बोध अथवा युग-मूल्य ने अपनी ऊर्ध्व दृष्टि का अर्थ खोजने के लिए छायावाद द्वारा नये मानव-सौन्दर्य और नये मनुष्यत्व के आदर्श को जन्म दिया उसी ने उस आदर्श को धरती के जीवन में स्थापित करने के लिए प्रगतिवाद के रूप में ऐतिहासिक यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा की।'[१]

प्रत्येक विराट् उथल-पुथल का युग एक असाधारण मानसिक क्रियाशीलता को लेकर आता है। आवश्यकता होती है उस महान् उथल-पुथल को साकार करने की और मानसिक क्रियाशीलता को साहित्यिक अभिव्यक्ति की।[२] सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस प्रकार की उथल-पुथल छायावाद-युग में भी है, अत विशेष मानसिक क्रियाशीलता से वह जीवन्त है और इसी प्रकार विराट् उथल-पुथल प्रगतिवाद के भी जन्म का कारण है—और विशेष मानसिक क्रियाशीलता से उसे भी पोषक तत्त्व प्रदान किया है। अन्तर इतना अवश्य है कि छायावाद सास्कृतिक उथल-पुथल की

---

१. पन्त : छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ ११४।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३६६।

अभिव्यक्ति है, जब कि प्रगतिवाद राजनीतिक उथल-पुथल की। प्रगतिवाद युग तक आते-आते देश की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पच्चीस-तीस वर्ष पहलेवाला व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया। छायावाद यदि इस सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की। दोनों की प्रकृति में अन्तर होने का यही मूल कारण है।[1]

जिस विशिष्ट वर्ग और विशिष्ट दिशा की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रगतिवाद साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः तत्कालीन समाज में जिन दो विरोधी शक्तियों का बोलबाला था, वे हैं पूँजीवाद और साम्यवाद। पूँजीवाद विनाशोन्मुख है और साम्यवाद विकासोन्मुख। इन दो शक्तियों में से प्रगतिवाद ने साम्यवाद का समर्थन किया और पूँजीवाद का विरोध। साम्यवादी विचारों से प्रभावित हो तत्कालीन समाज ने अपनी निर्धनता और अभाव की पीड़ा को सम्मिलित रूप में महसूस किया, समाज का प्रवृत्तिमुखी जीवन अपनी सर्वप्रमुख आवश्यकता—रोटी और वस्त्र—के अभाव में सम्मिलित रूप से पूँजीवादी शक्ति का शत्रु बन बैठा। रोटी और वस्त्र का भूखा दलित शोषित वर्ग जब संगठित रूप में आन्दोलन-पथ पर उतर आया तो साहित्य-पथ में नये मोड़ का आना अवश्यंभावी हो गया। दलित शोषित वर्ग के मनुष्यों की सहायता करने, उनके पक्ष में आन्दोलन करने, उनकी शक्ति को संगठित करने, उनकी पीड़ा को मुखर करने और उन पर होनेवाले अत्याचार का तीव्र विरोध करने की दिशा में जो साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई, उसे ही प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार प्रगतिवाद ठोस कर्म और प्रवृत्ति की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास है। अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद प्रवृत्ति के उत्थान के युग में प्रगतिवाद का आवश्यक कदम था, संकट-ग्रस्त परिस्थितियों से मानवता के परित्राण की दिशा में दलित शोषित वर्ग के मूक प्रश्नों का साहित्यिक जवाब देना।

प्रगतिवाद की मूल प्रवृत्ति

प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य का प्रचार सन् १९३५ में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' के प्रथम अधिवेशन के पश्चात प्रारम्भ हुआ। भारत देश में इस संस्था की एक शाखा सन् १९३६ में खुली, जिसके लिए डा० मुल्कराज आनन्द और श्री सज्जाद जहीर ने विशेष प्रयास किया था। इस संस्था का 'प्रगतिशील लेखक संघ' के नाम से मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रगतिशील साहित्य सृजन को

१ नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६४।

प्रेरणा का युग की आवश्यकता समझकर स्वीकार किया गया। यही 'प्रगतिशील साहित्य' शब्द प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित हुआ। इस सम्मेलन में प्रेमचन्द जी ने साहित्यकारों से जनता की पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिये अपील की थी, "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"

सन् १९३८ में पन्त जी ने अपनी नव-प्रकाशित-पत्रिका 'रूपाभ' के प्रथम अंक में प्रगतिवाद की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए लिखा, "हमारा समाज अपनी ही रूढ़ि-रीतियों के भार से जर्जर हो रहा है। हमारा उद्देश्य इस इमारत में थूनियाँ लगाने का कदापि नहीं जिसका कि गिरना अवश्यंभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना, जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है। वह नवीन समाज वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों से पुष्टि पाता हुआ असंख्य जनता के कल्याण को ही अपना ध्येय मानता है। यदि हममें सत्य के प्रति वास्तविक उत्साह है तो हम अपने महान् उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते।

लेखकों के इसी महान् उत्तरदायित्व की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द जी ने अपनी 'हंस' नामक पत्रिका में यह घोषणा की थी 'हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता, अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।'

जिस 'प्रगतिशील लेखक संघ' के माध्यम से प्रेमचन्द जी ने न केवल हिन्दी साहित्यकारों, वरन् समस्त भारतीय साहित्यकारों के सम्मुख एक स्वस्थ एवं व्यापक जीवन दृष्टि प्रस्तुत की, उस संघ का मूल स्रोत फ्रांस के 'प्रोग्रेसिव राइटर्स-एसोसिएशन' से आया था, जिसका संचालन वहाँ की साम्यवादी पार्टी द्वारा होता था और जिसका सीधा सम्पर्क रूस से था। अतः इस तथ्य के बावजूद कि प्रेमचन्द जी साम्यवादी न होकर साहित्यवादी थे—हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य धीरे धीरे साम्यवादी विचारों से सम्बद्ध होता गया। ऐसी बात नहीं कि प्रेमचन्द जी की सूक्ष्म दृष्टि प्रगतिवादी साहित्यकारों की एकांगिता को देख नहीं पाई थी। असलियत तो यह है कि प्रारंभ में जब प्रेमचन्द जी ने इस धारा को देखा था तो उन्होंने समझ लिया था कि चीज तो अच्छी है, सही है, पर जो आज इसके रखवाले हैं, वे नादान लगते हैं और इसीलिए उन्होंने इसकी एकांगिता का विरोध किया था। प्रेमचन्द जी ने

अभिव्यक्ति है, जब कि प्रगतिवाद राजनीतिक उथल-पुथल की। प्रगतिवाद युग तक आते-आते देश की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पच्चीस-तीस वर्ष पहलेवाला व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया। छायावाद यदि इस सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उपज था तो प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण की। दोनों की प्रकृति में अन्तर होने का यही मूल कारण है।[1]

जिस विशिष्ट ढग और विशिष्ट दिशा की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रगतिवाद साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः तत्कालीन समाज में जिन दो विरोधी शक्तियों का बोलबाला था, वे हैं पूँजीवाद और साम्यवाद। पूँजीवाद विनाशोन्मुख है और साम्यवाद विकासोन्मुख। इन दो शक्तियों में से प्रगतिवाद ने साम्यवाद का समर्थन किया और पूँजीवाद का विरोध। साम्यवादी विचारों से प्रभावित हो तत्कालीन समाज ने अपनी निर्धनता और अभाव की पीडा को सम्मिलित रूप में महसूस किया, समाज का प्रवृत्तिमुखी जीवन अपनी सर्वप्रमुख आवश्यकता—रोटी और वस्त्र—के अभाव में सम्मिलित रूप से पूँजीवादी शक्ति का शत्रु बन बैठा। रोटी और वस्त्र का भूखा दलित शोषित वर्ग जब सगठित रूप में आन्दोलन-पथ पर उतर आया तो साहित्य-पथ में नये मोड का आना अवश्यभावी हो गया। दलित-शोषित वर्ग के मनुष्यों की सहायता करने, उनके पक्ष मे आन्दोलन करने, उनकी शक्ति को सगठित करने, उनकी पीडा को मुखर करने और उन पर होनेवाले अत्याचार का तीव्र विरोध करने की दिशा में जो साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई, उसे ही प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य की सज्ञा दी गई।

इस प्रकार प्रगतिवाद ठोस कर्म और प्रवृत्ति की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास है। अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद प्रवृत्ति के उत्थान के युग में प्रगतिवाद का आवश्यक कदम था, सकट-ग्रस्त परिस्थितियों से मानवता के परित्राण की दिशा में दलित-शोषित वर्ग के मूक प्रश्नों का साहित्यिक जवाब देना।

प्रगतिवाद की मूल प्रवृत्ति

प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य का प्रचार सन् १९३५ में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' के प्रथम अधिवेशन के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। भारत देश में इस सस्था की एक शाखा सन् १९३६ में खुली, जिसके लिए डा० मुल्कराज आनन्द और श्री सज्जाद जहीर ने विशेष प्रयास किया था। इस सस्था का 'प्रगतिशील लेखक-सघ' के नाम से मुशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रगतिशील साहित्य सृजन की

१ नामवर सिंह . आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६४।

प्रेरणा को युग की आवश्यकता समझकर स्वीकार किया गया। यही 'प्रगतिशील साहित्य' शब्द प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित हुआ। इस सम्मेलन में प्रेमचन्द जी ने साहित्यकारों से जनता की पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिये अपील की थी, "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"

सन् १९३८ में पन्त जी ने अपनी नव-प्रकाशित-पत्रिका 'रूपाभ' के प्रथम अंक में प्रगतिवाद की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए लिखा, "हमारा समाज अपनी ही रूढ़ि-रीतियों के भार से जर्जर हो रहा है। हमारा उद्देश्य इस इमारत में थूनियाँ लगाने का कदापि नहीं जिसका कि गिरना अवश्यभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना, जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है। वह नवीन समाज वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों से पुष्टि पाता हुआ असंख्य जनता के कल्याण को ही अपना ध्येय मानता है। यदि हममें सत्य के प्रति वास्तविक उत्साह है तो हम अपने महान् उत्तरदायित्व की अवहेलना नहीं कर सकते।

लेखकों के इसी महान् उत्तरदायित्व की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द जी ने अपनी 'हंस' नामक पत्रिका में यह घोषणा की थी 'हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता, अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।'

जिस 'प्रगतिशील लेखक संघ' के माध्यम से प्रेमचन्द जी ने न केवल हिन्दी साहित्यकारों, वरन् समस्त भारतीय साहित्यकारों के सम्मुख एक स्वस्थ एवं व्यापक जीवन-दृष्टि प्रस्तुत की, उस संघ का मूल स्रोत फ्रांस के 'प्रोग्रेसिव राइटर्स-एसोसिएशन' से आया था, जिसका संचालन वहाँ की साम्यवादी पार्टी द्वारा होता था और जिसका सीधा सम्पर्क रूस से था। अतः इस तथ्य के बावजूद कि प्रेमचन्द जी साम्यवादी न होकर साहित्यवादी थे—हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य धीरे-धीरे साम्यवादी विचारों से सम्बद्ध होता गया। ऐसी बात नहीं कि प्रेमचन्द जी की सूक्ष्म दृष्टि प्रगतिवादी साहित्यकारों की एकांगिता को देख नहीं पाई थी। असलियत तो यह है कि प्रारंभ में जब प्रेमचन्द जी ने इस धारा को देखा था तो उन्होंने समझ लिया था कि चीज तो अच्छी है, सही है, पर जो आज इसके रखवाले हैं, वे नादान लगते हैं और इसीलिए उन्होंने इसकी एकांगिता का विरोध किया था। प्रेमचन्द जी ने

स्पष्ट कह दिया था कि प्रगति तो सदैव रही है, फिर यह नाम देना उचित नहीं है।[1]

प्रगतिवादी साहित्यकारों की एकांगी दृष्टि के कारण प्रगतिवादी साहित्य-सृजन का दायरा क्रमश सीमित होता गया। प्रेमचन्द की भाँति जो उच्च प्रतिभा वाले असाम्यवादी साहित्यकार थे, वे प्रगतिवाद के खेमे में घुसकर भी अन्त तक प्रगतिवादी नहीं बने रह सके। वे अन्त में उस खेमे से बाहर निकल कर साहित्य-सृजन करते रहे, पन्त, निराला, अचल, बच्चन, दिनकर और नरेन्द्र शर्मा का नाम ऐसे साहित्यकारो में प्रमुख है। कहना न होगा कि प्रगतिवाद के घेरे से उच्च प्रतिभाओं के निकल जाने के कारण वह घेरा सीमित और कमजोर पड गया।

जिस प्रकार गांधीवादी जीवन-दृष्टि मानव-जीवन के लिए अधूरी प्रतीत हुई, उसी प्रकार साम्यवादी जीवन-दृष्टि भी जीवन के लिए एकांगी थी, परन्तु दोनों का अपना स्थायी मूल्य भी है, इस बात से इनकार नही किया जा सकता। साम्यवाद की भौतिक दृष्टि चाहे एकागी हो, परन्तु मूलवर्तिनी मानव-कल्याण और पारस्परिक सहानुभूति की जो भावना है, उसने भारतीय परिवेश में अवतरित हो साहित्यिक अभिव्यक्ति को जो दृष्टि प्रदान की, उसके महत्त्व से भी इनकार नही किया जा सकता। जिस राजनीतिक वातावरण में देश साँस ले रहा था, देश में जो उथल-पुथल व्याप्त थी, पीडितो-दलितो एव उनके साथ-साथ सभी वर्गों के प्रति साम्राज्यवाद का अत्याचार उग्र रूप धारण कर चला था, उसकी अभिव्यक्ति में साम्यवादी एकागी दृष्टि ने देश का कम उपकार नही किया। प्रवृत्ति-दर्शन के प्रवर्तकों ने देश में चेतना की जो लहर फैलाने का प्रयास किया था, जीवन के प्रति जन-जन की दृष्टि उन्मुख करनी चाही थी, जन-जन के हृदय में गरीबी के प्रति ग्लानि की भावना भरने की चेष्टा करनी चाही थी, अन्य देशो के लिए न सही, भारत देश के लिए दर्शन नही रोटी की आवश्यकता पर बल देने की दिशा में क्रान्ति करनी चाही थी, कहने का तात्पर्य कि जीवन को सँवारने की दिशा मे प्रबल अभियान शुरू किया था, उसमें मार्क्सवादी भौतिक दृष्टि ने नि सन्देह योगदान किया था और मार्क्सवादी साहित्यिक अभिव्यक्ति वाले प्रगतिवादी साहित्य ने राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ विकसित होकर सोते हुए मनुष्यो में युग-चेतना फूंककर और शोपण का पर्दाफाश कर प्रवृत्ति के उत्थान में अमूल्य योगदान दिया था।

प्रगतिवादी साहित्य के, अपनी कमियो के बावजूद जीवित ... के दो कारण हैं। प्रथम है इतिहास ... आवश्यकता, जो ... ही मनुष्यो से अपना काम ... दूसरा यह है।

---

1. डा० रांगेय ... , पृष्ठ ७

ने जन-जीवन से प्रेरणा लेने की चेष्टा की है और निरन्तर लेता जा रहा है।[1] इस आधार पर प्रगतिवादी साहित्य की मूल प्रवृत्ति जीवन-आस्था को माना जा सकता है।

प्रगतिवाद जीवन के प्रति आस्था व्यक्त करने के समष्टिगत रीति पर विश्वास करता है, व्यक्तिगत रीति पर नहीं। व्यक्ति के सुख-दुःख पर प्रगतिवादी साहित्यकार पीड़ा का अनुभव नहीं करता, उसे तो समाज की पीड़ा से कष्ट की अनुभूति होती है। उसे अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न मिथ्या प्रतीत होता है और एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक लगता है। जीवनगत मूल्यों को प्रगतिवादी साहित्यकार ने जन-हित में देखा, जन-हित से अलग नहीं।[2] 'स्व' की चिन्ता करना उसकी दृष्टि में आत्महनन से भिन्न नहीं है—

केवल स्व की चिन्ता करना
निश्चय आत्महनन करना है।[3]

परन्तु जिस सामाजिक जीवन के प्रति प्रगतिवादी साहित्य में आस्था व्यक्त हुई है, वह सम्पूर्ण समाज नहीं है, सम्पूर्ण मनुष्यता उसके अन्तर्गत नहीं आती। उसके अन्तर्गत समाज का केवल वह अंश आता है, जो दलित और शोषित है। दलित और शोषित वर्ग केवल किसान और मजदूर तक ही सीमित था, अतः प्रगतिवादी कवियों ने दलित-शोषित मानव-समाज के प्रति अपने हृदय की समस्त सहानुभूति अर्पित कर दी है, उसी समाज के उत्थान के प्रति कवि अपने हृदय की आकांक्षा व्यक्त करता है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज का सबसे अधिक उपेक्षित और दयनीय पक्ष यही वर्ग है, अतः कवियों ने किसानों-मजदूरों की अभ्यर्थना करके एक प्रकार से समाज की—मानव-समाज की ही अभ्यर्थना की है। कवि किसान के हृदय में दृढ़ आस्था की स्थापना करता हुआ उसे नवयुग का वाहक मानता है और कवि की दृष्टि किसान को गेहूँ-चना नहीं, खूनी अंगारे बोते हुए देखती है—

मेरे खेत में हल चलता है,
मैं युग की निद्रा खोता हूँ,
गेहूँ चना नहीं बोता हूँ,
खूनी अंगारे बोता हूँ।[4]

प्रगतिशील साहित्य ने जिस मानवतावाद को स्वर दिया है, वह परम्परागत

---

१. डा० रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदंड, पृष्ठ १८।
२. डा० नगेन्द्र : आ० हि० कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १०१।
३. त्रिलोचन शास्त्री : धरती, पृष्ठ १०६।
४. केदारनाथ अग्रवाल : युग की गंगा, पृष्ठ ५४।

मानवतावादी विचारधारा से भिन्न है। प्रगतिशील आलोचक की दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य में मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था। किन्तु नया मानवतावाद मनुष्य के विकास का सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण कर चुका है और वह उन सब वस्तुओं को स्वीकार नहीं करता, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य समाज और विशेषकर शोषित वर्ग को दबाये रखने के साधन हैं। प्रगतिशील साहित्य 'सत्य' का अवलम्बन लेता है और सत्य एक ही है, अर्थात् समाज का सच्चा चित्रण, तो वह सब वर्गों के हित की बात नहीं करता, वह शोषित वर्गों का हिमायती है, शोषक वर्गों का नहीं।[1] प्रगतिवादी कवि मानवतावादी भावना से प्रेरित है, इसलिए वह पराये मनुष्य के पैर में काँटा चुभते देख पीड़ा का अनुभव करता है, पर उसका मानवतावाद शोषक-वर्ग को क्षमा नहीं कर पाता—

सत्य कहता हूँ, पराये पैर का काँटा कसकता,
भूल से चींटी कहीं दब जाय तो भी हाय करता।
पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है,
कोटि-कोटि बुभुक्षितों का कौर तक छिनवा लिया है।
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी,
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।[2]

जीवन के प्रति अटूट आस्था की भावना ने प्रगतिवादी कवियों को स... लक्ष्य के प्रति जागरूक बनाया। उनके काव्य की भाषा निष्क्रियता नहीं... है। वे उन्हीं लोगों की अभ्यर्थना करते हैं, जिनके स्वर में जन-... वाला जीवन का स्वर है—

जिनका स्वर जीवन का स्वर है जन-जन को ...
जन-जन की चेतना जगाकर जग-जीवन समझाने
जीवन का प्रताप जिनके प्रत्येक कार्य से
मैं समर्व सोल्लास निरन्तर उन लोगों के गुण

जो शक्तियाँ जीवन में अवरोध उत्पन्न करती हैं, उन्हें ... और सामाजिक स्वातन्त्र्य-साम्य को स्पष्ट करना होगा, कवि... कर जन-जन की शक्ति जगाने का आकांक्षी है—

जो बाँध रहे गति जीवन की कर उन्हें
तुम सामाजिक स्वातन्त्र्य-साम्य को रो...

१. डा० रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के म...
२. सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ६।

होवें स्वतन्त्र नारी-नर
हो सामंजस्य अभ्यन्तर
मैं गान विजय के गाऊँ—
जन-जन की शक्ति जगाऊँ।[१]

सुमन जी मानव-जीवन को स्वर्ग बनाना चाहते हैं—स्वर्ग-सुख को धरती पर लाने के लिए वे मनुष्य के पौरुष को ललकारते हैं—

विप्लव - गायन गाना होगा
सुख स्वर्ग यहाँ लाना होगा
अपने ही पौरुष के बल पर, जर्जर जीवन के क्रन्दन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो।[२]

कवि की आकांक्षा है जन-जीवन में बसन्त की बहार लाने की, परन्तु जब तक मानवता पीड़ित है, तब तक बसन्त का आगमन बसन्त की बहार नहीं ला सकता। बसन्त की असली बहार तब आएगी, जब मानवता की पीड़ा दूर होगी, जब यह धरती अपनी होगी—

युग युग से पीड़ित मानवता,
सुख की साँसें भरती होगी,
जब अपने होंगे वन - उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूँगा आया बसन्त।[१]

कवि की जीवन-आस्था रूढ़ि-रीतियों से टक्कर लेती है और पलायन की भारी चट्टानों को सीने की टक्कर से तोड़ डालने में विश्वास करती है। कवि का युग-पंथी कंटकाकीर्ण राह को रौंदते हुए अडिग चरण धर चलता जा रहा है—

नव युग पन्थी
चले जा रहे हो तुम कैसे
अडिग चरण धर
राह कंटकाकीर्ण रौंदते
जर्जर पदतल, मुट्ठी बाँधे
अधरों में मुस्कान, दृगों में आँसू साधे,
नद-निर्झर की धार मोड़ते
रूढ़ि-रीति-गत भीति, पलायन की भारी-भारी चट्टानें

१. त्रिलोचन शास्त्री, धरती, पृष्ठ ७।
२. सुमन : जीवन के गान, पृष्ठ ८३।

मानवतावादी विचारधारा से भिन्न है। प्रगतिशील आलोचक की दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य में मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियो में विकास है। अभी तक समाज में मानवतावाद वर्गों के समन्वयवाद में समाप्त हो जाता था। किन्तु नया मानवतावाद मनुष्य के विकास का सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण कर चुका है और वह उन सब वस्तुओ को स्वीकार नही करता, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य समाज और विशेषकर शोषित वर्ग को दबाये रखने के साधन हैं। प्रगतिशील साहित्य 'सत्य' का अवलम्बन लेता है और सत्य एक ही है, अर्थात् समाज का सच्चा चित्रण, तो वह सब वर्गों के हित की बात नही करता, वह शोषित वर्गों का हिमायती है, शोषक वर्गों का नही।[1] प्रगतिवादी कवि मानवतावादी भावना से प्रेरित है, इसलिए वह पराये मनुष्य के पैर में कॉटा चुभते देख पीडा का अनुभव करता है, पर उसका मानवतावाद शोषक-वर्ग को क्षमा नही कर पाता—

सत्य कहता हूँ, पराये पैर का कॉटा कसकता,
भूल से चीटी कही दब जाय तो भी हाय करता।
पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है,
कोटि-कोटि बुभुक्षितो का कौर तक छिनवा लिया है।
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी,
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।[2]

जीवन के प्रति अटूट आस्था की भावना ने प्रगतिवादी कवियो को सामाजिक लक्ष्य के प्रति जागरूक बनाया। उनके काव्य की भाषा निष्क्रियता नही, सक्रियता है। वे उन्ही लोगो की अभ्यर्थना करते हैं, जिनके स्वर में जन-जन को हर्षाने-वाला जीवन का स्वर है—

जिनका स्वर जीवन का स्वर है जन-जन को हर्षानेवाला
जन-जन की चेतना जगाकर जग-जीवन समझाने वाला,
जीवन का प्रताप जिनके प्रत्येक कार्य से सदीपित है,
मैं सगर्व सोल्लास निरन्तर उन लोगों के गुण गाता हूँ।[3]

जो शक्तियाँ जीवन में अवरोध उत्पन्न करती हैं, उन्हें नष्ट करना ही होगा और सामाजिक स्वातन्त्र्य साम्य को स्पष्ट करना होगा, कवि इसी आस्था को ग्रहण कर जन-जन की शक्ति जगाने का आकांक्षी है—

जो बाँध रहे गति जीवन की कर उन्हें नष्ट
तुम सामाजिक स्वातन्त्र्य-साम्य को करो स्पष्ट

---

१. डा० रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृष्ठ १८।
२. सुमन . विश्वास बढता ही गया, पृष्ठ ६।
३. त्रिलोचन शास्त्री : धरती, पृष्ठ ६१।

होवें स्वतन्त्र नारी-नर
हो सामजस्य अमलतर
मैं गान विजय के गाऊँ—
जन-जन की शक्ति जगाऊँ ।[1]

सुमन जी मानव-जीवन को स्वर्ग बनाना चाहते हैं—स्वर्ग-सुख को धरती पर लाने के लिए वे मनुष्य के पौरुष को ललकारते हैं—

विप्लव - गायन गाना होगा
सुख स्वर्ग यहाँ लाना होगा
अपने ही पौरुष के बल पर, जर्जर जीवन के क्रन्दन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो ।[2]

कवि की आकांक्षा है जन-जीवन में बसन्त की बहार लाने की, परन्तु जब तक मानवता पीड़ित है, तब तक बसन्त का आगमन बसन्त की बहार नहीं ला सकता । बसन्त की असली बहार तब आएगी, जब मानवता की पीड़ा दूर होगी, जब यह धरती अपनी होगी—

युग युग से पीड़ित मानवता,
सुख की साँसें भरती होगी,
जब अपने होंगे वन - उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूँगा आया बसन्त ।[3]

कवि की जीवन-आस्था रूढ़ि-रीतियों से टक्कर लेती है और पलायन की भारी चट्टानों को सीने की टक्कर से तोड़ डालने में विश्वास करती है । कवि का युग-पंथी कटकाकीर्ण राह को रौंदते हुए अडिग चरण धर चलता जा रहा है—

नव युग पन्थी
चले जा रहे हो तुम कैसे
अडिग चरण धर
राह कटकाकीर्ण रौंदते
जर्जर पदतल, मुट्ठी बाँधे
अधरों में मुस्कान, दृगों में आँसू साधे,
नद-निर्झर की धार मोड़ते
रूढ़ि-रीति-गत भीति, पलायन की भारी-भारी चट्टानें

1. त्रिलोचन शास्त्री, धरती, पृष्ठ ७ ।
2. सुमन : जीवन के गान, पृष्ठ ८३ ।
3. वही, पृष्ठ ८३ ।

सोने की टक्कर से प्रतिपल मौन तोड़ते ।[1]

अन्त में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रगतिशील साहित्य वर्ग-संघर्ष को मानकर, मनुष्य के सर्वाङ्गीण चित्र को प्रस्तुत करनेवाला नया मानवतावाद है, जो समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करके पुरानी श्रेष्ठ विरासत को अपने भीतर लाता हुआ वर्गहीन समाज बनाता है और मनुष्य को रूढ़ियों से मुक्त करके ज्ञान की ओर ले जाता है और व्यक्ति और समाज के बीच के उन समस्त व्यवधानों को तोड़ देता, है, जो उन्हें विकास में एकत्रित होने से रोकते हैं और इसीलिए वह हवा के नहीं, बल्कि जगत् और शोषित समाज के समीप आता है और कठोर संघर्षों में से जीवन की शक्ति ग्रहण करता है।[2]

मार्क्स दर्शन का प्रभाव

आधुनिक युग के साहित्य में प्रारम्भ से ही किसी-न किसी दार्शनिक विचारक अथवा चिन्तक का प्रभाव देखा जाता है। वस्तुतः १९वीं शताब्दी के पुनरुद्धार-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप परवश और परतन्त्र बुद्धि को स्वतन्त्रता मिली थी और मध्यकालीन निवृत्ति-चिन्तन का कुहरा बड़ी सफाई से छँटने लगा था। स्वतन्त्र बुद्धि ज्यों-ज्यों नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश करती गई, त्यों-त्यों प्रवृत्ति-चिन्तन को विकास और विस्तार मिलता गया और यह स्वाभाविक था कि साहित्य की धारा उस चिन्तन-धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रही। प्रगतिवादी साहित्य-सृजन के प्रयासों के पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और श्री अरविन्द की चिन्तन-धारा की स्पष्ट छाप भारतीय हिन्दी काव्य-धारा पर अंकित है, जिसका निर्देश पिछले पृष्ठों में यथा-स्थान किया जा चुका है।

जब देश के महान् राजनीतिज्ञ, महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्य और अहिंसा के बल पर अंग्रेजों की अधीनता से मुक्ति पाने की दिशा में कार्यरत थे, देश के लोक-विचारक वर्ग-संघर्षों के अन्त और न्याय तथा जनतन्त्र के आधार पर एक नये शोषण-मुक्त समाज की स्थापना को सम्भव बनाने के स्वप्न देख रहे थे। गांधी दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार स्वतन्त्र भारत के भावी समाज की रूपरेखा स्पष्ट नहीं हो पायी थी। इसी समय देश के लोक-नेता विचारक मार्क्स द्वारा प्रवर्तित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन की ओर आकृष्ट हुए, जिसके आधार पर रूस में पूँजीवाद का अन्त करके एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना की गई थी। इन्हीं दिनों देश में कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक गुलामी से मुक्ति पाने के लक्ष्य के साथ-साथ भारतीय सामंतवाद के अवशिष्ट चिह्नों –

---

१. सुमन . विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ १९।

२. डा० रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृष्ठ ३४६।

से किसानों को और भारतीय पूँजीवाद से मजदूरों को मुक्त करके एक शोषण-रहित समाजवादी जनतन्त्र का लक्ष्य जनता के सामने रखा।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के अनुसार जीवन एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता है, जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे तथा विनाशोन्मुख शक्तियों का जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये व्यर्थ ही छटपटाकर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे। इस प्रकार जगत् का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है। इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था समाज है और उसका आधार मुख्य रूप से अर्थ है।[1]

जिन दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष प्रगतिवादियों को जीवन के मूल में मिला, वे हैं पूँजीवाद और साम्यवाद। इन कवियों ने साम्यवाद का सर्वत्र समर्थन किया, इसलिए प्रगतिवादी साहित्य एक प्रकार से साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हुआ। देश के इन दोनों दलों में इतनी विचार-विषमता थी कि दोनों में से एक के विनाश के बिना दूसरे का उत्थान असम्भव हो गया। एक ने कहा कि दुनिया जल्दी बदले, परन्तु दूसरे ने कहा कि दुनिया कभी न बदले। न बदलनेवाले अकेले पड़ गये और बदलनेवालों का पक्ष पूरे हिन्दुस्तान ने लिया। कवि केदारनाथ अग्रवाल कहते हैं—

रनिया कहती है जग बदले
जल्दी बदले, जल्दी बदले,
मैं कहता हूँ, कभी न बदले,
कभी न बदले, कभी न बदले।
किन्तु आज मेरे विरोध में,
पूरा हिन्दुस्तान खड़ा है।
अब रनिया के दिन आये हैं,
जग उसके माफिक बदला है।[2]

धरती सदा जोतनेवाले के परिश्रम पर ही सोना उगलती है, अतः उस धरती पर जोतनेवाले का ही अधिकार होना चाहिए। कवि नागार्जुन की दृष्टि में किसानों की स्थिति एक-न-एक दिन अवश्य बदलेगी—

सुजला सुफला शस्य श्यामला माता के गुण गायेंगे।
पानी की खातिर पौधों को कभी नहीं तरसायेंगे।

---

१. डा० नगेन्द्र : आ० हि० कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १००।
२. केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृष्ठ ४०।

बच्चो जैसी फसलो पर निशि दिन सनेह बरसायेंगे।
नाहक सिर पर कोटि-कोटि का कर्जा नही चढ़ायेंगे।[1]

कवि त्रिलोचन शास्त्री ने भी अपनी कविताओ में वर्ग-संघर्ष की कटुता को व्यक्त किया है। अब तक जो होता आया है, उसमें जन सम्मान की भावना नहीं है, उसमें मानव के हृदय में मानव के सुख-दुःख का ध्यान नही है, अत उसमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है—

तुम परिवर्तन की गति समझो
तुम परिवर्तन को पहचानो,
तुम परिवर्तन को अपनाकर
विश्व बना लो अपने मन का।[2]

उस परिवर्तन का स्वरूप यह होगा कि अब तक जो धरती पर अपमानित जीवन व्यतीत करते थे, वे अत्याचार का क्षय कर जीवन का अमृत भोगेंगे—

विपुल शक्तियो के निधान तुम
अपमानित जीते धरती पर
अपनी शक्ति-प्रकाश दिखा दो
क्षय कर अत्याचार अनय का
श्रमिक, कृषक भोगो वह अमृत
जो फल है जीवन-मन्थन का।[3]

कवि रांगेय राघव का भी विश्वास है कि जब तक मिथ्या अर्थात् शोषण, दासत्व और प्रलय से मानव मुक्त नहीं होगा, तब तक उसका नवविकास नहीं हो सकता—

ले देख, ध्वंस के द्वार गये, पथी! मिथ्या का सर्वनाश
शोषण, दासत्व, प्रलय से उठ, होता मानव का नव-विकास।[4]

मार्क्स दर्शन के अनुसार भौतिक जीवन की प्रमुख सस्था समाज है, इसलिए इस दर्शन से प्रभावित प्रगतिवाद साहित्य को वैयक्तिक नही, वरन् सामाजिक चेतना मानता है। छायावादी साहित्य में जो वैयक्तिक अभिव्यक्ति की व्यजना मिलती है, उसका समाजीकरण प्रगतिवादी साहित्य में दिखाई देता है। इस प्रकार से प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अह का समाजीकरण व्यक्ति-चेतना का समष्टि-चेतना में विलय है। त्रिलोचन शास्त्री मनुष्य को समाज की एक शक्ति मानते

---

१. नागार्जुन प्रेत का बयान, पृष्ठ १।
२ त्रिलोचन शास्त्री, धरती, पृष्ठ ४।
३. त्रिलोचन शास्त्री, धरती, पृष्ठ ५।
४ डा० रांगेय राघव पिघलते पत्थर, पृष्ठ ६।

हैं जो निश्चय ही समाज-जीवन का प्रतीक है—

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
उसकी ललकारों में से ललकार एक हो
उसकी अमित भुजाओं में दो भुजा तुम्हारी
चरणों में दो चरण तुम्हारे
आँखों में दो आँख तुम्हारी
तो निश्चय समाज-जीवन के तुम प्रतीक हो
निश्चय ही जीवन चिर-जीवन ।[1]

समष्टिगत जीवन का मोल-तोल करनेवाला कवि व्यक्तिगत जीवन का मोल-तोल नहीं कर पाता—

जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता ।[2]

केदारनाथ अग्रवाल की समष्टिगत दृष्टि भरी-भरी धूप में सब दिशाओं को, समस्त सृष्टि को हँसते हुए देखती है—

हँसी सब दिशाएँ
हँसे लहलहाते
हरे खेत सारे
हँसी चमचमाती
भरी धूप प्यारी
बसंती हवा में
हँसी सृष्टि सारी ।[3]

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज में ही रहकर वह भाषा सीखता है, इसलिए मार्क्स-दर्शन से प्रभावित प्रगतिवादी कवि-समाज के लिए ही साहित्य का सृजन करता है । प्रगतिशील विचारक उन सब विचारधाराओं को गलत मानता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं ।

---

१. त्रिलोचन शास्त्री : धरती, पृष्ठ ७८-७९ ।
२. त्रिलोचन शास्त्री, धरती पृष्ठ ४९ ।
३. केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृष्ठ १५ ।

व्यक्ति की उन विचारधाराओं को वह ठीक नहीं समझता, जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती है और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती है। राजनीति में वह वर्गहीन, शोषणहीन संसार बनाना चाहता है तो इसका अर्थ यही है कि वह मनुष्य की उस कल्पना को साकार करना चाहता है जो इस संसार को एक सुखी सम्पन्न कुटुम्ब-कबीला बनाना चाहती आई है।[1] प्रगतिवादी कवि साम्य के सम्मिलित स्वर के द्वारा जन-जन को ममता देकर, जन-जन को नव-बल प्रदान कर सम्पूर्ण जन-समाज को आगे बढ़ता हुआ देखना चाहता है—

जन-समाज आगे बढ़ता है
नई सृष्टि की धुन लेकर
बढ़ने का साहस लेकर
और विजय की धृति लेकर
सबने आज मिला स्वर अपना गीत साम्य का गाया है।
अब तो जन-जन के मन-मन में अपना गौरव-छाया है।[2]

मनुष्य समानता की भावना को अपनाकर ही पूर्णतः जीवित, पूर्णतः चेतन और पूर्णतः उत्तरदायित्वपूर्ण हो सकेगा—

क्या मनुष्य उस समानता को अंगीकार कर
पूर्ण चेतन, पूर्ण जीवित, उत्तरदायित्वपूर्ण
कभी हो सकेगा इस विश्व के समान प्रिय
सभी के लिये नितान्त आवश्यक ?[3]

प्रवृत्ति-दर्शन की अभिव्यक्ति

मार्क्स का साम्य-दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है, कर्ममूलक दर्शन है, अतः साम्य-दर्शन की साहित्यिक अभिव्यक्ति जिस प्रगतिवादी काव्य में हुई है, उसमें भी कर्ममूलक प्रवृत्ति की अभिव्यंजना है। प्रगतिवादी काव्य में प्रवृत्ति दर्शन की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है। वर्ग संघर्ष की साम्यवादी विचारधारा के सन्दर्भ में प्रगतिवादी कवि ने जिस जीवन का चित्रण किया, उसमें कर्म की प्रमुखता है, जिस भौतिक जगत् को उसने महत्त्व दिया, उसको सुख-समृद्धि को अपने काव्य का विषय बनाया। प्रगतिवादी साहित्य नैराश्य, अनास्था और आत्म-पीड़न से नहीं, विश्वास, संकल्प और आशा से मुखरित मुसकराते हुए नवजीवन से अनुप्राणित है।

प्रगतिवादी साहित्य अपने संपूर्ण रूप में जीवन का साहित्य है, जीवन को

---

१. डा० रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृष्ठ २०।
२. त्रिलोचन शास्त्री धरती, पृष्ठ १२।
३. वही, पृष्ठ १०७।

[वा]स्तविकता का साहित्य है, जीवन के यथार्थ की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। प्रगति-[वा]दी कवि की दृष्टि में साहित्य-सृजन का मूल उद्देश्य है जन-साहित्य में जीवन के [प्र]ति ऐसी प्रवृत्तिमूलक दृष्टि उत्पन्न करना, जिससे वह जीवन को जागरूक बनाकर [उ]से समुचित सुख-सुविधापूर्ण भौतिक सुखों से समृद्ध कर सके। प्रगतिवादी कवि ने [त]त्कालीन जीवन को भेदकर ऐसी दृष्टि अर्जित की है कि वह अपने आस-पास के [ज]न-जीवन के दुःख की भाषा समझ लेता है, पराधीनता के बन्धन में छटपटाते हुए देश की पुकार को सुन सकता है और इसीलिए वह जीवन के आर्तनाद को मुखरित करने वाली ओजपूर्ण क्रान्ति की भाषा में अन्याय और अत्याचार का विरोध कर पाता है। किसी भी कवि के प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होने की सबसे बड़ी पहचान यही है कि वह अपने इर्द-गिर्द के जीवन के प्रति कितना सजग और जागरूक है। यदि वह दयनीय से दयनीय परिस्थिति में भी आशा और जीवन-आस्था का सम्बल नहीं छोड़ता तो वह निश्चय ही प्रवृत्ति का उपासक है। कहना न होगा कि प्रगतिवादी कवियों ने जीवन के समुचित विकास और उत्कर्ष को ध्यान में रख कर अपना सारा साहित्य-सृजन किया है और प्रवृत्ति के उत्थान में योग दिया है। प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में जीवन ही प्रमुख है, साहित्य नहीं, साहित्य मात्र उसकी प्रक्रिया है, इसी कारण उसने साहित्य का प्रयोग जीवन के उत्थान के लिए अस्त्र की भाँति किया है। उसके अनुसार जीवन-निरूपण और उसके मार्ग को प्रशस्त करना ही साहित्य का धर्म है, सार्वजनीन जीवन की प्राप्ति और उसकी अभि-व्यक्ति ही सच्चे और उत्तम काव्य-साहित्य का गुण है। इसलिए साहित्य तलवार है, ललकार है और जीवन के विकास तथा अभिव्यक्ति का परम उपयोगी अस्त्र है और इसीलिए वह वर्तमान गतिरोध को तोड़ने में सक्षम है।[1]

योरोप में उन्नीसवीं सदी में ही मार्क्सवादी की धूम मच गई थी, परन्तु भारत देश में साम्यवादी विचारों का आगमन भारत की भावी रूप-रेखा तैयार करते समय सन् १९३४ के लगभग हुआ और कांग्रेस के प्रस्तावों में निरन्तर देश के श्रमजीवी जन समूह की चर्चा होने लगी, किसान-मजदूर संगठन भी खूब सशक्त हो गये थे। ऐसे राजनीतिक जागरण के युग में प्रगतिवादी कवियों ने प्रारम्भ से ही देश की भौतिक आवश्यकताओं पर बल देकर मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म करने एवं वर्गहीन समाज की प्रेरणा का रूप अपनी रचनाओं को देना प्रारम्भ किया। जब देश अहिंसा के मार्ग पर चलकर गाँधी जी के निर्देशन में स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयासों में व्यस्त था, प्रगतिवादी कवि क्रान्ति के स्वरों में बलिदानियों को सही मार्ग निर्देशन देते रहे—

कुछ मस्तक कम पड़ते होंगे
जब महाकाल की माला में

१. केदारनाथ अग्रवाल : साहित्य के मान (हंस, अक्टूबर, १९४७, पृष्ठ २०३)।

माँ माँग रही होगी आहुति
जब स्वतन्त्रता की ज्वाला में
पल भर भी पड़ असमंजस में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं।[१]

उन्होंने देशवासियों को सदैव स्वतन्त्रता की आहुति में प्राणों की बलि की ओर प्रेरित किया—देशवासियों का बलिदान व्यर्थ नहीं गया, उसका पुरस्कार मिला, चिर-प्रतीक्षित स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई, परन्तु स्वतन्त्रता के प्रकाश में प्रगतिवादी कवियों ने जो स्वतन्त्र देश का स्वरूप देखा तो उनके सारे सपनों पर पानी फिर गया। उनके संवेदनशील हृदय ने अनुभव किया कि उनके सपनों को साकार करने वाली स्वतन्त्रता का आगमन अभी नहीं हुआ है, उसका आगमन होना अभी शेष है। उन्होंने देखा कि समाज की वर्ग-विषमता ज्यों की त्यों है, स्वतन्त्रता की वास्तविक प्राप्ति पूरे देश को नहीं, वरन् कुछ मुट्ठी-भर लोगों को ही हुई है—

घर-बाहर भर गया तुम्हारा
रत्ती भर भी हुआ नहीं उपकार हमारा,
व्यर्थ हुई साधना, त्याग कुछ काम न आया
कुछ ही लोगों ने स्वतन्त्रता का फल पाया।[२]

और तब कवि ने—कवि के संवेदनशील हृदय ने—असंख्य दलितों और पीड़ितों की आवाज में प्रश्नों के ढेर लगा दिये—

इसीलिये क्या हमने तुमको इन दुर्बल कंधों पर ढोया ?
इसीलिए क्या हमने तुमको रंग-बिरंगी वे मालाएं पहनाई थीं ?
इसीलिए क्या परम पवित्र तिरंगा झंडा तुमको हमने दिया थामने ?
इसीलिए क्या तुमको हमने अपने आगे खड़ा किया था ?[३]

कहने का तात्पर्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश की शोषित और मर्दित जनता सबल वेग से उठ खड़ी हुई और अपने जीवनाधिकारों की सही माँग लेकर सामने आई। इस जनता ने केवल सामाजिक समता की ही माँग नहीं की, उसने देश के शोषण-केन्द्रों के रूप में चलनेवाली समस्त मिलों, कारखानों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर उन पर सार्वजनिक हित की रक्षा के लिये पूर्ण अधिकार की माँग की, उसने पूंजीवादियों, जमींदारों, धर्माधिकारियों आदि के शासन-सत्ता के एकाधिकार का पूर्ण विरोध किया। वास्तव में जनता यह अच्छी तरह समझ गई कि श्रमिक और किसान ही उत्पादन करते हैं और उन्हीं के उत्पादन पर समाज और राजनीति का

१. सुमन, जीवन के गान, पृष्ठ ४०।
२ नागार्जुन, स्वदेश ही शासक (हंस, अक्टूबर, १९५०, पृष्ठ १५)
३ वही, पृष्ठ १५।

निर्माण होता है, अतः उसने अपने नेतृत्व में वर्गहीन समाज की अवतारणा की दिशा में क्रान्ति शुरू की। देश की नवीन राष्ट्रीय जागृति और साम्राज्य-विरोधी मोर्चे ने प्रगतिवादी कवियों से जीवन की वास्तविक प्रगति के साहित्य की मांग की, यथार्थ-चित्रित ऐसे सबल साहित्य की मांग की, जिसमें कवियों की लेखनी भौतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्यरत और कर्त्तव्यरत हो। प्रगतिवादी कवियों ने देश की सामयिक पुकार से प्रभावित हो अपनी जीवन-सिद्धि और साहित्यिक सफलता जीवन की प्राप्ति और उसके निरूपण में समझी और अपने साहित्य में उसी को वाणी प्रदान की। इसी कारण प्रगति साहित्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जीवन का सबल और सक्षम साहित्य है।[1]

सुमन जी की दृष्टि में सच्चे कलाकार का काम मनुष्य के सामाजिक सबधों में कोमलता, एकात्मकता तथा सवेदनशीलता उत्पन्न कर समाज को नया जीवन प्रदान करना है—पुरातन में शरण लेने के लिए नही वरन् नवीन को प्रस्फुटित करने के लिए।[2] उन्होने इसी 'नवीन' की उद्भावना के लिए सामाजिक चेतना को सगठित करने का प्रयास किया। प्रवृत्ति-चिन्तन ने कवि की सामाजिक चेतना को सगठित करने के लिए कर्म-पथ में भी आस्था की ओर मोड़ा है। मनुष्य-जीवन की सफलता इसी में है कि वह जीवन की विफलताओं में पथ-भ्रष्ट न हो, वह कर्त्तव्य-मार्ग पर अडिग रहे—

जब कठिन कर्म पगडडी पर
राही का मन उन्मुख होगा
जब सब सपने मिट जाएँगे
कर्त्तव्य-मार्ग सम्मुख होगा
तब अपनी प्रथम विफलता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं।[3]

केदारनाथ अग्रवाल की दृष्टि में तेज धार के कर्मठ पानी से प्रेरणा लेकर मनुष्य कर्मशील बन करके जीवन की कठोर चट्टानों को तोड़-फोड़ सकता है—

तेज धार का कमठ पानी
चट्टानों के ऊपर चढ़कर

१. केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य के गान (हस, अक्टूबर, १९४७, पृष्ठ १९८-२०३)।
२ सुमन, जीवन के गान, पृष्ठ ११।
३. वही-पृष्ठ ३९।

मार रहा है घूंसे कसकर
तोड़ रहा है तट-चट्टानी ।[१]

कवि श्रम में विश्वास करता है, मनुष्य अपनी लौह-शक्ति का उपयोग क्यों न करे—

अपने हाथों पर्वत काटो
पथ की नदियाँ खींच निकालो,
जीवन पीकर प्यास बुझा लो ।[२]

उन्होंने 'कर्म में अपनी आस्था व्यक्त की है—

हमें सहस्र सूर्य का विधान चाहिए ।
हमें महान् कर्म का प्रमाण चाहिए ।[३]

कवि त्रिलोचन शास्त्री कर्म पथ से अलग रहकर विजय की आकांक्षा नहीं करते—

अलग होकर कर्म-पथ से
प्रिय, विजय का नाम मत लो ।[४]

कवि मानव-समाज को कर्म-निष्ठ, ध्येय-निष्ठ और धैर्य-निष्ठ बनने का सन्देश देकर जन-जन की शक्ति जगाता है—

तुम महाप्राण संगठित शक्ति
तुम जग-जीवन की अभिव्यक्ति
तुम कर्म-निष्ठ
तुम ध्येय-निष्ठ
तुम धैर्य-निष्ठ ।[५]

नागार्जुन की दृष्टि सहनशीला अन्नपूर्णा वसुन्धरा को स्तुति नहीं, वरन् कठोर श्रम माँगते हुए देखती है—

सर्व सहनशीला, अन्नपूर्णा, वसुन्धरा
स्तुति नहीं, श्रम-कठोर श्रम माँगती ।[६]

---

१. केदारनाथ अग्रवाल, जीवन-दृश्य [हंस, अक्टूबर १९५०, पृष्ठ ११ ।
२. केदारनाथ अग्रवाल, ऐ इन्सानो ! ओस न चाटो [हंस, फरवरी १९५११ पृष्ठ ११]
३. केदारनाथ अग्रवाल, केदार के बोल [हंस, अक्टूबर १९५०, पृष्ठ ७०]
४. त्रिलोचन, धरती, पृष्ठ ९१ ।
५. वही-पृष्ठ ६ ।
६. नागार्जुन, धरती, पृष्ठ ९४ ।

डा० रांगेय राघव भी जय को यही सन्देश देते हैं कि श्रम के बल पर ही यह विश्व सुख-स्थान सिद्ध हो सकता है—

घुमड़ती आँधी होती दूर
और मैं हँसता हूँ सविलास
एक दिन मानव का श्रम श्वास
मिटा देगा यह पाप महान्।[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से जो कलियुग है, वह डा० रामविलास शर्मा की दृष्टि में विशाल सक्रियता का युग है—

विशाल सक्रियता,
यही है हमारा युग।[2]

प्रगतिवादी कवियों ने प्रगति में विश्वास किया है। समाज की विकासोन्मुख परम्परा में उन्होंने जीवन-पथ पर सदैव चलते रहने की परम्परा में योगदान दिया है। त्रिलोचन शास्त्री की दृष्टि में जीवन पथ की पुकार का उत्तर चरण-ध्वनि से ही दिया जा सकता है—

पथ पुकारता है
गत-स्वन हो
पथिक
चरण-ध्वनि से
दो उत्तर
पथ पर
चलते रहो निरन्तर।[3]

कवि को नूतन समाज के स्रष्टा मनुष्य की पग-ध्वनि में जीवन का गर्जन सुनाई देता है—

तुम नूतन समाज के स्रष्टा
पग-ध्वनि में गर्जन जीवन का।[4]

'गति' के प्रति आस्थावान सुमन जी जीवन के बहाव में निष्क्रियता के गदे जल को भी बहने के कारण स्वच्छ और निर्मल होते हुए देखते हैं—

निष्क्रिय उद्भ्रान्ति सदा होती
बहने से भ्रान्ति नहीं होती

---

१. रांगेय राघव : मेधावी, पृष्ठ २६५।
२. डा० रामविलास शर्मा, : कलियुग (तारसप्तक, पृष्ठ ७२)
३. त्रिलोचन : धरती, पृष्ठ २६।
४. त्रिलोचन : धरती, पृष्ठ ५।

मंजिल की भ्रान्ति नहीं होती
निष्क्रियता का गँदला पानी बहकर निर्मल हो जाता है;
जीवन बहता ही जाता है।[१]

कवि केदारनाथ अग्रवाल भी अपने प्रयाण-गीतों में जन-समूह में व्यापक चेतना का संचार करने के लिए जिन्दगी में नया जोश भर कर उसे जगाते हुए चलते चलने की प्रेरणा देते हैं—

हजारों आदमी का दल,
हजारों औरतों का दल,
हजारों बालकों का दल,
तड़फ-तड़फ के हैं विकल,
नवीन जोश, जिन्दगी जगाए चल
जगाए चल, जगाए चल, जगाए चल॥[२]

सुमन जी क्रान्ति के पथ पर अबाध गति से बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। इस पथ पर यदि आशा और विश्वास का सम्बल है तो मानव-मानव बन सकता है—

अन्यायियों के दुर्ग गढ़
बह जायँ मिट्टी में सनें
विश्वास का सम्बल पकड़
मानव कभी मानव बने
नव क्रान्ति के पथ पर सदा
मेरी प्रगति स्वच्छन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो।[३]

नवयुग का विहान होने पर चिर-शोषित हृदय में भी आशा का संचार होने लगा है। अब तो निर्बल भी हुँकार उठे हैं, रूढ़िग्रस्त जर्जर समाज अपनी अंतिम साँस गिन रहा है। अब जब चिर-तृषित मानव-हृदय की प्यास जग गई है तो निराशा कैसी। अच्छा हो यदि कवि भी अपनी नैराश्य भाषा बदल दे—

मत विहाग मुझे सुनाओ
आज भैरव राग गाओ
कह रहा हूँ कवि बदल दो आज निज नैराश्य भाषा।
आज कवि कैसी निराशा।[४]

---

१. सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ १८।
२. केदारनाथ अग्रवाल : युग की गंगा, पृष्ठ ५४।
३. सुमन : जीवन के गान, पृष्ठ ४३।
४. सुमन : जीवन के गान, पृष्ठ ६५।

जीवन में परमुखापेक्षी होकर कोई भी प्रगति नही कर सकता, पुरानी परम्पराओं और पूर्वजो की कमाई के भरोसे रहकर जीवन शक्ति खो देता है। जो मनुष्य जीवन को अपनाकर संकटों को आमंत्रित करता है और जीवन के पल-पल के प्रति जागरूक होकर उसे संवारता चलता है, वही जीवन-शक्ति को समझ सकता है। त्रिलोचन शास्त्री की दृष्टि में पुरातन को छाया में पलकर मानवता ने बहुत दुःख झेले हैं, इसलिये इस युग के मानव को नूतन निर्माण-कार्य कर कुछ अपने पौरुष का करतब दिखाना चाहिए—

कर नूतन निर्माण, दिखा कुछ
तू अपने पौरुष का करतब
पराधीनता विविध तोड़कर दिखा
नयी गति का उपक्रम अब।[1]

नागार्जुन भी भविष्य के प्रति निराश नही हैं। वे उस दिन की प्रतीक्षा करते हैं, जब किसानो और मजदूरों में भी खुशहाली होगी और वे प्रसन्नतापूर्वक 'सुजला-सुफला' के गीत गायेंगे —

खेत मजूरों और किसानों में जमीन बँट जाएगी।
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडराएगी।
+ + +
नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा हो चूरमचूर।
'सुजला सुफला' के गाएँगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर॥[2]

देश की जनता ने जो कुछ बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त किया है, 'विकट-बर्बरता' वह सब कुछ छीन लेना चाहती है, किन्तु कवि रांगेय राघव साहस नही खोते, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि—

जन प्रलय से शुक्र धरती फिर उठेगी
फिर बनेंगे नगर-ग्राम, नदी बँधेगी,
फिर उठेगा धीर वह कल्याण का स्वर-
और मुक्त समूह-ऋषि, मुनि, वीर कर्मठ
बन, विराट महान् सामंजस्य करके
वधु धरती को पवित्र सफल करेंगे।[3]

वे जन जो नवयुग के अग्रदूत हैं, जो काल-समुद्र के निर्भीक नाविक हैं, जो साम्यदीप के नूतन प्रकाश हैं और जो क्रान्ति के सपूत हैं, उन्हें कवि जगाता है

१. त्रिलोचन : धरती, पृष्ठ १७।
२. नागार्जुन : हंस, अप्रैल १९४८, अंक ७ ('लाल भवानी' कविता से उद्धृत)।
३. रांगेय राघव : मंजिल (हंस, नवम्बर, १९४७, पृष्ठ १२०)।

और प्रतिज्ञाबद्ध करता है—

> हम पृथ्वी स्वर्ग बनायेंगे
> हम दुनिया नई बसायेंगे
> हम महाजागरण गर्जन कर
> अविराम चेतना लायेंगे ।[1]

डा० रांगेय राघव भविष्य के प्रति आस्थावान् इसलिए अधिक हैं कि उनकी दृष्टि देश के अतीत के गौरव से भविष्य को बाँधना चाहती है। हमारी परम्परा सदा से ही लोक-कल्याण की ओर उन्मुख रही है, हमें उसी परम्परा का निर्वाह करना है। अधिकांश आलोचकों ने प्रगतिवादी साहित्य को देश का राजनीतिक पुनर्लेखन कहा है, परन्तु रांगेय राघव की कविताओं में केवल राजनीति की अभिव्यक्ति नहीं है, उनकी अधिकांश कविताओं में सांस्कृतिक उत्थान का उच्च सन्देश है। हम लाखों वर्षों के अजेय पन्थी हैं, अन्धकार हमें कभी पराजित न कर सकेगा। हमारा राष्ट्र वह अपराजित राष्ट्र है—

> जहाँ पर ज्ञान-दीप की ज्योति
> उज्ज्वला कर देगी सम्पूर्ण
> विशद भूमा का सुन्दर रूप
> आज सत् पथ की दुंदुभि बोल
> हृदय में भर दे चिर उल्लास ।[2]

प्रगतिवादी साहित्य में प्रवृत्ति-चिन्तन की अभिव्यक्ति राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की कविताओं में व्यापक स्तर पर हुई है। जीवन की उपेक्षा जन-समाज को पलायनवादी और निरीह बना देती है, परन्तु जिन्होंने जीवन की उपेक्षा नहीं सीखी वे संघर्षों का स्वागत करते हैं, इसलिए कि उन्हें जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाना रहता है। ऐसा जन-समाज साहित्यकार से ऐसे साहित्य की माँग करता है, जो उसे संघर्षों की ओर प्रेरित करे और मन में कुण्ठा और निराशा का उदय न होने दे। प्रगतिवादी कवियों ने तत्कालीन समाज को जीवन के संघर्ष का, जीवन की वास्तविक प्रगति का, जीवन के नवीन सामाजिक मूल्यों का यथार्थ-चित्रित सबल साहित्य प्रदान किया, यही कारण है कि प्रगतिवादी साहित्य में साहित्य और कला की ऐसी अटूट घनिष्ठता नहीं दिखाई देती, जितनी साहित्य और राजनीति की दिखाई देती है। प्रगतिवादी साहित्यकार की पृष्ठभूमि न कोरा अतीत है और न केवल स्वप्न-रंजित भविष्य। उसके साहित्य के मूल में वर्तमान की—वर्तमानकालिक जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा है, वर्तमान की आधारभूमि पर खड़े होकर ही उसने अतीत को भविष्य

---

१. रांगेय राघव : मेधावी, पृष्ठ २५६।
२. वही, पृष्ठ २६४।

से बाँधने का प्रयास किया है। उसका जो वर्तमान जीवन है और जिसमें वह साँस लेता है, उसकी आराधना का पहला केन्द्र है। वह अपने चारों ओर देखता है और उसकी वर्तमान आवश्यकताओं की ओर अपने राष्ट्र की दृष्टि आकर्षित करता है। उसके मनन और अंकन का आधार उसके इर्द-गिर्द का जन-संसार है। यही कारण है कि सन् सत्तावन का गदर, जलियाँवाला बाग, असहयोग आन्दोलन, सन् बयालिस का विप्लव प्रगतिशील साहित्यकार की लेखनी की मर्यादाएँ हैं और बंगाल का अकाल, देश के बँटवारे का अभिशाप साम्प्रदायिक रक्त-तांडव को उसकी रोषाग्नि की आहुति बनना पड़ा है।[१]

प्रगतिवादी साहित्य का सृजन मुख्य रूप से जनता को संघर्ष के लिए तैयार करने की दृष्टि से हुआ है, अतः यह साहित्य स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर बलिदान हो जाने की भावना को महत्त्व प्रदान कर जनता को उस ओर प्रेरित किया गया है। सुमन की वाणी देश की सुप्त चेतना में प्राण फूंकने के लिए आतुरता प्रकट करती है—

मुर्दों में प्राण फूंकने को
मेरी वाणी विह्वल आतुर।[२]

बलि की शुभ बेला का आगमन हो गया है, अतः कवि बलिदानियों का परीक्षा देने के लिए आह्वान करता है—

आओ युग जन-युग का ऋण दो
बलि की शुभ बेला आ पहुँची
बलिदानी! आज परीक्षा दो
बलि की शुभ बेला आ पहुँची।[३]

देश की दबी-पिसी जनता की आकुल मुक्त-भावना आज भयानक आँधी का का स्वरूप धारण कर चुकी है, अत कवि देशवासियों से प्राणाहुति का दान माँगता है—

आओ उठो करो तैयारी
झाँको अभी तुम्हारी बारी
आहुति लाओ
आज दीप से दीप जलाओ।[४]

---

१. भगवतशरण उपाध्याय : प्रगतिशील साहित्य की पृष्ठभूमि (हंस, अक्टूबर, १९४७, पृष्ठ २५१)।

२. सुमन : प्रलय-सृजन, पृष्ठ ८४।

३. वही, पृष्ठ ५६।

४. सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ २६।

जीवन और युग के संघर्ष के दिनों में यह पूर्णतः स्वाभाविक है कि मनुष्य कर्त्तव्य और प्रणय की उलझन में पड़ जाता है। कर्त्तव्य-भावना मनुष्य को रणभूमि की ओर खींचती है और कोमल प्रणय-भावना किसी के ढुलकते हुए जल-कणों की ओर आकृष्ट करती है। ऐसी उलझन की वेला में कवि उचित पथ-निर्देश करना नहीं भूलता—

रणभेरी सुनकर 'विदा, विदा'।
जब सैनिक पुलक रहे होंगे
हाथों में कुकुम थाल लिये
कुछ जलकण ढुलक रहे होंगे
कर्त्तव्य प्रणय की उलझन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं।[1]

सर्वत्र जब क्रान्ति की ज्वाला धधक रही थी, कवि केदारनाथ अग्रवाल की सूक्ष्म दृष्टि गेहूँ के पौधे को मर-मिटने के लिये झूमता हुआ-सा दिखाई देता है और अपने बलिदानों से किसानों को प्रेरणा प्रदान करता है—

ताकत से मुट्ठी बाँधे है
नोकीले भाले ताने है,
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है।
अन्तिम बलिदानों से अपने,
सबल किसानों को करता है।[2]

यदि स्वतन्त्रता की यह चाह है तो प्राणों का बलिदान देना ही पड़ेगा। त्रिलोचन शास्त्री कहते हैं—

स्वतन्त्रता का मोल प्राण है, प्राण चढ़ाने पर मिलती है
सहज नहीं है यह स्वतन्त्रता, नहीं हाट में यह मिलती है
ताकत हो उत्साह हो बढ़ो, स्वतन्त्रता कुछ दूर नहीं है
स्वतन्त्रता या मौत नहीं तो दोनों साथ-साथ मिलती[3]

रांगेय राघव नभ की लालिमा में बलिदानों की छाप देखते हैं। गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान को देख कवि की लेखनी अग्नि की ज्वाला उगलती है—

धधक उठ मेरे उर की लाज
फूट पड़ ज्वालामुखि की आग

१ सुमन जीवन के गान, पृष्ठ ४०।
२ केदारनाथ अग्रवाल, युग की गंगा, पृष्ठ १६।
३. त्रिलोचन धरती, पृष्ठ ६४।

कि गूँजे आज़ादी की राह—
क्रान्ति हो पग-पग जिन्दावाद
निरपराधो गुलाम का रक्त
महासागर-सा गरजे आज
कि अत्याचारी का लघु द्वीप
त्रस्त थर्रा कर जाये काँप।[1]

कवि शील बलिदान की ओर प्रेरित कर जन-समाज का आह्वान इन शब्दों में करते हैं—

है समय यही आँखें खोलो, वेदी पर धधकी प्रलय-आग
अभिमान करो, बलि चढ़ चढ़कर, गाओ हँस-हँसकर विजय राग।[2]

प्रगतिवादी कवियों ने दलित-शोषित वर्ग की जन-जागृति को वाणी प्रदान की है, अतः उन्होंने मुक्तिकामी जनता के हृदय के उबलते हुए विद्रोह और क्रान्ति की आवाज़ खूब सुनी है। प्रगतिवादी कवि का किसान खेत में गेहूँ-चना नहीं, खूनी अंगारे बोता है—

मेरे खेत में हल चलता है,
मैं युग की मिट्टी खोता हूँ,
गेहूँ-चना नहीं बोता हूँ,
खूनी अंगारे बोता हूँ।[3]

आज के युग में जब मनुष्य-मनुष्य के शोषण का शिकार बन गया है, आज की जिन्दगी का विधान महान क्रान्ति है और कवि लाना चाहता है इसी जिन्दगी में क्रान्ति का विहान—

हमें अमोघ क्रान्ति का विहान चाहिए।[4]

जिनके हाथ में प्रतिकार की शक्ति है, जिसके अन्दर ज्वालामुखी की आग धधक रही है, उन्हें क्रान्ति की ओर प्रेरित करता हुआ कवि कहता है—

चोट खाते हो, नहीं ललकारते हो
इन्कलाबी घन नहीं तुम मारते हो
....ऐ दधीचो! शक्ति का डंका बजाओ
शान्ति का ज्वालामुखी सूरज उगाओ।[5]

---

१. रांगेय राघव : पिघलते पत्थर, पृष्ठ ८५।
२. शील : अंगड़ाई, पृष्ठ ५०।
३. केदारनाथ अग्रवाल : युग की गंगा, पृष्ठ २४।
४. केदारनाथ अग्रवाल : केदार के बोल (हंस, अक्टूबर, १९५०, पृष्ठ [illegible]०)
५. केदारनाथ अग्रवाल : लेखनी के लोक में आलोक लाओ (हंस, जनवरी, १९५१, पृष्ठ १)

नाविक-विद्रोह से प्रभावित हो सुमन जी ने लिखा—

बलिवेदी पर विह्वल जनता जीवन तौल उठी है,
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।[1]

वे जन-समाज को परवशता के जीवन से विद्रोह करने के लिए ललकारते हैं—

आओ वीरोचित कर्म करो—
मानव हो कुछ तो शर्म करो,
यों कब तक सहते जाओगे इस परवशता के जीवन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो।[2]

जब अत्याचार का नग्न-नृत्य हो रहा है और उत्पीडित जनता आर्त्त-हाहाकार कर रही है, ऐसी दशा में कवि रांगेय राघव का सत्य संघर्ष में ही बोलता है—

अब गया दिन
नई है अब रात
आज फिर संघर्ष में ही
सत्य मेरा बोलता है।[3]

धरती के पुत्र किसान को डा० रामविलास शर्मा का सन्देश है, असन्तोष का बीज बोने का और क्रान्ति की फसल काटने का—

बोना महातिक्त यहाँ बीज असन्तोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रांति की।

ढाई सौ वर्षों के बाद क्रान्ति और बलिदान का मीठा फल मिला, परतन्त्रता की बेडियो से देश को मुक्ति मिली, परन्तु साम्यवादी विचारो के पोषक प्रगतिवादी कवि ने देखा यह कि गरीबों की झोपडी वही की वही है, देश उसी भाँति गरीबी की चक्की में पिस रहा है—मनुष्य उसी भाँति मनुष्य द्वारा शोषित है—

वही धुँआ है
वही क्षुधा है
वही कर्ज है
वही सूद है।

जनता के साथ-साथ, शोषित-पीडित वर्ग के साथ-साथ मानो कवि की भी परीक्षा की घडी आ गई। कवि ने हिम्मत नही हारी—

अत आज हम
हँसते-हँसते
नई शपथ यह प्रथम करेंगे

---

१ सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ४४।
२. सुमन : जीवन के गान, पृष्ठ ८२।
३. रांगेय राघव . मंजिल (हंस, नवम्बर, १६४७, पृष्ठ १२०) .

शोषक का साम्राज्य हरेंगे
जनवादी सरकार करेंगे ।[१]

बापू के निधन से देश पर मानो वज्रपात-सा हो गया, प्रगतिवादी कवि ने सरकार की इस नीति पर कि हम शान्त रहें, चुप बैठें, जो कुछ करना होगा सब सरकार करेगी, असन्तोष व्यक्त किया। कवि भूखे रहकर, गया में घुटने भर धंसकर, तिल और जल से वृद्ध पितामह का तर्पण करके उन्हें ठगना नहीं चाहता, क्योंकि यह तो अपने आपको ठगना होगा। कवि महात्मा गांधी के अगणित स्वप्नों को साकार करने में विश्वास करता है, परन्तु सत्य और अहिंसा का खोल ओढ़कर शत्रुओं की दाल नहीं गलने देना चाहता—

अब खोल ओढ़कर तेरी सत्य अहिंसा का
एकता और मानवता का
इन महाशत्रुओं का दाल न गलने देंगे,
हम एक नहीं चलने देंगे
··· तेरे उन अगणित स्वप्नों को
हम रूप और आकृति देंगे
हम कोटि कोटि
तेरी औरस सन्तान, पिता।[२]

मार्क्स ने स्त्रियों के सम्बन्ध में बड़ा ही स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया था। मार्क्स-दर्शन के अनुसार जीवन यज्ञ में नारी का भी अपना हिस्सा है और वह हिस्सा घर तक ही सीमित नहीं, बाहर भी है। मार्क्स-दर्शन से प्रभावित प्रगतिवादी कवियों ने नारी के प्रति अत्यन्त उदार, स्वस्थ और उदात्त दृष्टि अपनाई है। निवृत्ति-मार्गियों की भांति नारी से दूर भागने की बात तो इस युग के लिए निरी मूर्खता की बात है, इसके साथ-ही रीतिकालीन कवियों की भांति नारी को निरे भोग की वस्तु मानना भी उसका अपमान है। नारी केवल नर को रिझाने के लिये नहीं बनी है, नर को प्रेरणा देने के उपरान्त भी उसके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। वर्तमान युग का पुरुष जिसे कर्म-क्षेत्र मानता है, वही नारी का भी कर्म-क्षेत्र है। नर और नारी दोनों के जीवनोद्देश्य एक है।[३]

सुमन जी नारी को रणचण्डी के रूप में देखते हैं जो प्रलय का मन्त्र फूंकती है—

१ केदारनाथ अग्रवाल : किन्तु झोंपड़ी वहीं खड़ी है (हंस, फरवरी, १९४८ पृष्ठ ३५८)
२. नागार्जुन : महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे (हंस, मार्च, १९४८, पृष्ठ ४११)।
३ दिनकर : वेणुवन, पृष्ठ ८।

तुम भी रणचण्डी बन जाओ
मैं क्रान्तिकुमारी का अनुचर
हो ध्वंस प्रलय का राग प्रबल
दो मन्त्र फूंक ऐसे सत्वर
इतिहासों के भी पन्नो में
हो जाय अमर यह कुरबानी।[१]

त्रिलोचन शास्त्री ने अपने काव्य में नारी को युग के अनुकूल व्यक्तित्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में यदि पुरुष इस जगत् का प्राणी है तो स्त्री भी है, अत दोनो को ही इस जगत् के नव निर्माण में सक्रिय हो जाना है—

हम तुम इसी जगत् के प्राणी
इसी जगत् ने दी है वाणी,
इसको नव-निर्मित करने में
हो हम-तुम सक्रिय, कल्याणी।[२]

नारी का सबसे उदात्त स्वरूप यही हो सकता है कि जब पुरुष कर्मशील है वह भी कर्मठ बने, जीवन में श्रम को महत्त्व दे। नारी केवल प्रेरणा का स्रोत बनी रहती है तो उसका व्यक्तित्व अधूरा हो रह जाता है, उसके व्यक्तित्व की उच्चता और पूर्णता यही है, जहाँ वह पति के साथ कधे में कधा मिलाकर काम करती है—

है अचल पवन, साँसें चल
चल रहा पसीना अविरल
चलती है बेड़ी प्रतिपल
विश्राम नही है उनको
है आज नही उनको कल
मिलकर वे दोनो प्राणी
दे रहे खेत में पानी।[३]

इतिहास-प्रसिद्ध पाँचो पाँडवो की पत्नी पाँचाली की कथा के आधार पर डा० रांगेय राघव ने 'पांचाली' नामक खण्ड-काव्य लिखा है। यद्यपि इस खण्ड-काव्य में द्वापर-युग का चित्रण किया गया है, परन्तु कवि ने द्वापर को ऐतिहासिकता के बीच में उन तत्कालीन परिस्थितियो को ही देखा, जो अनुभूतियो के माध्यम से वर्तमान युग के लिए कवि को अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुए। नारी-समस्या को लेकर कवि ने द्रौपदी को जो व्यक्तित्व प्रदान किया है, उसमें नारी के उदात्त चरित्र के आवश्यक गुणो का समन्वय है।

---

१ सुमन जीवन के गान, पृष्ठ ६१।
२ त्रिलोचन . धरती, पृष्ठ २।
३ वही, पृष्ठ ८।

द्रौपदी प्रवृत्ति का सन्देश देती हुई धर्मराज युधिष्ठिर से कहती हैं—

धन से आता है धर्म, धर्म से बल से,
बल से आता है धन, जगती में निश्चय,
इन तीनों का है ध्येय व्यक्ति का सुख ही
जिसमें जितना बल हो वह उतना भोगे,
सामर्थ्य पास में रखकर क्यों सब छोड़ें ?
सिंहों के जाये शोणित पीकर खेलें,
हिरनों के बच्चे प्राण बचाते डोलें।
मैं तो इतना ही धर्म सनातन समझी,
क्षत्रिय होकर भी क्या तुम समझ न पाये ?[1]

द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण जिस नारी को, अबला मानकर करुणा धारा बहाते हैं, वह प्रगतिवादी युग में अपने को अबला मानने से इन्कार करती है। पाँचाली अपने को प्रतिहिंसा की कराल मर्यादा के रूप में प्रस्तुत करती है। वह सिंधु-सौवीर के राजा जयद्रथ से, जो उसके रूप पर मुग्ध है, कहती है—

तू मुझे समझता अबला कैसे, कह तो !
मैं हूँ प्रतिहिंसा की कराल मर्यादा।[2]

नारी के जो कटाक्ष मध्ययुगीन कवियों की दृष्टि में कामदेव के बाण के रूप में वर्णित होकर रूपासक्त पुरुषों को घायल करने के निमित्त थे, वे कटाक्ष डा० रांगेय राघव की दृष्टि में समस्त पापों का हृदय फाड़ डालने में समर्थ हैं—

यह नहीं कटाक्ष, नीच ! यह पैने शर हैं
जो फाड़ हृदय जायेंगे सब पापों का।[3]

जिस भारत देश की स्त्रियों के सतीत्व पर शंका करके शूरवीरों ने अपने पौरुष को अधिक पुरुषत्वमय सिद्ध करने का प्रयास किया है, अब वह देश न तो स्त्री को अपनी पवित्रता की सफाई देने की आवश्यकता समझता है, और न ही उसे चरित्र पर शंका करने का साहस होता है। नारी पर नर के अविश्वास की भावना से धर्म-राज कुंठित हो जाते हैं—

ओ मर्यादा, तूने क्या बंधन बाँधे !
नारी को नर पर क्यों विश्वास नहीं है ?
तूने ही उसके कोमल उर को ऐसा
क्षत विक्षत कर दिया क्रूर नियमों में।[4]

१ डा० रांगेय राघव पांचाली, पृष्ठ ५५।
२ वही, पृष्ठ ६४।
३ वही, पृष्ठ ६५।
४ वही, पृष्ठ ७४।

जयद्रथ द्रौपदी पर मुग्ध होकर उसे अपने रथ पर बिठाकर चल देता है। पांडवों को आश्रम में लौटते ही जब इसकी सूचना मिलती है, तब वे जयद्रथ पर आक्रमण करके उसकी सेना का संहार करते हैं। रथ से उतरकर जब पांचाली—

बोली पुकार : कुलगुरु साक्षी हैं मेरे
मैं यज्ञ-ज्वाल-सी हूँ पवित्र, हे स्वामी।[1]

तब पांडवों की दृष्टि में शंका का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। युधिष्ठिर कहते हैं—

क्या यज्ञ-ज्वाल पर भी सन्देह करूँगा?[2]

बली भीम ने बढ़कर कहा—

क्या शिशुमार बन त्रिभुवन में घूमोगी?[3]

अर्जुन बोला—

क्या कहीं सिंहिनी खड़ी हुई क्षण भर को
कुत्ते के पास कभी तो वह गिर जाती है?[4]

नकुल ने कहा—

धरती पर गिरे अचानक आकर नीचे
यदि कभी देवनिर्माल्य, पतित हो सकता?[5]

और अन्त में सहदेव ने अपना खड्ग नीचे करते हुए कहा—

पांचाली, तुम हो वसुन्धरा-सी सुन्दर
तुमको क्या संशय हम पर होता बोलो।[6]

धर्मराज युधिष्ठिर जयद्रथ को क्षमा करने की चर्चा करते हैं। उनकी सहनशीलता को देख पांचली का नारीत्व हुंकार उठता है—

इस सहिष्णुता में आग लगा दूँगी मैं
उसका वध करना, मैं कहती हूँ।
उसका इतना अभिमान कुचलना होगा।[7]

वह भीम और अर्जुन को शपथ दिलाती हुई कहती है कि मैं झूठी छलनाओं से सन्तुष्ट होने वाली नहीं हूँ, मुझे तो उस जघन्य का गन्दा लोहू लाकर दो।

---

१. पांचाली, पृष्ठ ७२।
२. वही, पृष्ठ ७२।
३. वही, पृष्ठ ७३।
४. वही, पृष्ठ ७३।
५. वही, पृष्ठ ७३।
६. वही, पृष्ठ ७३-७४।
७. वही, पृष्ठ ७६।

परन्तु वीरों की पत्नी और वीरप्रसू नारी के नारीत्व की अंतिम कसौटी प्रतिहिंसा नहीं, क्षमा है, कवि का वर्तमान युग के लिये यही सन्देश है। जब भीम और अर्जुन जयद्रथ को पकड़कर पांचाली के चरणों में डाल देते हैं, तब मानवता की प्रतिमूर्ति नारीत्व की परम्परा की अवहेलना नहीं कर पाती—

आश्चर्यचकित हो सुना सभी ने, बोली
पांचाली संयत स्वर से धीरे-धीरे
मैं वही करूँगी जिसमें धर्म-विजय हो,
अपराधी को दो छोड़, क्षमा करती हूँ।[1]

इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य में कवियों ने नारी के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया है, वह अत्यन्त उदात्त भावभूमि पर आधारित है। नारी का सौन्दर्य कवि उसकी कर्मठता और कर्मशीलता में देखता है, उसे अपने कर्त्तव्य, शक्ति और समता के प्रति पूर्ण चैतन्य पाता है। कोमलांगिनी नारी अपनी समस्त सुकोमलता में भी अपराजेय सिद्ध होती है और उसकी सुकोमलता की समस्त दृढ़ता और उसके नारीत्व की मर्यादा उसके उसी श्रद्धार्पिणी के स्वरूप में है जो दया, ममता और क्षमा से विभूषित है। प्रवृत्ति के पथ पर निरन्तर तेजी से आगे बढ़ती हुई नारी के लिए यह सन्देश एक दीपस्तम्भ की भाँति है।

छायावादोत्तर और प्रगतिवादी काव्य की प्रवृत्ति-दर्शन को देन

छायावाद के बाद छायावादोत्तर काव्य-धारा ने वैयक्तिक अभिव्यक्ति से आगे बढ़कर वैयक्तिक-सामाजिक अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हो यथार्थ की अपेक्षाकृत अधिक ठोस धरातल में विश्वास किया। यदि प्रवृत्ति-चिन्तन के विभिन्न पक्षों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो छायावाद का आविर्भाव प्रवृत्ति-चिन्तन की दृष्टि से प्राचीन मानव-मूल्यों का बहिष्कार कर नवीन मानव-मूल्यों की स्थापना के लिए हुआ था। नवीन प्रवृत्ति-मूलक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भूमिका में छायावाद प्राचीन रूढ़ियों और विगत मध्यकालीन निवृत्ति-मूलक प्रवृत्तियों के विरोध में नये युग के स्वप्न के रूप में छायावादी स्वप्न का आकार धारण करके आया था। पुनरुत्थान-काल के दार्शनिक चिन्तकों ने जिस सांस्कृतिक समन्वय के आधार पर विश्व-मानवतावाद की नींव रखी, उसकी अगली कड़ी के रूप में छायावादोत्तर-कालीन बच्चन, दिनकर अचल आदि कवियों का काव्य सम्मुख आया।

संक्रान्तिकाल की छायावादोत्तर कविताओं में यथार्थ का विशेष आग्रह रहा। तेजी से बदलते हुए युग को जो छायावादी विश्व-मानवता और नवीन आदर्शों की पूँजी मिली थी, छायावादोत्तर-कालीन कवियों ने यथार्थ की पृष्ठभूमि पर अधिक प्राणवन्त, मांसल और हाड़ मांस से सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की। इसी संक्रान्ति-

[1] पांचाली, पृष्ठ ८४।

काल में काव्य-युग की अगली कड़ी भी झलकने लगी थी—सामाजिक यथार्थ वैयक्तिक यथार्थ के रूप को ग्रहण करने की ओर संघर्ष-रत था, सांस्कृतिक दृष्टि से भू-मंगल-कामी मनुष्यत्व की धारणा अधिक सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में उतरने की दिशा में अग्रसर हो रही थी।

प्रगतिवादी युग का आविर्भाव होते-होते छायावादी कवि पन्त और निराला तथा छायावादोत्तर कवि अचल, दिनकर आदि मार्क्स-दर्शन से प्रभावित हो मानव के स्व-केन्द्रित व्यक्तित्व को लोक-कल्याणमुखी सामाजिक भूमिका प्रस्तुत करने की दिशा में प्रशंसनीय प्रयास कर चुके थे। प्रगतिवादी युग में प्रवृत्ति-चिन्तन का ठोस रूप एक तो सामयिक घटनाओं के प्रति जागरूक रहने से मिला और दूसरे उसकी सांस्कृतिक आदर्शमूलक प्रवृत्ति को राजनीतिक यथार्थमूलक प्रवृत्ति की ओर प्रेरित होने के कारण मिला। प्रगतिवादी कवियों ने सामयिक यथार्थ की भित्ति पर आधारित जीवन की उपेक्षा करने वाले साहित्य को साहित्य मानने से इन्कार कर दिया और केवल जीवन को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के लिए साहित्य का सृजन किया, इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य प्रवृत्ति की ओर मन-प्राण से उन्मुख होने के कारण प्रवृत्ति के जीवंत चित्र अधिक दे सका, भावात्मक कोटि का उच्च साहित्य कम दे सका।

वास्तव में छायावाद ने साहित्य में जिस विश्व-मानव की अवतारणा की, जिन सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के आदर्श रूप प्रस्तुत किये तथा मार्क्सवादी दर्शन ने जिस सबल जीवन-दर्शन के द्वारा उन आदर्शों को ठोस यथार्थ में उतारने के लिए दिशा प्रदान की, उसे यथार्थवादी साहित्य व्यापक भाव-भूमि पर उदात्त और विस्तृत अभिव्यक्ति न दे सका।

मार्क्सवाद का साम्यवादी दृष्टिकोण मानव-समाज को सुखी बनाने और उसके वर्ग-भेद को मिटाकर विश्व-मानवता से सुसज्जित करने की दिशा में एक व्यापक दृष्टिकोण था। प्रसन्नता की बात है कि यह मार्क्सवादी दृष्टिकोण भारत की सनातन प्रक्रिया में पहुँचकर पूर्ण भारतीय भी बन सका और प्रगतिशीलता की मूल भारतीय साहित्य की पारम्परिक प्रक्रिया में पड़कर उसके साथ दिखाई देने लगा।

उथल-पुथल और हलचल के युग में जीवन तथा जीवन-समृद्धि को केन्द्र मान कर चलनेवाला साहित्य ही जीवित रह सकता है। प्रत्येक युग का तकाजा भिन्न हुआ करता है, प्रगतिवादी युग का तकाजा पूर्व के युगों के तकाजे से भिन्न था। तत्कालीन युग का तकाजा था ऐसे उद्देश्य को लेकर चलनेवाले साहित्य का जो लोक का कल्याण कर सकता, जो मानवता को नीचे गर्त से निकालकर जिसमें वह नरक भोग रही थी, समतल भूमि पर ले आता, जहाँ से वह आगे बढ़ पाती। इस तकाजे की पूर्ति की दृष्टि

से प्रगतिशील साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ समयानुकूल वस्तु सिद्ध हुआ।[1] जो विचारशील व्यक्ति हैं वे यह लक्ष्य किये बिना न रहेंगे कि प्रगतिवाद आरम्भ की मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों से क्रमश मुक्त होता हुआ अपने प्रकृत जनवादी रूप को प्राप्त करने में समर्थ हो सका। इस विराट् जनवादी अभियान में जो रुका सो छूटा, जिसने इसका विरोध किया, वह गया और जिसने इसके उद्देश्य और कार्य में सन्देह प्रकट किया, वह सन्देहवादी टूटा। वे गुरु द्रोणाचार्य हों, चाहे भीष्म पितामह, वे कर्ण हों या जयद्रथ—इस महाभारत के विरोध पक्ष में जाकर उन्हें गतश्री होना ही है। अपने पूर्व वैभव के द्वारा वे चाहे जितने बड़े प्रतीत होते हैं, यदि इतिहास विधाता के अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र वाले विराट वपु की वाणी सुनें तो पता चलेगा कि ये तमाम महारथी वस्तुत मारे जा चुके हैं, इतिहास ने भीतर से इनका सारा तेज हर लिया है।[2]

परन्तु जिस सतत विकास की परम्परा ने काल विशेष में छायावाद को स्वीकार किया, तेजी से बदलते हुए समय की प्रक्रिया में छायावादोत्तर काव्य को मान्यता दी, युग-संघर्ष के आने पर प्रगतिवादी साहित्य को अंगीकार किया, उस सतत-विकास के प्रवाह में एकांगी जीवन दर्शन वाले साहित्य समय विशेष के आग्रह और माँग को पूरा कर काल के प्रवाह में लुप्त भी होते जाते हैं। स्थायी साहित्य वही सम्पूर्ण जीवन दर्शन दे सकता है, जो एकांगिता के रोग से ग्रस्त न हो। कहना न होगा कि जो समन्वयात्मक दृष्टि छायावादी काव्य या छायावादोत्तर काल के कवि दिनकर में दिखाई देती है, उसके लिए विशेष आग्रह प्रयोगवादी कविता में नहीं दिखाई देता। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी जीवन पूर्ण सुख प्राप्त कर ही लेगा, यह आवश्यक नहीं, इस तथ्य की ओर जो कि भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषता रही है, जिसकी आंशिक पूर्ति गाँधी-दर्शन में मिलती है, प्रगतिवादी कवियों में डॉ० रांगेय राघव जैसे किंचित इने गिने कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। मार्क्सवादी भौतिक जीवन-दृष्टि के साथ गाँधीवादी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के समन्वय में विश्वास करके प्रगतिवादी कवि साहित्य जगत को बड़ी अधिक व्यापक और स्थायी साहित्य भेंट कर सकते थे।

---

१ श्रीकृष्णदास प्रगतिशील सा० एक दृष्टिकोण हंस, अक्टूबर, १९४७, पृ० ४४)
२ नामवर सिंह आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ०-७३ ७४।

अध्याय ८

प्रयोगवाद--नयी कविता

सामयिक पृष्ठभूमि

सन् १९४३ से जिस प्रयोगवादी कविता का प्रारम्भ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार-सप्तक' से कहा जाता है, उससे हिन्दी साहित्य में एक नये युग का प्रारम्भ माना जाता है। विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक हलचलों के परिप्रेक्ष्य में नवीन कविता को नवीन आत्मा प्राप्त हुई एवं रूप विधान के प्रयोगों को विषय वस्तु की नवीन जमीन मिली।

इस युग के प्रारम्भ में देश के विशाल रंगमंच पर राष्ट्रीयता और समाजवाद में घोर संघर्ष चल रहा था। सन् १९४५ के प्रारम्भ में आजाद हिन्द सेना के तीन प्रमुख नेताओं (कैप्टन शाहनवाज, कैप्टन पी० के० सहगल और लेफ्टिनेंट गुरुबख्श सिंह ढिल्लन) पर जब राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया तो देश का वातावरण अधिक विद्रोहपूर्ण बन गया। आजाद हिन्द फौज और नेताजी की वीरगाथाएँ साक्षियों तथा वकीलों के मुँह से सुनकर समस्त देश विद्रोह की ज्वाला में जलने लगा यहाँ तक कि विद्रोह की चिनगारी सेनाओं में भी प्रविष्ट होने लगी। सेना और पुलिस दोनों तक आजाद हिन्द फौज के आजाद विचारों का प्रभाव पड़ा तो १९४६ तक अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पूर्णतया उखड़ गई। १८ फरवरी को भारतीय नौसेना की हड़ताल शुरू हुई, उसके दूसरे ही दिन ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ऐटली ने पार्लियामेंट में यह ऐलान किया कि ब्रिटेन के मन्त्रिमंडल के प्रतिनिधि (कैबिनेट मिशन) भारत आकर वहाँ के नेताओं से भारत की स्वतन्त्रता के बारे के बातचीत करेंगे।

अक्सर सवाल उठाया जाता है कि ब्रिटेन ने सत्ता छोड़ने का निश्चय क्यों किया? वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब ब्रिटेन और रूस परस्पर प्रतिद्वन्दी देश बन बैठे तो ब्रिटेन के लिए भारत की सद्भावना प्राप्त करना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन भारत पर पहले के समान शासन करने में असमर्थ था।[१]

---

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग-३, पृष्ठ ३७३।

कैबिनेट मिशन ने देश के राजनीतिक दलों के सम्मुख जो प्रस्ताव रखे, उन्हें आलोचना-प्रत्यालोचना के पश्चात् स्वीकार कर लिया गया। जुलाई १९४६ में संविधान सभा के जो चुनाव हुए, उनमें कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली। निराश होकर मि० जिन्ना ने सीधी कार्यवाही (Direct Action) की घोषणा कर दी। देश भर में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। कलकत्ते और नोआखाली में भीषण नरमेध हुआ।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग में निरन्तर इस बात के लिए संघर्ष बना रहा कि कांग्रेस पूरे देश की एकता अखंडित रखना चाहती थी, परन्तु लीग पाकिस्तान की माँग दुहराये जा रही थी। अन्ततः कांग्रेस ने यह समझ लिया कि भारत का विभाजन रोका नहीं जा सकता और वह देश का विभाजन मानने को झुक गई। निश्चित रस्मों को पूरा करके १५ अगस्त को अंग्रेजों ने भारत छोड़ा और लार्ड माउंटबेटन को खंडित भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। देश-विभाजन की घोषणा से पंजाब में भीषण साम्प्रदायिक दंगों का प्रारम्भ हुआ। सीमा प्रान्त, बंगाल और दिल्ली पहुँचते पहुँचते दंगों की लपट समस्त देश में फैल गई। भीषण रक्तपात के दृश्य को देख आचार्य कृपलानी ने कहा था "भारत विभाजित हुआ और हम स्वतन्त्र हुए किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर हमारे उत्सव समाप्त भी न हो पाये थे कि पंजाब पारस्परिक रक्त लिप्सा के मद से काँप उठा। ऐसा भीषण नर-संहार भारतवर्ष ने चंगेजखाँ की जंगली टोली के अत्याचारों के बाद कभी नहीं देखा था। क्वेटा और सीमा-प्रान्त में भी ऐसा ही हुआ। अगणित नर नारी तथा बच्चे मारे गये, लाखों बेघरबार हो गये और अरबों की सम्पत्ति लूटी या नष्ट कर डाली गई।"[1]

स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् जो सर्वप्रथम जटिल समस्या देश के सम्मुख आई, वह थी शरणार्थियों के पुनर्वास की। पाकिस्तान से भारत और भारत से पाकिस्तान आने-जाने वाले शरणार्थियों का एक तांता-सा बँध गया था। देश की नई सरकार ने इस समस्या का सामना बड़े साहस के साथ किया, किन्तु इसने देश को बहुत अधिक आर्थिक क्षति पहुँचाई। शरणार्थी समस्या सुलझाने के पश्चात् सरदार पटेल के प्रयत्न से रियासतों का भारत में विलय किया गया। कश्मीर का विलय भारत के लिए अन्य जटिल समस्या बनकर उपस्थित हुआ। यद्यपि कश्मीर की संविधान-सभा अपना संविधान भी बना चुकी है और कश्मीर के भारत के अन्तर्गत होने की घोषणा कर चुकी है, परन्तु कश्मीर को लेकर भारत-पाकिस्तान के झगड़े का जो सूत्रपात हुआ था, उसका अन्त अभी तक नहीं हो पाया है।

साम्प्रदायिक दंगों को मिटानेवाले, देश के अप्रतिम नेता महात्मा गान्धी ३०

---

१ कांग्रेस बुलेटिन, २६ जनवरी, १९४८, पृष्ठ २२-२३।

जनवरी सन् १९४८ को साम्प्रदायिकता की गोली के शिकार हुए। महात्मा गान्धी की हत्या भारतीय इतिहास के पन्नों पर ऐसे काले धब्बे के रूप में अंकित है, जिसके लिए युगों तक भारतवासी लज्जावश सिर न उठा सकेंगे।

जून १९४८ में माउटबेटन ने भारत से विदा ली। नवीन सविधान के अनुसार २६ जनवरी १९५० से भारत गणराज्य बना। नवीन सविधान की नींव प्रजा की राजनीतिक समता और स्वतन्त्रता के मूल अधिकारों पर रखी गई।

भारत के स्वाधीन होते ही एशिया के अन्य देशों में भी जागृति की लहर फैली। दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पश्चिमी एशिया के देशो में जो सघर्ष छिड़ा, उसका नेतृत्व भारत ने सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह का सिद्धान्त लेकर किया, उसी सत्य और अहिंसा पर जो पश्चिम द्वारा फैलाई अव्यवस्था के स्थान पर पूर्व की सद्भावना और भाईचारा कायम करने की एकमात्र आशा है, जिससे सुदूर भविष्य में मानवमात्र की पार्लमिण्ट और विश्व सघ का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।[1]

भारत देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए जमींदारी उन्मूलन कानून १९५० में पारित होकर १-७-५२ से लागू हुआ। सन् १९५१ में भारत सरकार ने पचवर्षीय योजना बनाना तय किया। १९५२ में वह योजना भारतीय ससद् द्वारा पारित हुई। योजना के दो उद्देश्य माने गये, एक तो देश की उपज बढ़ाना और दूसरे उपज के बँटवारे में विषमताओं को भरसक दूर करना। इस योजना से लाभ यह हुआ कि कौन-सा कार्य देश की दृष्टि से पहले होना चाहिए और कौन-सा पीछे, इस पर विचार किया गया एव सब निर्माण-कार्यों में एकसूत्रता लाने का प्रयास किया गया।

पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी बाधा देश की आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न हुई। स्थिति की गभीरता को समझते हुए भारत-सरकार ने विदेशो से, विशेषकर अमरीका से आर्थिक सहायता लेने का निश्चय किया। यद्यपि भारत-सरकार विदेशी सहायता लेने के लिए अपनी परराष्ट्र-नीति एवं सिद्धान्तों पर आघात नहीं करना चाहती, परन्तु अमरीका की नीति को वहाँ के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने स्पष्ट कर दिया था, "भारत व अन्य देशो को दी जानेवाली सहायता अमरीका की विदेश-नीति का ही अग है"।[2]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आशा तो यह थी कि देश की गरीबी दूर होगी एव जनता में अमन-चैन की स्थापना होगी। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश का जीवन खोखला और मृत ही बना रहा। देश का वातावरण बहुत कमजोर

---

१ पट्टाभि सीतारामैया : कांग्रेस का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ३७४।

२ B T. Randive : The Crisis of Indian Economy, P. १९।

बनानेवाला हो गया, कारण कुछ आन्तरिक हैं और कुछ बाहरी, परन्तु मुख्य कारण गरीबी, अभाव और बेकारी ही है। वस्तुस्थिति को अपने अनुकूल न देख अभाव-ग्रस्त जनता ने हड़ताल और प्रदर्शन के जरिये अपने क्षोभ और निराशा को प्रकट किया। पंडित नेहरू ने देश की तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा कि अपनी दीर्घकालीन पराधीनता, विश्वव्यापी युद्ध और उसके परिणामों ने हमारे आगे बहुत-सी अत्यावश्यक समस्याओं को एक साथ डाल दिया है। आज हमारी जनता के लिए भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुओं की कमी है और हम मुद्रा-स्फीति और बढ़ती हुई कीमतों के बवंडर में पड़ गये हैं। हम इन समस्याओं को तुरन्त हल नहीं कर सकते हैं, साथ ही उनके हल करने में देर भी नहीं लगा सकते।[1]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के सांस्कृतिक वातावरण में भी बहुत-कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। एक ओर पाश्चात्य देशों की आधिभौतिकता का प्रभाव पड़ने के कारण लोगों की मनोवृत्ति इहलौकिक होती जा रही है, दूसरी ओर शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण आचार-विचार के क्षेत्र में प्राचीन रूढ़ियाँ धूलिवत् झड़ती जा रही हैं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना बढ़ती जा रही है।

यूरोपीय संस्कृति व सभ्यता के प्रभाव से सुशिक्षित एवं समझदार लोगों ने अपने को प्राचीन रूढ़ियों से तो मुक्त कर लिया है, पर उन्होंने अभी तक नवीन स्वस्थ विचारों को अपनाने का प्रयास नहीं किया है। यूरोप तथा अमरीका में जनतान्त्रिक संस्थाओं का संरक्षण एवं पोषण करने वाली व्यावहारिक परम्पराएँ व संस्थाएँ दृढ़ रूप में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु हमारे देश में वैसी परम्पराओं तथा व्यवहार-सरणियों का बहुत कुछ अभाव है।[2] देश के तथाकथित सुशिक्षित लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की दुहाई देते हैं, परन्तु उनकी 'कथनी' और 'करनी' में जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देता है। निम्नवर्ग के कम शिक्षित देशवासियों को वे अपने ही समान सुविधाएँ दिलाने में संकोच का अनुभव करते हैं। जनतान्त्रिक सरकार के होते हुए भी उच्चवर्ग और निम्नवर्ग में, शासक और शासित में, अमीर और गरीब में, सुशिक्षित और अशिक्षित में वास्तविक जनतान्त्रिक मनोवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। एक दूसरी चौंकाने वाली स्थिति यह है कि शिक्षित लोगों में नैतिकता का आग्रह घट रहा है और वे अधिकाधिक अवसरवादी बनते जा रहे हैं। उनके बीच प्राचीन धार्मिक तथा उनसे सम्बन्धित नैतिक मान्यताओं का प्रभाव क्रमशः लुप्त हो रहा है और उनमें यह मनोवृत्ति बढ़ रही है कि किसी भी तरह अपने भौतिक जीवन स्तर को ऊँचा बनाया जाय।[3]

१. जवाहरलाल नेहरू : स्वाधीनता और उसके बाद, पृष्ठ ८।
२. डॉ० देवराज दिनेश : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २१३।
३. वही, पृष्ठ २१४।

सामान्य परिचय

छायावाद यदि नवीन आशा, नवीन आस्था तथा नवीन सौन्दर्य बोध से अनुप्राणित नवीन जीवन-मूल्यों को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ था, प्रगतिवाद यदि सामूहिक एवं व्यापक जनवादी चेतना की शक्ति से प्रेरित होकर अवतीर्ण हुआ था तो प्रयोगवाद जीवन की खंडित एकता के परिणाम-स्वरूप फैले हुए बिखराव के परिप्रेक्ष्य में नया शिल्प, नये शब्द, नई अभिव्यक्ति एवं नये उपमान आदि के ग्रहण के आग्रह के साथ एक नवीन व्यक्तिनिष्ठ आस्था को लेकर साहित्य क्षेत्र में नवीन प्रयोग की ओर अग्रसर हुआ।

सन् १९४३ में श्री अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रयोगवाद का प्रतिफलन हुआ—प्रतिफलन इसलिए कि इसका उदय पश्चिमी देशों में हुआ था। श्रीमद्भागवत् पुराण जिस प्रकार मध्ययुगीन भक्ति-काव्य का प्रमुख चेतनाधार है, उसी प्रकार इलियट का 'वेस्टलैंड' अत्याधुनिक प्रयोगवादी काव्य का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत है। कोई भी साहित्यकार 'प्रयोग' की ओर क्यों प्रेरित होता है, इस प्रश्न के उत्तर में अंग्रेजी साहित्यकार फिलिप टॉयनबी कहते हैं कि साहित्यकार प्रयोग तब करता है, जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में उसने किन्हीं सत्यों को पा लिया है और उन सत्यों की अभिव्यक्ति अन्य किसी ने नहीं की है।[1] इस प्रकार वर्तमान परिस्थिति के प्रति पूर्ण जागरूक रहकर ही प्रयोग की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है। 'तारसप्तक' के कवियों की इस ओर प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए अज्ञेयजी कहते हैं कि प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किए हैं, यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।[2]

'तारसप्तक' द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवाद सोद्देश्य प्रयोगशीलता का संगठित आन्दोलन कहा जा सकता है, यद्यपि बिहार के 'प्रपद्यवादी' कवित्रय (नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश मेहता) अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवाद के प्रति विरोध

---

1. *It is because he believes that he had understood something* about our present condition which has not been expressed by anybody else

— Experiment and the Future of Novel—London Magazine May 1959.

२ तारसप्तक, पृष्ठ ७५।

प्रदर्शित करते हुए अपनी कविताओं को वास्तविक प्रयोगवादी कविता सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। वे तीनों कवि प्रयोग को सार्थकता साधन और साध्य की सम्पृक्तता में ही मानते हैं, परन्तु अज्ञेय प्रयोग को साध्य नहीं, साधन मानते हैं। वे न तो प्रयोग को कोई वाद मानते हैं, और न अपने को प्रयोगवादी। 'दूसरा सप्तक' (सन् १६५१) की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि प्रयोग का कोई वाद नहीं है, प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें 'कवितावादी' कहना।[1]

इस प्रकार प्रयोग को साध्य नहीं, साधन मानते हुए सोद्देश्य प्रयोगशीलता का हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में आगमन हुआ कवियों तथा आलोचकों के लिए यह चर्चा का विषय रहा। प्रयोग किए गए जानबूझकर, आँखें खोलकर, प्रयोग करने के उद्देश्य से-इसलिए नहीं कि उसका लक्ष्य प्रयोग करने से ही प्राप्त हो जाता था, वरन् इसलिए कि लक्ष्य-प्राप्ति प्रयोग द्वारा ही सम्भव थी। जिस प्रमुख समस्या ने प्रयोगशीलता को ललकारा, वह थी 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक-सत्य' बनाने और व्यक्ति के अनुभूत को उसकी सम्पूर्णता में समष्टि तक पहुँचाने की समस्या।[2] कवि नेमिचन्द्र की दृष्टि में कवि का विवेक 'सत्य' को सामने रखना चाहता है, पर उसका मन 'समस्या' को सामने पाकर जैसे किसी की गोद में मुँह दुबका लेना चाहता है, अपने भीतर ही आत्मस्थ हो रहना चाहता है। अपने संस्कारों और भावनाओं के जगत् को वह समस्याओं को सुलझाने के सही मार्ग पर—अर्थात् एक सामूहिक प्रयत्न के द्वारा उनका समाधान पाने के मार्ग पर—लाने की अपनी असमर्थता को बार-बार अपने विवेक के द्वारा चीर-चीर डालना चाहता है। उसके मन का सारा संघर्ष इसी बिन्दु पर केन्द्रित हो उठा है।[3]

विवेक की सहायता से समस्या को सुलझाने के प्रयत्न और मन के समस्त संघर्ष की नवीन काव्य-चेतना की कसौटी बनाने की दशा में जिस प्रयोगशीलता ने अपने को लक्ष्य नहीं, वरन् प्रणाली के रूप में घोषित किया, उसके 'प्रयोगवाद' नाम के अनौचित्य को ध्यान में रखकर उसके लिए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया गया। श्री बालकृष्ण राव के शब्दों में उस आधुनिक काव्यधारा का नामकरण अब आने वाला युग ही कर सकेगा; सम्प्रति हम उसे 'नयी कविता' ही कहें, यही उचित है—क्योंकि अगला युग उसे और कुछ माने, या न माने 'नयी' तो मानेगा ही।[4]

१. दूसरा सप्तक : अज्ञेय पृष्ठ ६।
२. तारसप्तक : अज्ञेय, पृष्ठ ७५।
३. तारसप्तक : नेमिचन्द्र, पृष्ठ २२।
४. बालकृष्णराव-नयी कविता (२) कल्पना जून, ५६।

अतः आधुनिक कहे जानेवाले कवियों ने अपनी कविताओं के साथ प्रयोगवादी विशेषण न लगाकर उन्हें नयी कविता कहना प्रारम्भ कर दिया है, इस प्रकार 'नयी कविता' प्रयोगवाद का ही परिवर्तित नाम है।

प्रयोगशीलता और नयी कविता में अन्तर यह है कि 'नयी कविता' एक विशिष्ट काव्य-पद्धति है और प्रयोगशीलता उस विशिष्ट काव्य-पद्धति की एक आवश्यक और अनिवार्य प्रवृत्ति है। प्रयोगशील काव्य का शिल्प उसके वस्तु-तत्त्व से असंवीचि सम सश्लिष्ट है और वस्तु-तत्त्व नवीन काव्योन्मेष का–'नयी कविता' का-वस्तु-तत्त्व है। अतः प्रयोगशील कविता के वस्तु-विषय और शिल्प का पर्यवेक्षण-परीक्षण नयी कविता की चर्चा के संदर्भ में ही सार्थक होगा, अलग नहीं।[1]

'नयी कविता' नाम ग्रहण करने तक प्रयोगवादी कविता में एक नया संयम और सन्तुलन दिखाई देता है। उसके भाव-बोध में सूक्ष्म संस्कार, कला शिल्प में सप्रेषण-शक्ति, अति वैयक्तिकता में व्यक्ति-मूल्य के प्रति सशक्त-आस्था तथा आत्मनिष्ठ-दृष्टि में अन्तः समर्पण की सगति के चिह्न प्रकट होने लगते हैं और उसकी भावना की अराजकता को बौद्धिक संवेदन का स्पर्श मिल जाता है।[2]

जीवन के प्रति कवियों का दृष्टिकोण

प्रारम्भ की तथाकथित प्रयोगवादी कविताएँ जीवन-सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता एवं क्रियाशीलता की भावना से नितान्त दूर हैं। उन कविताओं में न तो समाज के प्रति कहीं स्वस्थ दृष्टिकोण दिखाई देता है और न ही कहीं सामाजिक जीवन के लिए आनन्द, आस्था एवं उल्लास का सन्देश।

ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवीं सदी के बौद्धिक दृष्टिकोण ने समसामयिक वास्तविकता का पर्दाफाश कर कवि को उससे पूर्णतया आक्रान्त कर दिया है—

आदर्श हो चले सब स्वगत
वास्तवता का जग पड़ा बोध,
सबका ही पर्दाफाश किया, बीसवीं सदी ने यही किया।[3]

वस्तुतः आज का वैज्ञानिक युग एक प्रकार से सक्रमण-काल से गुजर रहा है, मानव चेतना तज्जन्य परिस्थितियों में नयी समस्याओं से घिरी अपने लिए नवीन पथ निर्माण में लगी हुई है। आज के सधि युग में जीवन का नवीन परिवेश प्राचीन मूल्यों और स्थापनाओं को स्वीकार करने की परिस्थिति में नहीं है, जीवन के जो नये मूल्य और नये प्रतिमान विकासमान हैं, उन्हें मानव चेतना स्वीकार करने की

१ बालकृष्णराव नयी कविता (५), कल्पना जून ५६, पृष्ठ ६।
२ पन्त छायावाद-पुनर्मूल्यांकन पृष्ठ १२३।
३ प्रभाकर माचवे तारसप्तक, पृष्ठ ६०।

ओर क्रमश अग्रसर हो रही है, यही कारण है कि प्रयोगवादी कवि का निराशा और अनास्था से आक्रान्त मन धीरे धीरे 'नयी कविता' के प्रागण में पहुँचकर आशा और आस्था की ओर भी उन्मुख हो रहा है, जो जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण की सूचना देता हुआ अपने को भारतीय परिवेश में स्थापित सिद्ध करने में सफल हो रहा है।

आज के युग में हम जब सत्य और आदर्श की चर्चा करते हैं, जिसकी बहुत बड़ी और स्वस्थ परम्परा हमारे पीछे है, तो हम समसामयिकता की जड़ता और कुठा से भी अपने आप को मुक्त करने म असमर्थ सा पाते हैं। इस जड़ता और कुण्ठा का अनुभव कवि अपने जीवन में दुहरे वेग से करता है।[1] आलोचकों की दृष्टि में यह कुठा पलायनवादी प्रवृत्ति क रूप में दृष्टिगत होती है, जबकि यह पलायनवादी कम और परिस्थितिजन्य अधिक है। कवि के मन का सघर्ष, विषमता, आवेश, विशृङ्खलता सभी सामाजिक परिस्थिति का सवेदन है।[2] परन्तु कवि के काव्य की सफलता सामाजिक परिस्थिति के सवेदन और समसामयिक यथार्थ तक सीमित रखने में नही होती, उस आत्मसीमित परिधि के अतिक्रमण से ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी अवसादमूलक नही हो सकती।[२] इस बात से कोई इन्कार न कर सकेगा कि जीवन में कुरूपता है, दु ख है, भय है और आशका भी है किन्तु यही तो समग्र जीवन की परिभाषा नही है और इन भावो के काव्य-चित्रों द्वारा तो समाज में भयकर निराशा तथा अनास्था भर जाएगी, जिससे सामाजिक जीवन दुर्वह हो जाएगा। इस प्रकार 'नया' कवि जब जीवन-सघर्ष से टक्कर लेता है तब तो वह निराशा, अनास्था, कुठा, उदासी आदि की भावनाओं की अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित होता है, परन्तु जब वह कवि कर्म प्रेरित अपना उत्तरदायित्व देखता है, तब उसकी दृष्टि वर्तमान के असतोष के बावजूद भविष्य के प्रति आस्थावान् व विश्वासमयी दिखायी देती है।

आस्थावान् कवि को भविष्य में उखड़ने का भय कदापि नही होता, जो सबकी स्वस्थ जीवन-दृष्टि का परिचायक है—

'हम में तो आस्था है, कृतज्ञ होते
हमें डर नही लगता कि उखड न जावें कहीं।[3]

इस प्रकार की आस्थापरक दृष्टि को देखकर हिन्दी साहित्य 'नयी कविता' से बहुत-कुछ पा सकेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

---

१ डा० रघुवश नयी कविता का सामाजिक परिवेश, नयी कविता, अक २, पृष्ठ १५।
२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सम्पादकीय, आलोचना २०, पृष्ठ ५।
३ अज्ञेय इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ४२।

प्रवृत्तियाँ

अहंवाद—व्यक्तिवादी एवं आत्मवादी निष्ठा द्वारा प्रेरित अहंवादी प्रवृत्ति प्रयोगवादी एवं नयी कविता की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति मानी जा सकती है। आधुनिक साहित्य में 'अहम्' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थ में होता है जो फ्रायड के मनोविज्ञान पर आधारित है। फ्रायड के मनोविज्ञान में कामवृत्ति, संघर्ष-दमन और अवरोध महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार संघर्ष आरम्भ में मानस की दो सतहों में होता है, ऊपरी अथवा बाह्य सतह, जो वातावरण के सम्पर्क में आती है और भीतरी सतह, जो इस सम्पर्क में नहीं आती। पहली सतह को फ्रायड और उनके अनुयायी 'अहम्' संज्ञा देते हैं।[१]

प्लेखानोव के अनुसार जब मनुष्य अपने अहम् को एकमात्र सत्य मान लेता है, तब वह अपने अहम् एवं बाह्य जगत् के बीच निश्चित नियमानुकूल कोई चेतन संबंध स्थापित नहीं कर पाता। बाह्य जगत् उसके लिए या पूर्णतया अवास्तविक हो उठता है या यदि वास्तविक होता भी है तो केवल वहीं तक, जहाँ तक उसका अहम् सन्तुष्ट होता हो। प्रयोगवादी काव्य धारा पर प्लेखानोव के अहम्वादी विचारों का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपने अहम् का प्रदर्शन ही करना है। अपने एकान्त व्यक्तित्व को प्रमाणित करने के लिए ही, किसी मौलिक अपूर्णता या अपर्याप्तता के ज्ञान को अपने अहं के आगे से हटा देने की चेष्टा ही साहित्यकार को साहित्य सृजन की ओर अग्रसर करती है, इस प्रकार मनोविज्ञान की दृष्टि से क्षतिपूरक क्रियाएँ ही साहित्य एवं कला के जन्म का कारण होती हैं।[३] व्यक्ति के अहं से इस प्रकार की नियन्त्रित कला समाजपरक नहीं हो सकती, यही कारण है कि अज्ञेयजी के लिए 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का कुछ महत्त्व नहीं है, क्योंकि

---

१ साहित्य कोश, पृष्ठ ८६।

२ When a man considers his own 'ego' to be the sole reality Then he can find no objective connection rational in the sense of being determined by definite laws between his 'ego' on the one hand the external world on the other The external world must appear to him as either altogether unreal or as real only in the part—in so far namely That is to say on the 'ego'

—G V Plekhanov Art And Social Life P 227.

३. त्रिशंकु, पृष्ठ २७।

कला कला के लिए भूठ नही है, वह अत्यन्त सत्य है।[1]

अज्ञेय समाज की शक्ति को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका अहंवादी कवि व्यक्ति के व्यक्तित्व की अखंड सत्ता का प्रतिपादन अधिक सशक्त शब्दों में करता है। समाज की स्रोतस्विनी में व्यक्ति 'नदी के द्वीप' के रूप में अपने व्यक्तित्व को विनाश के उपरान्त भी कायम रख सकता है—

यदि ऐसा भी हो
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम, जमेंगे हम।[2]

नयी कविता तक पहुँचते-पहुँचते कवियों का 'अपनापन' से मोह तो उसी प्रकार बना रहा, परन्तु कविता को सामाजिकता वाले पक्ष की भी अवहेलना न हो सकी। कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में 'समाज के प्रत्येक सदस्य की छोटी-से-छोटी चेतन-क्रिया किसी-न-किसी अंश में सामाजिक होती है, फिर कविता तो समाज के सबसे अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतन-क्रिया है। उसकी सामाजिकता असंदिग्ध है।[3]

प्रायः नये कवियों ने अहंवादी कुंठा से उबरकर सामाजिक धरातल पर आत्म-वेदना की अनुभूति की है—

क्योंकि ओ प्रभु
मैंने तुम्हें
हर कहीं, हर मोड़ पर
असंख्य बौनों में
गलित अंग निर्धन ठिठुरते
अधों में लँगड़े लूलों में
पथ में रेंगते बिलखते देखा है।[4]

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की दृष्टि में अहंवादी होना दोष नहीं है, सामाजिक दायित्व को पूर्णतया निभानेवाला व्यक्ति भी अहंवादी हो सकता है, इस प्रकार अहम् विकृति नहीं, प्रकृति है। अहम् अपने अस्तित्व का समर्थन है और अपने अस्तित्व का समर्थन करना सामाजिक दोष नहीं है। अहम् केवल अपने अस्तित्व की माँग करता है, उसकी स्वीकृति चाहता है और उसके माध्यम से जीवन, सौन्दर्य और

---

१. त्रिशंकु, पृष्ठ २६।
२. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर, नदी के द्वीप, पृष्ठ ६६।
३. तीसरा सप्तक, पृष्ठ १६८।
४. मसयज नयी कविता, अंक ४, पृष्ठ ४४।

समाज का साक्षात्कार करना चाहता है ।[1] इस प्रकार व्यापक दृष्टि से देखने पर जीवन के लिए अहम् की अनिवार्यता सामाजिक दायित्व के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है । वस्तुतः नये कवियों की दृष्टि में सामाजिक मानदण्डों की उपयोगिता तो है, परन्तु आज के युग का व्यक्ति नगण्य माना जाय, यह उस कवि को स्वीकार नहीं है । आज के युग में यदि सामाजिक प्रगति में नैतिक आदर्शों का भी कुछ स्थान है तो उनकी प्राप्ति व्यक्ति की मर्यादा स्वीकार करने से ही हो सकती है, व्यक्ति-मानव की विस्थापित मन स्थितियों में आत्म बल, विश्वास और आस्था की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक मानव-व्यक्तित्व की अहम्-सत्ता को स्वीकार करके व्यक्ति का खोया हुआ स्वाभिमान उसे वापस नहीं मिलेगा, जब तक समाज का यथार्थ व्यक्ति-सापेक्ष नहीं होगा । यदि सामाजिक तत्त्व जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश है तो व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-तत्त्व उस महत्त्वपूर्ण अंश का पूरक है । यदि जीवन समग्रता का प्रतीक है तो उस समग्रता में व्यक्ति-समग्रता को स्वीकार करना होगा ।[2]

आज का नया कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार होना चाहता है । जो कुछ वह देखता है, अनुभव करता है, उसे वह निर्भीकता से व्यक्त कर देना चाहता है । कभी-कभी होता यह है कि समाज जिन वर्जनाओं को मानता है, कवि उनका खंडन करता है, उन वर्जनाओं के पंजे में घुट-घुट कर मरना नहीं सिखाता—

मैं केवल इतना कहता हूँ
इस सूने कमरे की सिसकन से क्या होगा ?
बाहर आओ,
सब साथ-साथ मिलकर रोओ,
आँसू टकराकर अंगारे बन जाते हैं
फट पड़ते हैं युग-युग के ज्वालामुखी सुप्त,
शायद धरती पर पड़ी दरारें मुँद जायें ।[3]

व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा होने पर ही, व्यक्ति के स्वाभिमान को बनाए रखकर समग्र समाज उन्नत हो सकेगा—

ओ महाप्रलय के बाद नये उगते शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्यमालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना ।
आसूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख

१. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ २२३ ।
२. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ २२५ ।
३. विजयदेवनारायण साही : तीसरा सप्तक, हिमालय के आँसू, पृष्ठ ३०१ ।

कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष-वचन कहने वाले :
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़,
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेंगे ।[1]

आधुनिकता और समसामयिकता—मनुष्य के जिस स्वाभिमान की रक्षा का आग्रह नये कवियों में मिलता है, उस स्वाभिमान का मूल यथार्थ आधुनिकता और समसामयिकता द्वारा ही निर्धारित हो सकता है ।

आधुनिकता वास्तव में देश-काल के बोध का परिचायक है । अपनी प्रकृति में आधुनिकता मानव प्रगति द्वारा जोड़े गये जीवन के नये अर्थ और नये परिवेश की स्वीकृति है । जीवन को हम जिस नये अर्थ अथवा नवीन परिवेश में देखते हैं, वह न तो ईश्वरप्रदत्त है और न स्वयं का उपजा हुआ सत्य है, वरन् वह निजी क्रिया-शीलता का प्रारूप है । इस वैज्ञानिक आधार पर हम जिस आधुनिकता को सामने पाते हैं, उसके संदर्भ में आज के कवि का दाय जीवन के जागरूक क्षणों में जीना और उनके द्वारा प्राप्त अनुभूतियों को भोगना मुख्य हो जाता है ।[2] पूर्ववर्ती कवियों की दृष्टि किसी वस्तु के विवेचन और विश्लेषण की ओर उतनी नहीं रही है, परन्तु आज के युग में बौद्धिकता के विशेष आग्रह के कारण इस विस्तृत सृष्टि के पार्थिव रूप, इसके स्थूलत्व और इसकी व्यापकता को अस्वीकार कर किसी कल्पना-सृष्टि को स्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसके साथ-ही-साथ आज का कवि इस बात को बड़े चाव के साथ स्वीकार करना चाहता है कि मनुष्य एक व्यापक विषय है, उसकी अपनी गति है, उसकी अपनी महानता है और उसकी अपनी प्रतिभा है । आज का कवि इस तथ्य का स्वागत करता है कि अपनी समस्त दुर्बल-ताओं के बावजूद मानव अपने में महान् है । साहित्य में उसे जयी दिखाने के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अवतार के परिवेश में आये या उसे पराजित घोषित करने के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह दुष्ट वृत्तियों का शिकार हो । आधुनिकता मनुष्य को उसके सामान्य परिवेश में ही उसे जय-पराजय की भावना से अभिभूत देखने की कायल है । इस प्रकार यथार्थ को स्वीकार करने का आग्रह और मनुष्य को मनुष्य रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा आधुनिकता की देन है । मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार कर ,उसका यथार्थ विश्लेषण करने की प्रवृत्ति नयी कविता की अपनी विशेषता है—

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ ।

---

१. विजयदेव नारायण साही : तीसरा सप्तक, नये शिखरों से, पृष्ठ २६६ ।
२. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ २५२ ।

जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ।
फोड़-फोड़ कर जितने को मेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, मैं उतना खेत हूँ।[१]

आधुनिकता जितना हो समसामयिकता का प्रश्न भी नयी कविता के लिए महत्वपूर्ण है। आधुनिकता यदि युग-विशेष का गुण है तो समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है।[२] समसामयिकता से आशय है देश-काल के दायित्व के साथ-साथ उस क्षण की गहरी तीव्रानुभूति की ग्राह्यता, जो परिस्थितियो से उपजती है और बिना किसी पूर्वाग्रह के सहज सामयिक औचित्य के साथ व्यक्त होती है।[३] आज के नये कवि की धारणा यह है कि वह आज तक जीवन की समसामयिकता से पृथक् रहने पर मजबूर किया गया था, आज वह अपनी समस्त अपूर्णता के बावजूद समसामयिकता को देखना, परखना और भोगना चाहता है।[४] आज के इस युग में वह इस जन-समूह में और विराट मानव-आन्दोलन में, शोर और गुल में अपने को खोना नही चाहता, अपने समसामयिक परिवेश में जो कुछ हम कल थे और जो कुछ कल होंगे, उसकी अपेक्षा आज इस क्षण, इस देशकाल के सदर्भ में हम क्या है, अधिक मूल्यवान है। जीवन का एक भी क्षण, यहाँ तक कि पीडा और कुठा भी व्यर्थ नही—

ये सब बन जाते पूजा-गीतो की कडियाँ
यह पीडा, यह कुठा, ये शामें, ये घडियाँ
इनमें से क्या है
जिसका कोई अर्थ नही ?
कुछ भी तो व्यर्थ नही।[५]

नवमानव की कल्पना—आज के युग में भौतिक शक्तियो के विस्तार के कारण मानव का उत्तरदायित्व भी पूर्ववर्त्ती काल की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। इस युग की व्यापक भौतिक शक्तियो के विस्तार की भूमिका में समस्या

१. अज्ञेय, आंगन के पार द्वार, पृष्ठ ४७।
२ लक्ष्मीकान्त वर्मा . नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ २६५।
३ वही, पृष्ठ २६३।
४. वही, पृष्ठ २६७।
५. भारती : सात गीत वर्ष, पृष्ठ ५१।

है इन समस्त शक्तियों को सँभालने का उत्तरदायित्व वहन करना। मानी हुई बात है कि ऐसा उत्तरदायित्व तभी वहन किया जा सकता है, जब नये भाव-स्तर पर मनुष्य की मनुष्य के प्रति सहज आस्था जागरित हो—इतनी विशाल, इतनी प्रगाढ़ आस्था जिसे अन्तरिक्ष में स्थित ग्रहों-उपग्रहों की विजय का दर्प या इस पृथ्वी के विज्ञान की भौतिक यान्त्रिक सामर्थ्य भी न तोड़ सके। आज के नये कवि का, जो बहुत अंशों में मानव-मनोजगत् का सूक्ष्म परिवेक्षक, संग्रह-घटक या निर्माता माना जा सकता है, आस्था के इस नवजागरण में योगदान देने का पूर्ण प्रयास है।[1]

आज के सृष्टि के विभिन्न कोनों में मानवता के नाम दुहाई दी जा रही है। पूर्व के युग में ईश्वर की अमूर्त भावना के नाम पर मानवता का गला घोंटा जाता था, आज का मानव-कल्याण के नाम पर विग्रह, रक्तपात, शीतयुद्ध और महायुद्ध रचाये जाते हैं और अणु-युद्ध की भी यत्र-तत्र चर्चा सुनने में आती है, आज ईश्वर के नाम पर नहीं, मानवता के नाम पर मानवता में विग्रह दिखाई देता है। इससे और कुछ तो नहीं, पर इतना अवश्य सिद्ध होता है कि आज मानवता की अवहेलना करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है और मानवता अपने अधिकार और दायित्वों के प्रति अधिक जागरूक है।[2]

प्रयोगवाद एवं नयी कविता के एक प्रतिमान के रूप में 'लघु मानव' की कल्पना की गई है। मनुष्य को उसके सहज रूप में लघु मानने की प्रवृत्ति समाज के लिए घातक है। जहाँ कहीं 'लघुता' की चर्चा व्यंग्यात्मक रूप में हुई है, वहाँ वह निश्चित रूप से मनुष्य की महानता का प्रतिपादन करती है, परन्तु सहज रूप में 'लघुता' को वरेण्य मानना और उसका गुणगान करना युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। प्रयोगवाद में 'लघुता' की स्थापना की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। कवि नेमिचन्द्र कहते हैं—

तुम चिर असीम के आगे निज सीमित कुरूप
अपने मन का पहचाना गया है वह स्वरूप
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार
कितना दुर्बल है बौना अपना अहंकार।[3]

नयी कविता में भी मानव की लघुता पर कम बल नहीं दिया जा रहा है, परन्तु नयी कविता में उत्तरोत्तर विकास-क्रम के लिए 'लघुता' को वरेण्य मानने का दुराग्रह कम होता जा रहा है। डा० जगदीश गुप्त की दृष्टि में महानता अथवा वीर-पूजा का विरोध करना, और लघुता को एक प्रतिमान बनाकर मानव

---

१. जगदीश गुप्त : नयी कविता—नये मनुष्य की प्रतिमा, पृष्ठ १२।
२. गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान, निवेदनम्, पृष्ठ १०।
३. नेमिचन्द्र : तार-सप्तक, पृष्ठ ३०।

व्यक्तित्व पर उसे आरोपित करने का यत्न करना निरर्थक और परस्पर विरोधी है।[१]

नये मनुष्य की विशेषताओं की ओर इंगित करते हुए डा० जगदीश गुप्त कहते हैं कि नया मनुष्य रूढ़ि-ग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव-मूल्य के रूप में स्वातन्त्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृतसंकल्प, कुटिल स्वार्थ-भावना-मात्र के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः समान मानने वाला, मानव-व्यक्तित्व को अपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अनवनत मनुष्य की अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान्, प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अंतःकरण संयुक्त, सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवेक-सम्पन्न होगा। डा० जगदीश गुप्त ने ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य माना है।[२]

नये मनुष्य की स्थापना के लिए नया कवि मनुष्य के व्यक्तित्व और स्वाभिमान को केन्द्र में रखकर आस्थापूर्ण दृष्टिकोण से सारी स्थिति पर विचार करने में विश्वास करता है और यदि आवश्यकता हो तो पुरानी मान्यताओं में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। भिखारी की दयनीय अवस्था से आज के नये कवि को वेदना नहीं होती, वेदना होती है, जिसमें मानवोचित स्वाभिमान का अभाव देखकर, चिन्ता होती है ऐसा कुछ करने की कि उसकी दुर्बलता दर्प में बदल जाय—

> यदि दुर्बलता दर्प में बदल जाय,
> व्यथा अन्तर्दृष्टि दे,
> खंडित आत्माएँ
> संचित कर सकें शक्ति की समिधाएँ,
> जो जलकर अग्नि को भी
> गन्ध ज्वार बना दें
> तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया
> चाहे मर्म सहलाया न हो कुरेदा हो।[३]

यदि मानव व्यक्तित्व समय के चक्र में पड़कर आहत हो गया है तो इसका

१. जगदीश गुप्त : नयी कविता (४) नये मनुष्य की प्रतिष्ठा, पृष्ठ १२-१३।
२. वही, पृष्ठ १२-१३।
३. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : तीसरा सप्तक, मैंने कब कहा, पृष्ठ २६३।

यह तात्पर्य नहीं कि उसकी शक्ति चुक गई है, अवसर पाकर वह पुनः ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकेगा—

> ....तब मैं
> रथ का टूटा हुआ पहिया
> उसके हाथों में
> ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।[1]

प्रवृत्तिमुखी जीवन की अभिव्यक्ति

प्रत्येक युग का अपना सामाजिक परिवेश होता है, अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण प्रत्येक युग-विशेष में कवि या साहित्यकार विशिष्ट प्रकार के संवेदन का अनुभव करता है। हिन्दी साहित्य के प्रथम उत्थान-काल में कविता जीवन-फलक को अपना केन्द्र मानकर प्राचीन रीति परम्परा को छोड़ नवीन परम्परा की ओर अग्रसर हुई थी और कवियों ने युग-विशेष की परिस्थिति से संवेदित होकर काव्य-सृजन का कार्य हाथ में लिया था। उस समय युग नये सिरे से निवृत्ति का मार्ग छोड़कर प्रवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हुआ था। उन्नीसवीं सदी के नवोत्थान ने, जो एक प्रकार से प्रवृत्ति के उत्थान का सन्देश लेकर आया था, वेदों और उपनिषदों के पुराने सत्यों को पुनर्जन्म देकर उनकी नवीन व्याख्या करके समस्त देश को प्रवृत्ति का उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया। आधुनिक युग के प्रारम्भ होने के पूर्व जीवन से भाग खड़े होने एवं वैराग्य-जनित भावना को जन्म देने सम्बन्धी अनेक प्रकार की कविताएँ लिखी गई थी, परन्तु भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी कविता प्रवृत्ति अर्थात् जीवन की जय की कविता हुई, इसके आगे द्विवेदी-युग की कविता प्रवृत्ति और कर्मयोग की कविता हुई—ऐसी कविताएँ लिखी ही नहीं गईं; जिनसे जीवन की उपेक्षा ध्वनित हो। छायावाद आया तो जीवन-मूल्यों की चेतना लेकर आया तथा प्रगतिवाद जीवन-यथार्थ की शक्ति से प्रेरित होकर साहित्य-क्षितिज पर अवतीर्ण हुआ। इस प्रकार विभिन्न सामयिक परिवेशों में, विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित हो हिन्दी कविता जीवन-मूल्यों एवं जीवन के यथार्थ से अनुप्राणित हो प्रवृत्ति के मार्ग में प्रवाहित होती रही।

जीवन की अतल गहराइयों में जो परिवर्तन होते हैं, कविता में उसकी छाया सबसे पहले पड़ती है। प्रयोगवाद-युग के आरम्भ में मनुष्य का जीवन अनेक प्रकार की विषमताओं से आक्रान्त था। मनुष्य अपने संस्कारवश धर्मनिष्ठ, आदर्शवादी और मानवतावादी बनने का प्रयास करता था, परन्तु समस्त चेष्टा के बावजूद वह अपने में उस आन्तरिक निष्ठा का अभाव पाता था, जो जीवन-धारा को अग्रसर

---

१. भारती : सात गीत वर्ष, टूटा पहिया, पृष्ठ ९३।

करती है। समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ, बेईमानी, घूसखोरी, चोरबाजारी, अकर्मण्यता का विष इतने गहरे प्रविष्ट हो गया था कि समाज उसके प्रभाव से बच नहीं पाता था। सदियों के बाद देश को स्वतन्त्रता मिली, पर उस स्वतन्त्रता का स्वाद मुट्ठी-भर लोगों को मिला। अँधेरे में मुसाफिरों को रोशनी तो नहीं मिली, लेकिन उसका आभास जरूर मिला। उनकी आँखों के सामने रास्ता खोजकर जानेवाली परछाइयों की लम्बी कतार तो दिखाई पड़ी, लेकिन वे खुद उस कतार के साथ न हो सके, क्योंकि उन्होंने अपने चारों ओर अपने ही थूक से जाल बुन लिया था। घड़े की उन मछलियों को आजाद करके समुद्र में तो जरूर छोड़ दिया गया था, लेकिन वहाँ भी वे उसी घड़े की सीमा में चक्कर काटती रहीं।[1] ऐसे सामाजिक विघटन और जड़ता का अनुभव सभी बुद्धिजीवी मनुष्य कर रहे थे। अत्यधिक संवेदनशील प्राणी, कवि ने भी इस जड़ता और उसके कारण कुंठा का अनुभव अपने जीवन में किया। यही कारण है कि प्रयोगवादी कविता एक प्रकार से अनिश्चय, आशंका और अनास्था के बीच लड़खड़ाती रही और प्रवृत्त्येतर मार्ग पर भटकती रही, सम-सामयिक जीवन की अव्यवस्था, हलचल आदि के दबाव में प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर निराशा, कुंठा एवं अनास्था ही रहा, परन्तु विकसित परम्परा की आवश्यक कड़ी के रूप में इस अनस्थिरता से व्याप्त काव्य-प्रवृत्ति ने अपना दाय नयी कविता को सौंपा, तब तक काव्य में स्थिरता आ गई थी और अनास्था, निराशा आदि का स्थान आस्था एवं आशा ने ले लिया था और कविता पुनः प्रवृत्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हुई।

प्रयोगवादी काव्य-धारा के प्रवर्तक अज्ञेय ने ही अपने सामाजिक परिवेश से विक्षुब्ध हो अपनी दीनता और लघुता का डंका पीटना प्रारम्भ किया—

मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही हूँ वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहं-लीन शिशु-भिक्षुक।[2]

अज्ञेय ने निषेधात्मक ह्रासमूलक प्रवृत्तियों को दार्शनिक स्तर तक प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। नकारात्मक एवं ह्रासशील प्रवृत्तियों की अनिवार्य परिणति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह तर्क रखा कि दर्द तभी तक क्लेशकर होता है जब तक हम उससे लड़ते रहते हैं। इस विशाल के आगे अपने आपको समर्पित कर देने के बाद सब क्लेश मानो झर जाते हैं।[3] दुःख के सम्बन्ध में उनकी धारणा है—

---

१. तारसप्तक, पृष्ठ ७८।

२. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर, नदी के द्वीप, पृष्ठ ६६।

३. अज्ञेय, शिशु।

दुःख सबको माँजता है
चाहे स्वयं मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।[1]

अपनी सामाजिक अनुपयोगिता को स्वीकार करते हुए नेमिचन्द्र कहते हैं—

है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की,
सब तरफ फैले हुए
उन विविध गतिमय, प्राणमय
संचलित तत्वों से किसी सम्बन्ध की,
कुछ स्वतःस्फूर्त सजीव विनिमय की—।
इसलिए ओ मार्ग-दर्शक,
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सा।[2]

इस प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों में रम जाने की तैयारी जीवन की स्वस्थ प्रवृत्ति-मूलक तैयारी नहीं कही जा सकती। जीवन में दुःख है, दर्द है, यह सत्य है; परन्तु यही एकमात्र सत्य नहीं है—नारकीय यंत्रणा भोगना प्रवृत्ति का सन्देश नहीं हो सकता, प्रवृत्ति का सन्देश होता है जीवन, आस्था, जीवन के उत्थान की मंगलकारी भावना। प्रवृत्ति की आधारशिला है कर्म और कर्मठता, कर्म और कर्मठता के बल पर जीवन में आशा, आस्था एवं उल्लास की भावना अधिक बलवती होती है। अतः प्रयोगवादी कविता में और कहीं-कहीं नयी कविता में जहाँ अनास्था, कुंठा, पलायन एवं निराशा की भावना की अभिव्यक्ति है, वहाँ कवियों का स्वर निस्सदेह प्रवृत्ति के स्वर के विपरीत माना जाएगा।

अनास्था एवं अस्वीकार का मोह नये कवियों में क्रमशः घटता गया है। 'आज अनास्था का युग है', 'नव सामूहिकता के यांत्रिक मूल्यों के कारण व्यक्तिमूर्ति के भाल पर चिन्ता-त्रिपुंड दिख रहा है' जैसे वाक्यों की निरर्थकता की ओर संकेत करते हुए श्री नरेश मेहता कहते हैं कि साहित्य स्वीकारोक्ति है। अस्वीकार एक दर्शन विशेष या राजनीति विशेष में तो संभव है, किन्तु साहित्य में नहीं। जिस प्रकार आलसी कोई साहित्यकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार अनास्था किसी संवेदनशील चेतना की आधार-स्थिति नहीं हो सकती। आस्था हमारी चेतना को स्थिति देती है। यह स्थिति हमें एक भूभाग पर तथा मानस-क्षेत्र पर गति-संपर्क देती है। यह गति-संपर्क या गति-शील प्रक्रिया हमें रूप, रस, गंधवाले भावजगत् के सत्य

---

१. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ५५।
२. नेमिचन्द्र : तार सप्तक, पृष्ठ ३०।

से परिचित कराती है। अनास्था को किसी भी युग के साहित्य में मान्यता नहीं मिल सकती। अनास्था आत्महत्या है।[१]

कवि या व्यक्ति यदि आत्म-संघर्ष में न पड़े और समाज की प्रगतिशील शक्तियों के रुख को समझकर उनसे जूझने के लिए अपनी आत्मीयता का रक्तदान दे उन्हें सबल बनाए तो निश्चित रूप से नकारात्मक विचारधारा का अन्त हो सकता है और वही विचारधारा कवि को प्रगतिशील शक्तियों से सामंजस्य करने के लिए प्रेरित कर नवीन आस्था का उदय कर सकती है।[२] नवीन विश्वास और नयी आस्था की भावना से प्रेरित हो कवि हरिनारायण व्यास कहते हैं—

> ओ जगत् के दीनजन
> अपने अडिग विश्वास का सूरज प्रकाशित हो गया,
> अब शिथिलता को विदा दो
> जा चुके क्षण अब विवश आराम के।[३]

भारती को नयी सृष्टि के सतरंगी सपनों के आगमन का पूरा विश्वास है, इसलिए वे प्रलय से निराश होना नहीं चाहते, क्या पता, ध्वंस में ही कहीं नयी जिन्दगी मूर्च्छितावस्था में पड़ी हो—

> प्रलय से निराशा तुझे हो गई
> इसी ध्वंस में मूर्च्छिता हो कहीं
> पड़ी हो, नयी जिन्दगी, क्या पता ?
> सृजन की थकन भूल जा देवता।[४]

जीवन भूख, लाचारी, गरीबी से त्रस्त हो सकता है, परन्तु इन सबकी ताकत से बड़ी आदमी के सृजन की ताकत है और कविता, जो सृजन की आवाज है, नया विश्वास और नया इतिहास देती है—

> लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ,
> नया इतिहास देती हूँ,
> कौन कहता है कि कविता मर गयी ?[५]

जो यह सोचता है कि आदमीयत इस दुनिया से उठ गई, सृष्टि के आरंभ से जो चली आ रही है, वह आदमीयत की कहानी इस युग में आकर निःशेष हो

१ नरेश मेहता सध्याख्या, नयी कविता (३), पृष्ठ ४८।
२ हरिनारायण व्यास दूसरा सप्तक, पृष्ठ ९१।
३ दूसरा सप्तक, शिशिरान्त, पृष्ठ ७७-७८।
४ वही, थके हुए कलाकार से, पृष्ठ १८१।
५ वही, कविता की मौत, पृष्ठ २२२।

है, तो यह सोचना भूल है—

आदमी इतना नहीं कमजोर है
पलक के जल और माथे के पसीने से
सींचता आया सदा जो स्वर्ग की भी नींव
ये परिस्थितियाँ बना देंगी उसे निर्जीव ?[1]

अज्ञेय की अधिकांश कविताओं में आस्था व विश्वास के स्वर ध्वनित होते हैं। उनका विश्वास है कि 'नकारों' के सहारे जिन्दगी नहीं चला करती—

कहा तो सहज, पीछे लौट देखेंगे नहीं—
पर नकारों के सहारे कब चला जीवन ?[2]

अन्यत्र वे यह कामना करते हैं कि आस्था न काँपे—
'आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।'[3]

मानवता में अज्ञेय की गहरी आस्था है। उनकी समस्त चेतना में मानव-मात्र की वेदना व्याप्त है—

मेरे हर, सुख में
हर दर्द में, हर पल, हर हार में
हर साहस, हर आघात के हर प्रतिकार में
धड़के नारायण! तेरी वेदना
की गति है मनुष्य मात्र की।[4]

कवि के अस्तित्व की "पंचमुखी गागर", मानव के प्यार की प्यासी है। वह अन्य किसी-वस्तु से नहीं भर सकती। ""अस्तित्व की यह पंचमुखी गागर मात्र कवि की ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति की है। व्यक्ति का हृदय रूपी गागर प्रेम से भरेगा, तभी मानवता की प्यास बुझेगी—

ऐसी पंचमुखी गागर
मेरे समूचे अस्तित्व की—
× × ×
प्यासी है प्यासी है गागर यह
मानव के प्यार की
जिसका न पाना पर्याप्त है,
न देना यथेष्ट है,

---

१. भारती : कविता की मौत, दूसरा सप्तक, पृष्ठ २०२।
२. अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृष्ठ १४।
३. अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ६१।
४. अज्ञेय : कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ ३४।

पर जिसकी दर्द की अतर्क्ति पहचान
पाना है, देना है, समाना है।[1]

वैज्ञानिक दृष्टिकोण में अटूट आस्था रखनेवाले कवि कुँवरनारायण कहते हैं कि मेरे लिए स्थापित सत्य-चाहे वे राजनैतिक हों, चाहे सामाजिक, चाहे शास्त्रीय उतने महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी वह बुद्धि जिसने उन सत्यों को जन्म दिया। सिद्धान्तों मे गलतियाँ हो सकती हैं, उन्हें जीवन पर लागू करने में गलतियाँ हो सकती हैं, नितान्त उदार और वैज्ञानिक मान्यताएँ अन्धविश्वासी नारे बना दी जा सकती हैं, पर यदि कोई एक आस्था रखी जा सकती है तो मनुष्य की उस संयत और निःस्पृह बुद्धिमत्ता में ही, जो भरसक सत्यों की मौसमी सरगर्मी से बचकर धैर्य के साथ जीवन को उसकी पूर्णता में समझने का प्रयत्न करती रही है।[2] 'पगडंडी' शीर्षक कविता में कवि के हृदय की यही आस्था सशक्त रूप में दिखाई देती है—

मैं तुम्हें बल दूँगा आशा से चलने का,
दूँगा संकेत तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचने का,
खोने की दुविधा से तुमको बचाऊँगा,
जीवन के राजमार्ग से तुम्हें मिलाऊँगा।[3]

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय देता हुआ कवि अपनी जीवन-आस्था व्यक्त करता है—

हम एक इशारा हैं जो भिन्न दिशाओं में,
हमसे होकर सदियों के प्रश्न गुजरते हैं,
हम एक व्यवस्था हैं क्षणभंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं।[4]

डॉ० धर्मवीर भारती ने आस्था की गहराई में उतरकर कर्म तथा सत्य की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है। युधिष्ठिर के 'अर्ध-सत्य' को इन्होंने समस्त मानवीय संकल्पों के प्रतिकूल माना है, क्योंकि उसी के परिणाम-स्वरूप अश्वत्थामा में प्रतिहिंसा की भावना जागृत होती है। कवि ने यह तथ्य प्रतिपादित किया है कि जब ऊँचे स्तर के इतिहास-निर्माता व्यक्ति आस्था और मर्यादा को भंग करते हैं तो निचले स्तर पर उसकी अमानवीय प्रतिक्रिया अवश्य होगी और तब तक मूल्य-हीनता छाई रहेगी जब तक कोई अन्य महापुरुष उस आदर्श चरित्र को पुनर्स्थापित नहीं करता। समस्त मानव-नियति से आबद्ध कृष्ण का चरित्र यही आदर्श प्रस्तुत

१. अज्ञेय : कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ ३३।
२. कुँवरनारायण : वक्तव्य, तीसरा सप्तक, पृष्ठ २४६।
३. तीसरा सप्तक, 'पगडंडी', पृष्ठ २८४।
४. वही — 'हम', पृष्ठ २८२।

करता है, "कोई नहीं, केवल—मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार।"[1] यह मानवतावादी भाव मानवजीवन के प्रति अगाध आस्था और सभी मूल्यों का गत्यात्मक रूप है। यह किसी धार्मिक प्रवृत्ति या अन्ध श्रद्धा को व्यक्त नहीं करता, नितान्त युगीन दृष्टि का परिचायक है।[2]

नये कवियों में वर्तमान के प्रति असन्तोष की भावना है, जो कि पूर्णतः स्वाभाविक है, परन्तु इस वर्तमान के असंतोष के साथ जहाँ भविष्य भी अंधकारपूर्ण दिखाई देता है, वहाँ आस्था डगमगाने लगती है। वर्तमान के असंतोष में जहाँ भविष्य के प्रति आशा की भावना रहती है, वहाँ जीवन-आस्था बनी रहती है और संघर्ष से जूझने की शक्ति प्राप्त होती है। काव्य-जगत् यदि नवीन जीवन के क्रीडा-स्थल और नये जगत् की रंगीनी से सिक्त हो सके तो कवि का धर्म और उसका सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाता है।[3] कवि गिरिजाकुमार माथुर वर्तमान की कटुता से घिरे होने पर भी जिन्दगी की मिठास के प्रति आशावान् हैं—

—किन्तु जिन्दगी की मिठास का रस लेने को
हमने कटुता से जुलकर संघर्ष किया है।[4]

कीर्ति चौधरी भी भविष्य के प्रति आशावान् हैं, इसलिए उनमें प्रतीक्षा के लिए धैर्य है—

—आखिर तो
बड़े गर्भित गन्ध-युक्त गुच्छों-सा
आयेगा भविष्य कभी।
करूँगी प्रतीक्षा अभी।[5]

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा अपने व्यक्तित्व के फौलादीपन की घोषणा इन शब्दों में करते हैं—

जटाएँ भी झुकती हैं भूतल को छूती हैं
चरवाहे की बंशी की टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ। फौलाद छाती लिए
जीता हूँ—

---

१. डा० धर्मवीर भारती : अंधा युग, पृष्ठ १०० ।
२. डा० शंभुनाथ सिंह : नयी कविता का इतिहास, पृष्ठ १६९ ।
३. हरिनारायण व्यास : वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ ६१ ।
४. गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान, पृष्ठ २६ ।
५. कीर्ति चौधरी : प्रतीक्षा, तीसरा सप्तक, पृष्ठ १२२ ।

मैं आज भी जिन्दा हूँ ।[1]

वर्तमान की उत्कंठा और आशंका के बीच श्रीहरि को नई जिन्दगी के आगमन का आभास मिलता है—

अन्दर आशंकित उत्कंठित होता रहता,
आतुर जगती भी नहीं चैन से सोती,
कुछ ऐसी ही मदमूत धरा की होती है,
जब नई जिन्दगी आने वाली होती है ।[2]

कवि मलयज की दृष्टि में हम कुंठा, पीड़ा और विवशता के विधायक नहीं हैं, यह हमारी सृष्टि नहीं है, परन्तु यह जो हमें विरासत में मिली है, उसका विसर्जन करना ही होगा—

हम (—राहु के अगणित बेटे)
पूर्वनिश्चित परम्परा का
साथ-साथ
विसर्जन करते हैं
प्रकाश के एक नये उत्कर्ष की भूमिका में .. ।[3]

प्रयोगवादी और नयी कविता में प्रवृत्ति की ओर झुकाव उसकी सामाजिकता में भी दिखाई देता है । इन कविताओं में सामाजिक आग्रह तीन रूपों में उपलब्ध होता है, पहला, व्यक्तिवादी परिधि या अहं की सीमा-रेखा तोड़ने के उद्घोष के रूप में, दूसरा, समष्टि हेतु व्यष्टि-समर्पण की अनुगूंज के रूप में और तीसरा, समष्टि कल्याण के स्वर की अभिव्यक्ति के रूप में ।[4]

कवि अपनी व्यक्तिवादी परिधि या अहं की सीमा-रेखा तोड़ने की आवश्यकता का अनुभव तब करता है, जब वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत होता है । डा॰ जगदीश गुप्त इस भावना को दुहरे दायित्व के रूप में स्वीकार करते हैं । व्यक्ति की महत्ता के साथ-साथ एक व्यापक सामाजिक दायित्व का उदय इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता कही जा सकती है । व्यक्तित्व का घेरा इतना अधिक फैल गया है कि सम्पूर्ण मानवता के क्षय और जय की समस्या उसके अपने जीवन और मरण की समस्या बन गई है, फलत आज के नये साहित्य का यह विचित्र विरोधाभास है कि वह अनुभूति में व्यक्तिनिष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधि-

१ लक्ष्मीकान्त वर्मा : हस्ताक्षर, नयी कविता (१), पृष्ठ १२ ।
२ श्रीहरि : चार मुक्तक, नयी कविता (१), पृष्ठ ५८ ।
३ मलयज : राहु के बेटे, नयी कविता (४), पृष्ठ ६५ ।
४. शम्भुनाथ चतुर्वेदी · नया हिन्दी काव्य और विवेचना, पृष्ठ १५२ ।

काधिक सामाजिक होता जा रहा है।[1]

भारतभूषण अग्रवाल सामाजिकता के सम्मुख व्यक्ति के अस्तित्व को तुच्छ मानते हुए कहते हैं—

काल का रथ चक्र बढ़ता सदा निर्मम भाव से
उसके निकट व्यक्ति का है क्या मूल्य ?[2]

अज्ञेय की भाँति भारत भूषण अग्रवाल व्यक्ति के अस्तित्व को नदी के द्वीप के समान ठहराना नहीं स्वीकार करते, मानव व्यक्तित्व जीवन की नदी का द्वीप न होकर कवि की दृष्टि में जीवन से भरा निर्मल सरोवर है, यद्यपि वह धारा भी नहीं, उसे धारा से काट दिये जाने की व्यथा है—

... और हम यद्यपि नहीं हैं धार
यद्यपि हैं सरोवर मात्र
किन्तु यह केवल समय की बात !
लौटकर टुक ग्रीष्म आने दो,
किरण का हमको तनिक वरदान पाने दो,
सफल जाने दो।
हम अहम् को भूल
मेटकर अपनी बनावट
तोड़ सीमाएँ सभी
एक दिन फिर से मिलेंगे धार में
समवेत जीवन के सपरिमित ज्वार में।[3]

कीर्ति चौधरी भी अपने अहं का विलय समष्टि भावना में करना चाहती हैं—

कम से कम मेरा दर्प हटे
मैं जानूँ तो
जिस एक व्यथा से भटका-भटका मैं फिरता
वह, तुममें, उसमें, इस उसमें सभी जगह।[4]

नये कवियों में सामाजिक आग्रह का दूसरा रूप—समष्टि हेतु व्यष्टि समर्पण की भावना—अज्ञेय में सबसे अधिक मुखर है। उनका मदमाता दीप उनके अहं का प्रतीक है, जिसे वे समष्टि के प्रतीक, पंक्ति को समर्पित करने को आतुर हैं, क्योंकि

१. डा० जगदीश गुप्त नयी कविता—नया संतुलन, नयी कविता (२), पृष्ठ २८।
२. भारतभूषण अग्रवाल ओ अप्रस्तुत मन, न्याय की बाँहें, पृष्ठ ४२-४३।
३. भारतभूषण अग्रवाल . ओ अप्रस्तुत मन, हम नहीं हैं 'द्वीप', पृष्ठ ६३-६४।
४. कीर्ति चौधरी : कविताएँ, पृष्ठ ८७।

उसकी सार्थकता उसी में है—

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।[1]

अन्यत्र अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हुए अज्ञेय समष्टि का साथ देने से भी इनकार नहीं करते—

भीड़ का मत हो, डटा रहा, मगर
दिग्विद् पान्थ के समुदाय से तू
अकेला मत छूट।[2]

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना सबके साथ अपने को भी बँधा हुआ पाते हैं—

अनुभव करूँगा
इसके सबके साथ
कहीं मैं भी बँधा था
कहीं मेरा भी योग था।[3]

जिस पथ पर नयी मनुजता चली जा रही है, गिरिजाकुमार माथुर उसमें अपनी किरणमय निजता का विलय चाहते हैं —

ओ एक देह के खंड बिम्ब!
तू उस विराट् उजियाले में
दे मिला किरनमय निजता
जिस पथ पर चलती जाती नयी मनुजता।[4]

भारतभूषण अग्रवाल की कविता में भी समष्टि से मिलने का आग्रह दिखाई देता है—

हो गए हों हम भले म्रियमाण
पर
समवाय के अभियान में मिल
एक होने के लिए आकुल हमारे प्राण।[5]

सामाजिक आग्रह का तीसरा रूप नये कवियों में समष्टि-कल्याण की अभिव्यक्ति के रूप में मिलता है। लोक-मंगल और जन-कल्याण की यह भावना प्रवृत्ति का सबसे

१. अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृष्ठ ६२।
२. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृष्ठ ५१।
३. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, 'प्लेटफार्म' तीसरा सप्तक, पृष्ठ ३८७।
४. गिरिजाकुमार माथुर : देह की आवाज, नयी कविता (१), पृ० ८०।
५. भारतभूषण अग्रवाल : ओ अप्रस्तुत मन, पृ० ६३।

सबल तत्त्व है। लोक-मंगल-प्रेरक तत्त्वों की अभिवृद्धि निश्चित ही समाज में स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकती है। विश्व में कुटिलता है, त्रास है, पर यदि गिरिजाकुमार माथुर इस कुटिलता और त्रास के वातावरण में किसी प्रकार की कुंठा का अनुभव इसलिए नहीं करते कि उन्हें सत्य-शिव का विश्वास है और है विश्वास जन-कल्याण का—

विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य-शिव का तब हमें विश्वास है
और है विश्वास जन-कल्याण का
रंग, रस का, त्याग का, बलिदान का।[1]

विजयदेव नारायण साही की दृष्टि में इतिहास का संदेश है बहुजनहिताय। आज हम संघर्ष का मुकाबला कर लें, ताकि आगे आनेवाली पीढ़ी का दाय सुख-भोग उसे सौंप सकें—

साथियो, इतिहास का सन्देश है बहुजनहिताय :
आज भर लें, मार लें, कल भोग करना है हमें।[2]

विकृतियों के विनाश की अपेक्षा लोक-मंगल की प्रभा के प्रसार की आकांक्षा भवानी प्रसाद मिश्र में अधिक दिखाई देती है—

इस दुःखी संसार में जितना
बने हम सुख लुटा दें,
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के,
दो कन जुटा दें।[3]

अज्ञेय के अनुसार वे ही भावनाएं सार्थक हैं, जिनसे लोक-कल्याण फलित हो—

भावनाएं तभी फलती हैं कि इनसे लोक के
कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।[4]

निर्बल मनुष्य लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर भी कुछ कर सकने में असमर्थ होगा, अतः उचित यही है कि मनुष्य पहले स्वयं समर्थ हो ले और फिर दूसरों को लोक-कल्याण की शीतलता प्रदान करे—

प्यास पर तू विजय पा, पर
और जो प्यासे मिलें, उनके लिए

---

१. गिरिजाकुमार माथुर : तैंतीसवीं वर्ष गाँठ, नयी कविता (१), पृ० ८२।
२. विजयदेव नारायण साही, बड़ा मुँह छोटी बात, पृ० ३१४।
३. भवानी प्रसाद मिश्र 'प्रलय' दूसरा सप्तक, पृष्ठ ३१४।
४. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ५४।

चुपचाप निश्चय स्वच्छ शीतल
प्राण रस से भर।[1]

नये कवियों ने आधुनिक बुद्धिवादी युग को जीवन के संघर्षों से जूझने रहकर जीवन में विजय तक पहुँचाने वाले तत्त्वों-कर्म और श्रम-का संबल लेकर सामाजिक दायित्व सार्थक करने का संदेश दिया है।

अनासक्त कर्म-पद्धति को डा० धर्मवीर भारती उसके व्याख्याता श्री कृष्ण के व्यक्तित्व से भी श्रेष्ठ ठहराते हैं—

पता नहीं,
प्रभु है या नहीं
किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दशा बदल जाती है।[2]

नरेश कुमार मेहता की स्वस्थ मानववादी दृष्टि चरैवेति के सिद्धान्त में विश्वास करती है क्योंकि जीवन में अगति का नाम मृत्यु है। उपासना गति को जानी चाहिए, अगति की नहीं—नूतन के संग-संग चलते रहने से ही सुख की उपलब्धि हो सकती है—

मानव जिस ओर गया
नगर बने, तीर्थ बने,
तुमसे है कौन बड़ा?
गगन-सिन्धु मित्र बने,
भूमा का भोगो सुख, नदियों का सोम पियो
त्यागो सब जीर्ण वसन, नूतन के संग-संग चलते चलो।[3]

सूरज सदैव श्रम करता है, इसीलिए वह आदि श्रमिक माना जाना चाहिए, सूरज का उदय होना और दिन का निकलना श्रम की विजय ही तो है—

नव जीवन के हाथों में विश्वास खड्ग है, और अँधेरे वीरों का गिर रहा मुकुट है।
कितना श्रम करता है सूरज, इसीलिए वह आदि श्रमिक है,
कर्मशील हैं उसके रथ के रंग अश्व सब,
श्रम की विजय दिवस कहलाती।[4]

---

१. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृष्ठ ५१।
२. डा० धर्मवीर भारती : अंधा युग, पृष्ठ २४।
३. नरेश कुमार मेहता : जन गरबा, चरैवेति दूसरा सप्तक, पृष्ठ १२६।
४. वही, समय देवता वही पृष्ठ १३७।

कवि का उत्तरदायित्व दोहरा होता है। व्यक्ति की हैसियत से उसे जीवन में योग देना होता है, कर्मशील और कर्मठ बनना पड़ता है, श्रम करना पड़ता है और प्रवृत्ति-मार्ग पर चलकर व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन को सँवारना होता है और फिर कवि की हैसियत से अपनी रचना के माध्यम से उसे जीवन में योग देना होता है, अपनी शक्तिभर विविध रूपों में योग देना ही उसकी सार्थकता है। *और सार्थकता तभी है जब वह योग स्वभावतः साहित्यिक स्तर पर हो : केवल* स्थापना, वक्तव्य, घोषणा, उपदेश या नारे का मौका जीवन में और जगह बहुत है।[1] नयी कविता में जीवन-लालसा को बढ़ाने वाले संदेश वक्तव्यों और घोषणाओं में जितने हैं, उतने वास्तविक कविताओं में नहीं। यत्र-तत्र नयी कविता से जीवन-लालसा को बुझाने की ओर प्रेरित करनेवाली पंक्तियाँ भी दिखाई दे जाती हैं, जो निश्चित रूप से कवि की समस्त ईमानदारी के बावजूद स्वस्थ रचनाएँ नहीं मानी जा सकती।

प्रसन्नता का विषय है कि अधिकांश नये कवियों में जीवन की स्वस्थ भावना है। वे जिन्दगी में—अपनी जिन्दगी के माध्यम से और कविता के माध्यम से—खुलकर हिस्सा लेने में, उस विशिष्ट व्यक्ति की हैसियत से हिस्सा लेने में जो इच्छानुसार जब और जैसे कर्म करने का अधिकारी है, विश्वास करते हैं। ऐसे ही कवियों की सशक्त वाणी के माध्यम से सृजन की आवाज उभर कर ऐलान करती है—

क्या हुआ दुनियाँ अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तेहा
आदमीयत की अभी आवाज बाकी है
लो तुम्हें नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ।[2]

उपलब्धि और सीमाएँ

पुराने जीवन-मूल्यों के विघटन और नवीन जीवन-मूल्यों के निर्माण काल के बीच के संक्रान्ति-काल में उदय होकर प्रयोगवादी कविता ने दिग्भ्रम की अवस्था में प्रयोगशीलता की दिशा में प्रयाण किया। अथक प्रयत्न तथा अनुसंधान की दिशा में सतर्क रहकर भी प्रयोगशील कवि अपने तथाकथित सामाजिक परिवेश से ऊपर न उठ सके और उनकी कविताओं में मुख्य रूप से नैराश्य-जनित भावनाओं का ही प्रभुत्व रहा। कोई भी धारा ह्रासमूलक विघटनकारी तत्त्वों के बल पर साहित्य-क्षितिज में अपना स्थायी स्थान नहीं बना सकती। जीवन पर केन्द्रित रहना ही

१. रघुवीर सहाय : सम्भावना नयी कविता (४), पृष्ठ ३५।
२. भारती : कविता की मौत, दूसरा सप्तक, पृष्ठ २०२।

किसी भी काव्य-धारा के लिए पर्याप्त नहीं होता, प्रगतिशील जीवन-मूल्यों को ठोस आकार देने की ओर प्रयास कहीं अधिक आवश्यक होता है। जीवन पर केन्द्रित रहकर भी कोई भी काव्य-धारा तब तक जीवित नहीं रह सकती, जब तक उसमें जीवन को कर्म और सामाजिक दायित्व का दाय सौंपने की शक्ति नहीं होती। इसी प्रकार केवल जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर लेने से ही कोई काव्य-धारा प्रवृत्तिमुखी नहीं मानी जा सकती, उसे प्रवृत्ति के ठोस और स्वस्थ तत्वों से युक्त करने के लिये जीवन को कल्याणकारी मार्ग की ओर ले जाकर आस्था, आशा, उल्लास आदि तत्वों से पूर्ण करने की आवश्यकता होती है।

प्रयोगशील कविता का आरम्भ यथार्थ की दृष्टि के आग्रह से हुआ, यथार्थ की प्रतिष्ठा ने व्यक्ति के अन्तर्मन को उघाड़कर इस रूप में प्रस्तुत किया कि कविता में विकृतियों का आधिक्य हो गया। यदि प्रयोगशील कविता उसी दिशा में अपने प्रयोगों पर टिकी रहती, तो निश्चित ही उसका स्थानापन्न किसी अन्य नवीन काव्य-धारा को होना पड़ता, परन्तु नये कवियों ने अपने को वादी कहना अस्वीकार करके न केवल 'प्रयोगवादी' कविता को 'नयी' कविता का नाम दिया, वरन् नयी कविता में नये प्रगतिशील जीवन-मूल्यों की स्थापना करना भी प्रारम्भ कर दिया। यह बात नहीं कि नयी कविता में नैराश्य, पीड़ा, कुंठा और अनास्था की भावना को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया गया है, परन्तु यह बात सही नहीं है कि नयी कविता में एक ओर आशा-निराशा, आस्था-अनास्था के बीच द्वन्द्व की भावना है तो दूसरी ओर निराशा की अपेक्षा आशा के लिए और अनास्था की अपेक्षा आस्था के लिए अधिक आग्रह दिखाई देता है।

अध्याय ६

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता के विकास के चरण

मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण से जीवन और साहित्य को मुक्त कर प्रवृत्ति-दिशा की ओर मोड़नेवाले थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। प्राचीनता से नवीनता की ओर अग्रसर होते हुए संक्रांति काल में देशवासियों का नेतृत्व करने वाले भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत भारतेन्दु के नाम पर ही आधुनिक युग के प्रथम चरण का नामकरण किया गया। भारतेन्दु-पूर्व कविता आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों से विहीन थी, उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा थी और न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। काव्याकाश अंधकार से घिरा हुआ था और नयी रोशनी की प्रतीक्षा में आकुल था। पीड़ा की अन्तिम प्राणान्तक अनुभूति में ही मुक्ति की नयी आभा का संकेत छिपा हुआ था।

भारतेन्दु युगीन कविता का प्रारम्भ कला की नहीं, वरन् जीवन की जय की पुकार से होता है, तभी रीतिकालीन साहित्याकाश का कुहरा छँटता है और अंधकार को विनष्ट कर युग की नई रोशनी युग को नई चेतना प्रदान करती है। जीवन और साहित्य का जो सम्बन्ध टूट चुका था, उसे पुनः जोड़ा गया और कविता जीवन की तथा जनता की वाणी बनी। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने जीवन के मूलभूत गंभीर प्रश्नों के विवेचन और समाधान से कविता को प्राणवन्त किया। इस युग की कविता ने तत्कालीन यथार्थ को बड़ी ही उमंग से दोनों भुजाओं में समेट साहित्य को विस्तृत जीवन-फलक की भावभूमि प्रदान की।

जीवन के वे पक्ष, जो निवृत्तिमार्ग की ओर प्रेरित कर निषेधात्मक वृत्ति जगाते हैं, भारतेन्दु-युगीन कवियों को आकृष्ट न कर सके। उन्हें आकृष्ट किया प्रवृत्ति-मार्ग की ओर प्रेरित करनेवाले देशभक्ति, लोकहित, सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषोद्धार स्वतन्त्रता आदि विषयों ने। भारतेन्दु-युगीन कवियों की लालसा बढ़ी जीवन को सँवारने वाले तत्त्वों के प्रति, स्वस्थ जीवन के भोग के प्रति,

छायावादी कवियों ने प्रवृत्ति-चिन्तन के व्यापक धरातल पर अध्यात्म-चिन्तन को भी स्वीकार किया। वस्तुतः छायावादी आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन-मूल्यों के सर्जन व उपभोग के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं है, वरन् आत्ममुक्ति के संकीर्ण निवृत्ति-पोषित दायरे से बाहर निकलकर मानवमुक्ति और विश्वमुक्ति के व्यापक क्षितिज तक जा पहुँचने का भाव है। इस युग का अध्यात्म-चिन्तन परलोक से नहीं इस जीवन के प्रति अनासक्ति से नहीं, वरन्, इसी धरती पर सन्तुलित एवं प्रयत्नशील जीवन से सम्बन्धित है।

छायावादोत्तर काल के तत्कालीन जीवन में व्यक्तिवाद की मुख्यरूप से प्रतिष्ठा थी। उस समय अनेक स्वदेशी-विदेशी प्रभावों के कारण मानव-चेतना मध्य-युगीन रूढ़ियों से प्रायः मुक्त हो चुकी थी। दर्शन के क्षेत्र में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा, राजनीतिक के क्षेत्र में व्यक्ति का बढ़ता हुआ प्रभाव, अर्थ-व्यवस्था में पैतृक-सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ द्वारा अर्जित पूँजी का विकास और समाज के क्षेत्र में व्यक्ति के प्रयत्नों की वर्धमान सफलता आदि ऐसे सार्वभौम कारण उपस्थित हो गए थे, जिनसे व्यक्तिवाद को अत्यन्त प्रोत्साहन मिला। साहित्य में भी इसी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति मिली।

छायावादोत्तर कवियों की व्यक्तिवादी अनुभूति साहित्यिक अभिव्यक्ति में निवृत्तिवादी न बन सकी। वे क्षणभंगुर जीवन की नश्वरता के प्रति सजग होने के कारण उसके प्रति विरक्त होने के बजाय उसके तात्कालिक मूल्यों को अधिक निकटता से पहचान सके तथा प्रवृत्तिमूलक भोग और आनन्द की प्रवृत्ति की ओर सन्मुख हुए। उमर खैयाम के दर्शन की क्षणभंगुरता से उत्पन्न नैराश्य एवं पराजय की भावना छायावादोत्तरकालीन कवियों में नहीं मिलती। इस युग के कवि का सौन्दर्य-बोध देश-काल की क्षणभंगुरता का अतिक्रम कर शाश्वत के स्पर्श से, अम्लान एवं अनन्त-यौवन है एवं उसकी लेखनी से अतीत का मधुसिक्त मोह नहीं, वरन् भविष्य की सुनहली आशा सम्भावना व्यक्त हुई है।[1]

छायावादोत्तर काल में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ के प्रति अधिक आग्रह दिखाई देता है। छायावादी-युगीन अतीत, भविष्य, कल्पना एवं अलौकिकता का सम्बन्ध कवि ने वर्तमान और यथार्थ से जोड़ा और मानवतावादी आदर्श का यथार्थ रूप उसने मिट्टी की सोंधी सुगंध में पाया। मिट्टी पर पैर जमाकर ही वह मानव का वास्तविक कवि बन सका और इसी कारण अधिक लोकप्रिय भी हो सका।

---

१. मेरे पगों की
सब थकावट मिट गई है;
कहीं सुस्ताने ठहरने का नहीं ये नाम लेते,
रोक जैसे बस इन्हें मंजिल सकेगी

जिस प्रकार छायावाद और छायावादोत्तर काव्य-धारा का आविर्भाव युग-विशेष की आवश्यकता के अनुसार मानव-समृद्धि के लिए हुआ, उसी प्रकार प्रगतिवाद की भी अपने युग की व्यापक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आविर्भाव हुआ। छायावादोत्तर काव्य-धारा ने प्रगतिवाद के लिए अनुकूल भाव-भूमि तैयार कर दी थी। वास्तव में मानववादी आदर्शों को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के पश्चात् छायावाद का कार्य पूरा हो गया था, उसी आदर्श को धरती के जीवन में स्थापित करने के लिए प्रगतिवाद के रूप में ऐतिहासिक यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा की गई।

प्रगतिवाद साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साम्यवादी विचारों से प्रभावित हो तत्कालीन समाज ने अपनी निर्धनता एवं अभाव की पीड़ा महसूस की समाज का प्रगतिमुखी जीवन अपनी प्रमुख आवश्यकताओं की आपूर्ति में पूँजीवाद का शत्रु बन बैठा। प्रगतिवादी साहित्य में दलित-शोषित वर्ग की सहायता करने, उनके पक्ष में आन्दोलन करने, उनकी शक्ति को संगठित करने और उनकी पीड़ा को मुखर करने तथा उन पर होने वाले अत्याचारों का तीव्र विरोध करने की दिशा में क्रांतिकारी भावना मिलती है।

प्रगतिवादी साहित्य अपने समग्र रूप में जीवन का साहित्य है। छायावादी और प्रगतिवादी साहित्य में अन्तर यही है कि जीवन की कुरूपताओं को सम्मुख पाकर छायावादी साहित्य जीवन के आदर्शतम स्वरूप की ओर उन्मुख हुआ, परन्तु प्रगतिवादी साहित्य में जीवन की सम्पूर्ण कुरूपता, अभाव, निर्धनता एवं विवशता के प्रति पूर्ण सजग और जागरूक होकर यथार्थ का चित्रांकन किया गया है; परन्तु हुआ यह है कि प्रगतिवादी साहित्य का प्रवृत्तिमूलक दृष्टि से सीधा सम्बन्ध होने के कारण अनास्थावादी नहीं हो सका है। दयनीय से दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते समय भी कवि आशा एवं जीवन-आस्था से सम्बन्ध नहीं तोड़ सका है। प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में साहित्य नहीं जीवन—सम्पूर्ण विषमताओं से परिपूर्ण जीवन—ही प्रमुख है, साहित्य मात्र उसकी प्रक्रिया है, इसीलिए उसने साहित्य का प्रयोग जीवन के उत्थान के लिए अस्त्र की भाँति किया है।

तारसप्तक (१६४३ ई०) के प्रकाशन के साथ प्रयोगवादी साहित्यिक प्रवृत्ति का उदय माना जाता है। उसमें व्यक्ति-अनुभूति समष्टि की सम्पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयास हो है। प्रयोगवादी दृष्टि के अनुसार क्षणमात्र की अनुभूति उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी सम्पूर्ण जीवन के मुक्त विस्तार की।

प्रयोगवादी कवि की दृष्टि में बौद्धिकता काव्य का प्रमुख अंग है, क्योंकि वह अनुभूति का जीवित अंश है। हृदयवादी बौद्धिक अनुभूति को त्याज्य समझता है, जबकि बौद्धिक प्रयोगवादी यह मानता है कि बौद्धिकता को काव्यानुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक अनुभूति का अर्थ और सन्दर्भ एक बौद्धिक मनुष्य की अनुभूति है।

'दूसरा सप्तक' (१९५१ ई०) के बाद को नई कविता का जो प्रयोगवाद का अगला साहित्यिक कदम है, मूल स्रोत आज के युग-सत्य और युग-यथार्थ में निहित है। लघु मानव का लघु परिवेश ही उसका यथार्थ है, वही उसका सत्य है। पिछले दो दशक कवि को अपने जिस अस्तित्व के संघर्ष में बिताने पड़े थे और जिस अस्तित्व की संवेदना से वह कुंठित रहा है, उसी के प्रति पूर्ण मानवीय आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा नये कवि का प्रयास है एवं उसी की अभिव्यक्ति नये कवि की साहित्यिक उपलब्धि है।

नये कवियों ने जिस तिक्तता और विषमता को भोगा है, उसी के बीच उन्होंने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा है। उन्होंने विशाल मानव-प्रवाह में बहने के साथ-साथ अस्तित्व के यथार्थ को भी स्थापित करने का प्रयास किया है, उसके दायित्व के निर्वाह की चेष्टा की है।

नयी कविता ने उस विश्वास की स्थापना की है जिसने विशाल मानव-समूह अपने में व्यक्ति की जागरूकता को जीवित रखा है, जो अनेकानेक सुविधाओं से वंचित रहकर भी बौद्धिक अनुभूति को व्यक्त करने में समर्थ हो सका है।

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता की साहित्यिक उपलब्धियाँ

जीवन के प्रति उत्कट राग की भावना मनुष्य को अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के प्रति अधिक सजग बनाती है और अपने इर्द-गिर्द की धरती, वस्तुओं तथा प्राणियों के प्रति हृदय में ममता एवं प्रेम उत्पन्न करती है। जब अपनी कही जाने वाली इन वस्तुओं का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है तब उसे देशभक्ति की संज्ञा दी जाती है। देशभक्ति वस्तुतः व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टिपरक भाव है।

भारतीय पुनरुत्थान के परिणाम-स्वरूप भारतवासियों ने पहली बार सम्मिलित रूप से पराधीनता के दाह का अनुभव किया था। उन्नीसवीं सदी के पूर्व भारतीय साहित्य में न तो विदेशी सत्ता के अत्याचारों का विरोध ही मिलता है और न गुलामी की भावना के प्रति विक्षोभ, परन्तु उन्नीसवी सदी के बाद भारतीय साहित्य में विदेशी सत्ता के प्रति विरोधी एवं क्रान्तिकारी स्वर व्यापक रूप से गूँजने लगे। भारतेन्दु ने "पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी" व्यक्त कर राष्ट्र-प्रेमी कवियों को नवीन दिशा-निर्देश दिया था, उसके पश्चात् असंख्य कवियों ने देशभक्ति से अनुप्राणित हो प्रचुर साहित्य का निर्माण किया।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविता की गतिशील धारा भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होती है। भारतेन्दु-युग के समस्त साहित्य के मूल में यही भावना काम करती हुई प्रतीत होती है। इस युग के साहित्य में दो प्रमुख भावनाएँ—विदेशी सत्ता का विरोध और समाज-सुधार की भावना—निरन्तर भारतेन्दु-मंडल के कवियों के लिये प्रेरणा-स्रोत रहीं।

द्विवेदी-युग के दो प्रतिनिधि कवियों, मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', की राष्ट्रीय भावना आदर्शवादी है और वे मूलतः सुधार की भावना से प्रेरित हैं। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' नामक आख्यानक महाकाव्यों में राम और कृष्ण के चरित्रों की स्थापना आदर्श राष्ट्रीय नेताओं के रूप में हुई है। 'भारत-भारती' राष्ट्रीय भावना की प्रतिनिधि रचना है। देशभक्ति की चेतना का सही प्रतिनिधित्व करने के कारण मैथिलीशरण गुप्त अपने युग के राष्ट्र-कवि कहे गये।

कलात्मक दृष्टि से अधिक परिपक्व रचनाएँ छायावाद-युग की हैं। इस युग के राष्ट्रीय साहित्य में मात्र आवेश नहीं है, वरन् स्थायी ताप है। इस युग का देश-प्रेम अधिक व्यापक और भावात्मक है तथा विश्व-मानवता की भावना से प्रेरित हो राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक पहुँचती हुई दिखाई देती है।

द्विवेदी-युगीन कवियों में प्रादेशिकता की भावना है, परन्तु छायावादी युगीन कवियों में प्रादेशिकता की चौहद्दी पार करने की प्रेरणा अधिक है। जयशंकर प्रसाद का यह उद्गार 'उड़ते खग जिस ओर मुँह किए समझ नीड़ निज प्यारा, अरुण यह मधुमय देश हमारा' किसी भी देशवासी के हृदय में अपने देश के प्रति प्रेम जगा सकता है। निराला जी की 'भारति जय विजय करे' आदि पंक्तियों में भी प्रादेशिकता की भावना का अभाव है। पन्त ने भी भारत देश के कई उदार-व्यापकतापूर्ण चित्र 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में प्रस्तुत किए हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर, सुभद्रा-कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि में भी राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है। इनकी कविताओं में त्याग और बलिदान की भावना प्रमुख है, जो इस युग के अन्यतम सेनानी गान्धी जी की अहिंसा-नीति का परिणाम कही जा सकती है। भौतिक बल की अपेक्षा आत्मिक बल कहीं अधिक प्रभावशाली हो सकता है, यह समझते ही देश के वीरों में मारकर नहीं, वरन् मर कर विजय प्राप्त करने की भावना भरी जाने लगी। माखनलाल चतुर्वेदी का एक नन्हा-सा फूल भी बलिदान की कामना से मचल उठा था।[1]

उत्तर-छायावाद युग में कुछ कवियों ने सन् १९४२ ई० की अगस्त-क्रान्ति, आज़ाद हिन्द फौज और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर ऐसी कविताएँ लिखीं, जिनसे देश के नवयुवकों में राष्ट्र-प्रेम की भावना जगाने की पर्याप्त क्षमता थी। देशभक्ति की उफान से परिपूर्ण उनकी कविताएँ देश के जन-जन के हृदय में

---

१. मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।

—माखनलाल चतुर्वेदी

राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न करने में समर्थ थी। श्यामनारायण पाण्डेय का प्रबन्ध-काव्य 'हल्दीघाटी', और रामनरेश त्रिपाठी के खंडकाव्य 'पथिक' तथा 'मिलन' भी राष्ट्रीयता की भावना से ओत प्रोत हैं। सोहनलाल द्विवेदी ने भी बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएँ लिखी। महात्मा गान्धी के निधन के पश्चात् एक बार पुन प्रचुर मात्रा में राष्ट्रीय साहित्य लिखा गया, जिनमें बच्चन की 'सूत की माला' प्रमुख है।

मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित शिवमगलसिंह सुमन, नागार्जुन आदि प्रगतिवादी कवियो ने राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से साहित्य सृजन किया, इनकी कविताओं मे सामाजिक विषमता के प्रति विक्षोभ मिलता है और इन्होंने स्वतत्रता का सही अर्थ आर्थिक और सामाजिक समता में माना है।

वर्तमान युग के अन्यतम राष्ट्रीय कवि दिनकर माने जाते हैं। 'परशुराम की प्रतिज्ञा' में उन्होंने युग की आवश्यकता को मूर्त रूप प्रदान किया है। हिन्दी-साहित्य का अधिकाश राष्ट्रीय साहित्य सामयिक साहित्य की श्रेणी में आता है, जिसका सृजन तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। चीन के आक्रमण के समय असख्य कविताएँ लिखी गई, पाकिस्तान के युद्ध क दिनो में भी कम साहित्य नही लिखा गया, इन समस्त कविताओं ने वाणी का उच्चार बनकर देश की जनता को ललकारा, कर्त्तव्य-बोध दिया एव एकता का अचूक मन्त्र सिखाया।

मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, जयशकर-प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामधारीसिंह दिनकर, आदि की राष्ट्रीय कविताएँ हिन्दी के स्थायी साहित्य के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं क्योंकि उन कविताओं में प्राणों की सच्ची अभिव्यक्ति है।

योरप की आधिभौतिकता की टकराहट से भारतीय नवोत्थान ने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि जीवन की सच्ची राह निवृत्ति नही, वरन् प्रवृत्ति है, मनुष्य के कर्म ऐसे होने चाहिए, जिनसे इहलौकिक सुखो की उपलब्धि हो सके और देश का समस्त प्राचीन गौरव पुन प्राप्त हो सके। इसी प्रवृत्ति-भावना से प्रेरित होकर हिन्दी के आधुनिक कवियों ने प्रचुर मात्रा में राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण किया। इस प्रकार प्रवृत्ति की अर्गला खुलने पर ही देश राष्ट्रीय साहित्य का धनी हो सका।

नवजागरण-युग की प्रवृत्ति-भावना के उत्थान के फलस्वरूप ज्यों ज्यो सन्यास एव परलोक के प्रति मनुष्यो के हृदय में आस्था घटती गई, त्यो त्यों नारी की महिमा में वृद्धि होती गई। हिन्दी काव्य की वीर-गाथाओ में नारी का यौवन केवल भोग के निमित्त है, भक्ति-काव्य में नारी अघ की खानि है, रीतिकालीन नारी नखशिख के सौन्दर्य से परिपूर्ण अभिसारिका है जो अपना व्यक्तित्व तक खो चुकी है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में हम नारी का सम्मान फिर देखते हैं और पुरुष को नारी के प्रति अधिक सम्मान व्यक्त करते हुए पाते हैं।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य नारी-उत्थान की दिशा में हर संभव प्रयास की भावना से परिपूर्ण है। प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने नारी शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए प्रचुर साहित्य लिखा है। भारतेन्दु एवं प्रेमघन-प्रभृति कवियों ने अतीत के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत कर वर्तमान युग की स्त्रियों में स्वाभिमान और आत्म-सम्मान की भावना भरने का प्रशंसनीय प्रयास किया। पाश्चात्य युग चेतना की आँधी एवं नारी-शिक्षा प्रचार ने नारी-उत्थान में अधिक योगदान दिया।

नारी-उत्थान सम्बन्धी आन्दोलन में द्विवेदी-युगीन कवि अधिक सक्रिय दिखाई देते हैं। इन कवियों की नारी-भावना सहानुभूति की भावना से परिपूर्ण है। वस्तुत स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के विचारों से प्रभावित होकर स्त्रियों के प्रति भावना अधिक उदार रूप लेती जा रही थी, अभी उन्हें पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अधिक संघर्ष करना आवश्यक था, आगे आनेवाला युग जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था। द्विवेदी-युगीन कवियों के हृदय में नारी के प्रति सहानुभूति ही अधिक उदय हुई, अत उनकी लेखनी से उनका अधिकांश चित्रण दयनीय रूप में ही हुआ है।[1] जहाँ कहीं नारी का दर्प मुखरित हुआ है, वहाँ उसका विद्रोही रूप प्रदर्शित हुआ है।[2]

सफल जीवन का केन्द्र गृहस्थी है और उसकी धुरी है नारी। गार्हस्थ्य की महिमा प्रवृत्ति-उत्थान में विशेष सहायक होती है। वैदिक जीवन-दर्शन इसलिए प्रवृत्ति-दर्शन का उत्स है कि उसमें गार्हस्थ्य की महिमा गाई गई है एवं अनेक वैदिक ऋचाएँ गृहस्थों के सफल जीवन के लिए आशीर्वचनों से परिपूर्ण हैं। द्विवेदी-युग के कवियों, विशेषकर मैथिलीशरण गुप्त ने गार्हस्थ्य जीवन के अनेक अनुपम चित्र खींचे हैं। इस दिशा में 'बक-संहार' उनका अभूतपूर्व प्रयास है।

छायावादी कवि नारी को पुरुष के समकक्ष बिठाकर उसे उसका खोया हुआ व्यक्तित्व लौटाने की ओर अग्रसर होता है, नारी को स्वतन्त्र सामाजिक व्यक्तित्व की शील गरिमा प्राप्त होती है। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकल कर मध्य-युगीन लाज का अवगुण्ठन झटककर अपने नैतिक और सामाजिक दायित्व के प्रति पूर्ण जागरूक दिखाई देती है। 'कामायनी' की नारी पुरुष की दृष्टि में केवल दया की पात्र नहीं, वरन् पत्नी, गुरु यहाँ तक कि पराशक्ति सब कुछ बन जाती है। श्रद्धामयी, करुणामयी, कल्याणी, कलामयी और प्रेममयी नारी का चित्रण करके छायावादी कवियों ने साहित्य को नवीन जीवन-रस से सींचा है।

---

१. अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।—यशोधरा (मुखपृष्ठ)

२. कहता है, 'नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है, विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है।—विष्णुप्रिया।

छायावादी कवियों की नारी के जिस सौन्दर्य की ओर रुझान परिलक्षित होता है, वह शारीरिक सौन्दर्य नहीं, आत्मा का सौन्दर्य है, वह वासना नहीं, अर्चना का विषय है, जो भोग एवं तृप्ति का कारण नहीं, वरन् प्रेरणा एवं स्फुरण प्रदान करने वाली है। निराला की दृष्टि में नारी 'वासना की मुक्ति, मुक्त त्याग में त्यागी' है। पन्तजी की दृष्टि में नारी 'योनि' नहीं है, मानवी—'प्रतिष्ठित मानवी'—है। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह नारी-उर के भीतर निहित है। नारी की स्थिति के सम्बन्ध में महादेवी वर्मा की यह उक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है "संक्रान्तिकाल के सभी देशों की नारी अपने कठिन त्यागों से अर्जित गृह, सन्तान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुष की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नहीं।"

छायावादोत्तर कालीन कवियों की नारी-भावना छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और मुखर है। इस काल की कविताओं में नारी 'सामाजिक इकाई' के रूप में प्रतिष्ठित है। सामाजिक इकाई के रूप में जितना उसका पत्नी या प्रेयसी रूप मुखरित हुआ है, उतना ही उसका मातृत्व। पत्नी या प्रेयसी के स्पर्श मात्र से यदि पुरुष सजीवनी-की सी शक्ति प्राप्त कर सकता है[1] तो नारी-रूपी महासेतु पर पर चलकर ही नया मनुष्य इस धरती पर आ पाता है। वास्तव में नारी ही प्रजा-सृष्टि में यज्ञ को पूर्ण करने की क्षमता रखती है।[2]

कवि दिनकर ने बड़ी कुशलता से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि नारी का सम्पर्क न तो किसी ऋषि का तप ही भंग करता है और न पतन और पराजय का कारण बनता है। आधुनिक युग के ऋषि से कवि ने नारी को सिद्धि का फल मानकर ग्रहण कराया है।[3] वस्तुतः जिन दिव्य गुणों को मानवता की संज्ञा दी जाती है, उसके निकट नर नहीं, वरन् नारी है।[4]

प्रगतिवाद तक पहुँचते-पहुँचते नारी-भावना को और अधिक उदात्त भूमिका

---

१. तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जाए।
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए।—बच्चन।

२. नारी ही वह महासेतु, जिस पर अदृश्य से चलकर,
नये मनुष्य, नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
सच पूछो तो प्रजा सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का?
वह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।—दिनकर।

३. हरि प्रसन्न यदि नहीं, सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो।—दिनकर।

४ और देवि! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उनके भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।—दिनकर

मिलती है। छायावाद-युगीन नारी का वह स्वरूप जो पुरुष के जीवन के लिए प्रेरणादायी होता है, इस युग तक आते-आते पुराना पड़ गया। कवियों ने यह अनुभव किया कि यदि नारी मात्र प्रेरणा-स्रोत बनी रहकर घर की चारदीवारी तक सीमित रहेगी तो उसका व्यक्तित्व अधूरा रहेगा, इस सामाजिक इकाई का पूर्ण व्यक्तित्व वहाँ विकास पाता है जहाँ वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती है, उसका जीवनोद्देश्य और कर्मक्षेत्र वही है, जो पुरुष का है। इस युग की नारी अपने को अबला मानने से सर्वथा इन्कार करती है, आवश्यकता पड़ने पर वह प्रतिहिंसा की कराल मर्यादा के रूप में भी देखी जा सकती है।

प्रयोगवाद एवं नयी कविता में नारी-भावना पर फ्रायड, ऐडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिकों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। फ्रायड के अनुसार कला और धर्म दोनों का उद्‌भव अचेतन मानस की संचित प्रेरणाओं और इच्छाओं में ही होता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यह नवीन युग कवियों के लिए मानसिक विघटन का युग है। नयी कविता मनुष्य के मानसिक विघटन को दूर कर 'आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहती है और मानव के असामंजस्य को दूर करना चाहती है। 'कुण्ठा' से बचने और मन की प्यास बुझाने के लिए कवि नारी के शरीरी सौन्दर्य से किसी प्रकार का परहेज नहीं कर पाता और न ही वासनात्मक चित्रण को किसी प्रकार हानिकारक समझता है। इस युग की नारी-भावना पूर्ण 'यथार्थ' पर आधारित दृष्टिगत होती है। पिछले युगों की प्रेरणादायक नारी का वह यथार्थ स्वरूप भी कवि निर्भीक होकर प्रस्तुत करता है, जो पसीने से लथपथ है और जिसकी निकटता से जी मिचलाता है और गश आती है।

नयी कविता में नारी का जो स्वरूप प्रतिष्ठित है, वह पुरुष के बराबर है, उसे पुरुषों के से सभी अधिकार प्राप्त हैं, वह जीवन-दौड़ में पुरुषों को पछाड़ने की भी क्षमता रखती है, अब नारी का स्वाभिमान और आत्म-सम्मान पुरुष की कृपा पर निर्भर नहीं है, अतः कवियों के लिए यह उचित ही था कि वे तथाकथित आदर्शों के मोहजाल से मुक्त हो यथार्थ का अवलम्बन ग्रहण करें।

प्रवृत्तिमूलक दार्शनिक की अन्य प्रबुद्ध देन है मानवीय दृष्टिकोण का साहित्य। आधुनिक युग में मानव-हित साधन की आदि बिन्दु बनी भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई। अमरीकी आजादी की लड़ाई, फ्रांसीसी राज्य-क्रांति, रूसी और चीनी क्रान्तियाँ उसी मानवीय दृष्टिकोण की उपलब्धियाँ थीं।

भारतेन्दु-युगीन साहित्य में ही मानवीय दृष्टिकोण का आभास मिलता है। देश के दैन्य की ओर सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही भारतेन्दु आदि कवियों ने मानवता के दीन-हीन चित्र खींचे। वस्तुतः हिन्दी कविता का रीतिकालीन दलिलता से निकालकर मानवता की भूमि तक लाने का श्रेय भारतेंदु युग को ही है।

मानवीय दृष्टिकोण की विजय-पताका फहराई गई द्विवेदी युग में। इस युग के साहित्य में उपेक्षित मानवता खुलकर साँस लेती हुई दृष्टिगत होती है। मानववादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर ही इस युग के कवि सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा धार्मिक साम्प्रदायिकता की समान रूप से कड़ी आलोचना करते हैं। मानववादी भावना से प्रेरित हो ये कवि जब अपने हृदय में पीड़ित जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत पाते हैं तो न केवल युग के दीन-हीन मनुष्यों के प्रति, वरन् युगों के उपेक्षित साहित्यिक पात्रों के प्रति भी न्याय का अभियान प्रारम्भ करते हैं। 'साकेत' इसी कोटि का अभिनव प्रयास है।

युग की बौद्धिकता की प्रेरणा से द्विवेदी-युग में 'अवतार' माने जाने वाले देवता मानव-भूमि पर उतारे गये। 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास', 'उद्धव-शतक', 'यशोधरा' आदि कृतियों में इस नवीन मनुष्यता की महिमा निरूपित की गई है।

छायावादी कवियों का मानव-प्रेम अधिक व्यापक भाव-भूमि पर आधारित है। इस युग तक आते-आते मानववाद जीवन और साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण वाद हो चला। मानव की प्राकृतिक आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करना कवियों के लिए युग-धर्म माना गया तथा नवीन विश्व जीवन की परिस्थितियों के थपेड़ों में बहते जाने की विडम्बना के कारण मानव-मन की वेदना साहित्य से अलग न रह सकी। महादेवी वर्मा को तो यह 'वेदना' जीवन का सार जान पड़ी। सुमित्रानन्दन पन्त ने समाज के दलितों-पीड़ितों में मानव का मृदुल स्वरूप देखा। उनकी 'युगान्त' की 'ताज' शीर्षक कविता मानव-प्रेम की अमर कृति है। निराला का मानव-प्रेम कहीं अधिक मार्मिक है। उनकी 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'विधवा', आदि कविताएँ उनके हृदय की सहज सहानुभूति की परिचायक है।

छायावाद-युग में विश्व-मानवता एवं नवीन लोक-सामाजिकता की स्थापना का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, वह निश्चय ही रामकृष्ण परमहंस समन्वय की भावना, रवीन्द्रनाथ की विश्व-बन्धुत्व की भावना एवं महात्मा गांधी के अहिंसात्मक मानव-सत्य को मूर्त रूप प्रदान करने की भावना का प्रभाव था। 'छायावाद को अपने नये विश्व-मानव एवं लोक-मंगल के स्वप्न को सत्य बनाने के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि एवं सामूहिक यथार्थ की अनुभूति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मानव-जीवन की सामाजिक वास्तविकता का रूप निर्धारित करती।'[1]

छायावादी कविताओं में कवियों ने जिस विश्व-मानवता को प्रतिष्ठित किया था, वह कवियों के लिए तो स्फुरण का विषय थी, अकवि-जनों पर उसका व्यापक प्रभाव न पड़ सका। सामान्य जन में मानवता-वादी भावना की सहज तरंग उत्पन्न करने का कार्य छायावादोत्तर-कालीन कवियों ने—मुख्यरूप से दिनकर जी ने

---

१. पन्त। छायावाद पुनर्मूल्यांकन।

किया। कवि दिनकर की काव्य-अनुभूतियाँ मुख्यरूप से विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ हैं। उनका मानववाद मनुष्य में ही, धरती के दीन-हीन प्राणी में, देवता का अधिवास महसूस करता है। उनकी व्यापक मानववादी दृष्टि भारत देश को मानवता के 'ललाट चन्दन' के रूप में देखती है। कवि अंचल ने मानवता का कवि बनकर विप्लव और क्रान्ति का सन्देश दिया है और बच्चन जी की मानवतावादी भावना मनुष्य-मनुष्य को समान रूप में देखती है, एक ही विधाता की सन्तान के लिए वे समान अधिकार का स्वर बुलन्द करते हैं।

प्रगतिवादी काव्य ने जिस मानवतावादी स्वर को मुखरित किया है, वह परम्परागत मानवतावादी विचारधारा से भिन्न है। अब तक का मानववाद समाज में मानव-मानव को समान मानता था, एवं समाज के जिस कोने से मानवता कराहती थी, वह उसे वाणी प्रदान करता था, परन्तु प्रगतिवाद जिस मानवतावाद का हिमायती है उसमें सब वर्गों के हित की बात नहीं। प्रगतिवादी मानवतावादी भावना से प्रेरित हो पराये पैर में काँटा चुभते देख पीड़ा का अनुभव करता है, पर उसका मानवतावाद केवल शोषित वर्ग के लिए उदार है, शोषक-वर्ग को वह क्षमा नहीं कर पाता। वस्तुतः प्रगतिवादी कविताएँ मार्क्सवाद की एक प्रकार से साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं, जिनमें गान्धीवादी व्यापक मानवीय दृष्टिकोण का अभाव है।

नये कवियों की मानवतावादी दृष्टि यथार्थ की भावभूमि पर आधारित है। इस युग के नवीन कवियों की दृष्टि मनुष्य के उस रूप की ओर से आँखें बन्द न कर पाई, जो भौतिक दृष्टि से पूर्ण विकसित होते हुए भी नैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ दृष्टिगत हुआ। यही विघटन अथवा बिखराव वह धुरी है, जिस पर वर्तमान मानवतावादी भावना आधारित है। नयी कविता में इस विघटन का सामना करने का प्रयास है, मनुष्य की आन्तरिकता को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा है, एवं उसके असामञ्जस्य को दूर करने का आग्रह है। 'लघु मानव' अपने लघु परिवेश में जहाँ प्रतिष्ठित है, वह तो है वर्तमान का यथार्थ, परन्तु कहीं कहीं नवकल्पित गरिमा-युक्त मानव को, जहाँ भावी सम्भावना का मूर्त रूप प्रदान किया गया है, वहाँ निस्सन्देह आशावादी स्वर है और कर्मण्यता का सन्देश है।

प्रवृत्तिमूलक साहित्य की वर्तमान स्थिति

भारतेन्दु युग में मानव जीवन को भौतिक सुखों की उपलब्धि की ओर प्रवृत्त करने के लिए जिस साहित्य-सृजन की ओर अभियान प्रारम्भ हुआ था, उसका चरमोत्कर्ष छायावाद-युग में दिखाई देता है। छायावाद युगीन साहित्य में मुख्यतः प्राचीन आर्यों के समन्वयवादी दृष्टि का प्रसार दिखाई देता है। कवि पन्त ने भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के समन्वय का सन्देश देते हुए सदैव उनमें से एक

को एकांगी सिद्ध करने का प्रयास किया, उनके साथ-साथ उसी प्रकार का समन्वयवादी स्वर प्रस्फुटित हुआ दिनकर जी की लेखनी से। दिनकर जी ने बार-बार इस तथ्य की घोषणा की कि निवृत्ति की माला जपते-जपते हम गुलाम हो गये और प्रवृत्ति की आराधना का प्रारम्भ करते ही हमारी गुलामी चली गई, परन्तु इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि संसार की अशान्ति का मूल कारण यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति के संघर्ष में निवृत्ति पराजित हो गई। निवृत्ति की अति से दीनता और दौर्बल्य बढ़ता है, वैसे ही प्रवृत्ति की अति राक्षसी वृत्ति को बढ़ावा देती है।

आज के वर्तमान साहित्य—नयी कविता—ने भौतिक सुखों के प्रति विशेष अभिरुचि उत्पन्न कर दी है। इस अभिरुचि का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की धार्मिक आस्थाएँ विघटित हो गई हैं, जिसके कारण मनुष्य का चरम लक्ष्य सांसारिक चीजों में अपने को भुला देना हो गया है और दूसरा कारण यह है कि विज्ञान ने सुख-भोगों की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी है, जिसके कारण मनुष्य का जीवन उसी से पूर्णतया घिर गया है। फ्रायड नामक मनोवैज्ञानिक के इस कथन ने भी कि सुख-भोगों का निषेध उसके प्रति तीव्र आकर्षण पैदा करता है, सुख-भोगों के निषेध के वर्जन प्रस्तुत कर उनमें और अधिक आसक्ति उत्पन्न कर दी है।

यद्यपि नयी कविता में जीवन के प्रति आग्रह है, जो विकास और उन्नति का स्वस्थ चिह्न है, तथापि नये कवियों ने अपनी सार्थकता और अधिकार को खोजने की चेष्टा में जीवन के विघटन, बिखराव एवं असंतुलित पक्ष का दिग्दर्शन ही अधिक किया है, उच्चतर धरातल पर सृजनशील होने का प्रयास कम किया है। नयी कविता की दृष्टि एकांगी है, उसकी बुद्धिवादी दृष्टि, जो प्रवृत्ति-दर्शन की नवीन दृष्टि है, ऐहलौकिक सुखों के प्रति आवश्यकता से अधिक अभिरुचि उत्पन्न कर किंचित असन्तुलित हो गई है। आज का मनुष्य अवसरवादी बनता जा रहा है, वह जीवन में भौतिक सुख-सामग्री की प्राप्ति के लिए बेतहाशा भागा जा रहा है। डॉ० राधाकृष्णन् की दृष्टि में मनुष्य की यह एकांकी दृष्टि 'आत्मतत्त्व' के बहिष्कार के कारण उत्पन्न हो गई है। वे कहते हैं कि मानव से आत्मतत्त्व का बहिष्कार भौतिक तत्त्व की सर्वोच्चता का प्रमुख कारण है, जो (भौतिक सर्वोच्चता) आज हमारे लिए इतनी बोझिल और कष्टदायक बन गई है। भौतिक द्वारा मानवीय की पराजय हमारी सभ्यता की केन्द्रीय दुर्बलता है।

भौतिक सर्वोच्चता एवं आत्मतत्त्व के बहिष्कार ने ही मनुष्य के जीवन में बिखराव और असामंजस्य उत्पन्न कर दिया है। वर्तमान युग बुद्धिवाद के सहारे भौतिक विकास की पराकाष्ठा तक तो जा पहुँचा है, पर उसकी नैतिक निष्ठा उतनी ही बलहीन और कमजोर हो गई है। स्वस्थ-जीवन-दृष्टि ही स्वस्थ साहित्य को जन्म देती है। नये कवियों में विवेक और चेतना का अभाव नहीं है, अभाव है

स्वस्थ जीवन-दृष्टि का। कैटेल नामक लेखक का भी कथन है कि वर्तमान युग के मनुष्य का जीवन असंतुलित है और उसका एक प्रमाण यह है कि आज का मनुष्य सुख-भोग की खोज में प्रायः उन्मत्त हो रहा है। इस सुख-भोग की ओर बढ़ी हुई लालसा का कारण यह है कि मनुष्य जीवन के वास्तविक आनन्द के स्रोतों से विच्छिन्न हो गया है, जो एक प्रयोजनपूर्ण जीवन-दर्शन की परिधि में रहते हुए उपलब्ध हो सकता है।

अरस्तू का विचार था कि सुखी जीवन नैतिक जीवन है; सुख को नैतिक उच्चता के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। प्राचीन वैदिक आर्यों ने भी विराग नहीं, जीवन के प्रति उत्कट राग का सन्देश देते हुए राग को आसक्ति से बचाने का सन्देश देते हुए जीवन में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों की उपलब्धि को आवश्यक माना है। आज के युग में पाश्चात्य देश भारत को इसलिए श्रेष्ठ नहीं मानते कि उसने बुद्धिवादी दौड़ में पश्चिमी देशों का अनुकरण किया है, वरन् इसलिए श्रेष्ठ मानते हैं कि भारत प्रारम्भ से ही अपनी शाश्वत अध्यात्मनिष्ठा तथा नीतिमूलक जीवन-चेतना का उद्घोष करता रहा है।

कल के कवियों को लोक में लोकोत्तर की साधना करने वाली सांस्कृतिक विरासत को ग्रहण करना होगा एवं इसी स्वर को अपने साहित्य में मुखरित करना होगा, तभी हम विज्ञान और बुद्धिवाद के चौंधियाने वाले प्रकाश को पूर्णतः सहनकर जीवन को संतुलित बना सकेंगे। 'प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही में जब तक निवृत्ति का पानी नहीं मिलाया जायगा, तब तक उच्च-कोटि की कविता नहीं लिखी जा सकती।

नयी कविता के मूल स्वर ने अति-प्रवृत्ति के आग्रह से असामंजस्य की गूँज उत्पन्न कर दी है। यदि कल का कवि अपने उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सजग बनना चाहता है तो उसे अपनी जीवन-दृष्टि को अधिक व्यापक और उदार बनाना होगा। उसे अपनी कविता में उस काव्य-परम्परा से मेल बिठाना होगा, जिसकी अनुगूँज उच्चतर धरातल पर उपलब्ध उस साहित्य में पिरोई गई है, जो अपनी मौलिक बनी रहनेवाली भारत की संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने की ओर अग्रसर होती रही है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत तथा पाली

ऋग्वेद
यजुर्वेद
अथर्ववेद
अष्टादश उपनिषद् (लिमये)
महाभारत
श्रीमद्भगवद् गीता
श्रीमद्भागवत
श्रीविष्णुपुराण
पद्मपुराण
मनुस्मृति
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
पाराशर-स्मृति
तत्त्वार्थ-सूत्र
संयुक्त निकाय
मज्झिम निकाय
अंगुत्तर निकाय
धम्मपद
मध्यमकावतार
माध्यमिक शास्त्र
अभिधर्मकोष
शिक्षा-समुच्चय (शान्तिदेव)
बोधिचर्यावतार (शान्तिदेव)
मेघदूत (कालिदास)
सर्वदर्शनसंग्रह
शिवसूत्र वार्तिक
ज्ञान तिलक
योगवासिष्ठ

सांख्य-कारिका
सांख्य-सूत्र
न्याय-सूत्र
योग-सूत्र
सर्वदर्शन-संग्रह (माधवाचार्य)
गीतगोविन्द
अवधूत-गीता

हिन्दी

संस्कृति-इतिहास-धर्म-दर्शन

मंगलदेव शास्त्री	भारतीय संस्कृति का विकास
लक्ष्मणशास्त्री जोशी .	वैदिक संस्कृति का विकास
रामधारी सिंह दिनकर :	संस्कृति के चार अध्याय
	धर्म नैतिकता और विज्ञान
	रेती के फूल
	हमारी सांस्कृतिक एकता
मथुरालाल शर्मा	भारत की संस्कृति का विकास
सत्यकेतु विद्यालंकार	भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास
रामजी उपाध्याय	भारत की संस्कृति-साधना
श्री गोपीनाथ कविराज	भारतीय संस्कृति और साधना
पी० आर० साहनी	आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास
डा० देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन
	भारतीय संस्कृति
भगवतशरण उपाध्याय	सांस्कृतिक निबन्ध
	सांस्कृतिक भारत
लूनिया	भारतीय संस्कृति का विकास
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	कला और संस्कृति
राहुल सांकृत्यायन	बौद्ध संस्कृति
	दर्शन-दिग्दर्शन
	(सिद्ध सरहपाद का) दोहा-कोश
राधाकुमुद मुकर्जी	हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद
	प्राचीन भारतीय विचार और विभूतियाँ
डा० राधाकृष्णन्	स्वतन्त्रता और संस्कृति

डा० राधाकृष्णन्	भारत की अन्तरात्मा
	जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि
	धर्म और समाज
	धर्म तुलनात्मक दृष्टि में
	भारतीय दर्शन
	पूर्व और पश्चिम (कुछ विचार)
	सत्य की ओर
डा० आबिद हुसैन	भारत की राष्ट्रीय संस्कृति
इन्द्र विद्यावाचस्पति	भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास
	लोकमान्य तिलक और उनका युग
आचार्य जावडेकर	आधुनिक भारत
पट्टाभि सीतारामैया	कांग्रेस का इतिहास
	हमारी पारिवारिक व्यवस्था
रजनी पाम दत्त	भारत वर्तमान और भावी
आचार्य नरेन्द्रदेव	राष्ट्रीयता और समाजवाद
मन्मथनाथ गुप्त	स्वतन्त्रता आन्दोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव
कृष्णवल्लभ द्विवेदी	भारत निर्माता
श्री अरविन्द	दयानन्द
	भारतीय संस्कृति के आधार
	धर्म और जातीयता
उदयचन्द्र जैन	विवेकानन्द
चक्रवर्ती राजगोपालाचारी	राधाकृष्ण उपनिषद्
डा० इन्द्रसेन	श्री अरविंद की प्रेरणा
बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
जवाहरलाल नेहरू	हिन्दुस्तान की कहानी
	मेरी कहानी
	हिन्दुस्तान की समस्याएँ
डा० फतहसिंह	वैदिक दर्शन
देवदत्त शास्त्री	उपनिषद् चिंतन
आचार्य नरेन्द्रदेव	बौद्ध धर्म-दर्शन
हजारीप्रसाद द्विवेदी	मध्यकालीन धर्म-साधना
भीखनलाल आत्रेय	योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

स्वामी अपूर्वानन्द	युगप्रवर्तक विवेकानन्द
निश्चलदास	विचार-सागर
परशुराम चतुर्वेदी	उत्तरी भारत की संत परम्परा
	संत साहित्य की भूमिका
	वैष्णव धर्म
सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व
डा० यदुवंशी	शैवमत
आबिद प्रवीन	नारी, विवाह और सदाचार
खुदाबख्श	अध्ययन भारतीय और इस्लामी

साहित्य : आलोचना

अज्ञेय	तारसप्तक की भूमिका, दूसरा सप्तक की भूमिका, त्रिशंकु, आत्मनेपद।
कृष्णशंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास।
कन्हैयालाल सहल	— आलोचना के पथ पर।
केसरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्य-धारा, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत।
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	महाकवि हरिऔध
गुलाब राय	काव्य के रूप
जयशंकर प्रसाद	काव्य और कला तथा अन्य निबंध
देवराज	छायावाद का पतन
नगेन्द्र	आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, विचार और अनुभूति
सुमित्रानन्दन पन्त	विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पल्लव की भूमिका, गद्य-पथ।
रामअवध द्विवेदी	हिन्दी साहित्य के विकास का रूप-रेखा
महादेवी वर्मा	यामा और दीप-शिखा की भूमिकाएँ
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास, काव्य में रहस्यवाद
रामनाथ 'सुमन'	कवि प्रसाद की काव्य-साधना
रामेश्वरलाल खडेलवाल	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य
वासुदेव	पंत की काव्य-चेतना में गुंजन
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वाङ्मय विमर्श

शकुन्तला शर्मा	आधुनिक काव्य में सौंदर्य-भावना
शंभूनाथ सिंह	छायावाद युग
शिवदानसिंह चौहान	प्रगतिवाद, हिन्दी साहित्य में अस्सी वर्ष, साहित्यानुशीलन
श्रीकृष्णलाल	आधु० हिन्दी साहित्य का विकास
सुधीन्द्र	हिन्दी कविता में युगान्तर
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य,
गोपालसिंह क्षेम	छायावाद के गौरवचिह्न
भोलानाथ तिवारी	कवि प्रसाद
विनयकुमार शर्मा	पंत की काव्य-साधना
नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी साहित्य २०वीं शताब्दी, आ० साहित्य, नया साहित्य नया प्रश्न, कवि निराला
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	आज के लोकप्रिय कवि
	समाज और साहित्य
सावित्री सिन्हा	युग-चारण दिनकर
रामधारीसिंह दिनकर	मिट्टी की ओर, काव्य की भूमिका, पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, चक्रवाल की भूमिका
रामविलास शर्मा	संस्कृति और साहित्य, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, प्रगति और परंपरा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, भाषा, साहित्य और संस्कृति, निराला
विजय शंकर मल्ल	हिन्दी काव्य में प्रगति
नामवर सिंह	आ० हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद
अमृतराय	नई समीक्षा
डा० भोलानाथ	हिन्दी साहित्य
श्री रघुनाथ सिंह	आ० हिन्दी साहित्य में नारी
लक्ष्मीकान्त वर्मा	नयी कविता के प्रतिमान
शंभूनाथ चतुर्वेदी	नया हिन्दी काव्य और विवेचना
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	पंत का नूतन काव्य और जीवन-दर्शन,
धर्मवीर भारती	मानव-मूल्य और साहित्य
उदयभानुसिंह	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग
रामचन्द्र मिश्र	श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य

सम्पादित

डा० रघुवंश	हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ
बाँकेबिहारी भटनागर	बच्चन, व्यक्ति और कवि
डा० नगेन्द्र और अज्ञेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य, भाग–२
अज्ञेय	पुष्करणी
शचीरानी गुर्टू	सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा
निर्मल तलवार	आचार्य द्विवेदी, महादेवी, वर्मा प्रसाद,
डा० धीरेन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड

अभिनन्दन ग्रन्थ

महादेवी अभिनन्दन ग्रंथ
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ
राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ
गांधी अभिनन्दन ग्रंथ
सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ

पत्रिकाएँ

अजन्ता
हंस
नया साहित्य
आलोचना
रूपाभ
नयी चेतना
ज्ञानोदय
सरस्वती
अर्चना
आजकल

काव्य

अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	प्रियप्रवास
मैथिलीशरण गुप्त	जय भारत, द्वापर, सिद्धराज, नहुष
सियारामशरण गुप्त	मृण्मयी, बापू, नोआखाली में, जयहिन्द, नकुल

माखनलाल चतुर्वेदी	हिमकिरीटनी, हिमतरंगिणी, माता, समर्पण, युगचरण,
बालकृष्ण शर्मा नवीन	अपलक, क्वासि, रश्मिरेखा,
सोहनलाल द्विवेदी	कुणाल, पूजा-गीत, युगाधार,
श्यामनारायण पाडेय	हल्दीघाटी, जौहर
दिनकर	रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, द्वन्द्व-गीत, कुरुक्षेत्र, सामधेनी, रश्मिरथी, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू, नील कुसुम, चक्रवाल, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा
निराला	परिमल, अनामिका, गीतिका, तुलसीदास, कुकुर-मुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, अपरा
पन्त	युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा, अतिमा, खादी के फूल, चिदम्बरा, कला और बूढ़ा चाँद, लोकायतन
महादेवी वर्मा	यामा, दीप-शिखा, सप्तपर्णा, राम
रामकुमार वर्मा	चन्द्र-किरण, जौहर
बच्चन	मधुशाला, मधुबाला, मधु-कलश, निशा-निमंत्रण, एकांत संगीत, आकुल अंतर, सतरंगिनी, हलाहल, बंगाल का काल, सूत की माला, मिलन-यामिनी, प्रणय पत्रिका, सोपान, बुद्ध और नाच-घर, त्रिभंगिमा,
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	मधूलिका, अपराजिता, किरण बेला, करील, लाल चूनर, वर्षान्त के बादल
शिवमंगल सिंह 'सुमन'	हिल्लोल, जीवन के गान, प्रलय-सृजन, विश्वास बढ़ता ही गया, पर आँखें नहीं भरीं,
रामविलास शर्मा	रूप-तरंग
नागार्जुन	युग धारा, प्रेत का बयान, सतरंगे पंखोंवाली
रांगेय राघव	अजेय खंडहर, पिघलते पत्थर, मेधावी, पांचाली, राह के दीपक
केदारनाथ अग्रवाल	नींद के बादल, युग की गंगा, लोक और आलोक
त्रिलोचन	धरती, गुलाब और बुलबुल, दिगंत
अज्ञेय	चिन्ता, इत्यलम्, बावरा अहेरी, हरी घास पर क्षण भर, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार,

धर्मवीर भारती	ठंडा लोहा, अंधा युग, सात गीत वर्ष, कनुप्रिया
जगदीश गुप्त	नाव के पाँव, शब्द-दंश
गिरिजा कुमार माथुर	धूप के धान,
समशेर बहादुर सिंह	कुछ कविताएँ
नरेश मेहता	वन पाखी सुनो
भारत भूषण अग्रवाल	छवि के बंधन, जागते रहो, मुक्ति मार्ग, ओ अप्रस्तुत मन
कीर्ति चौधरी	कविताएँ
कुँवर नारायण	चक्रव्यूह, परिवेश, हम-तुम
श्रीकान्त वर्मा	भटका मेघ ।

संकलन

तारसप्तक (दिल्ली)
दूसरा सप्तक (दिल्ली)
तीसरा सप्तक (वाराणसी)
निकष (प्रयाग)
नयी कविता (प्रयाग)

(अंग्रेजी)

AUTHOR	BOOK
M. Hiriann a	Outlines of Indian Philosophy.
Sir Radhakrishnan	Indian Philosophy.
M. A. Kamath	Hinduism And Modern Science.
S. R. Sharma	Wisdom Beyond Reason.
D. S. Sarma	Hinduism Through the Ages.
	What is Hindusim.
	The Bhagavad Gita.
	Mahatma Gandhi.
William James	The Varieties of Religious Experience.
Dr. Purohit	Revival of Hinduism.
J N. Sarkar	India Through Ages.
Ishwar Topa	Our Cultural Heritage.
Humayun Kabir	Our Heritage.
Hirendranath Dutt	Indian Culture.
F. R. Cowelo	History of Civilization And Culture.
Sri Ramakrisha Mission Institute of Calcutta.	The Cultural Heritage of India, Vol. III.
V. A. Smith	Early History of India.
Edited by R. C. Majumdar	The Vedic Age.
Keith	Religion And Philosophy of the Veda.
Deussen	The Philosophy of the Upanisads.
Rhys Davids	History of Indian Buddhism.
Kern	Manual of Indian Buddhism.
Mrs. Stevenson	The Heart of Jainism.
(The Commemoration Volume of Ram Mohun Centenary)	The Father of Modern India.
P. C. Majoomdar	The Faith and Progress of The Brahmo Samaj.

Karve	Ranada, The Prophet of Liberated *India*.
T. V. Paravate	Mahadeo Govind Ranade.
Lala Lajpat Rai	The Arya Samaj.
Sri Aurobindo	Bankim, Tilak and Dayanand.
	Life Divine
S. Natrajan	A *Century of Social* Reform
G. A. Nateson	Speeches And Writing Besant.
Max Muller	Ramakrishna, *His Life*
R. R. Divakar	Shri Ramakrishna.
Sister Nivedita	Vivekananda.
Shri Ramgopal	Lokmanya Tilak.
D. P. Karmarkar	Balgangadhar Tilak.
C. F. Andrews	Mahatma Ganhi's
V. N. Naik	Indian Liberalism.
Karkaria	Forty Years of ..
Sir Verney Lovett	The Nations of
R. C. Dutt	Indian Trade, Finance.
	Economic
C. Y. Chintamani	Indian Politics
Charles H. Heimsath	Indian I
R. N. Gilchrist	Indian .
Ramsay Muir	Nationality A
A. R. Desai	Social nalism.
S. Shridevi	A Century
Ramain Rolland	The Life

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४-१२	तोता है	होता है
५-१२	मस्कृति	संस्कृति
५-२४	करती है	करती है
७-२७	आश्रम यवस्था	आश्रम-व्यवस्था
१०-२	प्राप्ति	प्राप्ति
१०-१६	मूचित होता हैं	सूचित होता है
१२-२४	सर्सिद्धि	मर्सिद्धि
१३-११	धर्मनिन्दित	धर्म निन्दित
१७-१७	ओर	और
१७-२८	वदत	वदेत
१९-१७	तुम्हे	तुम्हें
२१-४	सार्थक हैं।	सार्थक है :—
२४-१	भावना हैं	भावना है
२६-११	किया है	किया गया है
२६-३३	सेव्यमानो	सेवमानो
२७-२५	सर्व	सर्वं
२८-१०	हे प्रभो	हे प्रभो !
२९-२५	अथा	अथा
२९-३२	बानानामक्षर	जानानामक्षर
२९-३३	विर्तार्षता	तितीर्षता
३०-२४	रनित्येर्द्व्ये.	रनित्यैर्द्रव्यै
३१-७	वेवलोक।	देवलोक
३१-२१	कराइये।	कराइये ।[१]
३२-१	ज्ञाता	धाता
३५-२६	भगवद्देशे	भगवद्दृशे
३५-२७	सोऽहशोचामि	सोऽहंभगव. शोचामि
३५-२९	ईशावास्यमिद	ईशा वास्यमिदं
३५-३१	जिजीविच्छेहं	जिजीविषेच्छतं

पृष्ठ- पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६-२४	भूनषु	सर्वभूतेषु
३६-२६	मोत	शोक
३७-२७	य स	स य
३७-३२	पर्युपासते	पर्युपासत
३९-३१	भूतमव्यस्य	भूतभव्यस्य
४०-२१	तस्यात्पराङ्पश्यति	तस्मात्पराङ्पश्यति
४०-२४	अमृततत्व	अमृतत्व
४०-२६	वृणुमे	वृणुते
४०-२६	तनु स्वाम्	तनू स्वाम्
४१-३०	पचापनिष्ठन्ते	पचावतिष्ठन्ते
४२-२५	वाच्चरन्त्येवमेवा	व्युच्चरन्त्येवमेवा
४३-३३	ताम्यमिद	ताभ्यामिद
४४-१६	हीयतर्ष्यायउप्रेमो	हीयतर्ष्याद्य उ प्रेयो
४४-३२	रागाननातुरा	रागार्त्तेनातुरा
५१-१६	रूप में	रूप म करके
५२-२२	एवागिता	एकागिता
५३-७	मार्हस्थ्य	गार्हस्थ्य
५८-१	पूर्व तक	पूर्व तक बुद्ध
६१-७	स्वभावता	स्वभावता)
६५-२३	मार्गों	लोकों
६५-२३	नाम-जप का	नाम-जप का जो
६६-३	तथागत	तथागत के
६६-१८	समार	सभार
६७-६	काई स्वतन्त्र	कोई स्वतन्त्र
६७-२०	मे	में
६८-११	माना	मानी
६८-११	काल्पत	कल्पित
६८-२१	अप्पेग	अप्पण
६८ २४	पद्विहाइ	पहिहाइ
६८-२५	मिन्झ	सिज्झइ;
६८-२८	इन्द्रोः	इन्दी

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८-३०	महीहि बसते	मही वसन्तें
६८-३१	सत्त्वश्च	रत्त्वश्च
६९-५	है	है कि
६९-६	है।	है,
६९-१७	पाउ	णउ
६९-१९	रे	से
६९-२०	जन्म	जम्म
६९-२५	अण्णु	अण्ण
६९-२८	मोकव	मोक्ख
७०-१९	अद्दअ	अद्द्व
७२-३	प्रवाह को	प्रवाह को वे
७२-२२	जोडा ?[३]	जोडा ।[३]
७९-६	नही है	नही है।
७९-३२	कामात्मन	कामात्मान
८०-१८	त्रैगुणाविषया	त्रैगुण्यविषया
८०-१९	निर्द्वन्द्वी नित्यसत्त्वस्थो	निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो
८०-२२	पुरुपोश्नुते	पुरुपोऽश्नुते
८०-२३	मिद्धि	सिद्धि
८०-२४	जात	जातु
८०-२५	सर्वे	सर्वं
८०-३०	तपा	तपो
८१-२६	सृप्ट	सृष्ट
८२-१४	हे अर्जुन ?	हे अर्जुन !
८२-२३	' ''वृत्त	''' वृत्ता
८२-३१	छित्वैन	छित्त्वैन
८३-२४	विद्याद्दु ससयोग....	विद्याद्दु ससंयोग....
८३-३०	मयि वर्तते	मयि वर्तन्ते
८५-२७	कर्तव्य	कर्त्तव्य
८६-१४	अभिविवेश	अभिनिवेश
८६-२३	दृष्टा	द्रष्टा
८७-२४	व्यास	व्याम

पृष्ठ- पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३६-२४	भूतषु	सर्वभूतेषु
३६-२६	शोर	शोक
३७-२७	य स	स य
३७-३२	पर्युपासते	पर्युपासत
३६-३१	भूतमव्यस्म	भूतभव्यस्य
४०-२१	तस्यात्पराङ्पश्यति	तस्मात्पराङ्पश्यति
४०-२४	अमृतत्तत्व	अमृतत्व
४०-२६	वृणुमे	वृणुते
४०-२६	तनु स्वाम्	तनू स्वाम्
४१-३०	पचापतिष्ठन्तो	पचावतिष्ठन्ते
४२-२५	वाच्चरन्त्येवमेवा	अयुच्चरन्त्येवमेवा ...
४३-३३	ताम्यमिद	तास्यामिद
४४-१६	हीयतेऽर्यायठप्रेयो	हीयतऽर्थाद्ध उ प्रेयो
४४-३२	रागानेनातुरा	रागात्तेनातुरा
५१-१६	रूप में	रूप में करके
५२-२२	एकागिता	एकागिता
५३-७	मार्हस्थ्य	गार्हस्थ्य
५८-१	पूर्व तक	पूर्व तक बुद्ध
६१-७	स्वभावता	स्वभावता)
६५-२३	लाको	लोको
६५-२३	नाम-जप का	नाम-जप का जो
६६-३	तथागत	तथागत के
६६-१८	सभार	सभार
६७-६	काई स्वतन्त्र	कोई स्वतन्त्र
६७-२०	मे	में
६८-११	माना	मानो
६८-११	काम्पत	कम्पित
६८-२१	अप्पेण	अप्पण
६८-२४	पद्दिहाइ	पडिहाइ
६८-२५	मिज्ञ	सिज्झइ;
६८-२८	इन्द्रीः	इन्दी

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८-३०	महोहि बसते	गही वसन्ते
६८-३१	सच्चश	स्वश
६९-५	है	है कि
६९-६	है।	है,
६९-१७	पात	पत्त
६९-१९	रे	से
६९-२०	जन्म	जम्म
६९-२५	अण्णु	अण्ण
६९-२८	मोकव	मोक्ख
७०-१९	असश	असह
७२-३	प्रवाह को	प्रवाह को ये
७२-२२	ओडा ?[२]	ओडा ।[२]
७९-६	नही है	नही है।
७९ ३२	न्नामात्मन	कामात्मान
८०-१८	त्रैगुणाविषया	त्रैगुण्यविषया
८०-१९	निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो	निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो
८०-२२	पुरुषोश्नुते	पुरुषोऽश्नुते
८०-२३	सिद्धि	सिद्धि
८०-२४	जात	जातु
८०-२५	सर्व	सर्वं
८०-३०	तपा	तपो
८१-२६	सृष्ट	सृष्ट
८२-१४	हे अर्जुन ?	हे अर्जुन !
८२-२३	' वृत्त	····वृत्ता
८२-३१	छित्वैन	छित्वैन
८३-२४	विद्याद्धु खसयौग····	विद्याद्दु खसंयोग····
८३-३०	मयि वर्त्तते	मयि वर्तते
८५-२७	कर्त्तव्य	कर्त्तव्यं
८६-१४	अभिविवेश	अभिनिवेश
८६-२३	दृष्टा	द्रष्टा
८७-२४	,व्याम	व्याम

पृष्ठ-पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३६-२४	भूनषु	सर्वभूतेषु
३६-२६	शोन	शोव
३७-२७	य स	स य
३७-३२	पर्युपासते	पर्युपासत
३६-३१	भूतमन्यस्य	भूतभव्यस्य
४०-२१	तस्यात्पराह्परयति	तस्मात्पराङ्पश्यति
४०-२४	अमृततत्व	अमृतत्व
४०-२६	वृणुमे	वृणुते
४०-२६	तनु स्वाम्	तनू स्वाम्
४१-३०	पचापनिष्ठन्ते	पश्चावतिष्ठन्ते
४२-२५	वाच्चरन्त्येवमेवा	व्युच्चरन्त्येवमेवा ' '
४३-३३	ताम्यमिद	ताम्पामिद
४४-१६	हीयतऽर्थायच्छ्रेयो	हीयतऽर्थाद्य उ श्रेयो
४४-३२	रागाननातुरा	रागास्तेनातुरा
५१-१६	रूप में	रूप मे करके
५२-२२	एनागिता	एकाग्रिता
५३-७	माहंस्थ्य	गार्हस्थ्य
५८-१	पूर्व तक	पूर्व तक बुद्ध
६१-७	स्वभावता	स्वभावता)
६५-२३	लाको	लोको
६५-२३	नाम-जप का	नाम-जप का जो
६६-३	तयागत	तथागत के
६६-१८	सभार	सभार
६७-६	काई स्वतन्त्र	कोई स्वतन्त्र
६७-२०	मे	मे
६८-११	माना	मानी
६८-११	काल्पत	कल्पित
६८-२१	अप्पेण	अप्पण
६८ २४	पद्रिहाद	पद्दिहाइ
६८-२५	मिच्म	सिज्झइ,
६८-२८	इन्द्रीः	इन्दी

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५३-७	राय	राय मे
१५६-१८	श्रोरत	श्रोत
१६१-१४	द्वार	द्वारा
१६१-२८	स्वोकार की	स्वीकार किया
१६१-१२	देण मे	देश मे
१६३-११	। है	।
१६३-१२	म	भी
१६४-३०	न्ययार्क	न्यूयार्क
१६५-२४	भारतीयो की	भारतीयो को
१६५-२६	प्रति	प्रति—
१७१-४	रहेगा	रहेगा
१७१-१४	भत्स्नां	भर्त्सना
१७४-१५	सब को	वे सब को
१७६-२०	देवता हो	देवता हो
१७८-१	अनका	उनका
१७९-५	सम्मूख	सम्मुख
१७९-२५	भी	भी
१८०-१०	होगी	होगी
१८०-१७	यह हैं	यह हैं
१८१-१५	नही करती	नही करती
१८१-१६	कर सकेंगी	कर सकेगी
१८२-१	जानीय-शिक्षा	जातीय शिक्षा
१८२-१४	होंने	होने
१८३-१	न	ने
१८३-८	नैतिक-नियमो	नैतिक नियमो
१८४-२७	कर्तव्याकर्तव्य	कर्तव्याकर्तव्य
१८४-२७	सूक्ष्मताये	सूक्ष्मताएँ
१८८-९	करते हुए	करते हुए उन्होंने
१८९-२५	गरम-दल	गरम दल
१९२-२६	रहेंगे	रहेंगे
१९७-८	थी	थी।

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७-३१	प्रशस्तपाद	प्रशस्तपाद
९२-५	प्रज्ञानों स	प्रज्ञानों पर
९३-२०	शंकराचार्य के	शंकराचार्य की
९६-१७	आचार है	सिद्धाचार है
९६-१८	शाक्त	शक्ति
९६-२०	आदश	आदेश
९६-२२	कोलाचार	कौलाचार
९७-२३	लोकाचार	कौलाचार
९८-१०	करल	कुरल
९८-१८	वामुगुम	वसुगुम
१००-३४	रम्परावादी	परम्परावादी
१००-३४	शास्त्रवादी	शास्त्रवादी
१०२-१६	क्रिया	क्रिया
१०७-१६	सम्प्रदाम	सम्प्रदाय
१०९-३	वाजपेया	वाजपेयी
१०९-१५	जीवन मुक्त	जीवन्मुक्त
११०-११	महत्त्व	महत्त्व
११०-१४	नवचेतना	नवचेतना
१११-४	साहित्य	साहित्य
१११-५	बँट गया था	बँट गया था।
१११-७	ये	वे
१११-१६	मानवीय	मानवीय
१११-२८	सुखोपलब्धि	सुखोपलब्धि
११२-२८	व्यक्ति	व्यक्तित्व
१२१-२८	Morat	Moral
१२६-६	स्येन	तेन
१३०-१४	बन	लगे
१४०-१७	नारा	नारी
१४१-१५	अवसर का	अवसर को
१४२-३	प्रवेश	नारी का प्रवेश
१४२-२७	जा सकती है	को जा सकती है

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५३-७	राय	राय में
१५६-१८	प्रोरत	प्रोत
१६१-१४	द्वार	द्वारा
१६१-२८	स्वीकार की	स्वीकार किया
१६१-१२	देण मे	देश में
१६३-११	। े	।
१६३-१२	म	भी
१६४-३०	न्ययार्क	न्यूयार्क
१६५-२४	भारतोयो की	भारतीयों की
१६५-२६	प्रति	प्रति—
१७१-४	रहेंगा	रहेगा
१७१-१४	भत्स्ना	भर्त्सना
१७४-१५	सब को	वे सब को
१७६-२०	देवता हो	देवता हो
१७८-१	अनका	उनका
१७९-५	सम्मृख	सम्मुख
१७९-२५	भी	भी
१८०-१०	होगो	होगी
१८०-१७	यह हैं	यह है
१८१-१५	नही करती	नहीं करती
१८१-१६	कर सकेगी	कर सकेगी
१८२-१	जातीय-शिक्षा	जातीय शिक्षा
१८२-१४	होंने	होने
१८३-१	म	ने
१८३-८	नैतिक-नियमो	नैतिक नियमों
१८४-२७	कर्ताव्याकर्तव्य	कर्तव्याकर्तव्य
१८४-२७	सूक्ष्मताये	सूक्ष्मताएँ
१८८-६	करने हुए	करते हुए उन्होंने
१८९-२५	गरम-दल	गरम दल
१९२-२६	रहेंगे	रहेंगे
१९७-८	भी	थी।

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७-३१	प्रशस्तपादे	प्रशस्तपाद
९२-५	प्रज्ञानों से	प्रज्ञानों पर
९३-२०	शकराचार्य के	शकराचार्य की
९६-१७	आचार हैं	सिद्धाचार हैं
९६-१८	शाक्त	शक्ति
९६-२०	आदश	आदेश
९६-२२	कोलाचार	कौलाचार
९७-२३	लोकाचार	कौलाचार
९८-१०	करल	कुरल
९८-१८	यासुगुस	वसुगुप्त
१००-३४	रम्परावावी	परम्परावादी
१००-३४	शास्त्रवाद्दी	शास्त्रवादी
१०२-१६	विया	क्रिया
१०७-१६	सम्पदाय	सम्प्रदाय
१०९-३	वाजपेया	वाजपेयी
१०९-१५	जीवन मुक्त	जीवन्मुक्त
११०-११	मह्त्व	महत्त्व
११०-१४	नयचेतना	नवचेतना
१११-८	माहित्य	साहित्य
१११-५	बँट गया था	बँट गया था।
१११-७	ये	वे
१११-१९	मानीयव	मानवीय
१११-२८	सुखोपलब्धि	सुखोपलब्धि
११२-२८	व्यक्ति	व्यक्तित्व
१२१-२८	Morat	Moral
१२९-६	त्येन	तेन
१३०-१४	बन	लगे
१४०-१७	नारा	नारी
१४१-१५	अवसर का	अवसर की
१४२-३	प्रवेश	नारी का प्रवेश
१४२-२७	जा सकनी है	की जा सकती है

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२८-१०	हैं	हैं
३२८-१२	है	है
३२८-१३	स्वनन्त्र्य	स्वातन्त्र्य
३२८-१५	हैं	हैं
३२९-१	हैं	हैं
३२९-२९	हैं	हैं
३३१-२	इसमे	इसमें—
३३१-१४	वस्तुयो	वस्तुओ
३३५-१७	नीचता	नोचता
३३६-२८	मेरा	मेरी
३३७-४	भावना	भावना का
३३७-११	छायावादी	छायावादी
३३७-१८	व्यक्तित्त्व	व्यक्तित्व
३३७-२३	कोआदृत	को आदृत
३३८-२८	और	ओर
३३९-१	अन्तरचेतना	अन्तश्चेतना
३३९-७	छायावाद	छायावादी
३४१-१७	छिद्रो	छिद्रों
३४२-९	व्यक्त करती है	व्यक्त करती हैं
३४२-१८	मेरा।	मरा
३४२-२९	जीवन दुख	जीवन दुःख
३४४-२२	नूपूर	नूपुर
३५३-५	समसता	समरसता
३५३-७	मर्वरसता	समरसता
३५३-१३	सबकी की	सबको
३५३-१७	भाया	माया
३५४-१	निराशावाद	निराशावाद
३५४-३	वन्धुत्व	वन्धुत्व
३५४-२५	सर्व खल्वि इद	सर्व खल्विद
३५६-८	कवयित्री ने	कवयित्री में
३५६-२७	उद्गायिका	उद्भाविका

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९७-२५	भूख को मिटाने को	भूख को मिटाने की
१९८-१	कर्म का	कर्म का—
१९८-१७	औपनिषदिक	औपनिषद
१९८-१८	और	घोर
२०८-६	हुये	हुए
२०८-३२	प्रयास किया	प्रयास किया।
२०९-१२	गई	गईं
२११-१३	कृषि-करो से	कृषि करो से
२१५-२१	तत्व	तत्त्व
२२४-३	करते हैं।[३]	करते हैं।[१]
२२४-६	अति स्वारी।[१]	अति स्वारी।[२]
२२४-१०	छीनता।[२]	छीनता।[३]
२२४-१२	हैं[३]	हैं।[४]
२२४-१६	अपनाया।[४]	अपनाया।[५]
२३५-१५	और	और न
२४७-१७	साज-शृङ्गार	साज-शृंगार
२४९-८	महत्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण
२५०-२०	दमबकारियों	दमनकारियों
२५१-१४	कर	का
२५१-१६	का	कर
२५२-२७	दिखा	दिखाने
२५६-२६	प्रतिविंवित	प्रतिबिंबित
२५६-६	अलोचना	आलोचना
२६०-२०	श्रेय भारतेन्दु	भारतेन्दु
२७३-१४	अविर्भूत	आविर्भूत
२९१-१०	मतयानिल	मलयानिल
३१८-१०	देने के लिए	देने के लिए यह
३१९-११	ओर	ओर
३२१-८	नेहरू	नेहरू ने
३२२-८	किया जाता हैं	किया जाता है कि
३२३-१६	अपीस,	अपील
३२३-२६	मैंवडानल्ड	मैकडानल्ड

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२८-१०	हैं	है
३२८-१२	है	हैं
३२८-१३	स्वतन्त्र्य	स्वातन्त्र्य
३२८-१५	है	हैं
३२९-१	हैं	है
३२९-२६	हैं	है
३३१-२	इसमें	इसमें—
३३१-१४	वस्तुयो	वस्तुओ
३३५-१७	नीचता	नीचता
३३६-२८	मेरा	मेरी
३३७-४	भावना	भावना का
३३७-११	छायावादी	छायावादी
३३७-१८	व्यक्तितत्व	व्यक्तित्व
३३७-२३	कोआदृत	को आदृत
३३८-२८	और	ओर
३३९-१	अन्तरचेतना	अन्तश्चेतना
३३९-७	छायावाद	छायावादी
३४१-१७	छिद्रो	छिद्रों
३४२-६	व्यक्त करती है	व्यक्त करती हैं
३४२-१८	मेरा ।	मेरा
३४२-२६	जीवन दु ख	जीवन दु ख
३४४-२२	नूपुर	नूपुर
३५३-५	समसता	समरसता
३५३-७	सर्वरगता	समरमता
३५३-१३	सबकी की	सबको
३५३-१७	माया	माया
३५४-१	निराशात्वाद	निराशावाद
३५४-३	बन्धुत्व	बन्धुत्व
३५४-२५	सर्व खल्वि इद	सर्व खल्विद
३५६-८	कवयित्री ने	कवयित्री में
३५६-२७	उद्गमिका	उद्भाविका

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५७-१२	व्यस्न	व्यक्त
३६०-३	मृग	दृग
३६० १५	विचार—	विचार-काव्य
३६० २४	दृष्टिमत्य	दृष्टि सत्य
३६१-१२	वण्ठा	कण्ठों म
३६१-२८	व्याख्या क अनुकुन	व्याख्या अनुभूत
३६८-४	पाने लिए	पाने के लिए
३६६-१०	कवि को	वह कवि को
३६८-५	मस्कृति	ससृति
३७२-२०	अर्ध	अर्थ
३७२-२८	तरगों की	तरगो की
३७६-१२	वलहर	व लहर
३७७-४	वासना	वासना नही,
३७९-२५	भवनाओ	भावनाओं
३७९-२८	होती है।	होती है।
३८५-२	रेणु	रेणु
३८६-१८	मग्न उत्सार	मग्न उत्साह
३८७-३	ओस-पनी	ओस-बुन्दी
३९१-८	और उमे	उमे और
३९३-५	सक्रियता था,	सक्रियता थी,
३९४-१०	स्पष्टरूप	स्पष्ट रूप
३९६-१२	मे	मैं
४०८-१०	रुढिया	रूढ़ियों
४०४-२२	कविया ने	कवियों में
४०६-८	प्रवृत्तिमानवतावादी	प्रवृत्ति मानवतावादी
४०६-१८	मारी चकारें	मारी चकारें
४०६-१९	है	
४१३-८	मिल्ती	
४१४-८	पचन्तन	
४१७-१६	अण-अणु	
४२८-११	अधिवार	
४३२-१५	पाओगी। प	

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३९-२२	की ही	की ही—
४४२-६	तोड देता, है,	तोड देता है,
४४६-७	नव-बल	नव बल
४४६-१३	गौरव-छाया	गौरव छाया
४५२-१४	मानव-मानव	मानव मानव
४५२-२४	अंतिम साँस	अंतिम साँसें
४५३-१३	प्रसन्नतापूर्वक	प्रसन्नतापूर्वक
४५५-११	महत्व	महत्त्व
४५६-२६	है	है।
४५९-१२	महाशत्रुओं का	महाशत्रुओं की
४६०-२९	हुए	हुई
४७१-५	प्रयोग	न प्रयोग
४७१-१०	कवियों	और कवियों
४८०-१८	जिनमें	उसमें
४८८-१७	विताओं	कविताओं
४९४-१७	सही नहीं है	सही है
४९८-११	राजनीतिक में	राजनीति में
४९९-९	महसूस की	महसूस की।
४९९-२२	साहित्य का	साहित्य
५००-१७	बनानी	बनाती
५०१-१७	उदार—	उदार
५०१-२९	जिनसे	जिनमें
५०३-१	का दिशा म	की दिशा में
५०६-२३	रामकृष्ण परमहंस समन्वय	रामकृष्ण परमहंस में धर्म-समन्वय
सहायक ग्रंथ-सूची योगवशिष्ठ		योगवाशिष्ठ